मूलनायक तीर्थंकर श्री नेमिनाथ भगवान
(प्रतिष्ठा - माघ शुक्ल 5 सं. 1937)

तीर्थंकर श्री कुंथुनाथ, तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ,
तीर्थंकर श्री अरनाथ
(शान्तिनाथ वेदिका)
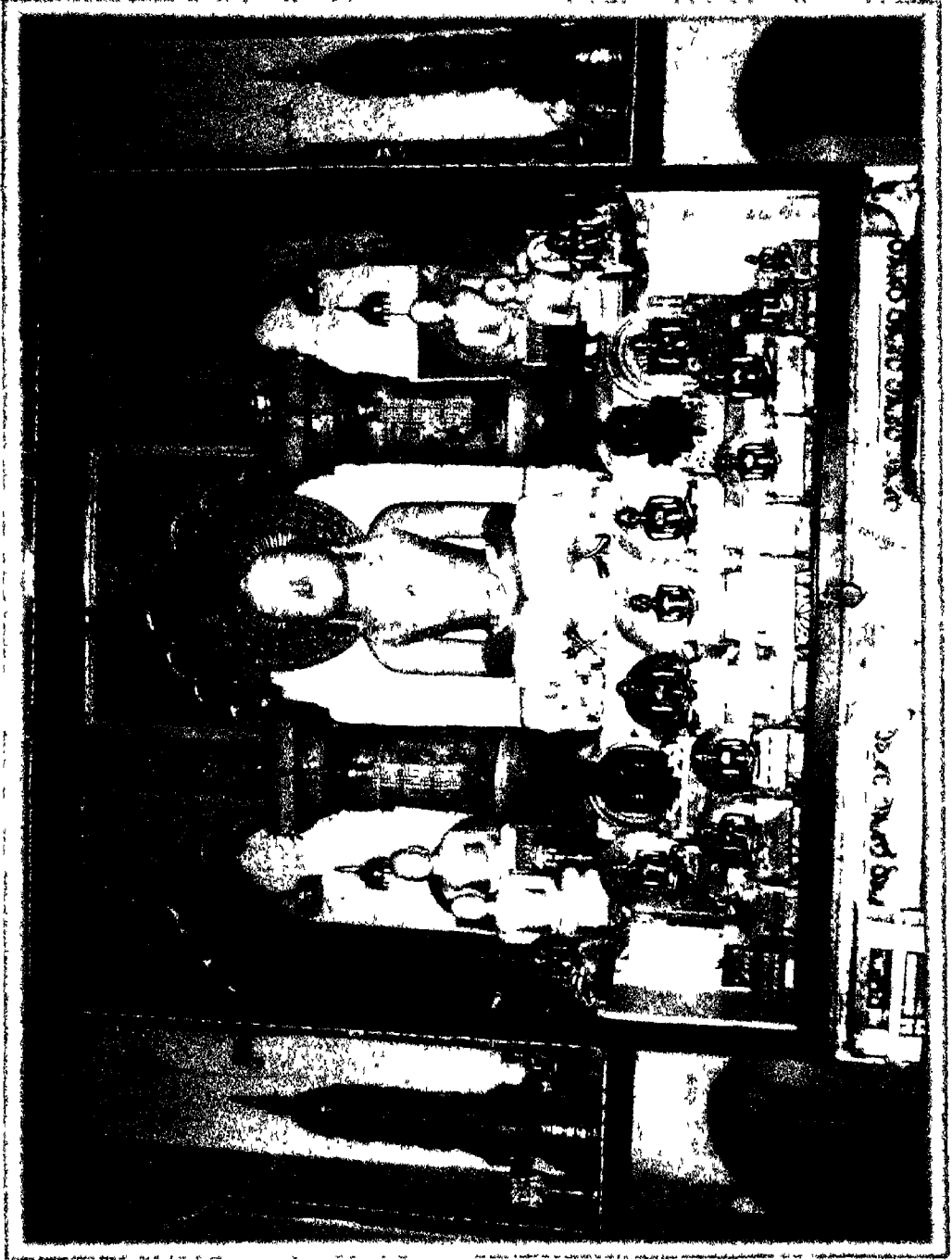
नेमिनाथ वेदिका

अजितनाथ वेदिका

चन्द्रप्रभ वेदिका
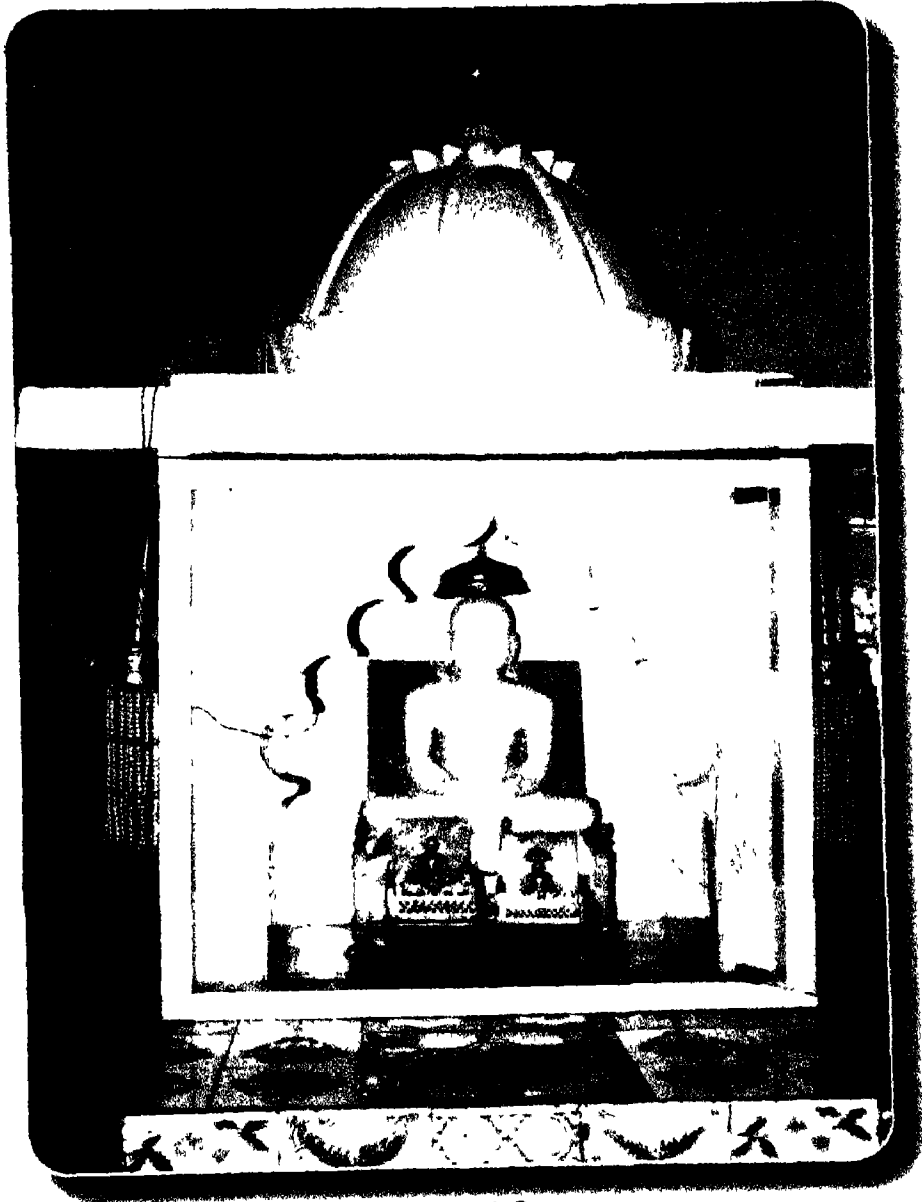
चन्द्रप्रभ वेदिका
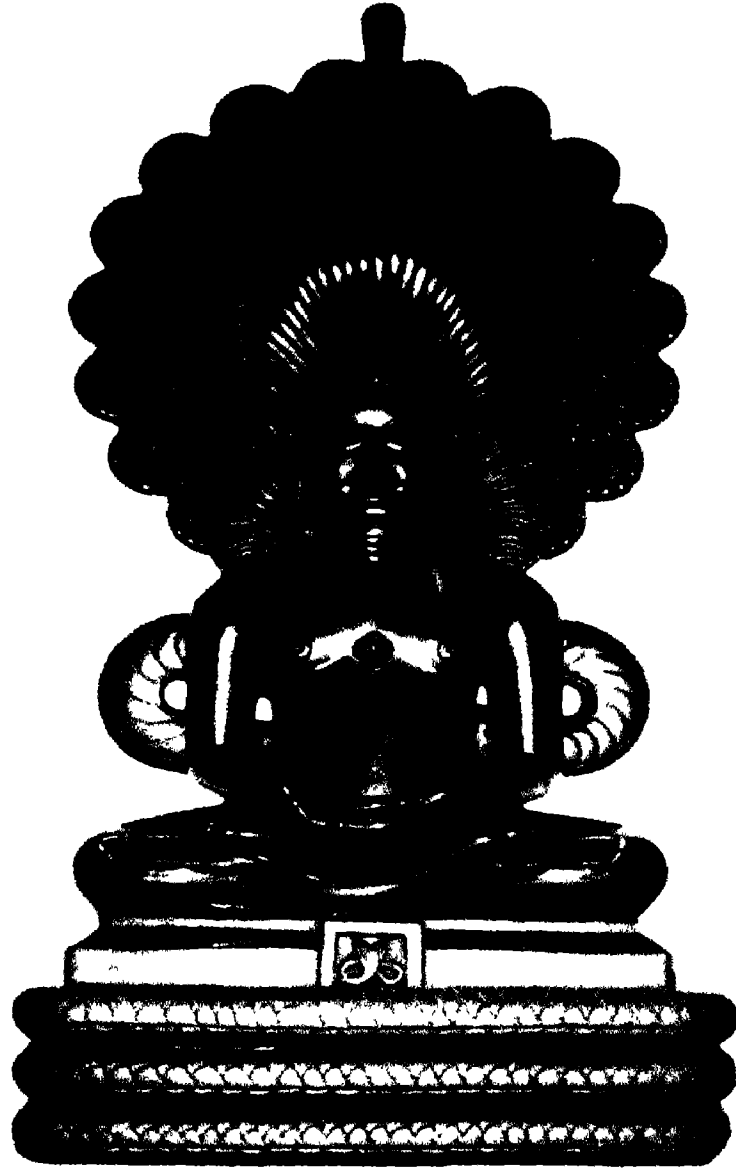
श्री १००८ पार्श्वनाथ प्रभु की नवीन प्रतिमा
(जैन मन्दिर, सतना)
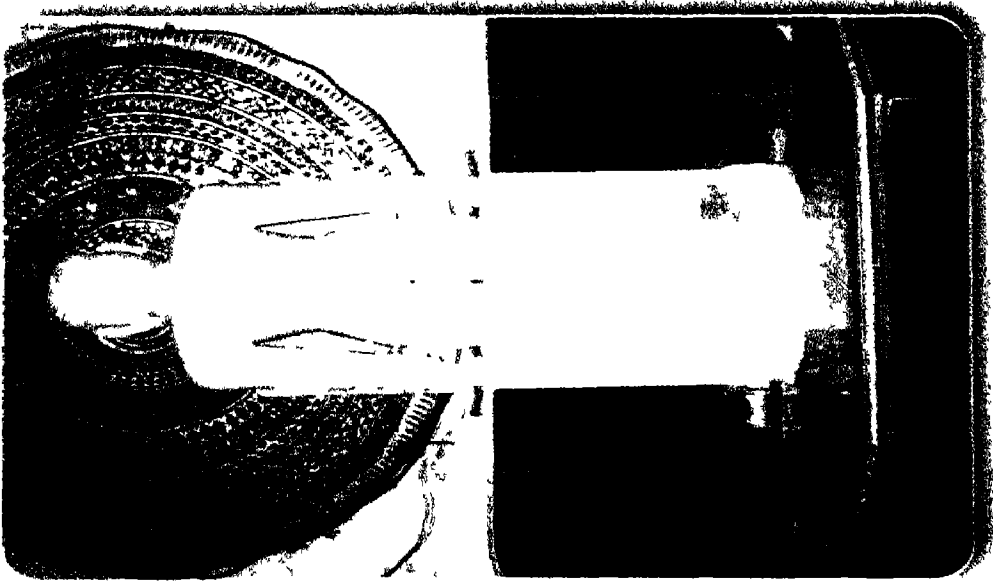
भगवान बाहुबली वेदिका
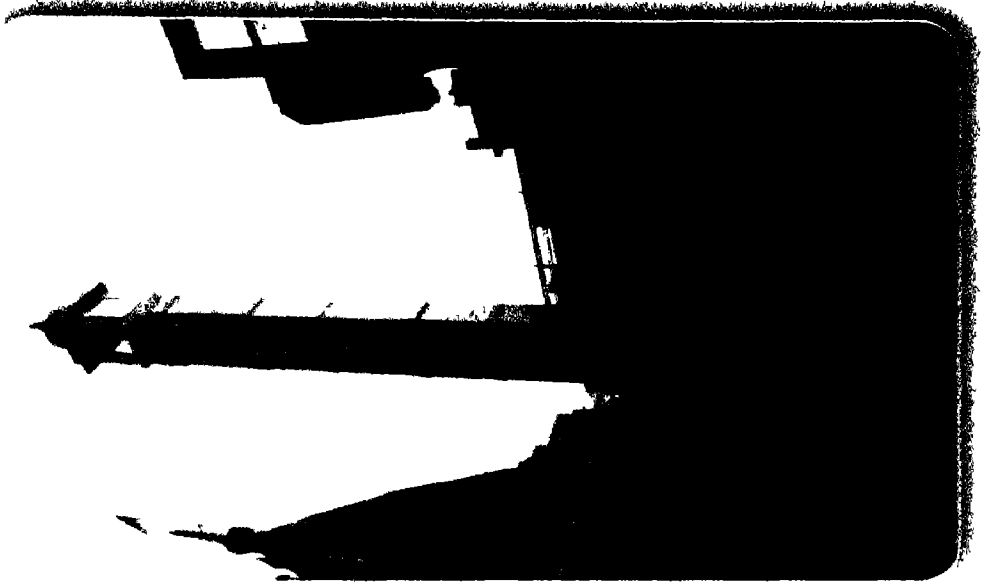
मानस्तंभ

संत शिरोमणि आचार्यश्री १०८ विद्यासागरजी महाराज
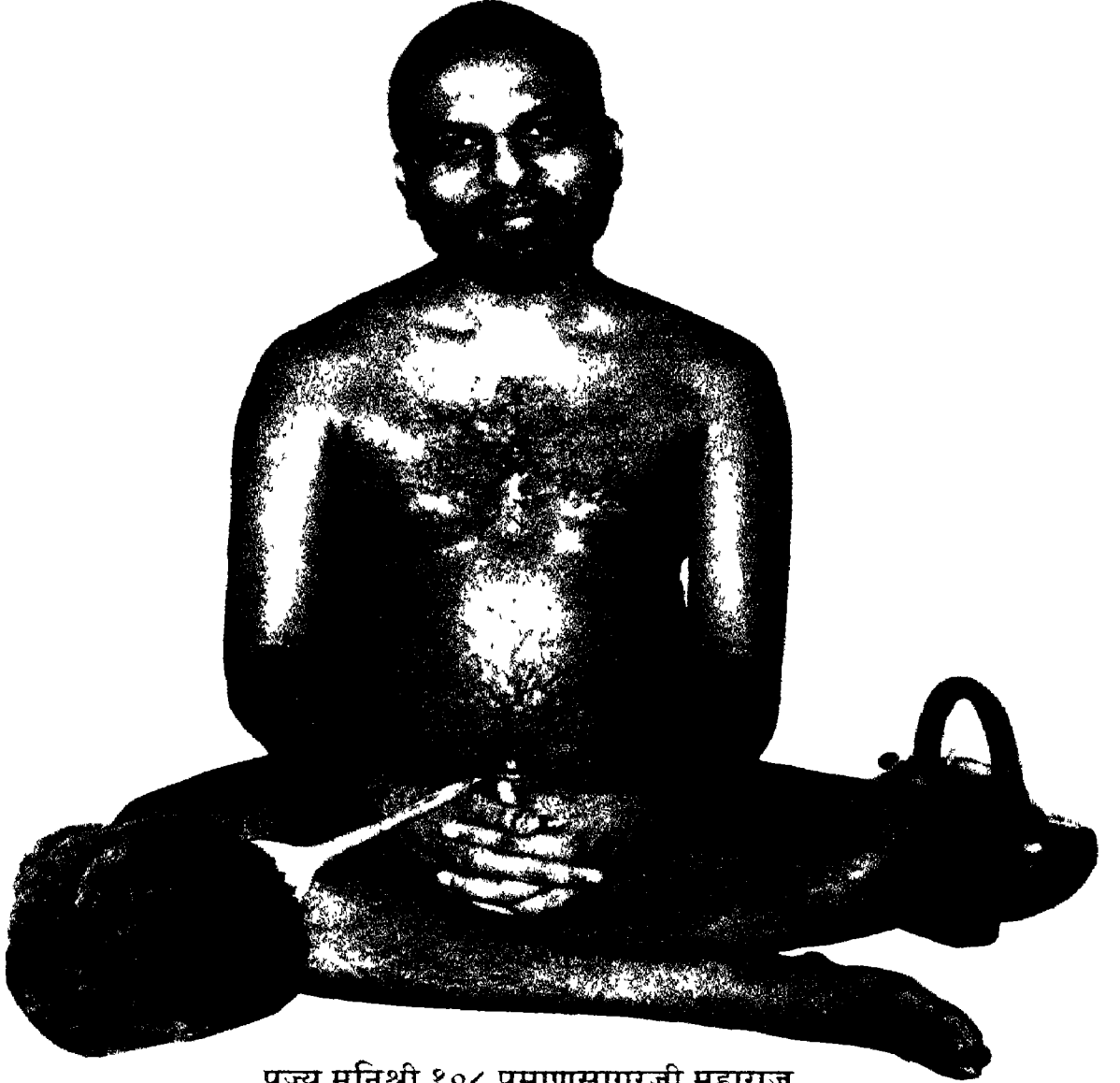
पूज्य मुनिश्री १०८ प्रमाणसागरजी महाराज

जैन श्रुत भंडार
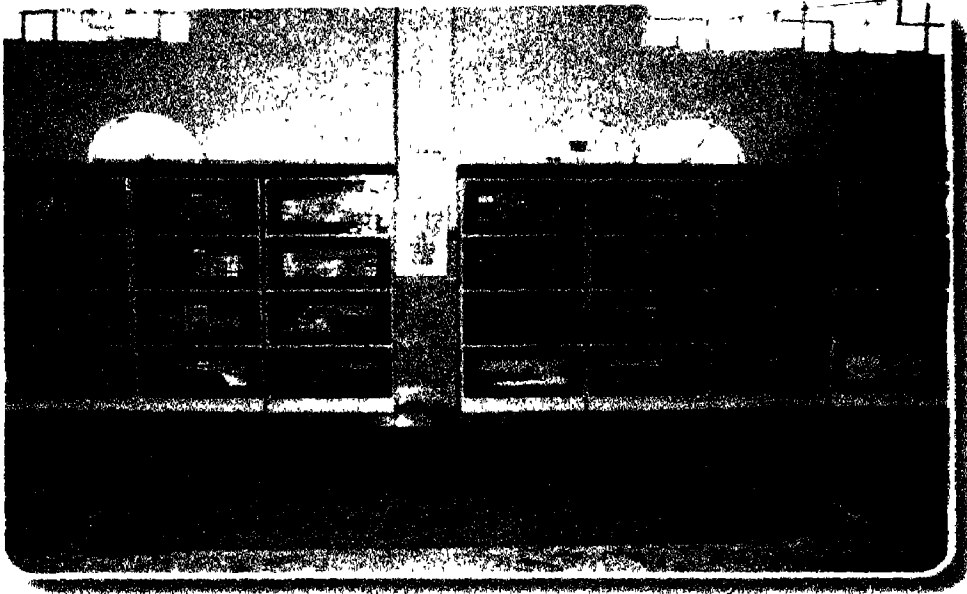
पूज्या श्री १०५ अनन्तमति माताजी
(शिष्या-प पू आचार्यश्री १०८ विद्यासागरजी महाराज)
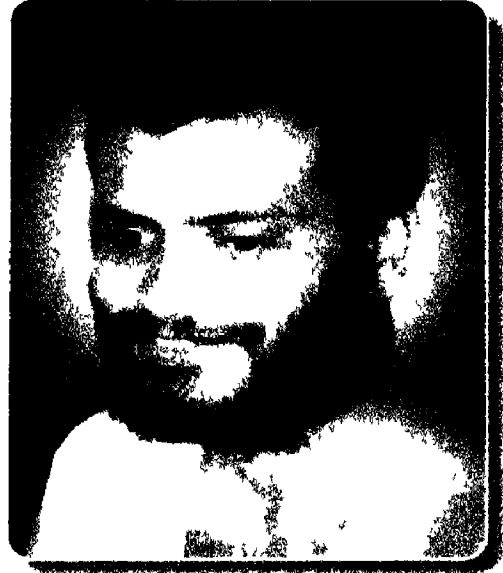
पूज्य श्री १०५ क्षु निश्चयसागरजी
(शिष्य-प पू आचार्यश्री १०८ विरागसागरजी महाराज)

ब्र पप्पी दीदीजी

ब्र वनिता दीदीजी
([illegible])
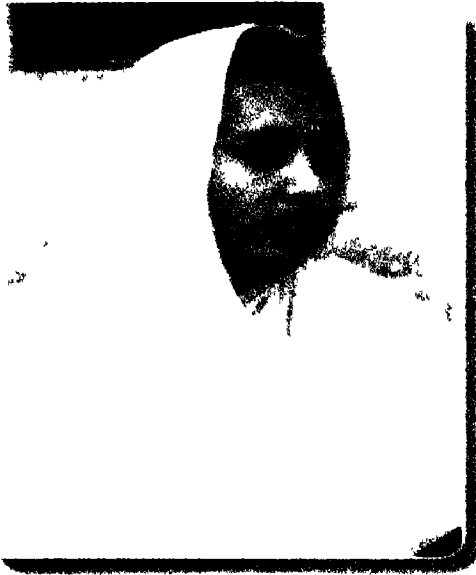
बढ़ चले कदम, संयम-साधना के पथ पर...

श्री दयानन्द सरस्वती भवन

श्रीविद्या समाधि साधना कक्ष
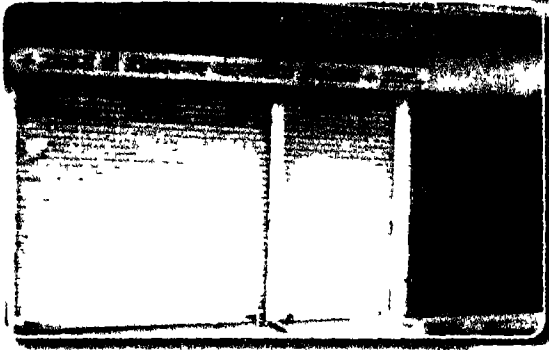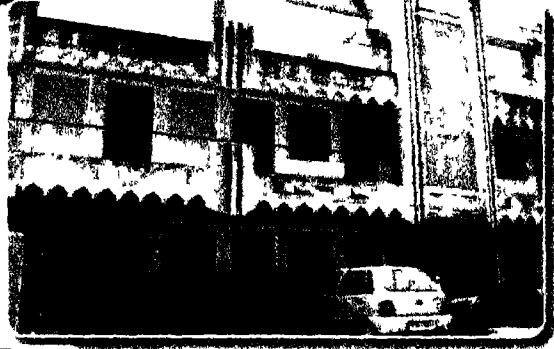
श्री विद्यासागर परमार्थिक औषधालय

श्री महावीर दि. जैन उ.मा. विद्यालय

दयोदय
पशु सेवा केन्द्र,
सतना

नेमिनाथ महोत्सव के अवसर पर
म.प्र. विधान सभा अध्यक्ष
श्री ईश्वरदासजी रोहाणी ने पधारकर
पूज्य मुनिश्री की चरण वन्दना की
आशीर्वाद स्वरूप पुस्तक
प्रदान करते हुये पूज्य मुनिश्री

कल्पद्रुम महामंडल विधान
आकर्षक मांडने के चारों तरफ
नृत्य करती हुई बालिकाएँ

श्वेताम्बर जैन संघ ट्रस्ट द्वारा
पूज्य मुनिश्री को सविनय आमंत्रित कर
महावीर भवन में उनके प्रवचनों का
कार्यक्रम रखा गया।

दिव्य प्रवचन माला
प पू मुनिश्री प्रमाणसागरजी महाराज
दिव्योपदेश देते हुये।
चातुर्मास काल में अनेक
प्रवचनमालाओ का आयोजन हुआ।
श्रोताओं की अपार भीड़ प्रत्येक
प्रवचनमाला में अक्षर-अक्षर
सुनने के लिये उमड़ती रही।

नेमिनाथ महोत्सव का शुभारंभ
जैन ध्वजारोहण के साथ
पूज्य मुनिश्री एवं आद भैया जी
मंत्रोच्चारण करते हुये।

नेमिनाथ महोत्सव
नेमिनाथ महामस्तकाभिषेक
प.पू. मुनिश्री प्रमाणसागरजी
शान्ति मंत्रों का पाठ कर रहे हैं।
बा.ब्र. श्री अशोक भैयाजी
शान्तिधारा करते हुये।
''होवै सारी प्रजा को सुख
बलयुत हो धर्मधारी नरेशा''

नेमिनाथ महोत्सव (महाआरती)
प्रतिदिन शाम को अत्यन्त प्रभावना
के साथ होने वाली महाआरती
जन-जन के आकर्षण का केन्द्र रही।

[illegible]
मूलनायक तीर्थंकर श्री नेमिनाथ क
मम्मुख महाआरती करत हय
भावविभोर भक्त।

[illegible]
नेमिकुमार विवाह चल ममारोह

[illegible]
नेमिकुमार विवाह चल ममारोह

तीर्थंकर पार्श्वनाथ निर्वाण दिवस
(22.08.04)
श्री सम्मेद शिखर जी की रचना करके सुवर्णभद्र कूट में प्रभु पार्श्वनाथ को विराजमान कर अभिषेक और पूजन की तैयारी। इस आयोजन में प्राप्त समस्त राशि को तीर्थक्षेत्र कमेटी को भेजी गई।

जन प्रतिनिधि सम्मान समारोह
वित्त मंत्री श्री राघवजी, उनके पीछे सतना के विधायक श्री शंकरलाल तिवारी, रामपुर के पूर्व विधायक श्री प्रभाकर सिंह, अमरपाटन नगर पंचायत के अध्यक्ष श्री आजाद जैन और वरिष्ठ समाजसेवी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के प्रांतीय पदाधिकारी श्री श्रीकृष्णजी माहेश्वरी दिखाई दे रहे हैं।

जन प्रतिनिधि सम्मान सभा

सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी (04.09.04)
मंचासीन -
डॉ. के.एल. जैन (जबलपुर),
रीवा वि.वि. के कुलपति
डॉ. ए.डी.एन. बाजपेयी,
श्री रतनलाल बैनाडा,
श्री मूलचन्द लुहाड़िया,
डॉ. निहालचन्द जैन आदि

जैन युवा सम्मेलन : सतना : 2004
(12 09 04)
दूर-दूर से आये युवाओं ने सभी का दिल जीत लिया।

जैन युवा सम्मेलन : सतना 2004
(12 09 04)
जैन नवयुवक मंडल सतना के साथी जोश और उत्साह से भरपूर।
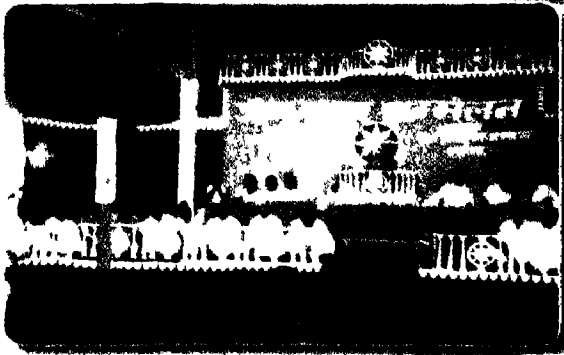
जैन युवा सम्मेलन
देश के कोने-कोने से पधारे मंचासीन युवा कार्यकर्ता।

जैन युवा सम्मेलन
(12 09 04)
महेश विलेहरा (सागर),
एम के जैन, जी एम , बी एस एन एल ,
दादा पाटील

जैन युवा सम्मेलन
(12 09 04)
दादा पाटिल का सम्मान करते हुये
श्री कैलाशचन्द जैन (अध्यक्ष)

जैन युवा सम्मेलन
(12.09.04)
चन्द्रसेन विराट, भोपाल

जैन युवा सम्मेलन
पूज्य मुनिश्री प्रमाणसागरजी महाराज ने
युवाओं को समाज हित के लिये
एक सूत्र में बँधकर आगे नेतृत्व सम्भालने
का आह्वान किया।

श्रावक समस्कार शिविर
बा.ब्र. भैया अशोक जी
शिविरार्थियों को संबोधित
करते हुये।

रामायण गीता ज्ञान वर्षा
ने सम्पूर्ण अंचल में धूम मचा दी।
(भव्य प्रवेश द्वार)

युवा [illegible]
(रामायण गीता ज्ञान वर्षा)

रामायण-गीता ज्ञान वर्षा

श्रोताओं की अपार भीड़
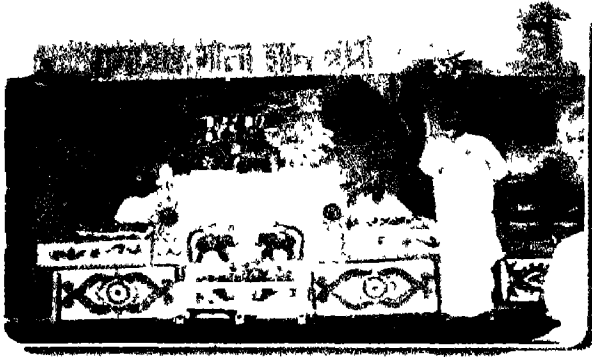
मानस्तंभ का महामस्तकाभिषेक

नगर गजरथ शोभा यात्रा को
'आगे-आगे लेजम लेकर...'
नृत्य करते हुये
जैन विद्यालय के युवा बच्चे

नगर गजरथ शोभायात्रा
ऐसा भव्य जुलूस मतना में
न पहले निकला और न निकलने की
निकट भविष्य में संभावना है।

नगर गजरथ यात्रा

नगर गजरथ यात्रा
रीवा संभाग के कमिश्नर श्री राव को
मुनिश्री आशीर्वाद देते हुए।

श्रावक संस्कार शिविर
सामूहिक पूजन
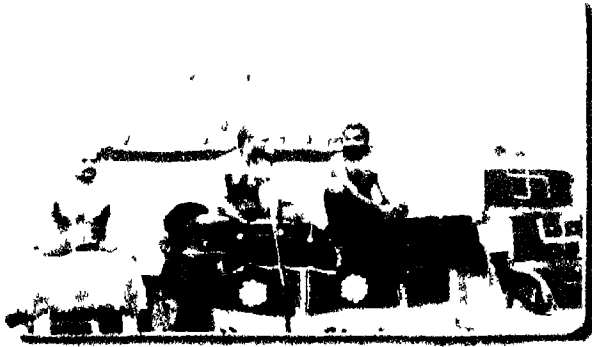
सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी, फिरोजाबाद
12-14 अक्टूबर, 2002

सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी, फिरोजाबाद
12-14 अक्टूबर, 2002
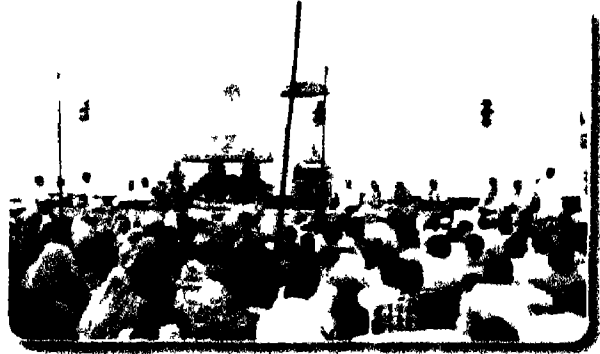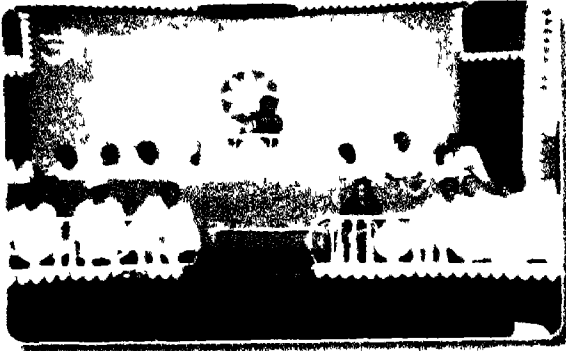
सतना जिनालय स्थापना का गौरवशाली 125 वाँ वर्ष

॥ श्रीनेमिनाथाय नमः ॥

वन्दे विद्यासागरम्

तत्त्वार्थसूत्र-निकष

(सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी : सतना 4, 5 एवं 6 सितम्बर 2004)

सान्निध्य

परम पूज्य आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज के आज्ञानुवर्ती शिष्य

परम पूज्य मुनिश्री 108 **प्रमाणसागर जी** महाराज

सम्पादक

डॉ. राकेश जैन
सर्वोदय जैन विद्यापीठ, सागर

पं. निहालचन्द जैन
सेवानिवृत्त प्राचार्य, बीना

परामर्श सम्पादक

प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन, फिरोजाबाद

पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया, किशनगढ़

डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत

प्रबन्ध सम्पादक

सिंघई जयकुमार जैन (अमरपाटन वाले), सतना

पं. सिद्धार्थकुमार जैन, सतना

सकल दिगम्बर जैन समाज, सतना (म. प्र.)

मंगल अवसर : सतना जिनालय स्थापना का गौरवशाली 125 वाँ वर्ष

पावन वर्षायोग : परम पूज्य श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज : पावन वर्षायोग, 2004 सतना

राष्ट्रीय संगोष्ठी

प्रतिपाद्य विषय : आचार्य उमास्वामी एवं उनका तत्त्वार्थसूत्र

सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी, फिरोजाबाद : 12, 13, एवं 14 अक्टूबर 2002

सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी, सतना : 4, 5 एवं 6 सितम्बर 2004

प्रकाशन तिथि : 'ज्ञानकल्याणक' अगहन कृष्ण ११/ वीर निर्वाण संवत् 2532, दिनाँक 27-11-2005, रविवार

लोकार्पण स्थल : श्रीमज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक महोत्सव, कोलकाता

प्रथमावृत्ति : 1000

मुद्रक : विकास गोधा, में. विकास ऑफसेट, भोपाल. 5275658, 9425005624

मूल्य : रु 150

प्रकाशक : श्री महावीर दिगम्बर जैन पारमार्थिक संस्था, सतना

सादर/सस्नेह भेंट

आत्मीय बन्धुवर !

तत्त्वार्थसूत्र संगोष्ठी निकष

एक भावनात्मक भेंट है

आपके लिये.

दिगम्बर जैन समाज सतना

की यह भेंट

'माँ जिनवाणी के चरणों में अर्पित

एक मनोहारी सुवासित पुष्पगुच्छ'

सदा-सदा

आपके स्वाध्याय के लिये

उपयोगी

और

आपके चिन्तन-मनन के लिये

प्रेरणा का संवाहक बने

बस,

यही कामना है.

जवाहरलाल जैन	कैलाशचन्द्र जैन	पवन जैन	सिद्धार्थ जैन	सिं. जयकुमार जैन
निवर्तमान अध्यक्ष	अध्यक्ष	मंत्री	संयोजक	संयोजक

शान्तिनाथ जिनस्तवन

रचयिता : पं. शिवचरणलाल जैन, मैनपुरी

समग्रतत्त्वदर्पणं विमुक्तिमार्गघोषणम् ।
कषायमोहमोचनं, नमामि शान्तिजिनवरम् ।। १ ।। नमामि ......

सम्पूर्ण पदार्थों को दर्पण के समान प्रकाशित करने वाले, मोक्षमार्ग के प्रणेता एवं मिथ्यात्व व समस्त कषाय एवं मोह के नाशक श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ ।।

त्रिलोकवन्द्यभूषणं भवाब्धिनीरशोषणम् ।
जितेन्द्रियं अजं जिनं, नमामि शान्तिजिनवरम् ।। २ ।। नमामि ......

जो त्रिलोक पूज्य और विश्व के आभूषण हैं, जो संसार रूपी सागर के जल को सुखाने वाले हैं अर्थात् संसार-समुद्र से पार उतारने वाले हैं, इन्द्रिय-विजयी, आगे जन्म-धारण नहीं करने वाले और कर्मशत्रुओं के विजेता हैं उन शान्तिनाथ तीर्थंकर प्रभु को मैं प्रणाम करता हूँ ।।

अखण्डखण्डगुणधरं, प्रचण्डकामखण्डनम् ।
सुभव्यपद्मदिनकरं, नमामि शान्तिजिनवरम् ।। ३ ।। नमामि ......

अखण्ड और खण्ड अर्थात् निश्चय-व्यवहार रूप से निरूपित किये जाने वाले गुणों के धारक, प्रचण्ड काम का नाश करने वाले तथा भव्यजीव रूपी कमलों को विकसित, हर्षित करने में सूर्य स्वरूप शान्तिनाथ जिनवर को मैं नमस्कार करता हूँ ।।

एकान्तवादमतहरं, सुस्याद्वादकौशलम् ।
मुनीन्द्र-वृन्द-सेवितं, नमामि शान्तिजिनवरम् ।। ४ ।। नमामि ......

एकान्तवाद रूपी मिथ्यामतों के नाशक, स्याद्वाद रूपी वचन कौशल के धारी, श्रेष्ठ मुनियों से सेवित शान्तिनाथ भगवान को मैं नमन करता हूँ ।।

नृपेन्द्रचक्रमण्डनं, प्रकर्मचक्रचूरणम् ।
सुधर्मचक्रचालकं, नमामि शान्तिजिनवरम् ।। ५ ।। नमामि ......

जो श्रेष्ठ राजा-समूह को शोभास्वरूप हैं, उत्कृष्ट रूप से कर्मों को चकचूर करने वाले हैं और समीचीन धर्मचक्र के चालक हैं उन शान्तिप्रभु का मैं वन्दन करता हूँ ।।

अग्रन्थनग्नकेवलं, विमोक्षधामकेतनम् ।
अनिष्टघनप्रभञ्जनं, नमामि शान्तिजिनवरम् ।। ६ ।। नमामि ......

सम्पूर्ण परिग्रह से रहित, नग्न स्वरूप, केवली भगवान मोक्ष-महल के ध्वज स्वरूप तथा अनिष्ट पापरूपी मेघों के लिए प्रचण्ड पवन समान श्री शान्तिनाथ भगवान को प्रणाम हो ।।

महाश्रमणमकिंचनं, अकामकामपदधरम् ।
सुतीर्थकर्तृषोडशं, नमामि शान्तिजिनवरम् ।। ७ ।। नमामि ......

जो श्रमणों में महाश्रमण हैं, महामुनि हैं, अकिंचन हैं, निष्काम भाव से कामदेव पद के धारक हैं एवं जो श्रेष्ठ सोलहवें तीर्थंकर हैं उन शान्तिनाथ जिनवर को मैं प्रणाम करता हूँ ।।

महाव्रतधरं वरं, दयाक्षमागुणाकरम् ।
सुदृष्टिज्ञानव्रतधरं, नमामि शान्तिजिनवरम् ।। ८ ।। नमामि ......

श्रेष्ठ महाव्रत धारी, दया-क्षमा आदि गुणों के भण्डार तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारक भगवान् शान्तिनाथ को मैं नमस्कार करता हूँ ।।

अनुक्रमणिका

1.	शांतिनाथ जिन स्तवन	पं. शिवचरण लाल जैन	
2.	सम्पादक की कलम से	ब्र. डी. राकेश जैन	VII
3.	तेरा तुझको सौंपिया, क्या राखा है मोय	सिं. जयकुमार जैन	IX
4.	मुनिश्री १०८ प्रमाणसागरजी महाराज का चातुर्मास : सतना का सौभाग्य	श्री पवन जैन	XII
5.	मुनिश्री प्रमाणसागरजी व्यक्तित्व एवं कृतित्व	पं. निहाल चन्द	XV
6.	प्रारंभिक वक्तव्य	मुनि प्रमाण सागर जी	XVII
7.	पूज्य आ. विद्यासागरजी के विशेष चिंतन	पं. रतनलाल बैनाड़ा	1
8.	तत्वार्थसूत्र के कर्त्ता आचार्य गृद्धपिच्छ : जीवन वृत्त	श्री विजय कुमार जैन	5
9.	तत्वार्थसूत्र की व्याख्याओं का वैशिष्ट्य	ब्र. डी. राकेश जैन	14
10.	सम्पूर्ण जैनागम का सार : तत्वार्थसूत्र	डॉ. के.एल. जैन	24
11.	रत्नत्रय की विवेचना	पं. निर्मल जैन	27
12.	तत्वार्थसूत्र में रत्नत्रय की विवेचना	डॉ. सुरेशचंद जैन	32
13.	सम्यग्दर्शन का स्वरूप एवं साधन	पं. मूलचंद लुहाड़िया	38
14.	तत्वार्थसूत्र में प्रमाण - नय मीमांसा	डॉ. जयकुमार जैन	45
15.	तत्वार्थसूत्र में जैन न्यायशास्त्र के बीज	डॉ. शीतलचंद जैन	56
16.	जीव के असाधारण भावों की विवेचना आधुनिक संदर्भ में	डॉ. कमलेश कुमार जैन	63
17.	आचार्य उमास्वामी की दृष्टि में अकालमरण	डॉ. श्रेयांश कुमार जैन	68
18.	बायोटेक्नालॉजी, जेनेटिक इंजीनियरी एवं जीव विज्ञान	प्रो. डॉ. अशोक जैन	73
19.	भूगोल एवं खगोल : तत्वार्थ सूत्र के संदर्भ में	पं. अभय कुमार जैन	80
20.	पौद्गलिक स्कंधों का वैज्ञानिक विश्लेषण	श्री अजित कुमार जैन	86
21.	तत्वार्थसूत्र में वर्णित पुद्गल द्रव्य	डॉ. कपूरचंद जैन	100
4.	जैन दर्शन में अजीव द्रव्यों की वैज्ञानिकता	पं. निहालचंद जैन	106
23.	'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्' : एक व्याख्या	डॉ. अशोक जैन	114
24.	An Important Sources of Indian Law	Shri Suresh Jain, I.A.S.	119
25.	तत्वार्थसूत्र एवं भारतीय दण्ड विधान : एक विवेचन	श्री अनूपचंद जैन एड.	124
26.	जैन कर्म सिद्धांत एवं आधुनिक मनोविज्ञान	प्रो. भागचंद जैन 'भास्कर'	128
27.	कर्मास्रव के कारण : एक ऊहापोह	डॉ. रतनचंद जैन	139

28.	तत्वार्थसूत्र के आधार पर पुण्य-पाप की मीमांसा	पं. शिवचरनलाल जैन	145
29.	तत्वार्थसूत्र का समाज शास्त्रीय अध्ययन	डॉ. नीलम जैन	152
30.	सल्लेखना : समाधि भारतीय दंड विधान के परिप्रेक्ष्य में	श्री अनूपचंद जैन एड.	161
31.	तत्वार्थसूत्र और जीवन मूल्य	डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'	169
32.	पर्यावरण संरक्षण में जैन सिद्धांतों की भूमिका	श्री सुरेश जैन, आई.ए.एस.	180
33.	जैन कर्मवाद : तत्वार्थसूत्र	प्रो. लक्ष्मीचंद जैन	184
34.	कर्म-बंध की प्रक्रिया	ब्र. जिनेश जैन	190
35.	ध्यान विषयक मान्यताओं का समालोचन	डॉ. फूलचंद जैन 'प्रेमी'	196
36.	ध्यान की विवेचना	पं. शिवचरनलाल जैन	204
37.	चेतना का निर्मलीकरण : संवर और निर्जरा के परिप्रेक्ष्य में	पं. मूलचंद लुहाड़िया	212
38.	असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा	श्री सिद्धार्थ कुमार जैन	218
39.	मुक्त जीव एवं मोक्ष का स्वरूप	पं. रतनलाल बैनाड़ा	224
40.	तत्वार्थसूत्र में स्त्री मुक्ति निषेध	प्रो. रतनचंद जैन	231
41.	श्री दिगम्बर जैन मंदिर सतना एवं अन्य संस्थाएं : विकास के क्रम में	श्री राजेन्द्र जैन	236
42.	सतना के श्री शांतिनाथ	प्रो. सुभाष जैन	241
43.	श्री नेमिनाथ महोत्सव	सिं. जयकुमार जैन	243
44.	सर्वोदय विद्वद् संगोष्ठी	श्री सिद्धार्थ जैन	247
45.	संगोष्ठी में आगत विद्वानों की सूची	-----	252
46.	श्रावक संस्कार : जीवन का आधार	श्री प्रमोद जैन	253
47.	जैन युवा सम्मेलन	श्री अविनाश जैन	256
48.	रामायण-गीता ज्ञानवर्षा	पं. निहालचंद जैन	259
49.	अद्भुत नगर गजरथ यात्रा	श्री संदीप जैन	262
50.	खजुराहो : पार्श्वनाथ मंदिर का शिलालेख	-----	264
51.	सतना जिला पुरातात्विक संदर्भ में	प्रो. कमलापति जैन	265
52.	जितनी प्राचीन सतना की विकास यात्रा : लगभग उतना प्राचीन दिगम्बर जैन मंदिर	-----	268
53.	दिगम्बर जैन समाज सतना के गौरव पुरुष/महिलाएं	-----	269
54.	समय के अमर शिलालेख	-----	271

सम्पादक की कलम से...

जैनागम में संस्कृत-सूत्रों में निबद्ध 'तत्त्वार्थसूत्र' अपर नाम मोक्षशास्त्र ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य उमास्वामी हैं, जिन्हें दिगम्बर परम्परा में गृद्धपिच्छाचार्य के नाम से भी जाना जाता है । **तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितं**। यह जैनदर्शन का प्रथम संस्कृत भाषा का आगम ग्रन्थ है, जिसमें चारों अनुयोग समाहित हैं । भक्तामरस्तोत्र के साथ श्रावकजन इसका नित्य पाठ करते हैं । इससे इसकी जैन वाङ्मय में महत्ता का पता चलता है । ये दोनों, दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में समान रूप से प्रचलित हैं । इस ग्रन्थ के दस अध्यायों में जीवादि सात तत्त्वों का वर्णन 357 सूत्रों में निबद्ध है । इसकी पूर्वाचार्यों ने कई टीकाएँ लिखी, जिसमें आचार्य पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि' टीका काफी विख्यात एव प्राचीन है ।

पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी जैनदर्शन के मर्मज्ञ सत हैं । सन् 2000 मे आपके सान्निध्य में टी टी नगर भोपाल मे भक्तामरस्तोत्र पर एक राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी का सफल आयोजन हुआ । इससे प्रेरित होकर आपके आशीर्वाद से जैन समाज फिरोजाबाद ने वर्षायोग 2003 में तत्त्वार्थसूत्र पर एक विद्वत्सगोष्ठी का गौरवपूर्ण आयोजन विद्वत्प्रवर प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जी के निर्देशन में सम्पन्न कराया । उस संगोष्ठी से यह बात खुलासा हुई कि इस ग्रन्थ में इतने सारे विषय है कि उन्हें एक सगोष्ठी में समेट पाना सम्भव नहीं है, अस्तु सतना के वर्षायोग 2004 मे आपका आशीर्वाद प्राप्तकर दिगम्बर जैन समाज सतना ने इस कार्य को और आगे बढ़ाया तथा एक वृहद् राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी का आयोजन 4 से 6 सितम्बर 04 में किया गया । जिसका उत्तरदायित्व वर्षायोग समिति के दो पदाधिकारियों ने विशेष रूप से लिया, जो विद्वान और आगमचिन्तक मनीषी हैं । वे हैं - 1. प. सिद्धार्थकुमार जैन, सुपुत्र - विद्वत्प्रवर प. जगन्मोहनलाल शास्त्री एवं 2. सिं. भाई जयकुमार जी । आप समाज में यश:प्रतिष्ठित एवं मौलिक चिन्तन के धनी हैं । उक्त दोनों के कुशल निर्देशन में देश के लगभग 30 मूर्धन्य विद्वानों ने संगोष्ठी में अपनी उपस्थिति और सहभागिता की तथा तत्त्वार्थसूत्र के विभिन्न अध्यायो से सम्बद्ध शोधालेखों की प्रस्तुतियाँ दी । जिससे ग्रन्थ की लोकोपयोगिता विभिन्न आयामों पर

मुखर हुई। इससे अद्भुत बात यह हुई कि तीन दिन के 8 सत्रो मे श्री प्रमाणसागर जी ने अपने मगल प्रवचनो के माध्यम से प्रत्येक शोधालेख की एक निष्पक्ष समीक्षा प्रस्तुत की। सम्पूर्ण कार्यक्रम पूर्ण आध्यात्मिक वातावरण में सम्पन्न हुआ। दोनों संगोष्ठी के संयुक्त शोधपत्रों के प्रकाशन की योजना बनी।

संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र के मुख्य अतिथि अवधेशप्रतापसिंह विश्वविद्यालय रीवा के कुलपति माननीय डॉ. ए. एन. डी. बाजपेयी की उपस्थिति ने इसके सार्वभौमिक स्वरूप को एक खुला निमन्त्रण दिया, जो संयम साधक पुरुष हैं। इसी प्रकार संगोष्ठी का समापन सत्र उज्जैन के वरिष्ठ साहित्यकार एव मनीषी डॉ राममूर्ति त्रिपाठी की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। आपका विद्वत्ता पूर्ण भाषण सगोष्ठी को एक प्रशस्त तिलक स्वरूप था।

विद्वानों के इन शोधालेखों के प्रकाशन की योजना जैन समाज सतना ने बनायी है और इसे पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित कर सतना वर्षायोग के अविस्मरणीय क्षणो को भी साथ मे समायोजित कर देना प्रस्तावित हुआ। सतना में पूज्य मुनि श्री का वर्षायोग कई मायनो मे अभूतपूर्व रहा। इसके विषय में पृथक्-पृथक् रिपोर्टस पीछे दी ही हैं।

तत्त्वार्थसूत्र-निकष (सतना वर्षायोग स्मारिका 2004) वस्तुत मुनिश्री के अभिनव व्यक्तित्व की यशोगाथा का धवल अक्षत है, जिसे प्रकाशित करके दिगम्बर जैन समाज ने अपना महनीय गौरव बढ़ा लिया है।

इसमें शोधालेखों का क्रम तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय क्रम के अनुसार निबद्ध है। इसे किसी अन्य विकल्प से मुक्त रखा गया है। यद्यपि कोशिश तो की गई है कि प्रत्येक अध्याय की विषयवस्तु को स्पष्ट करने वाले शोधपत्र हों। जहाँ पूर्ति न हो सकी, वे स्थल कम ही हैं और उनकी पूर्ति कर पाना सामयिक परिस्थितियों मे सभव ही नही था।

संगोष्ठी मे विद्वानो ने अपनी प्रखर मेधा के साथ शोधपत्रो का वाचन व विमर्श मे जिस उत्साह एव गौरव के साथ सहभागिता दिखाई थी, उसी का परिणाम है कि यह स्मारिका इस स्वरूप को प्राप्त हुई। हम आगत विद्वज्जन के प्रति हार्दिक साधुवाद ज्ञापित करना चाहते है। साथ ही सतना के विभिन्न सयोजको के प्रति भी आभार प्रकट करना कर्त्तव्य है, जिनके कि समाचारपरक आलेख इस स्मारिका मे स्थान पा सकें।

इस स्मारिका में जो कुछ भी अच्छा है वह मुनिश्री प्रमाणसागर जी की कृपा व अनुकम्पा है और जो त्रुटिपूर्ण रह गया, वह सम्पादकों की अल्पज्ञता है। इस भावना के साथ मुनिश्री के चरणो में सविनय नमोऽस्तु।

डॉ. राकेश जैन एवं प्राचार्य निहालचन्द जैन

सम्पादकद्वय

तेरा तुझको सौंपिया, क्या राखा है मोय

वर्ष 2004, सम्भवत: मई महिने का अन्तिम सप्ताह था वह। परम पूज्य मुनिराज श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज जबलपुर में विराजमान थे। उनके प्रवचनों की अनुगूँज जबलपुर से लगभग 200 कि. मी दूर सतना में भी सुनाई दे रही थी। सतना से भावुक भक्तों का एक दल विशेष बस लेकर जबलपुर रवाना हुआ। इन लोगों ने रात्रि विश्राम श्री बहोरीबन्द जी क्षेत्र में किया। मैं ट्रेन से सीधे जबलपुर पहुँच गया था। दूसरे दिन मानस भवन में परम पूज्य मुनिश्री का प्रवचन था रामायण पर। श्रोताओं की अपार भीड़, जितने श्रोता हॉल के अन्दर थे, उससे कहीं ज्यादा बाहर खड़े होकर लाइव टेलीकास्ट के माध्यम से प्रवचन सुन रहे थे। प्रवचन के पूर्व ही बाहर से आये श्रावकों को अवसर मिला पूज्य मुनि श्री के चरणों में श्रीफल भेंट करने का। जब सतना का नाम पुकारा गया तो श्री कैलाशचन्द जी सहित श्री निर्मल जी, श्री प्रमोद जी, मैं तथा श्रीमती कैलाशचन्द जी ही सभाकक्ष में खड़े नजर आये। बहोरीबन्द से प्रात: चली बस पनागर के पास जाम लगने के कारण जबलपुर देर से पहुँच सकी थी।

हम सभी ने पूज्य मुनि श्री के चरणों में श्रीफल भेंट करते हुये पूज्य गुरुदेव से सतना में चातुर्मास करने का अनुरोध किया। इस बीच श्री कैलाशचन्द जी ने मंच संचालक से कहकर मुझे माइक से बोलने का अवसर प्रदान करा दिया। इतने बड़े जनसमूह के समक्ष बोलने का यह मेरे लिये प्रथम अवसर था। शान्तिनाथ प्रभु को मन ही मन प्रणाम कर मैंने मचासीन मुनिद्वय को नमोऽस्तु करते हुए निवेदन किया कि - हे परम पूज्य गुरुदेव! 1998 में आपके पग-विहार ने सतना की धरती को पवित्र किया था। आपके उस प्रवास ने सम्पूर्ण नगर को महिमामण्डित किया और जीवन जीने की कला सिखाई थी। 6 वर्षों से हजारों आँखें आपकी प्रतीक्षा में हैं। 'हे पूज्य मुनिवर! मैं सतना जैन समाज सहित सतना के सम्पूर्ण नागरिकों की ओर से सादर प्रार्थना करता हूँ कि इस वर्ष चातुर्मास काल में सतना नगर को धन्य करने की कृपा करें।'

मैंने अपनी बात इन शब्दों के साथ समाप्त की -

'न अल्फाज हम दो शना जानता हूँ
न दिलचस्प तर्जे बयाँ जानता हूँ,
मेरी बन्दगी है इसी में कि, तुमको-
खुदा जानता हूँ, खुदा मानता हूँ।

उपस्थित हजारों लोगों ने तालियों की गड़गड़ाहट के साथ मेरी बात का समर्थन किया तो मेरे मन में कहीं कुछ लगा कि 'तुझको तेरा प्राप्तव्य प्राप्त होगा।'

आहार के उपरान्त पूज्य मुनि श्री जब अपनी वसतिका (डी. एन. जैन कॉलेज) पधारे तो सतना के शेष साथी श्रावक-श्राविकाएँ भी पधार चुके थे। मैंने पूज्य मुनि श्री को सतना जैन मन्दिर की स्थापना और मूलनायक तीर्थंकर श्री

नेमिनाथ स्वामी के जिनबिम्ब की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के 125 वें वर्ष की जानकारी दी और पुन: साग्रह अनुरोध किया कि 'हे मुनिराज ! हम सभी यह आयोजन आपकी सन्निधि और आपके मार्गदर्शन में ही करना चाहते हैं।' पूज्य मुनि श्री यह सुनकर प्रसन्न हुये। उन्होंने अन्य जानकारियाँ चाहीं जो मैंने उन्हें वहीं प्रदान कीं।

सतना समाज का पुण्य प्रतिफलित हुआ और 2 जुलाई 04 को प्रात: मंगलबेला में पूज्य मुनिश्री का नगर प्रवेश अत्यन्त धूमधाम से हुआ। 04 जुलाई को मध्याह्न में चातुर्मास स्थापना का कार्यक्रम था। दूर-दूर से श्रद्धालुओं की भीड़ उमड़ पड़ी। सतना के नागरिक तो न जाने कब से इस शुभ घड़ी की मानो प्रतीक्षा ही कर रहे थे। पहिले दिन से ही पूज्य मुनि श्री ने जिनालय स्थापना और मूलनायक तीर्थंकर श्री 1008 नेमिनाथ स्वामी जिनबिम्ब प्रतिष्ठापना के 125 वें वर्ष समारोह में अपनी रुचि प्रदर्शित की और अपना मार्गदर्शन प्रदान किया। उन्होंने इसे 'नेमिनाथ महोत्सव' का नाम देकर इस आयोजन को एक विराट स्वरूप प्रदान किया। चातुर्मास मे होने वाले सभी आयोजन 'नेमिनाथ महोत्सव' के अंग माने गये। यह मेरा सौभाग्य था कि मुझे 'नेमिनाथ महोत्सव' और सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी' के सयोजन का भार सौंपा गया। देवाधिदेव श्री 1008 नेमिनाथ प्रभु के चरणों की कृपा, परम पूज्य श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज का आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन, आ0 बाल ब्रह्मचारी श्री अशोक भैया जी का निर्देशन तथा सकल दिगम्बर जैन समाज के सक्रिय सहयोग के परिणाम स्वरूप समस्त कार्यक्रम आशातीत ढंग से सुसम्पन्न हुए। आ0 श्री अशोक भैया जी के कुशल निर्देशन का ही यह प्रभाव था कि नेमिनाथ महोत्सव जनमानस की स्मृतियों में सदा के लिये अंकित हो गया है। नेमिनाथ महोत्सव की संयोजन समिति में मुझे श्री प्रमोद जैन (अरिहन्त गारमेन्ट्स) तथा श्री संदीप जैन (अवन्ती फार्मा) का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ, जिसके लिये मैं उनके प्रति आभारी हूँ। इस आयोजन हेतु गठित विभिन्न उपसमितियों के माध्यम से अनेकों भाई-बहिनों ने पूर्ण समर्पण भाव से सक्रिय रहकर महोत्सव को सफल बनाया, उन सभी के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ। जैन नवयुवक मंडल, जैन महिला क्लब, जैन बालिका क्लब और श्री महावीर दिगम्बर जैन उ0 मा0 विद्यालय के शिक्षक बन्धुओं सहित नन्हें-मुन्ने बालक-बालिकाओं ने भी अपना जो अंशदान दिया उसके लिये मेरा हृदय गद्‌गद् है। शब्दों के माध्यम से उनके प्रति आभार व्यक्त करना संभव नहीं। सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी के सुसंचालन हेतु प्रारम्भ से ही भाई श्री सिद्धार्थकुमार जी का सहयोग प्राप्त होता रहा। उनके प्रति आभार व्यक्त करके मैं अपने प्राप्तव्य को कम नहीं करना चाहता।

आवास व्यवस्था को चि. अनुराग और चि. वर्द्धमान ने जिस तरह से सँभाला उसकी आगत सभी अतिथि विद्वानों ने भूरि-भूरि सराहना की। इनके साथ-साथ व्रती-त्यागी व्यवस्था, भोजन व्यवस्था, स्वागत व्यवस्था, मंच व्यवस्था तथा विद्वान सम्मान एवं विदाई व्यवस्था में जिन-जिन महानुभावों ने अपना सहयोग प्रदान किया है उन सभी के प्रति आभार प्रकट करना मेरा कर्त्तव्य है।

नेमिनाथ महोत्सव सहित सर्वोदय विद्वत संगोष्ठी में पधारे सभी श्रेष्ठि जनों, विद्वानों, श्रद्धालु साधर्मी भाई-बहिनों के प्रति भी मैं श्रद्धानत हूँ।

संगोष्ठी के शुभारम्भ हेतु मुख्य अतिथि के रूप में सम्माननीय श्री डॉ. ए. डी. एन. वाजपेयी, कुलपति कप्तान अवधेशप्रतापसिंह विश्वविद्यालय, रीवाँ तथा समापन सत्र के मुख्य अतिथि के रूप में श्री डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, विक्रम

विश्वविद्यालय, उज्जैन ने पधारकर सम्पूर्ण आयोजन को जो गरिमा और अर्थवत्ता प्रदान की, उसके लिये मैं उपर्युक्त मनीषियों के प्रति बहुत-बहुत आभारी हूँ।

सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी के समापन सत्र में समाज के मंत्री श्री पवन जैन ने समाज के इस संकल्प की घोषणा की कि 'फिरोजाबाद में सम्पन्न प्रथम संगोष्ठी सहित सतना संगोष्ठी के निष्कर्षों को सतना समाज प्रकाशित करायेगी' का सभी ने स्वागत किया था। यह एक बड़ा भारी उत्तरदायित्व था, जिसे सतना जैन समाज ने अंगीकार करते हुए उसके प्रबन्धन का भार मुझे और भाई सिद्धार्थ जी को सौंपा। प्रस्तुत तत्त्वार्थसूत्र-निकष वस्तुतः आदरणीय ब्रह्मचारी श्री राकेश भैया जी के अनथक श्रम का ही प्रतिफल है। सम्माननीय प्राचार्य श्री निहालचन्द जी बीना के साथ राकेश भैया जी ने इसे संयोजित किया, मुद्रण की त्रुटियों को परिमार्जित किया और सजा-सँवारकर इसे संग्रहणीय रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत किया है। दिगम्बर जैन समाज सतना की ओर से मैं उनके प्रति प्रणति निवेदित करता हूँ।

देश के शीर्षस्थ विद्वानों ने अपना बहुमूल्य समय प्रदान कर संगोष्ठी में अपनी उपस्थिति अंकित की। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के अगाध सिन्धु में गोते लगाकर जिन मणि-मुक्ताओं को समेटा, उन्हें कागज में अपने गहन चिन्तन सहित अंकित कर संगोष्ठी मे उनका वाचन किया था। विद्वान् संपादक द्वय ने प्राप्त आलेखों में से सर्वश्रेष्ठ आलेखों को आपके अध्ययन, चिन्तन और मनन के लिए इसे पुष्पगुच्छ के रूप में प्रस्तुत किया है। परम पूज्य मुनिराज श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज की सारगर्भित टिप्पणियों ने इस पुष्पगुच्छ को और-और सुवासित किया है।

हमें विश्वास है कि सुधी विद्वद्गणों के गहन चिन्तन से मंडित यह तत्त्वार्थसूत्र निकष सर्वसाधारण के लिये अमृत-पेय जैसा तो होगा ही, जिनवाणी की सेवा में रत समस्त त्यागी-व्रतियों और महाव्रतियों के बीच भी आदरणीय और सग्रहणीय ग्रन्थ के रूप में स्थान प्राप्त करेगा। सन्दर्भग्रन्थ के रूप में इसे उद्धृत किया जायेगा, मैं ऐसा भी विश्वास करता हूँ, मुझे अपनी अल्पज्ञता का भान है। अपनी क्षमताओं से भी मैं अनजान नहीं, इसलिये इस तत्त्वार्थसूत्र निकष में आपको जहाँ कहीं कुछ विशृंखलित / विसंयोजित लगे उस सबकी जिम्मेदारी मेरी। फूल-फूल आप चुनें, काँटों पर हक मेरा है।

और अन्त में, परम पूज्य गुरुदेव श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज को त्रैकालिक नमोऽस्तु की, जिनकी कृपा के बिना यह सब कुछ होना दुष्कर था, सहित देवाधिदेव श्री 1008 नेमिनाथ स्वामी के श्री चरणों में कोटि-कोटि नमन करते हुये इस कृति को

प्रभु के श्री चरणों में अर्पित करता हूँ, इस भावना के साथ कि -

'तेरा तुझको सौंपिया क्या लागा है मोय'

सिंघई जयकुमार जैन, अमरपाटन वाले
संयोजक - नेमिनाथ महोत्सव एवं सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी
(मे. अनुराग ट्रेडर्स, सतना)

सचिव की कलम से .....

मुनि श्री 108 प्रमाणसागर जी का चातुर्मास : सतना का सौभाग्य

2 जुलाई 2004 का वह पावन दिन जब परम पूज्य 108 प्रमाणसागर जी महाराज के चरण सतना की धरा पर पड़े। पूज्य मुनि श्री के चरण सतना में क्या पड़े, नगर के हर सम्प्रदाय के लोगों के आचरण बदल गये। 4 जुलाई को चातुर्मास की स्थापना हुई। चातुर्मास के 4 माह एवं सतना वालों की भक्ति भावना के फलस्वरूप बोनस के रूप में एक माह का सानिध्य और प्राप्त हुआ। परम पूज्य मुनि श्री के सान्निध्य में पूरे चातुर्मास में अनेक प्रभावक आयोजन सम्पन्न हुये। इनमें इतिहास के सुनहरे पृष्ठों पर अंकित होने वाले कुछ आयोजनों का विवरण प्रस्तुत करने का लोभ संवरण हम नहीं कर पा रहे हैं -

2 जुलाई को आगमन - 2 जुलाई के दिन जब मैहर मार्ग से पूज्य मुनि श्री के चरण सतना की ओर बढ़ रहे थे तो उनकी अगवानी का उल्लास देखते ही बनता था। समाज के प्रत्येक नर-नारी केशरियाँ ध्वज लिये श्वेत/केशरियाँ वस्त्रों में 108 कलश लिये महिलाएँ, आकर्षक संगीत मण्डली एवं गाजे-बाजे के साथ भव्य अगवानी में शामिल थे।

2. चातुर्मास कलश स्थापना - पूज्य मुनि श्री से 4 जुलाई को नगर के सभी सम्प्रदायों के प्रमुख लोगों ने चरणों में श्रीफल अर्पित कर चातुर्मास का निवेदन किया। तदुपरान्त पूज्य मुनि श्री द्वारा धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न कर सभी नगरवासियों को चातुर्मास सतना में करने का वचन दिया।

3. अनूठी प्रवचनमालाएँ - चातुर्मास के दौरान समय-समय पर विभिन्न सम-सामयिक विषयों पर आयोजित की गई प्रवचनमाला नगर के लोगों की स्मृतियों पर सदैव अंकित रहेगीं। जैन सम्प्रदाय से ज्यादा जैनेतर बन्धु नियमित श्रवणपान करने आते थे। पूज्य मुनि श्री की अद्भुत वक्तृत्व कला स्वतः ही श्रोताओं को बाध लेती है। अनेक लोगों के आचरण में बदलाव प्रवचनमाला की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

4. नेमिनाथ महोत्सव - यह एक सुखद संयोग रहा कि सतना जिनालय ने इस वर्ष अपने 124 वर्ष पूर्ण कर 125 वाँ वर्ष समारोह पूर्वक मनाया। 1008 भगवान नेमिनाथ महोत्सव के सभी कार्यक्रम पूज्य मुनि श्री के सान्निध्य में अत्यन्त भव्य रूप से सम्पन्न हुये। महोत्सव संयोजक श्री सिं. जयकुमार जी के समर्पण के लिये मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

5. अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी - पूज्य मुनि श्री के सान्निध्य मे सतना नगर के लोगों को देश के अग्रणी पंक्ति के विद्वानों के शोध, पूज्य उमास्वामी द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र पर सुनने को मिले। इस संगोष्ठी में प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन फिरोजाबाद, श्री मूलचन्द लुहाड़िया किशनगढ़, श्री रतनलाल बैनाड़ा आगरा, श्री शिवचरणलाल जी मैनपुरी, प्रो0 लक्ष्मीचन्द जैन जबलपुर, श्री श्रेयान्सकुमार जैन बड़ौत आदि अनेक विद्वत् वर्ग का सान्निध्य प्राप्त हुआ। सिं. जयकुमार जी एवं श्री सिद्धार्थ जी ने संगोष्ठी को सफलता की ऊँचाई प्रदान कीं। आपकी मेहनत को हम नमन करते हैं।

6. जनप्रतिनिधि सम्मान समारोह - चातुर्मास के दौरान श्री राघव जी (वित्तमंत्री, म. प्र. शासन), नरेश दिवाकर (विधायक, सिवनी), ओमप्रकाश सकलेचा (विधायक), अलका जैन (पूर्वमंत्री, विधायक), सुधा जैन (विधायक), आदि जनप्रतिनिधियों के सम्मान का अवसर प्राप्त हुआ।

7. श्रावकसंस्कारशिविर - पूज्य मुनि श्री के सान्निध्य में पर्यूषण पर्व के दौरान श्रावक संस्कार शिविर का

आयोजन किया गया। इस शिविर के संयोजन का भार श्री प्रमोद जैन पर था, जिसे उन्होंने बखूबी संभाला।

8. प्रथम जैन युवा सम्मेलन - तरुणाई की ऊर्जा का सृजनात्मक प्रयोग करने के उद्देश्य से पूरे देश में प्रथम बार सतना नगर में जैन युवाओं को संगठित कर उन्हें एक सूत्र में पिरोने का कार्य पूज्य मुनि श्री की प्रेरणा से ही हुआ। जैन नवयुवक मंडल सतना के तत्त्वावधान में सम्पन्न इस युवा सम्मेलन में पूरे देश से 1200 युवाओं ने सहभागिता निभाई एवं निर्धारित किये गये उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संकलित हुये। सम्मेलन की सफलता में युवा सम्मेलन के संयोजक दीपक जैन, अविनाश जैन एवं जैन नवयुवक मंडल के सभी सदस्यों का प्रयास उल्लेखनीय है।

9. रामायण-गीता-ज्ञानवर्षा - नगर में यह प्रथम अवसर था जब दिगम्बर जैन मुनि का कोई कार्यक्रम जैन समाज के अलावा किसी अन्य सस्था द्वारा आयोजित किया गया हो। पाँच दिवसीय यह भव्य कार्यक्रम नगर की सक्रिय संस्था भारत विकास परिषद द्वारा आयोजित किया गया। देश में प्रथम बार रामायण और गीता पर सार्वजनिक रूप से किसी जैन सन्त ने प्रवचन देकर जैन शास्त्रो को साक्ष्य रूप में प्रस्तुत किया। इस आयोजन में अपार जैनेतर जनसमूह मुनि श्री की वाणी को सुनकर मुनि श्री का भक्त बन गया। सम्पूर्ण देश में इस आयोजन की सराहना हुई। इस परिकल्पना के सयोजक श्री इंजी0 उत्तम बनर्जी, श्री उमेश ताम्रकार एव श्री जितेन्द्र जैन (झासी) के श्रम की मैं सराहना करता हूँ।

10. कल्पद्रुम महामण्डल विधान - 17 नवम्बर से 27 नवम्बर तक आयोजित कल्पद्रुम महामण्डल विधान कई विशेषताओ के साथ सम्पन्न हुआ। मन्दिर प्रागण से लेकर समारोह स्थल तक पूरा शहर रोशनी से जगमग होता रहा। सुधीर जैन एण्ड पार्टी सागर के सगीत ने भक्ति की ऊर्जा को बढ़ाया, रात्रि मे राजेन्द्र जैन उमरगा की आकर्षक प्रस्तुति भी मनमोहक रही। पाँच-पाँच हाथियों पर सवार होकर निकलने वाली 'महाआरती' अपने आपमें मनमोहक थी। 27 नवम्बर को नगर मे प्रथम नगर गजरथ यात्रा की स्मृति नगरवासियो को ताउम्र रहेगी। जिनेन्द्रप्रभु के 22 फिट ऊँचे रथ को खीचते गज और रथ के आगे चलते पूज्य मुनि श्री जी, अनेक कलाकृति, उद्घोषो का घोष, मानो ऐसा लग रहा था कि नगरी साक्षात् समवसरण में परिवर्तित हो गयी है। जो भाग्यशाली लोग इस रथयात्रा के साक्षी रहे उन्हे यह रथयात्रा किसी चमत्कार से कम नहीं लगी। इस कार्यक्रम के सयोजक सदीप जैन ने जिस कुशलता से सम्पूर्ण कार्यक्रम का सयोजन किया वह सफलता का पर्याय बन गया। भाई सदीप को बहुत-बहुत साधुवाद।

11. पिच्छिका परिवर्तन समारोह - चातुर्मास के अन्तिम चरण में 28 नवम्बर को सयम की प्रतीक पिच्छिका परिवर्तन का कार्यक्रम हुआ। पूरे देश से पधारे श्रेष्ठीजनों के बीच पूज्य मुनि श्री ने मार्मिक उद्बोधन में सभी को संयम ग्रहण करने की प्रेरणा दी।

12. अहिंसा सद्भाव पदयात्रा - और देखते ही देखते पूज्य मुनि श्री के मगल विहार की तिथि 2 दिसम्बर सन्निकट आ गई। पूज्य मुनि श्री जी ने अपने चरण बढ़ाये तो सभी की आँखें नम थीं, बोझिल मन से मुनि श्री के साथ अनेक लोग इस पदयात्रा में शामिल हुये। सतना नगर के दो प्रतिष्ठित परिवार अभय जैन, अवंती परिवार एवं राजकुमार जैन गुल्ली ने मिलकर अहिंसा सद्भाव पदयात्रा के दायित्व निर्वहन की जिम्मेदारी ली। हम उनके भाग्य की सराहना करते हैं। मुनि श्री के साथ सम्मेद शिखर जी की पद यात्रा करते हुये पूरे समय वैयावृत्ति करने का सौभाग्य प्रदीप जैन को मिला, हम उनके साहस एवं संकल्प की सराहना करते हैं। पदयात्रा संघ के संघपति समाज अध्यक्ष श्री कैलाशचन्द जी एव अन्य पदयात्री बन्धुओं को भी हम धन्यवाद देते हैं।

चातुर्मास के दौरान सम्पूर्ण देश से निरन्तर विशिष्ट जनों का आगमन मुनि श्री के दर्शनों के लिए होता रहा। श्री अशोक पाटनी किशनगढ़, श्री प्रभात जैन कन्नौज, श्री हीरालाल बैनाड़ा, श्री डॉ. ए. डी. एन. बाजपेयी कुलपति कप्तान अवधेशप्रतापसिंह विश्वविद्यालय रीवा, श्री राघव जी, स्वामी अखिलेश्वरानन्दगिरि जी, बाबा ईश्वरशाह हरे माधव कटनी, श्री नरेश दिवाकर एवं ओमप्रकाश सकलेचा विधायक, श्रीमती अलका जैन तत्कालीन शिक्षामंत्री मध्यप्रदेश, श्री जीवन दादा पाटिल सांगली, श्री एम. के. जैन जी. एम. बी. एस. एन. एल., श्री ऋषभ दिवाकर अतिरिक्त पुलिस महानिर्देशक, श्री सुभाष जैन एवं श्री रतीलाल मुम्बई आदि अनेक विशिष्टजनों का सान्निध्य सतना जैन समाज को प्राप्त हुआ।

चातुर्मास का प्रत्येक दिन त्यौहार का दिन प्रतीत होता था। बीच-बीच में कई प्रेरणादायी कार्यक्रम अन्य बन्धुओं/समाजों ने भी किये। श्वेताम्बर समाज में प्रवचन, कृष्ण जन्माष्टमी पर श्री गोविन्द बड़ेरिया जी द्वारा अमृत वाटिका में प्रवचन का आयोजन आदि।

श्री शंकरलाल जी ताम्रकार, श्री श्रीकृष्ण जी माहेश्वरी, डॉ. लालताप्रसाद खरे, प्रो0 सत्येन्द्र शर्मा, श्री अतुल दुबे एडवो., श्री अजय द्विवेदी आदि महानुभावों ने चातुर्मास काल मे अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया। मैं समाज की ओर से उनके प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

वैसे तो सतना नगर को पूर्व में भी पूज्य साधुजनों का चातुर्मास कराने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा है। किन्तु पूज्य मुनि श्री 108 प्रमाणसागर जी का चातुर्मास सतना नगर में जिस अपूर्व प्रभावना के साथ-साथ जैनेतर समाज में अमिट छाप छोड़कर गया है वह नगर को सदैव याद रहेगा। चातुर्मास की सफलता में वैसे तो समाज के प्रत्येक नर-नारी का सहयोग रहा है फिर भी इस अवसर पर चातुर्मास संयोजक श्री अभयकुमार जैन अवती, सहसयोजक राजकुमार जी गुल्ली, आवास संयोजक पीयूष जैन लप्पू, अविनाश जैन, भोजनव्यवस्था संयोजक प्रभात जैन उत्सव, सुशील जैन, शैलेन्द्र जैन धार्मिक कार्यक्रम आयोजन सयोजक प्रमोद जैन, प्रचार-प्रसार संयोजक आनन्द जैन, विशेष कार्यक्रम आयोजन हेतु स्व0 श्री शशांक जैन एवं श्री अजय जैन, सुरक्षा व्यवस्था सयोजक श्री पप्पू रहली एव सतेन्द्र जैन, इंजीनियर रमेश जैन, नन्दन जैन अमरपाटन तथा पी. के. जैन का मैं विशेष आभारी हूँ। स्थानाभाव के कारण यहाँ सभी बन्धुओं का नाम देना पाना सम्भव नहीं है। मैं जानता हूँ कि बहुत से बन्धु जिनका नाम किसी भी कमेटी में नहीं रहा फिर भी पर्दे के पीछे रहकर भी उन्होने अथक मेहनत करके चातुर्मास की सफलता में सहयोग दिया है। मैं ऐसे सभी बन्धुओं का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

अन्त में सभी स्थानीय संगठनों जैन क्लब, जैन नवयुवक मंडल, महिला क्लब, बालिका क्लब सहित श्री दिगम्बर जैन उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के छात्र-छात्राओं एवं स्टाफ का आयोजनों में सहयोग देने के लिए धन्यवाद देते हुये अपनी कलम को विराम देता हूँ।

पवन जैन
मंत्री, श्री दिगम्बर जैन समाज, सतना
(मे. पवन ट्रेडिंग कं. सतना)

मुनिश्री प्रमाणसागर जी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

मुनि श्री प्रमाणसागर जी जैनागम के ऐसे सत्यान्वेषी दिगम्बर सन्त हैं, जिनकी दैनिकचर्या का बहुभाग अध्ययन/मनन/चिन्तन/शोधपरक सृजन के लिये समर्पित रहता है। 'जैनधर्म और दर्शन' आपकी प्रथम बहुचर्चित मौलिक कृति ने जहाँ आपके लेखनीय कर्म को स्वयं के नाम की सार्थकता से जोड़ दिया है, वहीं 'जैनतत्त्वविद्या' ने आगम के समुन्दर को बूँद में समाहित करने का भागीरथी प्रयास किया है। इन दोनों कृतियों ने पूर्व की आध्यात्मिक संस्कृति को आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृति से जोड़ने का एक अभिनव कार्य किया है।

मुनिश्री प्रमाणसागर जी महाराज, जैनागम के आलोक लोक के ध्रुवनक्षत्र, सन्त शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के प्रज्ञावान शिष्यों में से एक हैं। अपनी अल्पवय में ज्ञान और वैराग्य के प्रशस्त पथानुगामी बन अन्तर्यात्रा का जो आत्मपुरुषार्थ सहेजा है, उससे आपके व्यक्तित्व की अनेक विधाएँ प्रस्फुटित हुई हैं।

आपकी चिन्तनशीलता, वैज्ञानिक एवं शोधपरक है - इसका ठोस प्रमाण आपकी कृति 'जैनतत्त्वविद्या' है, जिसमें आपने कर्मसिद्धान्त के विषय को करणानुयोग के अन्तर्गत न मानकर द्रव्यानुयोग का विषय माना है। इसके समर्थन में आपका वैज्ञानिक तथ्य तर्कपूर्ण है। कर्म पुद्गल द्रव्य है। अस्तु कर्म की समस्त प्रक्रियाएँ द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत ली जानी चाहिये।

भाषाशैली : आपकी भाषा प्रवाहमयी एव सुगम है। कहीं भी आगमिक, पारिभाषिक शब्द दुरुह नहीं लगते। सरल, सुबोध और संक्षिप्तता आपकी लेखन-शैली की एक पहचान बन गयी है। विस्तृत विषयवस्तु को एक-दो वाक्यों में सुस्पष्ट कर देना मुनिश्री की विशेषता है। ऐसी प्रभावक लेखन-शैली का उद्भव तभी होता है, जब लेखक अपने चिन्तन को मंथन प्रक्रिया के द्वारा प्रांजल विचारों का नवनीत प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। उसके मानस में भ्रम और भ्रांतियों के लिये कोई जगह नहीं होती।

साहित्यिक कृतियाँ : आपकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है 'जैनतत्त्वविद्या'। लेखक की यह ऐसी कृति है जो भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली द्वारा प्रशंसित की गई है। जिसमें अनेक आगम ग्रन्थों के सारभूत तत्त्वों को एक ग्रन्थ में समाहित कर गागर में सागर भरने की युक्ति चरितार्थ की गई है। इसका लेखक एक निष्काम दिगम्बर जैन साधु है, जो वास्तुविद् और ज्योतिषविद्या का ज्ञाता है। आपकी अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियाँ 'जैनधर्म और दर्शन', 'दिव्य जीवन का द्वार', 'अन्तस की आँखें' और 'ज्योतिर्मय जीवन' आदि हैं।

प्रवचन कला में निष्णात : लेखकीय कर्म के साथ ज्ञान की अभिव्यक्ति आपके धारावाही प्रवचन में देखने को मिलती है। वाणी में जहाँ ओजस्वी गुण है, वहीं सम्मोहकता का जादू भी है। श्रोता ऐसा खिंचा हुआ बैठा रहता है जैसे उसका हृदय ही बोल रहा हो। बोलते हुये मुख की मुस्कान सोने में सुहागा की उक्ति चरितार्थ करती है। प्रवचन में एक तत्त्व सर्व व्याप्त रहता है, वह है वशीकरण। आपके प्रवचन में शब्द सौष्ठव की बासंती छठा और विषय का सहज प्रस्तुतीकरण संगीत सा माधुर्य उत्पन्न कर देता है।

मुनिश्री के वात्सल्यमय व्यवहार और छोटे-बड़े सभी से सरलता और मुस्कान के साथ मिलना आपके व्यक्तित्व की एक ऐसी छवि है, जो आपमें सहज है। जब ज्ञान की तेजस्विता, अहंकार के हिम को पिघलाकर गलित कर देती है,

तो ऐसी विनम्रता का सहज स्फुरण होने लगता है। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी भाषाविद् आप जैन साहित्य, दर्शन, इतिहास के तलस्पर्शी अध्येता हैं। ज्ञान, ध्यान और तप की प्रांजल साधना के प्रखर निर्ग्रन्थ साधु हैं। भगवान महावीर और गौतम बुद्ध की अध्यात्म संस्कृति से धनी बिहार भूमि के इतिहास की झलक आपके व्यक्तित्व से झरने की तरह प्रवाहित होती हुई आपके बिहार प्रान्तवासी होने का स्वतः सिद्धप्रमाण है।

सन्त जो करता है वहीं बोलता है। उसकी कथनी और करनी की एकरूपता के कारण वाणी में सम्मोहन का जादू और प्रेरणा घुली होती है। वस्तुत: संत वचन ही प्रवचन बन जाते हैं, जो जीवन के नैतिक और धार्मिक विरासत की अनमोल धरोहर होती है। इसी प्रकार आपकी ज्योतिर्मय जीवन कृति मनुष्य की चेतना को ज्योतिर्मय बनाने का एक सशक्त माध्यम है, जो 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की यूक्ति को चरितार्थ करता है। सबसे बडी बात है प्रवचनकार में सन्तत्व की ऊष्मा का पारदर्शी दर्शन। जिसके मूल में है - आचार्य गुरुवर श्री विद्यासागर जी की अपने सुयोग्य शिष्यों को दी गई कठोर साधना की अग्निपरीक्षा। जिससे गुजरकर आप जैसे अनेक संघ के साधु दार्शनिक छवि वाले कवि तथा तप की गहन ऊष्मा की स्वर्णिम प्रभा से भास्वत है। आचार्य श्री ने अपने शिष्यों की दीक्षा में स्वयं के तपस्वी व्यक्तित्व और अपने आध्यात्मिक रस का अशदान कर उन्हें इतना स्वावलम्बी, निर्भयी, नि:शंक और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी बना देते हैं, कि ये समाज में एक विशिष्ट छाप छोड़ते हैं। मुनि श्री प्रमाणसागर जी ऐसे अग्रिम पंक्ती के शिष्यों में से एक हैं, जिनकी निजता में आत्मसाधना का कोष नजर आता है।

अगस्त 2005 में हजारीबाग में पूज्यमुनिश्री के विशेष प्रवचनमाला सुनने का सौभाग्य इन पक्तियों के लेखक को मिला। मुनि श्री के गृहस्थावस्था की माता मोहनीदेवी, पिता श्री सुरेन्द्रकुमार सेठी और अन्य परिवार जनों से भेट कर उसी पावन गृहरज को मस्तक पर लगाने का सौभाग्य मिला, जिसमें मुनि श्री जन्मे और बडे हुये थे। आपके चचेरे भाई श्री सुनील जैन एवं ताई श्रीमती विमला जैन, जिन्हें आप भाई कहकर पुकारते थे लगभग एक घण्टे तक उनसे बात करके उनकी मनोगत भावनाओं से रूबरू हुये। उस साक्षात्कार से यह बात सामने आई कि बालक नवीन के जीवन में एक अप्रत्याशित परिवर्तन घटित हुआ। अध्यात्म और धर्म का क, ख, ग न जानने वाला नवीन परम पूज्य के पारस प्रभाव से उनकी सुषुप्त आत्मा ऐसे जाग गई जैसे कोई नींद से जाग जाता है। यह क्रान्तिकारी परिवर्तन उनके नाना जी के नगर दुर्ग में हुआ। जहाँ आचार्य श्री विराजमान थे। उनकी कृपा और आशीर्वाद से ऐसा प्रसाद मिला कि आज एक विश्रुत दिगम्बर संत के रूप में उनकी तेजस्विता प्रगट हो रही है। मुनिश्री के बहुत सारे बालमित्रों, सहपाठियो और शिक्षकों से भी साक्षात्कार किया। उनकी गहरी भक्ति और भावनाओं से अवगत होकर यह सोचने के लिये बाध्य कर दिया कि मुनिश्री में ऐसा क्या सम्मोहन है, जो प्रात: 5 बजे से रात्रि 10 बजे तक श्रद्धालुओं और भक्तों का जमाव कम होता दिखाई नहीं देता। आत्मीय स्पर्श की एक महक सम्पूर्ण वातावरण में बिखरी हुई दिखाई दी। रात्रि को वैयावृत्ति में 3 वर्ष के बालक से लेकर 75 वर्ष के वृद्धजन चरणस्पर्श करते हुये देखे गये।

सतत् स्वाध्याय, चिन्तन, मनन की मूल प्रवृत्तियों के धारक होने के साथ आप जैनागम, जैन इतिहास, साहित्य व दर्शन के तलस्पर्शी अध्येता हैं। धर्म एक जीवन्त शक्ति है और परम पूज्य मुनि श्री स्वयं उस धर्म की गंगोत्री हैं। उनके चिन्तन और चलन में, आचरण व जिह्वा में अभिन्नता एवं साम्यता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति के चित्त पर आप अद्भुत प्रभाव छोड़ देते हैं।

प्रारम्भिक वक्तव्य

परम पूज्य मुनि श्री 108 प्रमाणसागर जी

आज हम एक ऐसे ग्रन्थ के विषय में विवेचना और विचार सुन रहे हैं, जिसके विषय में जितना भी सोचा और सुना जाए वह कम ही होगा। जैन साहित्य का भण्डार अत्यन्त विपुल है। एक से एक सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक और आचारग्रन्थों का सृजन हुआ है, लेकिन सम्पूर्ण जैन वाङ्मय मे 'तत्त्वार्थसूत्र' ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसके पाठ मात्र से भरे पेट में एक उपवास का फल मिलता है। यह इस ग्रन्थ की महत्ता या गरिमा का परिचायक है। कितना महान है यह ग्रन्थ कि जिसके वाचन मात्र से एक उपवास का फल मिलता है। आखिर इसे ऐसी महत्ता क्यों मिली ? इसलिये कि यह अपने आप में 10 अध्यायो मे विभक्त और 357 सूत्रो मे निबद्ध इस लघुकाय ग्रन्थ मे गागर में सागर समाहित है। जैन वाङ्मय का ऐसा कोई अश नही बचा जिसने इस तत्त्वार्थसूत्र में स्थान न पाया हो। यह जैन वाङ्मय का सस्कृत में निबद्ध प्रथम सूत्रग्रन्थ है। सूत्र की शैली मे निरूपित होने के कारण जैन सस्कृति मे इसका सर्वत्र और समान आदर होता रहा है, चाहे वह दिगम्बर परम्परा हो या श्वेताम्बर परम्परा। इसके एक-एक अध्याय का अपना विशिष्ट प्रतिपाद्य है। वस्तुत: तत्त्वार्थसूत्र का मूल प्रतिपाद्य व्यक्ति को व्यक्ति से उठाकर उसके व्यक्तित्व को विकसित करते हुये प्रभुता की अनन्य ऊँचाई तक पहुँचाना है। हम अपने भीतर छिपी परमार्थशक्ति को कैसे अभिव्यक्त कर सके, यह सारा मार्ग तत्त्वार्थसूत्र मे उल्लिखित है। आत्मा से परमात्मा बनने का सारा मार्ग इस तत्त्वार्थसूत्र का मूल प्रतिपाद्य है। इसके साथ जो दूसरे विषय आये है, वे सब आनुषगिक है। आचार्य उमास्वामी का लक्ष्य ससार के बारे मे ज्यादा बताने का नही रहा है। उनका एक ही उद्देश्य है और वह है ससार से मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करना और इसी ख्याल से इस ग्रन्थ की शुरुआत ही उन्होने -

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'

सूत्र से कही है और कहा है कि 'जो इन तीनो को धारण करके आत्मकल्याण की दिशा में आगे बढता है, सच्चे अर्थों मे वही मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।'

जीव के असाधारण भावों की विवेचना : आधुनिक सन्दर्भ में

पच भावो के विषय मे आलेख प्रस्तुत किया गया। आधुनिक परिवेश के विषय मे उसमे भावो की बात कही और बीच मे जो प्रश्न उठे उनका समाधान भी आपके समक्ष प्रस्तुत किया।

इन पाच भावो को हमे आधुनिक सन्दर्भ मे जोड़ने की जरूरत है और देखा जाय तो इन पचभावो में हमारा जैन मनोविज्ञान भी समाहित है। मनोविज्ञान के हिसाब से 14 मूलवृत्तियों के साथ औदयिक भावों की समायोजना की जानी चाहिए।

चारित्र की ही बात नहीं की गई, उसके आगे एक विशेषण लगाया गया है 'सम्यक्'। अन्धी श्रद्धा को जैन परम्परा मे कोई स्थान नहीं दिया गया। गलत ज्ञान को, किताबी ज्ञान को, ऊपरी ज्ञान को जैन परम्परा में मान्यता नहीं दी गई और उल्टे-सीधे आचरण को भी जैन दर्शन में महत्त्व नहीं दिया गया। चाहे कोई कितनी भी हठयोग की साधना करे या तपस्या करे, व्यक्ति की तपस्या और व्यक्ति का ज्ञान तब ही सार्थक होता है जबकि वह 'सम्यक्' विशेषण से विभूषित हो। सम्यक्त्वमण्डित हो, सच्ची श्रद्धा हो और ये सच्ची श्रद्धा न केवल प्रभु के प्रति अपितु अपने भीतर की आत्मा के प्रति भी

हो। स्वयं के प्रति अपने स्वरूप के प्रति जब तक हम श्रद्धावनत नहीं होते, तब तक हमारे जीवन के कल्याण की प्रतिक्रिया प्रारम्भ नहीं होती। बन्धुओ ! सबसे पहली आवश्यकता है अपने स्वरूप के बोध की। स्वरूप के बोध के अभाव में हम कभी अपना कल्याण नहीं कर सकते। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने जब इस सूत्र की व्याख्या करनी प्रारम्भ की तो यह कहा कि मोक्षमार्ग की शुरुआत कैसे होती है ? उन्होंने बहुत अच्छा उदाहरण दिया - एक व्यक्ति जैसे ही इस बात का एहसास करता है कि मैं रोगी हूँ। मुझे किसी बीमारी ने घेरा है, वैसे ही किसी चिकित्सिक के पास जाता है और उससे अपनी बीमारी का इलाज कराता है। सन्त कहते हैं - ऐसे ही जिस तरह तुम बाहर की बीमारी का एहसास करते ही उसका प्रतिकार करते हो, उसी तरह वही मोक्षमार्ग में लग सकता है, जो संसार के दु:खों से व्याकुल होता है। हम अपने स्वरूप का एहसास करें कि क्या हम जिस रूप मे जी रहे हैं वही हमारा सही स्वरूप है अथवा हमें कुछ और होना चाहिए। यह भावना जब व्यक्ति के मन में जगती है तब उसे मोक्षमार्ग में लगने का भाव जागृत होता है। संकल्प और साहस उसके अन्दर पैदा होता है।

मोक्षमार्ग की शुरूआत स्वरूप बोध से होती है और उसकी परिपूर्णता स्वरूप की उपलब्धि से होती है। हम कहते हैं कि मोक्ष मिल गया। मोक्ष कोई निधि है जो मिल गई ? मोक्ष और कुछ नहीं है, 'सिद्धिस्वात्मोपलब्धि' अपनी उपलब्धि का नाम ही सिद्धि है। इससे भिन्न किसी उपलब्धि की परिकल्पना मे कभी मत उलझना। हम अपने आपसे अपने स्वरूप से दूर हैं, बन्धनबद्ध हैं, हमारे ऊपर कर्म का, संस्कारों का, माया का, अज्ञान का, अविद्या का, बंधन है। जब तक यह बन्धन टूटता नहीं है तब तक हम अपने वास्तविक स्वरूप को उपलब्ध करने में सक्षम नही होते और स्वरूपोपलब्धि के अभाव में हमें मोक्ष की प्राप्ति कभी हो नहीं सकती।

तत्त्वार्थसूत्र का मूल प्रतिपाद्य यही है और इस बात मे जो सबसे महत्त्वपूर्ण निर्देश आचार्य उमास्वामी ने दिया है, वह है 'तुम एक को पकड कर बैठ मत जाना, अक्सर ऐसा होता है कि कोई सम्यक्त्व को, श्रद्धा को, ज्ञान को, आचरण को महत्त्व देते हैं। कोरी श्रद्धा से काम नहीं चलता, न कोरे ज्ञान से काम चलता है। श्रद्धा-ज्ञान शून्य क्रिया से भी काम नहीं चलता। हमारा उद्धार नहीं होता। हमारा उद्धार केवल तभी होगा जब हम तीनों से अपने आप को जोड़कर चलेंगे। इसे समझने के लिये में एक उदाहरण देता हूँ। अभी प्राचार्य जी ने भी आचार्य महाराज द्वारा प्रदत्त एक उदाहरण आप सबको दिया। आपने नसैनी (सीढी) देखी होगी। इन तीनो की उपयोगिता को समझने के लिये मैं नसैनी का ही उदाहरण देता हूँ। जैसे नसैनी में दो सीधी लकड़ियाँ और जोडने वाली आडी लकडियाँ होती है। सीधी लकड़ियों को हम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मान लें तो उन्हें जोडने वाली लकडी सम्यक्चारित्र है। इन तीनों का संयुति होनी आवश्यक है।'

आचार्य उमास्वामी की दृष्टि में अकालमरण

अकालमरण के सम्बन्ध में जो भ्रान्तियाँ हैं, शायद इस लेख मे इसका समायोजन नहीं हो पाया है। अकालमरण की मान्यता विषयक भ्रान्ति का निरसन उन्होंने यद्यपि कर दिया है, लेकिन प्राय: एक लोक मान्यता बन पड़ी है और जैसी कि वैदिक परम्परा में भी मान्यता है कि किसी की अकाल मृत्यु हो जाती है तो जितनी उसकी आयु होती है, उतनी कालावधि तक वह प्राणी प्रेतयोनि में भटकता रहता है। जैन परम्परा में स्पष्ट उद्घोष है कि आयु के क्षय से ही मरण होता है। आयु का जब तक एक भी परमाणु बचा रहेगा तब तक मृत्यु नहीं हो सकती है।

जैन परम्परा यह बताती है कि यदि किसी की मृत्यु हुई है तो तत्क्षण वह जीव दूसरी योनि में जाकर अपने शरीर निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ कर देता है और कुछ कालावधि में अपने शरीर का निर्माण पूर्ण करके जन्म ले लेता है। एक

गति से दूसरी गति में जाने में जीव को अधिक से अधिक 4 समय लगते हैं। इससे ज्यादा नहीं लगता। जैन परम्परा यह बताती है कि आपके एक शरीर का नाश हुआ तो आत्मा अपने सूक्ष्म शरीर के माध्यम से अगले जन्म की स्थिति में आती है और अपने पुराने संस्कारों के बल पर नये शरीर के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ कर देती है। यह जो नये शरीर के निर्माण की प्रक्रिया है वही हमारी बायोटेक्नालॉजी और जिनेटिक इंजीनियरिंग्स से जुड़ी है, जिसकी चर्चा मैं अभी आपसे करने जा रहा हूं। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं, पर आप ऐसा मत सोच लेना कि यदि किसी की मृत्यु हो गई तो अपनी शेष आयु तक उसकी आत्मा भटकती है। कोई भी आत्मा इस तरह से भटकती नहीं है, वह किसी न किसी योनि में जाकर जन्म लेगी ही। जैसे उसके कर्म संस्कार होंगे उसे उसी प्रकार की पर्याय प्राप्त होगी। अब ये बात अलग है कि हमारी आयु समय पर नष्ट होती है या असमय में।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय के आखिरी सूत्र में कहा है- **'औपपादिकचरमोत्तम-देहाऽसंख्येयवर्षायुषः....'** इससे यह स्पष्ट है कि हमारी आयु का क्षय समय-असमय दोनो में हो सकता है और इसके लिये आगम में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इसे कदलीघात मरण संज्ञा से अभिव्यक्त किया गया है। जो किसानी करते हैं, वे जानते होंगे, केले के खेती में एक विशेषता होती है कि केले का वृक्ष केवल एक ही बार फल देता है और जैसे ही उसमें फल लगता है, उसके बगल में दूसरा पीका फूटता है और नया वृक्ष डेवलप हो जाता है। नये वृक्ष को पूरा रस मिले, पुराना वृक्ष रस ग्रहण न कर सके, नया पेड जल्दी विकसित हो इस भावना से किसान उस पुराने किन्तु हरे-भरे केले के वृक्ष को काट डालता है। जिस तरह केले के हरे-भरे वृक्ष को असमय में काट डाला जाता है, उसी तरह से जिसका हरा-भरा जीवन असमय में नष्ट हो जाता है, उस मरण का नाम ही कदलीघात मरण अथवा अकालमरण के नाम से जाना जाता है। एक उदाहरण से हम इसे समझते हैं। हमने पेट्रोमैक्स में तेल भरा। अगर उसकी व्यवस्था ठीक है तो बर्नर में जिस क्रम से तेल आयेगा, समझ लीजिये दो लीटर तेल छह घंटे तक चलेगा और यदि बर्नर लीक करने लगे तो वह तेल और अल्पसमय में भी जल सकता है। लेकिन अगर टैंक ही बर्स्ट हो जाय तो क्षणमात्र मे सारा तेल जल सकता है। बस बन्धुओ ! ये टैंक कब बर्स्ट हो जाय और आयु का तेल जल जाय इसका भरोसा नहीं है, पर ध्यान रखना आदमी कभी भी मरे, अपनी आयु के तेल के नष्ट होने के बाद ही मरेगा। यह अकालमरण के विषय में जानने योग्य बाते हैं।

एक-दो अन्य सैद्धान्तिक बातों का भी यहाँ समायोजन हो जाना चाहिये, जो कि आचार्य वीरसेन जी के द्वारा प्राप्त हुई हैं। धवला में एक विशेष बात कही गई है -

देवेहि बद्धाउगस्स कदलीघादो णत्थि।

जो जीव देवपर्याय से मनुष्य पर्याय में आया है, उसका अकालमरण नहीं होगा। अकाल मरण केवल उन मनुष्यों का होता है जो तिर्यंचगति, मनुष्यगति अथवा नरकगति से आता है। स्वर्ग से आने वाले जीवों के पास ऐसी सामर्थ्य होती है कि उनके जीवन में कोई दुर्घटना न घटे।

तत्त्वार्थसूत्र के सन्दर्भ में बायोटेक्नालॉजी, जेनेटिक इंजीनियरी एवं जीवविज्ञान

हमें जैन परम्परा में जो शरीर विज्ञान बताया गया है, हमारे स्थूल शरीर के निर्माण की जो प्रक्रिया बताई गई है, उस प्रक्रिया पर अगर गहराई से ध्यान दें तो हमें ऐसा लगेगा कि जैनाचार्यों ने आज से हजारों वर्ष पूर्व जो कहा था, वही आज की जूलॉजी, बायोटेक्नालॉजी और जैनेटिक इंजीनियरी में पढाया जा रहा है। अन्तर यह है कि पूर्व की प्ररूपणाओं को हम अपनी शब्दावली में व्यक्त करते हैं और वर्तमान वैज्ञानिकों की अपनी व्याख्यायें और विवेचनाएँ हैं।

हमारे यहाँ यह बताया गया है कि जब हम एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरी जन्म स्थिति में जाते हैं, मृत्यु के बाद हम जाते हैं तो हमारा स्थूल शरीर यहीं छूटता है। अपने सूक्ष्म और संस्कार शरीर के बल पर हम उस स्थान पर जाते हैं, जहाँ हमें जन्म लेना है और वहाँ जाकर के हम नये शरीर के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ करते हैं। हमारा यह जो शरीर विकसित होता है, नौ माह माँ के पेट में/गर्भ में रहने के बाद जन्म लेते हैं। जन्म तो बहुत बाद का है, वस्तुतः हमारा जन्म तो तभी हो जाता है जब हम अपनी योनि स्थान में पहुँचते हैं। उत्पत्ति का नाम ही जन्म है। इसका नाम तो योनि निष्क्रमण रूप जन्म है। वहाँ जाने के बाद प्रत्येक जीवात्मा कुछ विशेष प्रकार की पौद्गलिक शक्तियाँ अर्जित करता है। उन शक्तियों को आगम की भाषा में पर्याप्तियाँ कहते हैं। इन पर्याप्तियों को जो परिपूर्ण कर लेता है, वही जीव अपने जीवन के निर्माण में और जीवन के संचालन में सक्षम होता है। आगम में 6 पर्याप्तियाँ कही गई हैं, वे हैं - आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। मैं समझता हूं आधुनिक विज्ञान में जो जेनेटिक इंजीनियरिंग की बात है, वह शरीर पर्याप्तियों से सम्बन्धित है। शरीर पर्याप्ति ही जीन्स और क्रोमोसोम्स का निर्माण है। अब जब जीन्स और क्रोमोसोम्स डेव्हलप होगा तभी शरीर भी डेव्हलप होगा। आपने इसे नामकर्म से जोड़ा, वह सुसगत है। क्योंकि नामकर्म या किसी भी कर्म के साथ यह बात जुड़ी है कि कर्म अपना फल परिस्थिति और परिवेश के अनुरूप देते हैं। कर्म अपना फल देने में पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के परिवर्तन से कर्म के प्रभाव में परिवर्तन आ जाता है। इस हिसाब से देखा जाये तो कर्म सिद्धान्त के साथ जेनेटिक इंजीनियरिंग का पूरा सम्बन्ध है। आनुवंशकीय का पूरा सम्बन्ध है। यही कारण है कि पुण्यात्मा जीव धनपतियों के यहाँ ही जन्म लेते हैं, गरीब के यहाँ जन्म नहीं लेते। जहाँ पर माता-पिता सुन्दर हैं, तो उनके बच्चे भी सुन्दर होते हैं, क्योंकि कर्म को ऐसा पुण्य-क्षेत्र, काल और भाव मिलता है, ये तो मैंने एक स्थूल दृष्टि दी है। मुझे विश्वास है कि इस विषय की गहराई में और जाया जाय और कुछ और मोती निकाल कर लाये जायें। तभी यह बात लोगों तक पहुँचाने में सफल हों, कि जो बात आज विज्ञान कह रहा है, वही जैनदर्शन मे बहुत पहले कही जा चुकी है।

ध्यानविषयक मान्यताओं का समायोजन

तत्त्वार्थसूत्र की ध्यान विषयक मान्यता और अन्य दिगम्बराचार्यों की मान्यता में क्या मौलिक अन्तर है, इस बात को हमें स्पष्टतया रेखांकित करना चाहिये ताकि पाठक उसका तुलनात्मक रूप मे अध्ययन कर सकें। खासकर जो ध्यान देने योग्य है, ध्यान विषयक जो परम्परा जैनाचार्यों के मध्य आती है उसमें धर्मध्यान और शुक्लध्यान विषयक स्वामी की परम्परा को हमें महत्त्वपूर्ण रूप से उल्लेखित करने की आवश्यकता है।

उमास्वामी की परम्परा में और तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में धर्मध्यान का स्वामी श्रेणी से पहले निरूपित है। श्रेणी में शुक्लध्यान की ही मान्यता प्रचलित रूप से कही जाती है। आचार्य वीरसेन और अन्य प्ररूपणाओं में श्रेणी में धर्मध्यान का भी विधान है। धवला में ही एक जगह लिखा है, 'धर्मध्यानस्य फलं किं ?' धर्मध्यान का फल क्या है ? तो हमें उत्तर प्राप्त होता है - 'मोहनीयस्य खओ धर्मः ध्यानस्य फल' मोहनीय कर्म का क्षय धर्मध्यान का फल है अर्थात् इस मान्यता के अनुसार मोहनीयकर्म का क्षय 10 वें गुणस्थान में होता है। यह धर्मध्यान 10 वें गुणसथान तक चलता है। उस कथन के अनुसार 12 वें गुणस्थान में क्षपकश्रेणी की अपेक्षा दोनों शुक्लध्यान होंगे और उपशम श्रेणी की अपेक्षा 11 वें गुणस्थान में होंगे। इस ध्यान के बहुत पहले शुक्लध्यान होगा।

एक और मान्यता के अनुसार दूसरे शुक्लध्यान को भी प्रतिपाति निरूपित किया है। यह धवला की 13 वीं पुस्तक

से हमें समझ में आता है। आचार्य महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों को खूब गहराई से समझा है। आचार्य महाराज तत्त्वार्थसूत्र में भी कुछ ऐसी सूचनाएँ पाते हैं जिससे यह पता लगता है कि यह दोनों परम्पराओं में सेतु का कार्य करता है।

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी महाराज ने मूलतः धर्मध्यान के स्वामी के निरूपण का कोई सूत्र नहीं लिखा। ऐसा एक भी सूत्र नहीं है जो धर्मध्यान के स्वामी का निरूपण करता हो। उन्होंने आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान के विषय में स्वामित्व निर्धारित करते हुये कहा है कि '**तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्**' इसमें आर्त्तध्यान का भी स्वामित्व निर्धारित कर दिया और '**शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः**' इस सूत्र द्वारा 'पूर्वविद्' वालों को ही शुक्लध्यान का स्वामी बताया है। आचार्य महाराज इस सूत्र का बहुत अच्छा अर्थ करते हैं - '**शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः**' इस सूत्र में जो '**च**' शब्द है, इसके दो अर्थ और निकलते हैं - पहला अर्थ तो यह है कि '**शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः**' से '**शुक्ले चाद्ये अपूर्वविदः**' अर्थ भी निकलना चाहिये क्योंकि निर्ग्रन्थ का जघन्य श्रुत जो है वह अष्ट प्रवचनमातृका बताया गया है। जो इस बात का परिचायक है कि कदाचित जो पूर्वविद् नहीं हैं जैसे शिवभूति मुनिराज थे, वे अल्प ज्ञानी होकर के भी भावश्रुत केवलित्व को प्राप्त कर सके थे। दूसरा अर्थ यह भी है कि श्रेणी में धर्मध्यान भी संभव है। यद्यपि किसी टीका में इसका उल्लेख नहीं है। केवल '**च**' शब्द से ही आपके पास गुंजाइश है। क्योंकि समस्त टीकाकारों ने यह निर्धारित करके कि सप्तम गुणस्थान से आगे धर्मध्यान नहीं है आपके हाँथों को पहले ही बाँध दिया है।

कहाँ कमी रह गयी ? धर्मध्यान के स्वामी का उल्लेख क्यों नहीं किया आचार्य उमास्वामी ने ? एक सूत्र और बढ़ा देते 357 की जगह 358 हो जाते। उन्होंने नहीं लिखा इससे इस बात का पता चलता है कि उमास्वामी को किसी दूसरी परम्परा की भी सूचना रही होगी। इसलिये उनने उनको कहा कि इसको छोड़ो 'च' शब्द में लगा लो। टीकाकार जो अर्थ निकालना चाहें निकाल लें। लेकिन इसमें और गहराई से विचार करने की जरूरत है, यह बात तो तय है। इसी तरह धर्मध्यान के अन्यत्र जो दस भेद बताये गये हैं, तत्त्वार्थसूत्र में मात्र 4 भेद बताये गये हैं। ध्यान विषयक धारणाओं की चर्चा करते हुये पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों की भी चर्चा होनी चाहिये, जिसका समायोजन तत्त्वार्थसूत्र में मूलतः नहीं है और उन्हें '**आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्**' नामक धर्मध्यानों में किसमें समाहित किया जाये, इस बात का भी उल्लेख करना चाहिये।

प्रश्न आया कि गृहस्थों के लिये सुख अथवा दुःख या प्रत्येक में कौन सा ध्यान रखना चाहिये। इस बात का भी हमें समायोजन करना चाहिये कि हमारी पूजा-पाठ व अन्य धार्मिक क्रियायें किस प्रकार के ध्यान में आयेंगी। यह प्रश्न जो लोक समूह से मेरे पास आया है, मैं बताना चाहता हूँ कि आज के युग में केवल धर्मध्यान है। आप हों या हम, हमारे द्वारा ध्यान होगा तो केवल धर्मध्यान होगा। इतना जान लें कि जितनी भी आपकी धार्मिक क्रियायें हैं वे सब धर्मध्यान में अन्तर्निहित हैं।

एक विशेष बात और हमें ध्यान के विषय में स्पष्टतः समझनी चाहिये - जैन परम्परा के अनुसार केवल रीढ़ को सीधी करने का नाम ध्यान नहीं है। जैन परम्परा ध्यान का अर्थ चिन्तन- सातत्य से लेती है। जैन परम्परा के अनुसार ध्यान का अर्थ है चिन्तन की निरन्तरता और हमारा चिन्तन किसी न किसी पदार्थ से निरन्तर जुड़ा रहता है। जब हमारा चिंतन अशुभ से जुड़ता है तो उस ध्यान को हम अशुभध्यान कहते हैं और जब शुभ/इष्ट से जुड़ता है तो धर्मध्यान के अन्तर्गत आता है, शुभध्यान के अन्तर्गत आता है। 24 घण्टे हम ध्यानरत रहते हैं। अभी भी आप ध्यान कर रहे हैं क्योंकि आप

ध्यान से सुन रहे हैं। ध्यान से काम करो। ध्यान से चलो। इसका मतलब सावधान होकर चलो, जागरूक होकर के चलो, अपने उपयोग को केन्द्रित करके चलो। यह ध्यान तो निरन्तर चलता है, पर यह ध्यान सहज, निष्प्रयास, अबुद्धिपूर्वक होता है।

अशुभ से अपने चित्त को मोड़कर शुभ में स्थिर करने का नाम ध्यान है। इसी में ही चित्त की व्यग्रता नष्ट होती है **'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्'** तो बहुत उत्कृष्ट ध्यान की बात है, लेकिन धर्मध्यान क्या है ? आज के युग में धर्मध्यान किस तरीके से धारित किया जा सकता है, इन बातों का समायोजन हो तो इनकी उपयोगिता और कई गुनी बढ़ सकेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

तत्त्वार्थसूत्र के मौलिक अर्थों पर

आचार्य श्री विद्यासागर जी एक मनीषी चिन्तक व साधक हैं। उनकी आत्मा से जो कुछ उद्‌भूत होता है वह उनके स्वरों में अभिव्यक्त होता है। प्रतिवर्ष पूज्य आचार्य महाराज पर्युषणपर्व के दिनो में नये-नये रहस्य आगम और सन्दर्भ के साथ सुनाते हैं।

पूज्य आचार्य श्री ने तत्त्वार्थसूत्र मुझे अकेले ही पढ़ाया था। जैनधर्म के शिक्षण की शुरूआत सीधे तत्त्वार्थसूत्र से हुई। मैंने 'प्रभु पतित पावन ....' की विनती भी मुनि अवस्था में सीखी। यह सुनकर आप सभी को आश्चर्य हो सकता है। जिस दिन मेरा संघ में प्रवेश हुआ और आचार्य श्री के पास आशीर्वाद लेने पहुँचा, उन्होंने तुरन्त 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ मंगवाया और सम्बोधते हुए कहा कि यदि इसे कण्ठस्थ कर लोगे, तो सारे जैन वाङ्‌मय को हृदयगम करने में कभी कठिनाई नहीं हो पायेगी। इसमें समस्त जैन वाङ्‌मय का सार समाहित है। पहले दिन चार सूत्र अर्थ सहित पढ़ाये वह भी मूलसूत्र वाली पुस्तक से। जैसा मैंने सुना दूसरे दिन जैसा का तैसा उन्हें सुना दिया। प्रतिवर्ष, कोई न कोई नया विषय उनके द्वारा तत्त्वार्थसूत्र के सन्दर्भ में निकलता रहता है। आचार्य श्री केवल उसका अध्ययन ही नहीं करते, मनन और चिन्तन करते हैं। अतएव उनकी मनीषा से जो कुछ उपलब्ध होता है, वह सदैव प्रवचनों के माध्यम से उपलब्ध कर दिया करते हैं। आप सबका ध्यान तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्र पर आकर्षित करना चाहूँगा। सूत्र है -

'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥'

इस सूत्र की व्याख्या आचार्य महाराज करते हैं, जो किसी टीकाकार ने नहीं की। 'औपशमिकक्षायिकौ में जो विभक्ति तोड़ी हैं उसका केवल मतलब यह है कि औपशमिक और क्षायिक भाव केवल सम्यग्दृष्टि भव्यो को होता है, मिथ्यादृष्टियों को नहीं। इसको हम केवल भव्य से न जोड़े, मिश्रश्च भाव है वह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि तथा भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों को होता है।'

'औदयिक और पारिणामिकौ' के लिये जो विशेष चिन्तन दिया - 'तत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च' अर्थात् औदयिक और पारिणामिक इन दोनों को एक विभक्ति में रखा है, इसका यही प्रयोजन है कि ये दोनों भाव समान रूप से सभी ससारी जीवों के पाये जाते हैं। 'च' शब्द से अन्य असाधारण भावों का समावेश कर लेना चाहिये, जैसा कि अन्य टीकाकारों ने समावेश करने का निर्देश दिया है।

[illegible] के कारण : एक ऊहापोह

जैन आगम में वेदों का जो भी विवेचन है। वह मुख्य रूप से भाव वेद से सम्बद्ध है। द्रव्यवेदों के आस्रव के कारणों

को कहीं भी अलग से परिगणित नहीं किया। पर मेरी जो धारणा है वह यह है कि द्रव्यवेद में पुरुषवेद को शुभ माना जाता है और शेष दो वेदों को अशुभ। इनका सम्बन्ध शुभ-अशुभ नामकर्म से है। शुभनामकर्म शुभ परिणामों से और अशुभनामकर्म अशुभ परिणामों से बंधता है, इसलिये यदि हम पुरुषवेद के साथ शुभभावों का सन्निकर्ष बिठालकर द्रव्यवेद और भाववेद के कारणों में ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न करे तो इसमें कोई असंगत बात नहीं होगी। क्योंकि आगम में यह लिखा है - **'पायेण समा कहिं विसमा'** वेदों में प्राय: समानता होती है।

द्रव्यवेद की जब चर्चा करते हैं तो शारीरिक आकृति से सम्बन्ध होता है और भाववेद का मतलब भीतर का वासनात्मक दृष्टिकोण है। ये दोनों प्राय: समान होते हैं। कदाचित् अपवाद में अन्तर हो सकता है।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने इसके प्रशस्त और अप्रशस्त वेद का उल्लेख किया है, जबकि जयधवला में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि घातिया कर्म पापकर्म हैं, लेकिन फिर भी वेदकर्म में प्रशस्त और अप्रशस्त का भेद बताया है। पुरुषवेद के बन्ध का जो कारण बताया है वह भी शुभ कर्म है।

एक प्रश्न उठता है कि - क्या संज्वलन के मन्दोदय में ही पुरुषवेद का बन्ध होता है ? सभी प्रकृतियों के बन्ध के लिये अलग-अलग कारण निरूपित किये गये हैं और उन सबके साथ अन्वय-व्यतिरेक भी स्थापित किया गया है। निचली कषायें जहाँ होती हैं वहाँ ऊपरी कषायें भी होती हैं, पर हर कषाय अपना-अपना ही काम करती है। पुरुषवेद का अन्वयव्यतिरेक संज्वलन के ही साथ है, इसलिये जो बात कही गई है वह शत-प्रतिशत सही है।

मनोविज्ञान के विषय में

जैनदर्शन में मनोविज्ञान जैनकर्म सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके लिये तत्त्वार्थसूत्र के छठवें और आठवें अध्याय में विवेचित किया गया है। आठवें अध्याय में मोहनीयकर्म के परिवार से इन्हें जोड़ा जाता है। किन्तु इसे मैं अच्छा नहीं मानता। विदेशी लेखकों को ही उद्धृत करते जाये और यह न बताया जाये कि आज से 2000 वर्ष पूर्व आचार्य उमास्वामी ने क्या कहा तो ठीक नहीं। अपितु तुलनात्मक दृष्टि से उसका भी विवेचन किया जाना चाहिए। यहाँ समरम्भ-समारम्भ-आरम्भ की बात के साथ ही **'तीव्र-मन्दज्ञाताज्ञात-भावाधिकरणवीर्य-विशेषेभ्यस्तद्विशेष:'** की बात भी जुड़ना चाहिये।

कर्म के संस्कार आत्मा से किस तरह से जुड़ते हैं, दूषित प्रवृत्तियों का मन पर क्या असर पड़ता है ? इन बातों को भी रेखांकित किया जाना चाहिये। मनोविज्ञान में निरूपित जो 14 मूलप्रवृत्तियाँ हैं, वे मोहनीयकर्म के 28 के परिवार में पूरी तरह फिट हो जाती हैं। जितने भी मानसिक विकार हैं वे सब मोह की संतान हैं और इन विकारों के संशोधन के लिये जो उपाय बताये गये हैं उनके प्रति भी हमें दृष्टि देना चाहिये। इसके साथ-साथ तप:साधना, व्रताराधना, परिषहजय, अनुप्रेक्षा और ध्यान आदि की मनोविकारों के संशोधन में क्या उपयोगिता है ? इस तरफ भी ध्यान दिया जाना चाहिये।

जैन साधना पद्धति क्या दमनकारी है अथवा यह मन की शुद्धि के साथ आत्मा के शोधन की प्रक्रिया है ? इस बात को भी हमें ठीक से समझना जरूरी होगा। अन्यथा प्राय: लोग जैन साधना की कठोरता को देखकर इसे एक दमनकारी प्रवृत्ति कह देते हैं, हमें उनकी इस भ्रान्त धारणा का निरसन भी करना चाहिये।

व्यक्तित्व के विकास में जो बाधक कारण हैं उनसे हमें बचना ही चाहिये। हमें अब व्यक्ति से व्यक्तित्व बनने की बात सोचना चाहिये और यह तभी सम्भव होगा जब हम उदात्त जीवन मूल्यों को आत्मसात् कर अपने जीवन में

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करें। तभी कल्याण के पथ पर चल सकेंगे।

रत्नत्रय

सम्यग्दर्शन से भूमिका बनी रत्नत्रय की और इसकी परिपूर्णता दशवे अध्याय मे मोक्ष पर जाकर सम्पन्न हुई। इसके विषय में जितना कहा जाये उतना कम है क्योंकि प्रत्येक सूत्र का मूल प्रतिपाद्य तो प्रकारान्तर से रत्नत्रय ही है। फिर भी इनके बीजों का अन्वेषण अभी और करने की जरूरत है। यह भी देखा जा सकता है कि किन-किन सूत्रों से सीधा रत्नत्रय का सम्बन्ध है? यद्यपि आचार्य उमास्वामी ने सम्यग्दर्शन का जिस तरह से स्पष्ट उल्लेख किया है, उसी तरह सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र शब्द का उल्लेख प्रथम सूत्र के अलावा नहीं पाया जाता है। लेकिन ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनमें इन सबकी सूचनायें हमें उपलब्ध होती हैं।

अजीवतत्त्वों की वैज्ञानिकता

जैनदर्शन की अनेक प्राचीन निष्पत्तियाँ हैं जिन्हे एक लम्बे समय तक विज्ञान एव वैज्ञानिक अस्वीकारते रहे हैं। अन्ततः उन्हें भी हारकर स्वीकार करना पड़ा। विज्ञान प्रयोगो के आधार पर चलता है और उसकी निष्पत्तियां तात्कालिक होती हैं। एक वैज्ञानिक जो निष्कर्ष देता है, दूसरा वैज्ञानिक उसे आगे बढाता है, समयानुरूप उसमे परिवर्तन भी करता है। जैसे परमाणुवाद को लें। डाल्टन के परमाणुवाद के बाद न्यूटन और आइस्टीन और उसके बाद एडिंग्टन आदि ने परमाणुवाद के सम्बन्ध में जो अवधारणायें दी वे बदलती रहीं। इस प्रकार विज्ञान की अवधारणाएं बदलती है, लेकिन धर्म की अवधारणायें सार्वकालिक और सार्वभौमिक होती हैं। उनका सिद्धान्त कभी परिवर्तित नही होता। भगवान् महावीर ने परमाणु का जो सिद्धान्त बताया वह आज तक चल रहा है क्योंकि विज्ञान प्रयोगो के आधार पर बात करता है और धर्म अनुभव के आधार पर बताया है। तीर्थंकरों को उनके केवलज्ञान में जो प्रत्यक्ष हुआ वह उन्होने अपनी देशना मे कहा है और हमारे आचार्यों ने निबद्ध किया। जैन आचार्यो की भौतिक और रासायनिक विज्ञान की दिशा मे कितनी ऊँची दिशा थी। एक समय तक मैटर और एनर्जी को अलग-अलग माना जाता था। जैनदर्शन मे इस पर काफी विमर्श हुआ है और वह इन दोनों को एक ही वस्तु के दो रूप मानता है। पर वैज्ञानिक लम्बे समय तक इस मान्यता से सहमत नही थे। मैटर यानि पुद्गल और एनर्जी यानि ऊर्जा। आधुनिक विज्ञान ने अब इसे स्वीकार कर लिया है।

तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र है - '**शब्दबन्ध-सौक्ष्मस्थौल्य-संस्थान-भेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च**' जिसका निष्कर्ष है कि शब्द, बन्ध, छाया, उद्योत यानि प्रकाश, अन्धकार आदि सब पुद्गल की परिणतियाँ है। भगवान् महावीर की इस उद्घोषणा को आचार्य उमास्वामी ने 2000 वर्ष पहले निबद्ध कर दिया था, जिसे आज वैज्ञानिको ने स्वीकारा है।

एक बड़ी विचित्रता है जो बात वैज्ञानिक मानते है उसे तो हम जल्दी मान लेते हैं, परन्तु जो वीतराग विज्ञान के ज्ञाता कहते हैं वह हमारी समझ में नहीं आती। प्रायः ऐसा होता है कि हम विज्ञान की बात करते है तो केवल पदार्थ विज्ञान की तरफ सोचने लगते हैं। जबकि विज्ञान का अर्थ है विशिष्ट ज्ञान। पदार्थ की ओर जब हमारा ज्ञान जाता है तब वह पदार्थविज्ञान बन जाता है और जब परमार्थ की तरफ जाता है तब वह अध्यात्म विज्ञान बन जाता है।

जैनदर्शन में जो कुछ लिखा है वह अध्यात्मविज्ञान की बात है। इसके अन्तर्गत परमाणु से लेकर अन्यान्य चीजों के बारे में बहुत सी बातें लिखी गई हैं। उन रहस्यों को जब आप देखेंगे तो खुद रोमांचित हो उठेंगे। तत्त्वार्थसूत्र का पाँचवा अध्याय जैन मेटाफिजिक्स का विवरण देता है। उसके एक-एक सूत्र पर काफी गम्भीरता से विचार किया जा सकता है। फिरोजाबाद की विगत संगोष्ठी में 'पौद्गलिक स्कन्धों का रासायनिक विश्लेषण' शीर्षक से बहुत अच्छा प्रकाश डाला

गया था।

वर्णों के विषय में कुछ ठीक से समझ लेना चाहिए। जैन परम्परा में मूल पाँच वर्ण बताये गये हैं और सौर-वर्णक्रम में सात रंग हैं। उसमें यह बताया है कि श्वेत रंग अपने में कोई रंग नहीं है, वह तो सातों रंग के मिश्रण का परिणाम है। इस पर काफी खोज हुई और **ऑप्टीकल सोसायटी ऑफ अमेरिका** ने इस बात पर अपना मन्तव्य व्यक्त किया - 'उनका कहना है कि जैन परम्परा में जिस कलर की बात कही जा रही है वह उसकी मूल प्रापर्टी से जुड़कर कही जा रही है। जिसका सम्बन्ध हमारी रेटिना से है। सोलर स्पेक्ट्रम में दिखने वाले रंग उन मूल रंगों की प्रतिछवि हैं।' **डॉ. एस. श्रीवास्तव और मेघनाद साहा** ने अपनी एक पुस्तक में यह निष्कर्ष दिया है कि 'वस्तुतः किसी पदार्थ के मूलगुणों में पाँच कलर ही होते हैं, जो जैनदर्शन से मेल खाते हैं। यह विषय सभी लोगों तक पहुँचना चाहिए।'

जीवनमूल्य

जीवन मूल्य के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है। जीवन मूल्य क्या है ? कुछ लोग इसे ही नहीं समझ पाते। जीवन मूल्य वह है जो जीवन को कल्याण की ओर प्रेरित करे, जो जीवन की सम्पदा की अभिवृद्धि करे। प्रायः हम सामाजिक मूल्य और जीवन मूल्यों को एक समान मान लेते हैं। जीवन मूल्य केवल जीवन तत्त्व से जुड़ा हुआ होता है और सामाजिक मूल्य सगठन से, समूह से जुड़ा होता है।

तत्त्वार्थसूत्र के सन्दर्भ मे जीवनमूल्य परक दृष्टि पर यदि ध्यान केन्द्रित करें तो हमारा ध्यान उन उदात्त जीवन मूल्यों पर जाना चाहिये जिनका सम्बन्ध केवल व्यक्ति से है, समष्टि से नहीं। जैसे -

'मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ।।'

ये उदात्त जीवनमूल्य है - मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यमस्थ्य की भावना। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग आदि अपनी चेतना का उत्कर्ष कर सकते हैं।

'अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः'

इन सूत्रो की व्याख्यायें तथा इसी तरह अहिंसा आदि व्रतों की उनसे सम्बद्ध सूत्रों की व्याख्याये की जा सकती हैं। इनको आत्मसात् करके ही जीवन के कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकेंगे। यद्यपि जीवन मूल्य पर बहुत कुछ लिखा गया है, परन्तु तत्त्वार्थसूत्र के सन्दर्भ में उसे हाइलाईट किया जाना चाहिए।

भारतीय कानून एवं जैनधर्म

भारतीय कानून के मूलस्रोत को केवल एक सूत्र के द्वारा बताया गया है। भारतीय दण्ड विधान और धर्मसंहिता में मौलिक अन्तर है। वस्तुतः दण्ड विधान ऊपर से आरोपित होता है जबकि धर्मसंहिता स्व-अनुशासित और अन्तप्रेरित होती है। अन्तःप्रेरणा से जो भी कार्य होता वह मौलिक होता है। जबकि बाहर से आरोपित मौलिक नहीं हो सकता।

एक बात और है, कानून केवल अपराधों की सजा देता है, जबकि धर्म पाप को रोकने की बात करता है। दण्डविधान में जितने भी कानून हैं वे सिद्ध अपराध के लिये सजा देते हैं। शारीरिक अपराध या वाचिक अपराध तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं और इनकी व्यवस्था या रोकने के लिये सारे कानून हैं। लेकिन जो अपराध हमारा मन करता है, उसको रोकने के लिये दुनिया में कानून की कोई धारा नहीं है। उस मानसिक पाप को रोकने या नियंत्रित करने के लिये तत्त्वार्थसूत्र

में एक सूत्र दिया है - 'आद्यं समरम्भ-समारम्भारम्भ-योग-कृत-कारितानुमतकषाय-विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः' यह सम्पूर्ण सूत्र बताता है कि कोई भी पाप आप मन से, वचन से या शरीर से स्वयं करते हैं या उक्त तीनों से दूसरों से कराते हैं या किसी को मन, वचन, काय से, क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों के वशीभूत होकर उसकी अनुमोदना करते हैं तो आप अपनी आत्मा के लिए बहुत योनियो में भटकाते हैं। अतः पाप के प्रति भी जागृति बहुत आवश्यक है। दण्ड देकर अपराधी को लोहे के सीकचों के भीतर बन्द कर सकते हैं, लेकिन उसकी आपराधिक वृत्ति को दूर नहीं कर सकते। उस अपराध पर नियन्त्रण तो केवल धर्म से ही सम्भव है।

तत्त्वार्थसूत्र और कर्मसिद्धान्त

गणित जैसे दुरूह और जटिल विषय को इतने सरल तरीके मे प्रस्तुत किये जाने का उदाहरण कोई दूसरा नहीं हो सकता। जैनकर्म सिद्धान्त की जितनी सार्थक विवेचना की है वह अनूठी है। जैनकर्म सिद्धान्त के विशेषज्ञ आचार्य वीरसेन ने आज से हजारों वर्ष पूर्व जैन गणित में जो कार्य किया और उसके बाद गोम्मटसार मे गणित के जो बीज मिलते हैं, वहाँ तक अमेरिका और रूस को पहुँचने में अभी 200 वर्ष और लगेंगे।

भूगोल एवं खगोल विषयक अवधारणा

यद्यपि जैन भूगोल और खगोल का वर्णन वर्तमान भूगोल और खगोल से मेल नही खाता। परन्तु इसमें कोई असगत बात नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे और चौथे अध्याय में जो भौगोलिक और खगोलीय चर्चा की गई है वह आज के विद्यार्थियों को बड़ी अटपटी लगती है। परन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना ठीक होगा कि हमारे जैन आगमो में जो विवेचन है वह शाश्वत् भूगोल के हैं। जैन भूगोल में दो तरह की पृथिवियाँ निरूपित की गई है - 1. शाश्वत पृथ्वी और 2. अशाश्वत पृथ्वी। ऐसा मैं यह मानता हूँ।

भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड को छोड़कर सारी पृथ्वी शाश्वत है। जहा हम रहते है वह अशाश्वतपृथ्वी है और यह अशाश्वतपना काल के प्रभाव से चलता है। केवल भरत और ऐरावत क्षेत्र मे 6 कालो का प्रभाव पड़ता है और वह भी आर्यखण्ड में। तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र आया है -

'भरतैरावतयोर्वृद्धि-ह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् 3/27'

इस सूत्र को आधार बनाकर जब अपने चिन्तन को आगे बढ़ाया तो पाया कि जैन भूगोल और वर्तमान भूगोल में कोई विसंगति नहीं है। जैन अनुश्रुतियों के अनुरूप प्रवर्तित कालचक्र के बारे मे जब विचार करते हैं तो आपको यह मालूम होना चाहिये कि भोगभूमि से कर्मभूमि की ओर जब कालचक्र का प्रवर्तन होता है तो धरती एक योजन ऊपर उठ जाती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड की धरती योजन भर ऊपर उठ जाने से, वह गोल दिखाई देने लगती है। यही कारण है कि भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड का शेष भरत क्षेत्र से सम्पर्क टूट जाता है। इसी से अनेक क्षुद्रपर्वत और उपसमुद्र प्रकट हो जाते हैं।

मेरा मानना है कि आज जितने भी महासागर और महाद्वीप हैं, ये भरतक्षेत्र के केवल आर्यखण्ड के ही अंग हैं और इस धरती के अचानक ऊपर उठ जाने से जो उत्पन्न हुये उपसमुद्र हैं वे कोई लवणसागर नहीं हैं। इसी प्रकार जितने भी पर्वत हैं वे हिमवान आदि कोई भी पर्वत नहीं हैं वे सब क्षुद्र पर्वत हैं और इन्हीं से नदी आदि उत्पन्न हुई हैं। अतः आज हमें जो स्वरूप दिखता है वह शास्त्रों में उल्लिखित शाश्वत भूमि से मेल नहीं खा पाता है। जैन भूगोल की काल्पनिकता पर जो आक्षेप किये जाते हैं उनका भी समाधान ढूँढा जा सकता है। विद्वान् लोग इस चिन्तन को और आगे बढ़ायेंगे।

गुणश्रेणी निर्जरा

गुणश्रेणी निर्जरा के 10 स्थान श्री उमास्वामी जी ने सूत्र में लिखे हैं। जबकि अन्यत्र निर्जरा के 11 स्थान भी निरूपित किये गये हैं। वहाँ सामान्य केवली और समुद्घातकेवली में अन्तर किया गया है। 'जैनतत्त्वविद्या' जिसका प्रणयन **सारसमुच्चय** ग्रन्थ से हुआ है, में एक सूत्र आता है - '**एकादश निर्जरा:**' अर्थात् निर्जरा के ग्यारह स्थान हैं। गोम्मटसार में भी 11 स्थान बताये हैं। तीर्थंकर केवली या सामान्यकेवली और समुद्घातकेवली के अलग-अलग दो पद बना दिये। जबकि उमास्वामी ने दोनों पदों को एक में रख दिया। आचार्य वीरसेन ने इसका कारण बताते हुए कहा है कि एक मुनि की निर्जरा की तुलना में सप्तम नरक में रहने वाले अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करता हुआ नारकी एक अन्तर्मुहूर्त्त के लिये ज्यादा निर्जरा कर लेता है। यह सब आपके लिये चौकाने वाली बात है कि एक मुनि जो निर्जरा कर रहा है, उससे कहीं ज्यादा सप्तम नरक का नारकी निर्जरा कर रहा है। इसका कारण बताते हुये आचार्य वीरसेन कहते हैं - एक संयमकाण्डक जन्य निर्जरा है और दूसरी अनन्तवियोजना जन्य निर्जरा है। दूसरा एक ऐसे कर्म पर कुठाराघात कर रहा है, जिसने अनन्तकाल से हमें संसार में बांध रखा है। उसके लिये उस काल में उतनी अधिक विशुद्धि अपेक्षित है। यही जैनदर्शन के भाव प्राधान्य का उदाहरण है। जितनी अधिक विशुद्धि होगी, निर्जरा का सम्बन्ध उससे जुड़ा है। मेरे मन की विशुद्धि ही मेरी कर्म निर्जरा का आधार है। मैं जितना अधिक विशुद्ध बनूँगा, मेरे उतने ही पाप कटेंगे। भले ही तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या समझ में न आवे, पर हम जीवन की इस व्याख्या को तो समझ ही सकते हैं।

कर्मसिद्धान्त एवं मनोविज्ञान

यहाँ जैनकर्म सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान की तुलना परक जो शोध आलेख प्रस्तुत किया गया, उससे बहुत सारे विचार पल्लवित हुए हैं। उनके आधार से कतिपय नई व्याख्यायें भी की जा सकती हैं। चूँकि हमारी शब्दावली शास्त्रीय है, उन्हें मनोविज्ञान की शब्दावली से यदि जोड़ना चाहें तो हमें समझौता करना होगा। सीधे शास्त्रीय भाषा मे उपयोग करने से ज्यादा सफलता नहीं मिलेगी।

यहाँ संज्ञा का अर्थ कामना किया गया। काम को कामना से जोड़ा। जैनाचार्यों ने दो तरह की कामनाएँ कही हैं- 1. इच्छाकाम, 2. मदनकाम। **फ्रायड** ने जिसे मदनकाम कहा है, यदि हम उसे कामना के अर्थ में लेते हैं, तो उसे मदनकाम से जोड़ना चाहिये, जो वेदोदय की निष्पत्ति है। और वेद को भी आचार्यों ने राग में लिया है। इसलिये कषाय और राग को अगर मिला दे तो काम शब्द से इसका तालमेल जोड़ा जा सकता है। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है।

आपने द्रव्यमन और भावमन की बात कही है और मन को पौद्गलिक कहा। मन पौद्गलिक भी है और अपौद्गलिक भी। उन्होने चित्त को चेतना से जोड़ा है। अगर इसकी व्याख्या करें और चित्त को चेतना की परिणति मान कर क्षायोपशमिक स्थिति मान लें और उसे भावमन का प्रतीक समझ लें तो यह अपौद्गलिक है। मन को केवल अंगोपांग नामकर्म के उदय से निष्पन्न एक अवस्था मानें तो उसे द्रव्यमन का प्रतीक मान सकते हैं, जो पौद्गलिक है। भावमन चैतन्यात्मक है। यदि हम मन को पूर्ण रूप से परिभाषित करें तो प्रथम तो भावमन से जोड दें और दूसरे को द्रव्यमन से जोड़ दें, परन्तु आत्मा इनसे और ऊपर उठी हुई है, यदि इस आधार पर व्याख्या करें तो सब कुछ आगम के अनुकूल बैठ जायेगा।

यहाँ पुण्य और पाप की भी चर्चा की गई है। इस सम्बन्ध में हमें अपनी अवधारणा स्पष्ट कर लेनी चाहिए। कभी-कभी शास्त्र चर्चा में यह सुना करते हैं कि पुण्य सोने की बेड़ी और पाप लोहे की बेड़ी है, लेकिन बेड़ी तो बेड़ी है तथा पाप

की निर्जरा तो सारी दुनिया करती है, अरे सम्यग्दृष्टि तो वही है, जो पुण्य की निर्जरा करे। यह सब जैनागम को न समझ पाने की परिणति है या आगम के अजीर्ण होने का दुष्फल है। थोड़ा इसे समझे कि पुण्य-पाप को किस अपेक्षा से एक कहा और किस अपेक्षा से अलग-अलग कहा। चूँकि पुण्य और पाप दोनों कर्म की सतान है, इस अपेक्षा से एक हैं। लेकिन आचार्यों ने कहा -

'हेतु कार्यविशेषाभ्यां विशेषः स्यात् पुण्यपापयोः।
हेतुशुभाशुभौ भावौ, कार्ये च सुखासुखे ॥'

हेतु और कार्य की विशेषता से पुण्य और पाप मे अन्तर परिलक्षित होता है। पुण्य और पाप का हेतु क्रमशः शुभ और अशुभ भाव है और उनका कार्य क्रमशः सुख और दुःख है। हमें दुःख उत्पन्न करने वाले कारणो से बचना चाहिए और सुख उत्पन्न करने वाले साधनों को जुटाना चाहिए। कर्म सामान्य होने से दोनो एक है, लेकिन समानता के आधार पर उनकी गुणवत्ता की एकता को नहीं स्वीकारा जा सकता। ऐसा ही आचार्य गुणभद्र स्वामी ने आत्मानुशासन में कहा है कि- 'पुण्य और पाप दोनों एक हैं लेकिन दोमों के गुणों में अन्तर है। लाली - सुबह की होती है और शाम की होती है। लाली पूरब में होती है और पश्चिम में भी होती है। देखने में यह जरूर एक है लेकिन गुणों मे कितना अन्तर है ? एक जगाती है तो दूसरी सुलाती है।' पुण्य प्रातः की लाली है, जो हमारी चेतना मे ऊर्जा का सचार करती है और पाप शाम की लाली है जो आत्मा में मूर्च्छा और सुषुप्ति के भाव लाती है।

एक बार एक सज्जन मेरे पास आये। मै समयसार का स्वाध्याय कर रहा था। सयोग मे पुण्य-पाप अधिकार चल रहा था। उन्होंने पूछा - महाराज ! पुण्य और पाप में क्या अन्तर है ? मैने जबाव दिया - पहला अन्तर तो यही कि एक मे ढाई अक्षर हैं तो दूसरे में दो अक्षर हैं। वे बोले - नही महाराज ! मैं निश्चय से पूछना चाह रहा हूं। मैने कहा - भैया यदि निश्चय से पूछो तो निगोदिया जीव और सिद्ध भगवान मे कोई अन्तर नहीं है। परन्तु कल से आप भगवान की जगह निगोदिया की मूर्ति स्थापित करके उनकी पूजा करना शुरू मत कर देना। तत्त्व का विवेचन अलग-अलग भूमिका के अनुरूप होता है। पानी नल में भी होता है और नाली में भी। परन्तु नल का पानी आप पीते हैं और नाली के पानी से आप परहेज करते हैं। यदि पाप और पुण्य में समानता की बुद्धि रख लोगे तो कहीं नल की जगह नाली का पानी हाथ में रख दे तो नाराज मत होना। आचार्यों ने पुण्य को मोक्षमार्ग में उपादेय निरूपित करते हुये कहा है -

'मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात्।'

अर्थात् मोक्ष परम पुण्य के अतिशय और चारित्र विशेषात्मक पुरुषार्थ के बल पर ही सम्भव है। बिना पुण्य के मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती। **आचार्य विद्यानन्दी जी** ने ***तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक*** में कहा कि - पुण्य की निर्जरा करने वाला महान् है, लेकिन पुण्य की निर्जरा तो कभी हो ही नहीं सकती। **आचार्य वीरसेन स्वामी** ने पुण्य की निर्जरा का निषेध करते हुये एक बड़ा मनोवैज्ञानिक हेतु दिया है। उन्होंने कहा कि पुण्य को सम्यग्दृष्टि हाथ भी नहीं लगाता। यह ध्यान रखना चाहिये कि पुण्य और पाप का सम्बन्ध केवल अनुभाग मे है। स्थितियाँ तो सबकी पाप ही हैं। इस कारण से चौदहवें गुणस्थान में भी उत्कृष्ट अनुभाग सब पुण्य प्रकृतियों का बना रहता है।

यहाँ प्रश्न उठाया गया कि चौदहवें गुणस्थान में सारे कर्मों की स्थितियाँ गला डालीं और उनने पुण्य का घात क्यों नहीं किया ? **आचार्य वीरसेन महाराज** ने कहा - **'सम्माइट्ठि पसत्थकम्माणमणुभागं ण हणदि'** अर्थात् सम्यग्दृष्टि पुण्य कर्म का अनुभाग घात नहीं करता, क्योंकि पुण्य का घात करने के लिये संक्लेश चाहिये। और सक्लेश करोगे तो पाप

बन्ध होगा। सो कौन ऐसा समझदार होगा जो पुण्य के घात के लिये पाप का बन्ध करेगा। अतः सम्यग्दृष्टि पाप की निर्जरा तो करता है परन्तु पुण्य का घात नहीं करता। जैसा कि मैल को दूर करने के लिये साबुन लगाना पड़ता है, पर साबुन को हटाने के लिये जल धारा डाली जाती है। आचार्य श्री के मुख से जो मैंने सुना, वह ज्यादा उपयुक्त दिखता है। मैल हटाने के लिए पानी डालना पड़ता है, पाप के मैल को हटाने के लिये पुण्य का पानी डाला जाता है, परन्तु पानी को हटाने के लिये पानी नहीं डाला जाता। वस्तुतः पुण्य नौका की यात्रा में अनुकूल हवा के समान है, जो उसे गति देता है। पुण्य संसार से पार उतारने में सक्षम बनाता है। जैसे अगर घर में उपद्रवी तत्त्व घुस जाये तो कन्ट्रोल रूम में पुलिस को फोन करके बुलाना पड़ता है। पुलिस उपद्रवियों को खदेड़कर बाहर करता है। फिर पुलिस अपना काम करके स्वयं चली जाती है। पाप रूपी उपद्रवी को खदेड़ने के लिये पुण्य पुलिस का काम करती है और उसे बाहर निकाल कर खुद चली जाती है।

तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं का वैशिष्ट्य

इसमें आचार्य पूज्यपाद की टीका का उल्लेख करते हुये उनकी वर्णन शैली का निरूपण किया, जो सचमुच में वह अपने आप मे अनोखा है। मैंने पहला ऐसा टीकाग्रन्थ देखा है, जिसकी टीका के वाक्य भी सूत्र का रूप धारण कर गये हैं। पारिभाषिक शब्दों को गढ़ने मे जो कौशल आचार्य पूज्यपाद महाराज की कृति मे दिखता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

यहाँ श्रुतसागरसूरि की बात भी की गई। इस सम्बन्ध मे हमें यह ध्यान रखना है कि भट्टारकीय परम्परा मे जैन साहित्य मे जो विकृति या मिश्रण हुआ है, उसको कभी नकारा नही जा सकता। मध्यकाल में भट्टारकीय परम्परा का जोर बढ़ा और बहुत सी ऐसी अवांछित बाते जैन साहित्य में जुड़ गई, जिनका जैनदर्शन से कुछ लेना-देना नहीं था। श्रुतसागरसूरि ने अनेक ऐसी बातें लिखी जो गले उतरने लायक नहीं हैं। इस विषय पर विद्वानों द्वारा चिन्तन अवश्य होना चाहिए। पण्डित कैलाशचन्द जी द्वारा लिखित 'जैन साहित्य का इतिहास' (दोनों भाग), एवं पं. जुगलकिशोर मुख्तार जी का 'जैनसाहित्य के इतिहास पर विशद प्रकाश' तथा 'युगवीर निबन्धावली' और रतनलाल कटारिया की 'जैन निबन्ध रत्नावली' विद्वानों को पढ़ना चाहिये। आप इन्हें पढ़कर स्वय इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे, कि साहित्यकार देश-काल की परिस्थितियों से अछूता नहीं होता। इसलिये बहुत बार ऐसा भी हुआ है, कि समय और परिस्थितियों से समझौता करके हमें यह सब चीजे अपनानी पड़ती हैं।

आचार्य श्री जी ने एक बार श्री चारुकीर्ति भट्टारक के सामने ही, जबलपुर में सन् 1988 में एक घटना कही थी, कि भीम ने कीचक के वध के लिये साड़ी पहनी थी। वस्तुतः भीम को साड़ी पहनना पड़ी थी। भट्टारक परम्परा की जो शुरूआत हुई, वह ऐसे ही समय-परिस्थितियों की प्रेरणा और प्रभाव के कारण हुई थी। आचार्य श्री ने कहा था - आज वह परिस्थिति नहीं है, कीचक के वध के बाद भी यदि भीम साडी में लिपटा है तो अच्छा नही दिखता। उसे तो लगोंट में आकर खुले मैदान में गदा घुमाकर अपने पौरुष और पराक्रम का प्रदर्शन करना चाहिए। महाराज श्री का इसके पीछे केवल यही भाव है, कि जिनलिंग की जो व्यवस्था है, उसके अन्तर्गत भट्टारकीय व्यवस्था को कहाँ फिट किया जाये ? विद्वानों को इस पर विचार करना चाहिए।

'ज्योतिर्मय जीवन'

एक दिन मैंने पू.मुनिश्री से प्रश्न किया, -

'गुरुदेव ! धृष्टता क्षमा करें पर कृपया यह बतलाये कि, 'दिव्य जीवन के द्वार' के पार पहुंच कर आपकी 'अंतस की आंखें' खुलीं अथवा 'अंतस की आंखें' खुलने के बाद 'दिव्य जीवन के द्वार' के दर्शन हुये।'

गुरुदेव नें मन्द-मन्द मुस्कराते हुये कहा -

'अंतस की आंखें' जब खुलती हैं, तभी 'दिव्य जीवन के द्वार' के दर्शन होते हैं।

'साँची तो गंगा है, वीतराग वाणी'

ललना चातुर्मास काल में पूज्य मुनिश्री का हर क्षण मानो अध्ययन-अध्यापन मे ही व्यतीत होता था। कार्यक्रमों की लम्बी श्रृंखला के बीच भी वे अपने इस क्रम को भग नही होने देते थे। प्रात:काल 'जैनतत्व विद्या' की कक्षा लगती थी जिसमें भारी भीड़ होती थी। अपरान्ह मे 'सागार धर्मामृत' का अध्ययन होता, इस समय भी अच्छी उपस्थिति होती।

आहार के उपरांत और संध्या में आचार्य भक्ति के उपरांत लगभग आधा-पौन घण्टे प्रश्नोत्तर चलता और इसमें बच्चों से लेकर युवाओं-युवतियों को खूब आनंद आता। विभिन्न विषयो पर प्रश्न पूछे जाते और त्वरित सटीक समाधान प्राप्त होता।

'रामायण-गीता ज्ञानवर्षा'

पूज्य मुनिश्री के मुखार बिन्द से जिसने भी रामायण और गीता पर हुये प्रवचनों को सुना वह पूज्य मुनिश्री के तलस्पर्शी ज्ञान पर विमुग्ध होकर रह गया। पहली बार उसने अबूझे/अनछुये प्रश्नों का समाधान प्राप्त किया और राम तथा कृष्ण उसके अंदर में अधिक गहरे तक उतरते चले गये। लोगों की जुबान बस एक ही बात थी 'रामायण और महाभारत के पात्रों का ऐसा चरित्र-चित्रण तो हमने पहली बार सुना है। अपनी आत्मा में समाये 'आतम राम' के आज ही दर्शन किये हैं हमने।'

प्रस्तुति : सि. जयकुमार जैन

तत्त्वार्थसूत्र से सम्बन्धित

पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज के विशेष चिन्तन

* प्रस्तुति रतनलाल बैनाड़ा

प्रथम अध्याय

- **तत्प्रमाणे** ।। 10 ।। का अर्थ ऐसा भी होता है - वह प्रमाण दो प्रकार का है क्षायिक तथा क्षायोपशमिक।

- **तन्निसर्गादधिगमाद्वा** ।। 3 ।। यहाँ निसर्गज सम्यग्दर्शन से पहले उस जीव को इस जन्म में या पिछले जन्म में देशना मिली ही हो, यह आवश्यक नहीं मानना चाहिए।

- आस्रव कार्मणवर्गणाओं का कर्म रूप परिणमन होना है।

- **अर्थस्य** ।। 17 ।। यहाँ तक व्यक्त पदार्थ के अवग्रह आदि का वर्णन हुआ। (क्योंकि नीचे अव्यक्त का कथन आयेगा)

- **सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य** ।। 39 ।। केवलज्ञान का विषय सभी द्रव्यों में तो है परन्तु उनकी भूत और भविष्यत् काल की अनन्त पर्यायों में तथा वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त पर्यायों में होता है।

- **श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्** ।। 20 ।। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और उसके दो भेद हैं - भावश्रुत और द्रव्यश्रुत। भावश्रुत के अनेक प्रकार हैं और द्रव्यश्रुत के 12 प्रकार हैं।

द्वितीय अध्याय

-**ज्ञानाज्ञानादर्शन .....** ।। 5 ।। में अन्तिम च शब्द से सञ्ज्ञित्व का मतिज्ञान में, मिश्र का सम्यक्त्व में तथा योग का क्षायोशमिक वीर्य में अन्तर्भाव मानना चाहिए।

- श्री षट्खण्डागमकार के अनुसार निगोद को वनस्पतिकाय से अलग भी माना गया है।

- **निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्** ।। 17 ।। इसमें आभ्यन्तर निवृत्ति जीवात्मक है और बाह्य निवृत्ति तथा दोनों उपकरण अजीवात्मक हैं।

- विग्रहगति में रहने वाला जीव जन्म सहित नहीं होता। अपने शरीर योग्य वर्गणाओं का ग्रहण प्रारम्भ करते ही जन्म माना जाता है। जन्म के लिये शरीरनामकर्म का उदय अपेक्षित होता है।

- पर्याप्तक नामकर्म का उदय होने पर भी विग्रहगति में वह जीव अपर्याप्तक ही कहलाता है।

---

* 1/205, हरिपर्वत, प्रोफेसर कालोनी, आगरा,

- **एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः** ॥ 30 ॥ इस सूत्र में वा का अर्थ 'केवलीसमुद्घात के तीन समयों में तथा चौदहवें गुणस्थान में भी जीव अनाहारक होता है' लगाना चाहिये।
- **अनादिसम्बन्धे च** ॥ 41 ॥ सूत्र में च से तात्पर्य है कि तैजस और कार्मणशरीर का जीव से अनादि सम्बन्ध है भी और नहीं भी है।
- **शुभं विशुद्ध....** ॥ 49 ॥ सूत्र के अर्थ में च से 'यह लब्धिप्रत्यय ही होता है' ऐसा अर्थ लगाना चाहिए।
- **पृथिव्यप् ....** ॥ 13 ॥ में यह क्रम रखने का कारण सख्या में उत्तरोत्तर अधिकता होना है।
- **अनन्तगुणे परे** ॥ 39 ॥ इसका अर्थ 'आहारक से तैजस व कार्माणशरीर में अनन्तगुणे प्रदेश होते हैं' लगाना चाहिये। 'तैजस से भी, कार्माण मे अनन्तगुणे प्रदेश होते हैं' यह अर्थ सूत्र से नहीं निकलता॥

तृतीय अध्याय

- घनोदधिवातवलय सही शब्द नहीं है। इसके स्थान पर घनोदधिवलय बोलना चाहिये।
- **हेमार्जुन ....** ॥ 12 ॥ में हेममया का अर्थ स्वर्ण आदि से निर्मित ठीक लगता है बजाय सोने जैसे रग वाले के। अर्थात् ये पर्वत सोने आदि के हैं। क्योंकि मणियाँ स्वर्ण आदि पर जड़ी हुई अच्छी लगेंगी।
- **मणिविचित्र....** ॥ 13 ॥ इस सूत्र में पर्वत का आकार दीवार जैसा भी हो सकता है अथवा मृदग या इस जैसा अन्य अनेक प्रकार का भी हो सकता है।
- **विदेहेषु संख्येयकालाः** ॥ 31 ॥ अर्थ मे विदेह आदि कर्मभूमियों में संख्यात वर्ष की आयु होती है ऐसा लेना चाहिए।
- **संक्लिष्टा.....** ॥ 5 ॥ के अन्त में दिए गए च से तात्पर्य है कि कभी-कभी देवो द्वारा सुख भी दिया जाता है।
- इस अध्याय का सूत्र न. 11 यदि 10 न. पर होता और सूत्र 10 11 न. पर होता तो ज्यादा अच्छा था।
- शाश्वत तथा अशाश्वत दोनों भोगभूमियों मे जघन्य व उत्कृष्ट आयु के सभी विकल्प है।
- **आर्याम्लेच्छाश्च** ॥ 36 ॥ इस सूत्र में च शब्द से सम्मूर्च्छन मनुष्य लगाना चाहिए।

चतुर्थ अध्याय

- **आदितस्त्रि.....** ॥ 2 ॥ आदि के तीन निकायों में कृष्णनील कपोत पीत ये चार लेश्यायें होती हैं। अर्थात् इन तीन निकायों में आचार्य उमास्वामी के अनुसार पर्याप्त अवस्था में ये चारों लेश्या में पाई जाती है।
- **वैमानिकाः** ॥ 16 ॥ अर्थात् अब यहाँ से वैमानिक देवों का वर्णन प्रारम्भ होता है।
- बृहस्पति शब्द को त्रायस्त्रिंश जाति में मानना चाहिए।
- **परे प्रवीचाराः** ॥ 9 ॥ सोलहवें स्वर्ग से आगे सभी पूर्व जन्म में महामुनि होते हैं, अतः प्रवीचार से रहित होते हैं। इनके वेदना तो है पर ऐसी नहीं, जिसका प्रतीकार आवश्यक हो।
- **कल्पोपपन्नाः ...** ॥ 17 ॥ के अन्त में जो च है, इसका अर्थ यह भी है कि ये विमान अवस्थित भी हैं।
- **तदष्टभागोऽपरा:** ॥ 41 ॥ ज्योतिषियों की जघन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक का आठवां भाग होती है यह सूत्र का सही अर्थ निकलता है।

पंचम अध्याय

- **असंख्येयभागादिषु ....** ।। 15 ।। जीवों का अवगाह लोक के असंख्यातवें भाग में, लोक के असंख्यात बहुभाग में (प्रतर समुद्घात के समय) तथा लोकप्रमाण में होता है।
- **जीवाश्च** ।। 3।। जीव भी द्रव्य है और अस्तिकाय भी।
- **स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः** ।। 33 ।। स्निग्ध और रूक्ष गुणवाला होने से परमाणु में बन्ध होता है। विशेष - आत्मा में भी राग और द्वेषभाव होने से बन्ध होता है।
- संख्यात और असंख्यात प्रदेशी वर्गणायें हमारे उपयोग में नहीं आती। मैंदा का एक कण भी अनन्त अणुओं के संघात से बनने के कारण अनन्तप्रदेशी है।
- आतप का अर्थ - जो प्रकाश आँखों को न सुहाये तथा उद्योत का अर्थ - जिस प्रकाश को आँख देखना चाहे लगा लेना चाहिये।
- **अणवः स्कन्धाश्च** ।। 25 ।। यहाँ च शब्द से स्कन्ध के छह भेद भी होते है, ऐसा लेना चाहिए।
- जीव सिर्फ जीव पर ही उपकार करता है, अन्य पाच पर नही। क्योकि वे पाचो अजीव द्रव्य उपकार नहीं मानते।
- प्रकाश मे गति नहीं है, जबकि शब्द गतिमान् होता है।
- **सोऽनन्तसमयः** ।। 40 ।। अर्थात् अनन्त पर्यायों को एक साथ उत्पन्न कराने वाला भी होता है।

षष्ठ अध्याय

- **कायवाङ्मनःकर्मयोगः** ।। 1 ।। का उच्चारण 'कायवाङ्मनः कर्म योगः' होना चाहिए।
- **भूतव्रत्यनुकम्पादान ...** ।। 12 ।। का अर्थ करते समय सब प्राणियों पर अनुकम्पा और व्रतियों पर अनुकम्पा रखना अच्छा सा नही लगता। इसकी बजाय भूतानुकम्पा - जीव मात्र पर अनुकम्पा रखना तथा व्रतियों को दान देना, ऐसा अर्थ किया जाये तो अच्छा लगता है।
- सोलहकारण भावनाएँ सवर तथा निर्जरा की भी हेतु है, अतः इस अध्याय में सवर व निर्जरा का भी वर्णन है।
- पद लेकर तद्योग्य आचरण न करना भी सघ का अवर्णवाद है।

सप्तम अध्याय

- इस अध्याय में शुभास्रव का वर्णन तो है ही, प्रवृत्ति रूप संवर का भी वर्णन है। निवृत्ति रूप सवर का वर्णन नौवें अध्याय में कहेगे। क्योंकि सप्तम अध्याय में सब व्रतो के दोष बताने से पूर्व सम्यक्त्व के भी अतीचारो का वर्णन है।
- यदि किसी वस्तु के संयोग होने पर हर्ष और वियोग होने पर दुःख हो तो उस वस्तु से मूर्च्छा माननी चाहिए।
- गाय के इजेक्शन लगाकर दूध निकालना अथवा किसी पर बहुत दबाव देकर दान लेना, बोली बुलवाना भी अदत्तादान है।
- रूपया या वर्तमान मुद्रा को हिरण्य में लेना चाहिए।
- **दिग्देशानर्थदण्ड .....** ।। 21 ।। के अन्त में च शब्द से प्रतिमाओं तथा सल्लेखना को ग्रहण करना चाहिए।
- दुःपक्वाहार - कम या अधिक पका हुआ भोजन अथवा दुबारा गर्म किया गया भोजन यह भी लेना चाहिये। ठंडे चावल होने पर दुबारा छोंक लगाना भी दुःपक्वाहार है।

- **क्षेत्रवास्तु ....** ॥ 29 ॥ इस सूत्र में कुप्य के बाद भांड भी बोलना ज्यादा ठीक लगता है। प्राचीन पाण्डुलिपियों में इस सूत्र में भांड शब्द देखने में आता है। क्योंकि एक-एक व्रत के 5-5 अतीचार बताये हैं, उनमें पूरे 5 जोड़े बने। अत: 10 बाह्य परिग्रहों की संख्या की पूर्ति नहीं होती।
- **अगार्यनगारश्च** ॥ ॥ यहाँ च शब्द से क्षुल्लक-ऐलक भी अनगार हैं यदि उन्होंने घर छोड़ दिया हो तो।
- एक स्थान पर रहे और एक ही चौके में खावे तो 11 वीं प्रतिमा नहीं हो सकती।

अष्टम अध्याय

- **मिथ्यादर्शनाविरति ....** ॥ 1 । इस सूत्र में बन्धहेतव: का अर्थ ये द्रव्यप्रत्यय हैं।
- संघातनामकर्म - नोकर्मवर्गणाओं का ऐसा निश्छिद्र होना कि उनमें हवा का आना-जाना तो बना रहे, पर खून आदि न निकले।
- **उच्चैर्नीचैश्च** ॥ 12 ॥ इस सूत्र में च शब्द से ऐसा लेना चाहिये कि गोत्रकर्म के उच्च-उच्च, उच्च, उच्चनीच, नीच-उच्च, नीच तथा नीच-नीच ये छह भेद भी होते है।
- **ततश्च निर्जरा** ॥ 23 ॥ यहाँ च शब्द से तप से भी निर्जरा होती है ऐसा लेना चाहिये। अथवा अविपाकनिर्जरा भी होती है।
- ईर्यापथ आस्रव के पहले समय में बन्ध और अगले समय में निर्जरा होती है।

नवम अध्याय

- सत्कारपुरस्कार परीषहजय का अर्थ - 'अपना योग्य सत्कार न होने पर भी सतुंष्ट रहना है। साथ में ऐसा भी लेना चाहिये कि अत्यधिक सत्कार या भीड़ एकत्रित होने पर चित्त में प्रफुल्लता न होना' भी सत्कार पुरस्कार परीषहजय है। यह ज्यादा कठिन है।
- संस्थानविचय - लोक के आकार के साथ-साथ, शरीर की अपवित्रता का चिन्तन भी सस्थानविचय धर्मध्यान है।
- एषणासमिति में भोजन के साथ उपवास भी उद्दिष्ट नहीं होना चाहिए। क्षेत्रों पर खुली हुई सन्तशाला, त्यागीव्रती भवन या दानशालाओं के भोजन से भी एषणासमिति नहीं पलती है।
- ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में आदि के दोनों शुक्लध्यान पाये जाते हैं।
- आचारवस्तु का अर्थ - चर्या कैसी होनी चाहिये, मात्र इतना ज्ञान होना। मूलगुणों के नामोल्लेख का ज्ञान नहीं होना। ये द्रव्यश्रुत सम्बन्धी कारिका आदि नहीं याद कर पाते।
- मकान बनाकर आनन्द मनाना, चाबी की सुरक्षा रखना, दुकान की सुरक्षा रखना, सब रौद्रध्यान है।
- फ्लश की लैटरिन में जाना तथा योग्य स्थान पर मलमूत्र क्षेपण न करने से प्रतिष्ठापना समिति नष्ट हो जाती है।
- सामान्यकेवली से समुद्‌घातगत केवली की और उससे अयोग केवली की असख्यातगुणी निर्जरा होती है।

दशम अध्याय

- मुक्त आत्माएँ निष्क्रिय नहीं हैं। यहाँ सिद्ध बनने के बाद उनका गमन सात राजू होता है। वहाँ भी वे ऊर्ध्वगमन स्वभाव से सहित हैं। परन्तु धर्मद्रव्य के अभाव होने से ऊपर गमन नहीं हो रहा है। ऐसा नहीं जो सिद्धों में लोकान्त तक आने की ही उपादान शक्ति हो।
- ईथर धर्मद्रव्य नहीं है, क्योंकि ईथर तो पुद्‌गल है पर धर्मद्रव्य पुद्‌गल नहीं।

तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता आचार्य गृद्धपिच्छ : जीवनवृत्त

* विजयकुमार जैन

नाम की सार्थकता :

भगवान् महावीर की श्रमणश्रुत-परम्परा में उनके मोक्ष जाने के लगभग 500 वर्ष पश्चात् अर्थात् ईसवी प्रथम शताब्दी के आसपास भगवान् महावीर की मुखरित वाणी के प्रस्तोता, आगमग्रन्थकर्ता, आद्यसूत्रकार, जैन वाङ्मय के मणिकाञ्चनग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र अपर नाम मोक्षशास्त्र के रचयिता श्रुतकेवली स्वरूप गणीन्द्र आचार्य गृद्धपिच्छ को परम प्रभावक आचार्यों की परम्परा में अतिशय विशिष्ट स्थान प्राप्त है। वे सस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे।

आगमग्रन्थों के साथ-साथ समस्त दर्शनग्रन्थों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। सुप्रसिद्ध आद्यसूत्र ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र उनकी बहुश्रुतता का प्रतीक है। इनका अपर नाम उमास्वामी या उमास्वाति भी प्राप्त होता है। आचार्य वीरसेन ने जीवस्थान के कालानुयोगद्वार में तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ता गृद्धपिच्छाचार्य के नामोल्लेख के साथ एक सूत्र उद्धृत किया है -

तह गृद्धपिच्छाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि 'वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य' इति दव्वकालो परूविदो।[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य हैं। इसका समर्थन आचार्य विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक से भी होता है -

'एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता।'[2]

यहाँ विद्यानन्द जी ने भी तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता का नाम गृद्धपिच्छाचार्य बतलाया है।

तत्त्वार्थसूत्र के किसी टीकाकार ने भी निम्न पद्य में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता का नाम गृद्धपिच्छाचार्य दिया है -

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम्॥[3]

---

१. धवला पु. 5/316

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. 6

३. तत्त्वार्थसूत्र, प्रशस्ति,

* वर्द्धमान कालोनी, सागर, (07582) 268506

इसमें गृद्धपिच्छाचार्य नाम के साथ उनका दूसरा नाम उमास्वामि मुनीश्वर भी बतलाया गया है। आचार्य वादिराज ने भी अपने पार्श्वनाथ चरित्र में गृद्धपिच्छ नाम का उल्लेख किया है -

अतुच्छगुणसम्पातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम् ।
पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः ॥[1]

आकाश में उड़ने की इच्छा करने वाले पक्षी जिस प्रकार अपने पखों का सहारा लेते है, उसी प्रकार मोक्षरूपी नगर को जाने के लिए भव्यलोग जिन मुनीश्वर का सहारा लेते हैं उन महामना अगणित गुणों के भण्डार स्वरूप गृद्धपिच्छ नामक मुनि महाराज के लिए मेरा सविनय नमस्कार है।

श्रवणबेलगोला के एक अभिलेख में गृद्धपिच्छ नाम की सार्थकता और आचार्य कुन्दकुन्द के वश में उनकी उत्पत्ति बतलाते हुए उनका उमास्वाति नाम भी दिया है। यथा -

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी,
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन ।
य प्राणि संरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्धपक्षान्,
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छम् ॥[2]

एक अन्य शिलालेख में भी गृद्धपिच्छ का उल्लेख प्राप्त होता है -

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः ।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥[3]

आचार्य कुन्दकुन्द के पवित्र वश मे सकलार्थ के ज्ञाता उमास्वाति मुनीश्वर हुए, जिन्होंने जिनप्रणीत द्वादाशागवाणी को सूत्रों में निबद्ध किया। इन आचार्य ने प्राणिरक्षा के हेतु गृद्धपिच्छो को धारण किया। इसी कारण वे गृद्धपिच्छाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। अभिलेखीय साक्ष्य मे गृद्धपिच्छाचार्य को श्रुतकेवलिदेशीय भी कहा गया है। इससे उनका आगम सम्बन्धी सातिशय ज्ञान भी प्रकट होता है।

तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य का उल्लेख श्रवणबेलगोला के अभिलेख नम्बर 40, 42, 43, 47 और 50 में पाया जाता है। अभिलेख संख्या 105 और 108 में तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता का नाम उमास्वाति भी आया है और गृद्धपिच्छ उनका दूसरा नाम बतलाया गया है। यथा -

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार,
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम् ।

---

1. पार्श्वनाथ चरित, 1/16
2. जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, सं. 108, पृ. 210-11.
3. वही, सं. 43, पृ. 43.

तस्यैव शिष्योऽजनि गृद्धपिच्छद्वितीयसंज्ञस्य बलाकपिच्छः,
यत्सूक्तिरत्नानि भवन्ति लोके मुक्त्यङ्गनामोहनमण्डनानि ॥[१]

यतियों के अधिपति श्रीमान् उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र को प्रकट किया, जो मोक्षमार्ग के आचरण में उद्यत मुमुक्षुजनों के लिए उत्कृष्ट पाथेय है। उन्हीं का गृद्धपिच्छ दूसरा नाम है। इस गृद्धपिच्छाचार्य के एक शिष्य बलाकपिच्छ थे, जिनके सूक्तिरत्न मुक्त्यङ्गना के मोहन करने के लिए आभूषणों का काम देते हैं।

इस प्रकार दिगम्बर साहित्य और अभिलेखों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य अपरनाम उमास्वामी या उमास्वाति हैं।

कुछ विद्वानों ने तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द को माना है, किन्तु प. जुगलकिशोर मुख्तार ने उनकी आलोचना करते हुए लिखा है [२]-

'तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता के सम्बन्ध में एक अन्य मत यह है कि वाचक उमास्वाति इस सूत्रग्रन्थ के रचयिता हैं। प. सुखलाल संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र विवेचन की प्रस्तावना में वाचक उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता माना है, गृद्धपिच्छ उमास्वाति को नहीं। वे कहते हैं कि गृद्धपिच्छ उमास्वाति नाम के आचार्य हुए अवश्य हैं, परन्तु उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र की रचना नहीं की है। उन्होंने इस सूत्रग्रन्थ का उल्लेख 'तत्त्वार्थाधिगम' शास्त्र के नाम से किया है, परन्तु यह नाम तत्त्वार्थसूत्र का न होकर उसके भाष्य का है।'

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की रचना के पूर्व तत्त्वार्थसूत्र पर अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकीं थीं। सर्वार्थसिद्धि का निम्न सूत्र तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में कुछ परिवर्धन के साथ पाया जाता है, जिससे भाष्य की सर्वार्थसिद्धि से उत्तरकालीनता अवगत होती है -

क. **मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।**[३]

ख. **मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।**[४]

यहाँ तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठ की अपेक्षा द्रव्यपद के साथ विशेषण रूप से '**सर्व**' पद स्वीकार किया गया है, किन्तु जब वे ही भाष्यकार इस सूत्र के उत्तरार्ध को 1/20 के भाष्य में उद्धृत करते हैं तो उसका रूप सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठ ले लेता है। यथा - 'अत्राह - मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं वक्ष्यति - ''**द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु**'' इति।'[५]

इससे ज्ञात होता है कि भाष्य के पूर्व तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि टीका लिखी जा चुकी थी और उसमें तत्त्वार्थसूत्र

१. जैनशिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, सं. 105, पृ. 198.
२. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ. 102-5.
३. सर्वार्थसिद्धि, 1/26.
४. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, 1/27.
५. वही, 1/20.

का एक सूत्रपाठ निर्धारित किया जा चुका था। आचार्य सिद्धसेनगणि और आचार्य हरिभद्र ने भी तत्त्वार्थाधिगम भाष्यकार द्वारा उल्लिखित पाठ न स्वीकार करते हुए उसके उत्तरार्द्ध से सर्व पद क्यों छोड़ दिया है। यदि 'सर्व' पद की 'द्रव्य' पद के विशेषण के रूप में आवश्यकता थी तो उन्होंने ऐसा करते समय ध्यान क्यों नहीं रखा ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। बहुत सम्भव है कि उन्होंन प्राचीन सूत्रपाठ की परम्परा को ध्यान में रखकर ही प्रथम अध्याय के 20 वें सूत्र के भाष्य में उसे दिया, जो सर्वार्थसिद्धि में उपलब्ध था। इससे विदित होता है कि तत्त्वार्थाधिगमभाष्य लिखते समय वाचक उमास्वाति के समक्ष सर्वार्थसिद्धि अथवा उसमें मान्य सूत्रपाठ रहा है।

अर्थविकास की दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थाधिगम भाष्य को सर्वार्थसिद्धि के बाद लिखा गया है। काल के उपकारप्रकरण में सर्वार्थसिद्धि में परत्व और अपरत्व ये दो ही भेद किये गये हैं। जबकि तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में उसके तीन भेद उपलब्ध होते हैं। अत एव प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलाल जी का यह अभिमत, कि तत्त्वार्थसूत्रकार और तत्त्वार्थाधिगम भाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं, समीचीन प्रतीत नहीं होता।

तत्त्वार्थसूत्र के दो सूत्रपाठ हो जाने पर भी ऐसे अधिकतर सूत्र हैं, जो दोनों परम्पराओं में मान्य हैं और उनमें भी कुछ ऐसे सूत्र अपने मूल रूप में उपलब्ध हैं, जिनके रचयिता की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। पण्डित फूलचन्द्र जी शास्त्री ने 1. तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध के कारणों का प्रतिपादक सूत्र, 2. बाईस परीषहों का प्रतिपादक सूत्र, 3. केवलिजिन के 11 परीषहों के सद्भाव का प्रतिपादक सूत्र और 4. एक जीव के एक साथ परीषहों का संख्याबोधक सूत्र, इन चार सूत्रों को उपस्थित कर तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के रचयिताओं को भिन्न-भिन्न व्यक्ति सिद्ध किया है।[1]

पण्डित फूलचन्द्र जी ने 'उमास्वातिवाचकस्वोपज्ञसूत्रभाष्ये' पद के पण्डित सुखलाल सघवी द्वारा दिये गये अर्थ की समीक्षा करते हुए लिखा है - "पण्डित जी, भाष्यकार और सूत्रकार एक ही व्यक्ति है, इस पक्ष में उसका अर्थ लगाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु इस पद का सीधा अर्थ है - उमास्वातिवाचक द्वारा बनाया हुआ सूत्रभाष्य। यहाँ 'उमास्वाति-वाचकोपज्ञ' पद का सम्बन्ध सूत्र से न होकर उसके भाष्य से है। दूसरा प्रमाण पण्डितजी ने 9 वें अध्याय के 22 वें सूत्र की सिद्धसेनीय टीका उपस्थित कर दिया है - यह प्रमाण भी सन्देहास्पद है, क्योंकि सिद्धसेनगणि की टीका की जो प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें 'स्वकृतसूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्' पाठ के स्थान में 'कृतस्तत्र सूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्' पाठ भी उपलब्ध होता है। बहुत सम्भव है कि किसी लिपिकार ने तत्त्वार्थसूत्र का वाचक उमास्वाति कर्तृत्व दिखलाने के अभिप्राय से 'कृतस्तत्र' का संशोधन कर 'स्वकृत' पाठ बनाया हो और बाद में यह पाठ चल पड़ा हो।"[2]

अतः तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य दो पृथक्-पृथक् रचनाएँ हैं। तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि से पूर्ववर्ती और तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उससे उत्तरवर्ती रचना है। अतएव तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के कर्त्ता वाचक उमास्वाति रहे होंगे, पर मूल तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता गृद्धपिच्छाचार्य हैं। इस नाम का उल्लेख नौ वीं शताब्दी के आचार्य वीरसेन और विद्यानन्द जैसे आचार्यों के साहित्य में मिलता है। उत्तरकाल में अभिलेखों और ग्रन्थों में उमास्वामी और उमास्वाति इन दो नामों से भी इनका उल्लेख किया गया है। लगभग इसी समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुए सिद्धसेनगणि के उल्लेखों से

१. सर्वार्थसिद्धि, प्रस्तावना, पृ. 65-8.

२. वही, पृ. 68.

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य का रचयिता वाचक उमास्वाति को माना गया और इन्हें ही तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता भी बता दिया गया। पर मूल और भाष्य दोनों का अन्तःपरीक्षण करने पर ये दोनों पृथक्-पृथक् दो विभिन्नकालीन कर्तृक सिद्ध होते हैं, जैसा कि ऊपर के विवेचन से प्रकट है।

परम प्रभावक आचार्यों की परम्परा में उमास्वामी एक ऐसे आचार्य हुए हैं, जिनको दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समानभावेन सम्मान देते हैं और इन्हें अपनी-अपनी परम्परा का मानने में गौरव का अनुभव करते हैं।

दिगम्बर परम्परा में गृद्धपिच्छ, उमास्वामी और उमास्वाति तीनों नाम प्रचलित हैं। श्वेताम्बर परम्परा में केवल उमास्वाति नाम ही प्रसिद्ध है।

उमास्वामी ऐसे युग का प्रतिनिधित्व करते थे जब संस्कृत भाषा का मूल्य बढ़ रहा था। जैनेतर संघों में उच्चकोटि के संस्कृत ग्रन्थों का सृजन हो रहा था। जैनशासन में भी जैन संस्कृत विद्वानों की अपेक्षा अनुभूत होने लगी थी, इस आवश्यकता की सम्पूर्ति में उमास्वाति जैसे उच्चकोटिक विद्वान् की उपलब्धि जैनसंघ में हुई।

आचार्य उमास्वामी बेजोड़ संग्राहक थे। जैन तत्त्व के संग्राहक आचार्यों में उमास्वामी सर्वप्रथम हैं। उनके तत्त्वार्थसूत्र में जैनदर्शन से सम्बन्धित प्रायः सभी विषयों का अनुपम संग्रह प्राप्त होता है। आगमवाणी का यह अपूर्वसार ग्रन्थ है। आचार्य उमास्वामी की इसी मेधा से प्रभावित होकर आचार्य हेमचन्द्र ने कहा - **'उप उमास्वाति संग्रहीतारः'** जैन तत्त्व के संग्राहक आचार्यों में उमास्वामी अग्रणी हैं।

गुरुपरम्परा :

गृद्धपिच्छाचार्य किस अन्वय में हुए यह विचारणीय है। नन्दिसंघ की पट्टावली और श्रवणबेलगोला के अभिलेखों से यह प्रभावित होता है कि गृद्धपिच्छाचार्य आचार्य कुन्दकुन्द के अन्वय में हुए हैं। नन्दिसंघ की पट्टावलि विक्रम के राज्याभिषेक से प्रारम्भ होती है। वह निम्न प्रकार है -

1. भद्रबाहु द्वितीय (4), 2. गुप्तिगुप्त (26), 3. माघनन्दि (36), 4. जिनचन्द्र (40), 5. कुन्दकुन्दाचार्य (49), 6. उमास्वामी (101), 7. लोहाचार्य (142), 8. यशःकीर्ति (153), 9. यशोनन्दि (211), 10. देवनन्दि (258), 11. जयनन्दि (308), 12. गुणनन्दि (358), 13. वज्रनन्दि (364), 14. कुमारनन्दि (386), 15. लोकचन्द (427), 16. प्रभाचन्द्र (453), 17. नेमिचन्द्र (472), 18. भानुनन्दि (487), 19. सिंहनन्दि (508), 20. वसुनन्दि (525), 21. वीरनन्दि (531), 22. रत्ननन्दि (561), 23. माणिक्यनन्दि (585), 24. मेघचन्द्र (601), 25. शान्तिकीर्ति (627), 26. मेरुकीर्ति (642)।[1]

उपर्युक्त पट्टावलि में आया हुआ गुप्तिगुप्त का नाम अर्हद्बलि के लिये आया है। अन्य प्रमाणों से सिद्ध है कि नन्दिसंघ की स्थापना अर्हद्बलि ने की थी और इसके प्रथम पट्टधर आचार्य माघनन्दि हुए। इस क्रम से गृद्धपिच्छ नन्दिसंघ के पट्ट पर विराजमान होने वाले आचार्यों में चतुर्थ आते हैं और इनका समय वीर निर्वाण संवत् 571 सिद्ध होता है। अतएव

१. जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग 1, किरण 4, पृ. 78.

गृद्धपिच्छ के गुरु का नाम कुन्दकुन्दाचार्य होना चाहिए। श्रवणबेलगोला के अभिलेख नं. 108 में गृद्धपिच्छ उमास्वामी का शिष्य बलाकपिच्छाचार्य को बतलाया है। अत: इनके शिष्य बलाकपिच्छ हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के निर्माण में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का सर्वाधिक उपयोग किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने पंचास्तिकाय में द्रव्य का लक्षण बताते हुए लिखा है -

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥[१]

इस गाथा के आधार पर तत्त्वार्थसूत्र में तीन सूत्र उपलब्ध होते हैं। ये तीनों सूत्र क्रमश: गाथा के प्रथम, द्वितीय और तृतीय पाद हैं -

1. **सद्‌द्रव्यलक्षणम्** ।[२]
2. **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** ।[३]
3. **गुणपर्ययवद् द्रव्यम्** ।[४]

चूंकि गृद्धपिच्छ ने आचार्य कुन्दकुन्द का शाब्दिक और वस्तुगत, दोनों रूप से अनुसरण किया है, अत: आश्चर्य नहीं कि गृद्धपिच्छ के गुरु आचार्य कुन्दकुन्द ही हों। श्रवणबेलगोला के उक्त अभिलेखानुसार गृद्धपिच्छ के शिष्य बलाकपिच्छ हैं। इनकी गणना नन्दिसंघ के आचार्यों में है।

यद्यपि श्वेताम्बर विद्वानों ने उमास्वामी की गुरु-परम्परा को श्वेताम्बर सम्मत गुर्वावली से सबद्ध माना है। पण्डित सुखलाल जी ने इन्हें ही तत्त्वार्थाधिगम भाष्य का कर्त्ता मानकर उच्चैर्नागर शाखा का आचार्य माना है और यह शाखा कल्पसूत्र की स्थविरावलि के अनुसार आर्य शान्तिश्रेणिक से निकली है। आर्य शान्तिश्रेणिक आर्यसुहस्ति से चौथी पीढ़ी में आते हैं तथा वह शान्तिश्रेणिक आर्यवज्र के गुरु आर्य सिंहगिरी के गुरुभाई होने से, आर्यवज्र की पहली पीढ़ी में आते हैं। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की प्रशस्ति में वाचक उमास्वाति ने अपने को शिवश्री नामक वाचक मुख्य का प्रशिष्य और एकादशांगवेत्ता घोषनन्दि श्रमण का दीक्षा शिष्य तथा प्रसिद्धकीर्ति वाले महावाचकश्रमण श्री मुण्डपाद का विद्याप्रशिष्य बतलाया है।[५]

पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार आदि ने उमास्वाति को दिगम्बर परम्परा का माना है, वे भाष्य को स्वोपज्ञ मानने के पक्ष में नहीं है।

---

१. पंचास्तिकाय, गाथा 10.
२. तत्त्वार्थसूत्र, 5/29.
३. वही, 5/30.
४. वही, 5/38.
५.

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की कारिकाओं में प्राप्त नन्द्यन्त प्रधान नामों के आधार पर तथा कई सैद्धान्तिक मान्यताओं के आधार पर पण्डित नाथूराम प्रेमी जी ने आचार्य उमास्वाति का सम्बन्ध यापनीय संघ परम्परा के साथ अनुमानित किया है।[1]

मैसूर नगर तालुका के 46 नं. के शिलालेख में एक श्लोक आया है -

तत्त्वार्थसूत्र कर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ॥

इस श्लोक में 'श्रुतकेवलिदेशीय' विशेषण आचार्य उमास्वाति के लिए प्रयुक्त हुआ है। यही विशेषण यापनीय संघ के अग्रणी वैयाकरण शाकटायन के साथ भी आया है। इस आधार से भी उमास्वाति यापनीय संघ की परम्परा से सम्बन्धित सिद्ध होते हैं।[2]

श्वेताम्बर विद्वान् धर्मसागर जी की पट्टावलि मे प्रज्ञापनासूत्र के रचनाकार श्यामाचार्य के गुरु हादितगोत्रीय स्वाति को ही तत्त्वार्थ रचनाकार उमास्वाति मान लिया है।[3] यह उमास्वाति के नाम के अर्धांश की समानता के कारण भ्रान्ति पैदा हुई संभव है।

उमास्वाति और स्वाति दोनों का गोत्र भी एक नहीं है। स्वाति हारितगोत्रीय थे।[4] उमास्वाति का गोत्र कोभीषण माना गया है।[5]

श्रवणबेलगोला के 65 न. के शिलालेख में प्राप्त उल्लेखानुसार उमास्वाति आचार्य कुन्दकुन्द के अन्वय में हुए हैं। किन्तु इस शिलालेख के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द और उमास्वाति का साक्षात् गुरु-शिष्य सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः ।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति मान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥[6]

इन उल्लेखों से प्रकट है कि आचार्य गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्द के उत्तराधिकारी थे। मेरे अभिमत से दोनों के नाम के साथ 'गृद्धपिच्छ' शब्द का जुडा होना को इंगित करता है कि आचार्य कुन्दकुन्द का विशेषण आचार्य उमास्वामी के साथ जुड़ गया अथवा आचार्य उमास्वामी की महानता के कारण उनका विशेषण आचार्य कुन्दकुन्द के साथ भी प्रयोग किया जाने लगा है। दोनों में से किसी भी अभिमत को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं आती, फिर भी विद्वज्जन इसका उचित निर्धारण कर निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र परिचय, पं. सुखलाल संघवी.
२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 533.
३. मैसूरनगर तालुका, शिलालेख सं. 461.
४. हारियगोत्तं साइं च, 15.
५. कौभीषणिना स्वातितनयेन, 3. (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य कारिका)
६. जैन शिलालेखसंग्रह, भाग 1, सं. 43.

समय संकेत :

आचार्य गृद्धपिच्छ का समय निर्धारण नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण सम्वत् 571, जो कि विक्रम संवत् 101 आता है। 'विद्वज्जनबोधक' में निम्नलिखित पद्य आता है -

वर्षसप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ ।
उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च ।।[१]

अर्थात् वीर निर्वाण सवत् 770 में उमास्वामी मुनि हुए तथा उसी समय कुन्दकुन्दाचार्य भी हुये। नन्दिसंघ की पट्टावली में बताया है कि उमास्वामी 40 वर्ष 8 माह आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु 84 वर्ष की थी और विक्रम संवत् 142 में उनके पट्ट पर लोहाचार्य द्वितीय प्रतिष्ठित हुए। प्रो. हार्नले[२], डा. पिटर्सन[३] और डा. सतीशचन्द्र[४] ने इस पट्टावली के आधार पर उमास्वाति को ईसा की प्रथम शताब्दी का विद्वान् माना है।

'विद्वज्जनबोधक' के अनुसार उमास्वाति का समय विक्रम संवत् 300 आता है और यह पट्टावली के समय से 150 वर्ष पीछे पड़ता है।

इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में 683 वर्ष की श्रुतधर आचार्यों की परम्परा दी है और इसके बाद अंगपूर्व के एकदेशधारी विनयधर, श्रीदत्त और अर्हद्दत्त का नामोल्लेख कर नन्दिसंघ आदि सघों की स्थापना करने वाले अर्हद्बलि का नाम दिया है। श्रुतावतार में इसके पश्चात् माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि के उल्लेख हैं। इसके बाद कुन्दकुन्द का नाम आया है। अत: आचार्य गृद्धपिच्छ आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् अर्थात् 683 वर्ष के पश्चात् हुए हैं। यदि इस अन्तर को 100 वर्ष मान लिया जाये, तो वीर निर्वाण संवत् 783 के लगभग आचार्य गृद्धपिच्छ का समय होगा।

यद्यपि श्रुतधर आचार्यों की परम्परा का निर्देश धवला[५], आदिपुराण[६], नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली[७] और त्रिलोकप्रज्ञप्ति[८] आदि में आया है, पर ये सभी परम्पराएँ 683 वर्ष तक का ही निर्देश करती हैं। इसके आगे के आचार्यों का कथन नहीं मिलता। अतएव श्रुतावतार आदि के आधार से गृद्धपिच्छ का समय निर्णीत नहीं किया जा सकता है।

मल्लवादी के नयचक्र और उसकी टीका में तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य के उद्धरण हैं। मल्लवादी वीर निर्वाण संवत् 884 में विद्यमान थे, अत: उमास्वाति का समय इनसे पूर्व का है।

---

१. विद्वज्जनबोधक,
२. And ant, XX, P. 341, 351.
३. Peerrsons Aourth report on Sanskrit Manuscripts, P. XVI.
४. History of the Mediaval School of Indian Logic, P. 8,9.
५. धवला, पु. ९/१३०.
६. आदिपुराण, २/१३७.
७. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण 4, पृ. 71.
८. तिलोयपण्णत्ति, ४/४९०-९१.

पं. सुखलाल जी ने तत्त्वार्थसूत्र विवेचन की प्रस्तावना5 में विविध शोध बिन्दुओं के आधार पर वाचक उमास्वाति का प्राचीन से प्राचीन समय वीर निर्वाण की 5 वीं (विक्रम की प्रथम) और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय वीर निर्वाण संवत् की 8 वीं 9 वीं (विक्रम 3-4 थी) शताब्दी का निर्धारित किया है।

डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने बहुत ऊहापोह के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द के समय का निर्णय किया है और जिससे गृद्धपिच्छ, आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य प्रकट होते हैं। उपाध्ये जी के अनुसार कुन्दकुन्द का समय ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग है। अतः गृद्धपिच्छाचार्य उसके पश्चात् ही हुए हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द का समय निर्णीत हो जाने के पश्चात् आचार्य गृद्धपिच्छ का समय पट्टावलियों और शिलालेखों में आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् गृद्धपिच्छ का नाम आया है। अतएव इनका समय ईस्वी प्रथम शताब्दी का अन्तिम भाग और द्वितीय शताब्दी का पूर्वभाग घटित होता है।

निष्कर्ष यह है कि पट्टावलियों, प्रशस्तियों और अभिलेखों के अध्ययन से गृद्धपिच्छ का समय ईस्वी सन् द्वितीय शताब्दी प्रतीत होता है।

ग्रन्थ :

आचार्य गृद्धपिच्छ प्रणीत तत्त्वार्थसूत्र उनकी सर्वमान्य रचना है और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों एकमत हो यह मानते हैं।

श्वेताम्बर अभिमत यह भी स्वीकार करता है कि आचार्य उमास्वाति ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। आचार्य वादिदेवसूरि ने उन्हें 500 ग्रन्थों का रचनाकार निरूपित किया है। यथा -

पंचशतीप्रकरणप्रणयनप्रवीणैरत्र भगवदुमास्वातिवाचकमुख्यैः[1]

साथ ही जम्बूद्वीपसमासप्रकरण, पूजाप्रकरण, श्रावकप्रज्ञप्ति, क्षेत्रविचार, प्रशमरतिप्रकरण आदि रचनाएँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उनके नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में उनकी केवल एक ही रचना तत्त्वार्थसूत्र मानी जाती है। आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी द्वारा रचित अन्य कोई ग्रन्थ इस सम्प्रदाय में उपलब्ध नहीं है।

---

1. स्याद्वाद रत्नाकर, वादिदेवसूरिकृत.

तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्याओं का वैशिष्ट्य

* डॉ. राकेश जैन,

जैन साहित्य में संस्कृत भाषा की आद्य रचना का श्रेय प्राप्त करने वाला ग्रन्थ है **तत्त्वार्थसूत्र**। इसका महत्त्व मात्र इसके लिए ही नहीं, अपितु इसमें जिनागम के मूल तत्त्वों का संक्षेप व सुग्राह्य शैली में विवेचन होने से यह जैन साहित्य का विशेष सम्मानप्राप्त ग्रन्थराज है। इसके लगभग साढे तीन सौ सूत्रों में करणानुयोग, द्रव्यानुयोग एवं चरणानुयोग का सार समाया हुआ है। सर्वाधिक विशेषता की बात तो यह है कि यह प्रत्येक सम्प्रदाय में मान्य है। इसी कारण इस पर सभी सम्प्रदायों में अनेक टीकाओं की रचनाएँ हुईं। इसके महत्त्व को ख्यापित करने के लिए यह कहना भी अपर्याप्त ही लगता है कि जैसे सनातन धर्म में गीता, मुस्लिम में कुरान एवं ईसाई में बाइबिल का महत्त्व है लगभग वही महत्त्व जैनधर्म में इसका है। कारण, उपमित ग्रन्थों में सारभूत सिद्धान्तों का सम्पूर्ण कथन नहीं है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र में वह सब भी है।

इसका महत्त्व इसलिए भी है कि इसके आधार पर अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ हुई। इसका उपयोग कृतिकारों ने अपनी अपेक्षा के अनुसार पर्याप्त किया है। संक्षेप में यदि कहा जाये तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसमें **'गागर में सागर'** समाने वाली कहावत चरितार्थ हुई है।

सर्वार्थसिद्धि-

पाँचवी शताब्दी में इस धरा को सरस्वती के प्रसाद से मण्डित करने वाले आचार्य पूज्यपाद की तत्त्वार्थ पर सर्वप्रथम प्राप्त होने वाली इस टीका का नाम तत्त्वार्थवृत्ति है। किन्तु वर्तमान में इसे सर्वार्थसिद्धि के नाम से जाना जाता है। जबकि इसके पुष्पिका वाक्य एवं प्रशस्ति में प्राप्त श्लोक से इसके तत्त्वार्थवृत्ति नाम की ही सूचना मिलती है। यथा-

स्वर्गापवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यै-
जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता।
सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा,
तत्त्वार्थवृत्ति*रनिशं मनसा प्रधार्या ॥ १ ॥*[1]

इसी श्लोक में तत्त्वार्थवृत्ति के विशेषण रूप में दिये गये सर्वार्थसिद्धि के कारण मालूम होता है इसका नाम सर्वार्थसिद्धि भी प्रचलित हो गया। इसके नामकरण का कारण लिखते हुए उन्होंने स्वय लिखा है -

तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वाः,
शृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्त्या।

१. स. सि. प्रशस्ति,

* द्वारा - सर्वोदय जैन विद्यापीठ, सिद्धायतन परिसर, महावीरनगर, छोटा करीला, सागर, (07582) 267433

हस्ते कृतं परमसिद्धिसुखामृतं तै-
र्मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम् ॥ २॥[1]

अर्थात् अर्थ के सार को ज्ञात करने के लिए जो व्यक्ति धर्म-भक्ति से तत्त्वार्थवृत्ति को पढ़ते और सुनते हैं वे परमसिद्धि के सुखरूपी अमृत को हस्तगत कर लेते हैं, तब चक्रवर्ती और इन्द्रपद के सुख के विषय में तो कहना ही क्या ?

किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि प्रशस्तियुक्त इस ग्रन्थ में टीका के कर्त्ता का कोई नामोल्लेख नहीं हुआ। फिर भी इसके कर्त्ता का उल्लेख अन्यस्रोतों से उपलब्ध हो जाता है। यथा - श्रवणबेलगोल के जैन शिलालेखों में इसका उल्लेख है। अतः यह स्पष्ट रूप से मान्य है कि यह टीका आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दि की ही है।

इस वृत्ति में तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र औ र उसके प्रत्येक पद का निर्वचन या विवेचन एवं शका-समाधानपूर्वक किया गया है। टीका ग्रन्थ होने पर भी इसमें मौलिकता अक्षुण्ण है। इसमें निर्धारित किये गये पारिभाषिक शब्दों के लक्षण आरातीय आचार्यों के द्वारा ब्रह्मवाक्य की तरह प्रयुक्त हुए हैं। आपके द्वारा संस्कृत भाषा के जिस परिनिष्ठित रूप को प्रयुक्त किया गया है उससे तत्कालीन संस्कृत भाषा के विकास की तो जानकारी मिलती ही है, साथ ही उस भाषा पर आपके असाधारण अधिकार का परिचय भी होता है। आपकी सुसंस्कृत एवं कान्त पदावलि जहाँ आपके पाण्डित्य की परिचायक है, वहीं नवम अध्याय में प्रयुक्त दीर्घसामासिक एवं माधुर्यपूर्ण वाक्यरचना प्रमेय से आप्लावित रससिक्तता के अन्यतम उदाहरण हैं।

आचार्य पूज्यपाद ने सूत्रकार की तरह इस वृत्ति का निर्माण किया है। उनकी परिभाषायें अल्पाक्षर, असन्दिग्ध और सारभूत हैं। उन वाक्यों में सिद्धान्त की गूढ़ता एवं दार्शनिक गाम्भीर्य के साथ व्याकरण की सुसंगतता दर्शनीय है। यही कारण है कि इसके लगभग प्रत्येक पद को आचार्य अकलंकदेव ने वार्तिक रूप में ग्रहण कर उनकी विशद व्याख्या की है।

इसमें अनेक मौलिकताएँ एवं विशेषताएँ उपलब्ध हैं, प्रत्येक अध्यायों में संश्लिष्ट। उन सभी विशेषताओं का निदर्शन करा पाना लेख जैसे छोटे स्थल पर संभव नहीं है। अतः एक-दो विशेषताएँ ही देना उचित होगा। यथा

औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए सात या पाँच प्रकृतियों का उपशम बतलाया गया है। लेकिन वह किस तरह होता है इसके उत्तर में आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि - [2]**'काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्'** अर्थात् काल लब्धि आदि के निमित्त से होता है। जहाँ आगम में इनके लिए पाँच लब्धियों का विवरण मिलता है वहीं यहाँ पर काललब्धि को प्रमुख माना गया है।

इसके साथ ही आचार्य पूज्यपाद ने जातिस्मरण आदि कतिपय कारणों की व्याख्या भी की है जो धवला आदि में होते हुए भी सर्वत्र नहीं हैं।

आचार्य पूज्यपाद की दृष्टि में हिंसा और अहिंसा की परिभाषा मात्र क्रियात्मक न होकर भावात्मक है। इसीलिए उन्होंने इसके विवेचन में पर्याप्त रस लिया है साथ ग्रन्थान्तरों की कारिकायें भी उद्धृत की हैं। उन्होंने अपने विवेचन में स्पष्ट किया है कि जहाँ प्रमत्तयोग है वहाँ प्राणों का घात न होने पर भी हिंसा है, क्योंकि वहाँ भाव रूप में हिंसा मौजूद है।[1]

---

१. स. सि. प्रशस्ति, २
२. स. सि. २/३.

आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थवृत्ति अर्थात् सर्वार्थसिद्धि में मिथ्यात्व के पाँच भेदों का कथन करते हुए पुरुषाद्वैत एवं श्वेताम्बरीय निर्ग्रन्थ-सग्रन्थ, केवली-कवलाहार तथा स्त्री-मुक्ति आदि की मान्यताओं को विपरीत मिथ्यात्व कहा है।[१]

इन जैसी अनेक विशेषताओं के भण्डार स्वरूप आचार्य पूज्यपाद की तत्त्वार्थवृत्ति एवं स्वयं पूज्यपाद जैन साहित्य के विशाल गगन के उन ज्योतिर्मान नक्षत्रों में से हैं, जो अपनी ही दीप्ति से भास्वत हैं और उनका प्रकाश मोहाच्छन्न जिज्ञासुओं को उचित एवं पर्याप्त मार्गदर्शन कराने में समर्थ है।

तत्त्वार्थ भाष्य-

यह वह कृति है जिसे आज भी श्वेताम्बर मतानुयायी आचार्य उमास्वाति की स्वोपज्ञ टीका मानते हैं। किन्तु पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने अनेक सन्दर्भों पर विचार करते हुए इसे संदिग्ध ही माना है। जैसा कि उनका कथन है - 'भाष्य की स्वोपज्ञता सन्दिग्ध है।'[३]

इन्हीं के मत से इसे आचार्य पूज्यपाद एवं आचार्य अकलंकदेव के बाद की रचना माना जाना चाहिए। कारण इसके अन्तःपरीक्षण से ज्ञात होता है कि इसमें आचार्य अकलकदेव के अनेक सन्दर्भों का यथावत् या किञ्चित् परिवर्तन के साथ शब्दशः अनुकरण किया गया है। जिसके उदाहरण भी उन्होंने प्रस्तुत किये हैं।

भाष्य के परिशीलन से ज्ञात होता है कि भाष्यकार सैद्धान्तिक एव आगमिक ज्ञान में निपुण थे। इन्होंने सूत्रों का साधारण अर्थ करने के साथ-साथ जहाँ आवश्यक प्रतीत हुआ वहाँ सम्बद्ध आगमिक या सैद्धान्तिक विषयों का विवेचन किया है। कतिपय सूत्रों की उत्थानिका न होने से अर्थ को स्पष्ट करने में कठिनाई प्रतीत हुई है। कहीं-कहीं तो उनका सामंजस्य भी बिगड़ गया है।

तत्त्वार्थवार्तिक-

अपनी कृतियों के माध्यम से अपनी पहचान स्थापित करने वालों में आचार्य अकलंकदेव का नाम अग्रगण्य पंक्ति में समाविष्ट है। आप जैन वाङ्मय के उन दीप्तिमान प्रकाशपुंजों में परिगणित होते हैं, जिनकी आभा से जैन दार्शनिक साहित्य कीर्तिमान स्थापित कर सका। सातवीं-आठवीं शताब्दी के इन जैसा प्रखर तार्किक एवं दार्शनिक अन्य नहीं हुआ। बौद्धदर्शन में धर्मकीर्ति को जो सम्मान प्राप्त है वही सम्मान आचार्य अकलंकदेव को जैनदर्शन में प्राप्त है। न्याय एवं दर्शन के क्षेत्र में तत्कालीन प्रचलित विवादों के समाधान देने में जो महारत आपने हासिल की, वह अनुपम है। आपकी अनेक कृतियों में एक तत्त्वार्थवार्तिक नाम से है।

ग्रन्थ के नामकरण का श्रेय स्वयं कर्ता को ही है, वे आद्य श्लोकों में एकत्र लिखते हैं - '**वक्ष्ये तत्त्वार्थवार्तिकम्**'[४] जो सार्थक है। इसका अपर नाम तत्त्वार्थराजवार्तिक रूप में भी जाना जाता है। इस ग्रन्थ में आपने वार्तिकों का निर्माण कर उस पर भाष्य भी स्वयं ही लिखा है।

इस तत्त्वार्थवार्तिक में तत्त्वार्थसूत्र के विषय के समान ही सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक विषयों का प्ररूपण है। यहाँ

१. स. सि. ७/१३,
२. वही, ८/१,
३. जैन साहित्य का इतिहास भाग २, पृ. २९४
४. तत्त्वार्थवार्तिक मंगलाचरण,

प्रथम और पंचम अध्यायों में ज्ञान एवं द्रव्य की विशेष चर्चा करने से दार्शनिकता का आधिक्य समावेशित हो सका है। इसके प्रत्येक अध्याय के दार्शनिक विषय वाले प्रत्येक सूत्र की व्याख्या लिखते समय उन्होंने 'अनेकान्तात्' जैसे वार्तिक से दार्शनिक समाधान प्रस्तुत करने की कुशलता प्रदर्शित की है।

सर्वार्थसिद्धि को आधार बनाकर ही तत्त्वार्थवार्तिक का भव्य प्रासाद निर्मित हो सका है। इस प्रासाद का आधार भी नव-नूतनता से आप्लावित है। विशेषता यह है कि सर्वार्थसिद्धि में जिन दार्शनिक चर्चाओं को स्थान नहीं मिल पाया है वे तो इसमें सामिल हैं ही, साथ ही वे विषय भी यहाँ संयोजित हैं जो उनके समय तक चर्चित हो रहे थे। यथा - सर्वार्थसिद्धि में सान्निपातिक भावों की चर्चा ही नहीं है। जबकि श्वेताम्बर आगमों में इनका उल्लेख है। इसे स्पष्ट किया गया है कि यह कोई पाँच से अतिरिक्त भाव नहीं है। अपितु इसे मिश्र नाम के भाव में ही अन्तर्गर्भित समझना चाहिए।[1] आचार्य अकलंकदेव इतना ही कह कर शान्त नहीं होते अपितु उन सान्निपातिक भावों के भेद को प्रकट करने वाली एक कारिका प्रस्तुत कर उनके भेदों को स्पष्ट कर दिया है।

इस ग्रन्थ की विशेषताओं के विषय में जैनदर्शन के प्रज्ञापुरुष प. सुखलाल संघवी ने लिखा है - 'राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक के इतिहासज्ञ अभ्यासी को मालूल पड़ेगा कि दक्षिण हिन्दुस्तान में जो दार्शनिक विद्या और स्पर्धा का समय आया और अनेकमुख पाण्डित्य विकसित हुआ, उसी का प्रतिबिम्ब इन दोनों ग्रन्थों में है। प्रस्तुत दोनों वार्तिक जैनदर्शन का प्रामाणिक अभ्यास करने के पर्याप्त साधन हैं। इनमें 'राजवार्तिक' का गद्य सरल और विस्तृत होने से तत्त्वार्थ के सम्पूर्ण टीकाग्रन्थों की गरज अकेला ही पूर्ण करता है। ये दो वार्तिक नहीं होते तो दशवीं शताब्दी तक के दिगम्बर साहित्य में जो विशिष्टता आयी, और उसकी जो प्रतिष्ठा बँधी वह निश्चय से अधूरी ही रहती।'[2]

राजवार्तिक के विषय प्रतिपादन की विशेषता का निदर्शन कराने के लिए ऐसे उदाहरण लिये जा सकते हैं -

प्रमाणनयार्पणाभेदात् - एकान्तो द्विविधः - सम्यगेकान्तो मिथ्यैकान्त इति। अनेकान्तोऽपि द्विविधः - सम्यगनेकान्तो मिथ्यानेकान्त इति। तत्र सम्यगेकान्तो हेतु विशेषसामर्थ्यपेक्षः प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशादेशः। एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्राणिधिर्मिथ्यैकान्तः। एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः। तदतत्स्वभाववस्तुशून्य परिकल्पितानेकात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्याऽनेकान्तः। तत्र सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते। सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्। नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात्।[3]

आचार्य अकलंकदेव द्वारा रचित गद्य वार्तिक की यह विशेषता है कि जहाँ उन्होंने सर्वार्थसिद्धि के वाक्यों को वार्तिक के रूप में समाहित किया है वहीं नवीन वार्तिकों का निर्माण भी किया है। इस ग्रन्थ का पाठक यह प्रतीति ही नहीं कर पाता कि वह प्रकारान्तर से सर्वार्थसिद्धि का भी अध्ययन कर रहा है। उन दोनों प्रकार के वार्तिकों पर व्याख्या या भाष्य भी लिखा है। इसी कारण इसकी पुष्पिकावाक्यों में इसे **तत्त्वार्थवार्तिकव्याख्यानालंकार** जैसी संज्ञा प्रदान की गयी है।

इसके विभाजन को अध्यायों के अन्दर भी आह्निक के माध्यम से किया गया है।

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, २/७/२१-२

२. तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना, पृ. ७८-९.

१. तत्त्वार्थवार्तिक १/६.

तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति

आचार्य सिद्धसेन गणि द्वारा रचित तत्त्वार्थभाष्य की टीका का नाम तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति है। आप आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इस धरा को आपने ज्ञान-चारित्र एवं तप से सुशोभित कर रहे थे। आप सिद्धान्तमर्मज्ञ, विश्रुत एवं प्रतिभासम्पन्न थे। 'गन्धहस्ती' के नाम से आपकी इस वृत्ति के अनेकत्र उद्धरण प्राप्त होते हैं। यह वृहत्काय वृत्ति है। इनकी ही एक अन्य वृत्ति जो आचारांग पर है अनुपलब्ध है।

वृत्ति के अन्तःस्पर्श से ज्ञात होता है कि आप आगमिक परम्परा के प्रबल पक्षपाती थे, जो कि विशेषावश्यक भाष्य के रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा स्थापित जान पड़ती है। इसमें दार्शनिक एवं तार्किक चर्चाएं पर्याप्त हैं। विशेष इतना है कि यदि भाष्य का कोई विषय आगम के विरुद्ध जा रहा होता है तो उसकी आलोचना करते हुए आप आगमिक मान्यता की ही पुष्टि करते हैं। उससे विरुद्ध आप कुछ भी सह्य नहीं समझते। इसीलिए अनेक स्थलों पर आपने भाष्य के आगम विरुद्ध उल्लेखों को अपनी अज्ञानता बलताकर टाल दिया है। इनके उदाहरण दिये जा सकते हैं किन्तु विस्तारभय से मात्र एक ही दे पा रहे हैं। यथा -

सूत्र ३/१३ के भाष्य में लिखा है - **'न कदाचिदस्मात् परतो जन्मतः संहरणतो वा चारणविद्याधरर्द्धिप्राप्ता अपि मनुष्या भूतपूर्वा भवन्ति भविष्यन्ति च।' अन्यत्र समुद्घातोपपाताभ्यामत एव च मानुषोत्तर इत्युच्यते।**

यहाँ विद्याधर एवं चारणर्द्धि सम्पन्न मनुष्यों का मानुषोत्तर पर्वत के बाहर गमन करने का प्रसंग प्राप्त है। इस पर गणिजी ने निषेधपरक अर्थ करके भाष्य के विपरीत कथन किया है।

वृत्ति की शैली प्रतिपद को स्पष्ट करने वाली, प्रमेयबहुल एवं उच्च दार्शनिक है। इससे ज्ञात होता है कि गणि जी का ज्ञान कितना अगाध था। इसके साथ यह भी जानकारी मिल जाती है कि उनके सामने तत्त्वार्थसूत्र के अनेक पाठ एव अनेक टीकायें उपलब्ध थी। इसी के कारण वे अट्ठारह हजार श्लोक प्रमाण यह टीका निर्मित कर सके। इसके अन्तःपरीक्षण से स्पष्ट होता है कि टीकाकार ने अपनी टीका के लेखन में सर्वार्थसिद्धि एवं तत्त्वार्थवार्तिक का पूरा उपयोग किया है। इस विषय में पं. सुखलाल संघवी का निम्न मत दृष्टव्य है - 'जो भाषा का प्रसाद, रचना की विशदता और अर्थ का पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में है, वह सिद्धसेनीय वृत्ति में नहीं है। इसके दो कारण हैं - एक तो ग्रन्थकार का प्रकृतिभेद और दूसरा कारण पराश्रित रचना है। सर्वार्थसिद्धिकार और राजवार्तिककार सूत्रों पर अपना-अपना वक्तव्य स्वतंत्ररूप से ही कहते हैं। सिद्धसेन को भाष्य का शब्दशः अनुसरण करते हुए पराश्रित रूप में चलना पड़ता है। इतना भेद होने पर भी समग्र रीति से सिद्धसेनीय वृत्ति का अवलोकन करते समय मन पर दो बातें तो अंकित होती ही हैं। उनमें पहली यह कि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा सिद्धसेनीयवृत्ति की दार्शनिक योग्यता कम नही है। पद्धति भेद होने पर भी समष्टि रूप से इस वृत्ति में भी उक्त दो ग्रन्थों जितनी ही न्याय, वैशेषिक, सांख्ययोग और बौद्ध दर्शनों की चर्चा की विरासत है। और दूसरी बात यह है कि सिद्धसेन अपनी वृत्ति में दार्शनिक और तार्किक चर्चा करते हुए भी अन्त मे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की तरह आगमिक परम्परा का प्रबल रूप से स्थापन करते हैं।'[१]

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

तत्त्वार्थसूत्र के टीकाग्रन्थों में सबसे महत्त्वपूर्ण टीका है तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक। यह कुमारिल के

१. तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना पृ. ४२,

मीमांसकश्लोकवार्तिक एवं धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की तरह पद्यात्मक शैली में लिखा गया है। इन पद्यवार्तिकों पर आचार्य विद्यानन्द ने स्वयं ही गद्यात्मक भाष्य भी लिखा है।

यह जैनदर्शन के प्रमाणभूत ग्रन्थों में प्रथमकोटि का ग्रन्थ है। इसकी समानता करने वाला जैनदर्शन में ही नहीं अपितु किसी अन्य दर्शन में भी कोई ग्रन्थ नहीं है।

आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थसूत्रगत विषयों की अत्यन्त सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचना अपने इस ग्रन्थ में की है। प्रथम अध्याय के एक स्थल को उद्धृत कर उनकी विवेचन शैली का परिचय देना चाहूँगा, जहाँ वे श्रुतज्ञान के सामान्य प्रकाशकत्व या विशेष प्रकाशकत्व का कथन करते हुए समाधान करते हैं -

सामान्यमेव श्रुतं प्रकाशयति विशेषमेव परस्परनिरपेक्षमुभयमेवेति वा शंकामपाकरोति।

अनेकान्तात्मकं वस्तु संप्रकाशयति श्रुतं।
सद्बोधत्वाद्यथाक्षोत्थबोध इत्युपपत्तिमत्॥

अर्थात् 'सामान्यविशेषात्मक अनेकान्तरूप वस्तु को श्रुतज्ञान अवगत करता है। जिस प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ साव्यावहारिक प्रत्यक्षज्ञान अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रकाशन करता है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान सामान्यविशेषात्मक वस्तु को प्रकाशित करने में समर्थ रहता है। अतः 'अनेकान्तात्मक वस्तु श्रुत प्रकाशयति, सद्बोधत्वात्'।"[1]

तत्त्वार्थसार

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि की मौलिक रचनाओं में अन्यतम रचना है तत्त्वार्थसार। आपकी लेखनी ने जैनतत्त्वव्यवस्था की निरूपक तीन टीकाओं में जो जादू बिखेरा है उससे जहाँ आपके पाण्डित्य एव भाषाधिकार का ज्ञान होता है वहीं पाठक इन टीकाओं का परिशीलन कर अपने को धन्य मान उठता है।

विक्रम की दशवीं शताब्दी में निर्मित तत्त्वार्थसार ग्रन्थ मूलतः तत्त्वार्थसूत्र की विषय वस्तु पर ही आधारित है। किन्तु इसमें प्रमेयों को अतिरिक्त रीत्या भी समाविष्ट किया है, जिससे यह मौलिकता का आभास देने लगा है।

यह ग्रन्थ नौ अध्यायों में विभक्त है जिनमें क्रमशः ५४, २३८, ७७, १०५, ५४, ५२, ६०, ५५ एवं २३ = ७१८ पद्य हैं। इन अधिकारों के नाम तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार ही मोक्षमार्गाधिकार, जीवतत्त्वनिरूपणाधिकार, अजीवाधिकार, आस्रवतत्त्वाधिकार, बन्धतत्त्वाधिकार, संवरतत्त्वाधिकार, निर्जरातत्त्वाधिकार, मोक्षतत्त्वाधिकार एवं उपसंहार हैं।

इसकी विषय-वस्तु को विस्तृत करने के लिए आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने तत्त्वार्थसूत्र की तत्त्वार्थवार्तिक टीका के साथ प्राकृतपंचसंग्रह आदि ग्रन्थों का उपयोग किया है। जिनके तुलनात्मक अनेक स्थल प्रस्तुत किये जा सकते हैं किन्तु विस्तारभय से मात्र एक-एक ही दृष्टव्य है -

जवणालियामसूरीचंदद्धइमुत्तफुल्लतुल्लाइं।
इंदिय संठाणाइं फासं पुण णेयसंठाणं॥ पंचसंग्रह १/६६
यवनालमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमाः क्रमात्।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनं नैकसंस्थितिः॥ तत्त्वार्थसार २/५०

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १/२६/१५-१८,

पुनर्बन्धप्रसंगो जानतः पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत्, न, सर्वास्रवपरिक्षयात् । - तत्त्वार्थवार्तिक

जानतः पश्यतश्चोर्ध्वं जगत्कारुण्यतः पुनः ।
तस्य बन्धप्रसङ्गो न सर्वास्रवपरिक्षयात् ॥ तत्त्वार्थसार ८/९

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि अध्यात्मग्रन्थों के सफल टीकाकार हैं। उनकी विचारणा अध्यात्ममय ही हो गयी थी। इसी कारण उनकी प्रत्येक रचना में सर्वत्र अध्यात्म की झलक दिखाई देती है। तत्त्वार्थसार यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र की विषयवस्तु पर निर्मित है परन्तु इसमें भी प्रसंग पाते ही अध्यात्म की चर्चा की गयी है। जैसे - उपसंहार में ही निश्चयनय और व्यवहारनय से मोक्षमार्ग का निरूपण किया है। इसमें स्पष्टतः यह बतलाया है कि निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहारमोक्षमार्ग साधन। शुद्ध स्वात्मा का श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा तो निश्चयमोक्षमार्ग है और परात्मा का श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा व्यवहार मोक्षमार्ग।'

आपने प्रत्येक ग्रन्थ के अनुसार इस ग्रन्थ में भी आत्मतत्त्व में ही षट्कारकीय व्यवस्था को घटाकर अपने कर्तृत्व को गौण किया है। ग्रन्थ में कहीं भी आपका नामोल्लेख नहीं है तथापि आपकी इसी वृत्ति से आपके कृतित्व को पहचानने में किमपि विलम्ब नहीं होता।

तत्त्वार्थवृत्ति टिप्पण -

आचार्य प्रभाचन्द्र विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में होने वाले एक महान् ग्रन्थकार, जिन्हें आगम के साथ दर्शन का मर्मस्पर्शी ज्ञान प्राप्त था, थे। आपकी रचनाओं के अन्त में प्राप्त प्रशस्ति पदों से जानकारी मिलती है कि आप धारानगरी के निवासी एवं आपके गुरु पद्मनन्दि सैद्धान्तिक थे।

आपकी यह रचना यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र पर न होकर सर्वार्थसिद्धि के क्लिष्ट या अप्रकट पदों को स्पष्ट करने के लिए ही अवतरित हुई है। जिसे आपने मंगल श्लोक के साथ निरूपित भी किया है। यथा -

'दुर्वारदुर्जयतमः प्रतिभेदनार्कं तत्त्वार्थवृत्तिपदमप्रकटं प्रवक्ष्ये ॥'[2]

रचना छोटी होती हुए भी महत्त्वपूर्ण है। महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि इसमें सर्वार्थसिद्धि के प्रमेय का पिष्टपेषण नहीं किया गया है अपितु जो विषय सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक एवं श्लोकवार्तिक में भी उपलब्ध नहीं है वह सब इसमें सुलभ होता है। इसलिए इस रचना की अपनी सार्थकता है। इससे सिद्धान्तविषय अनेक गूढ़ रहस्यों की जानकारी पाठकों सहज, सुबोध शैली में सुलभ होती है। इसमें उपलब्ध गाथायें कषायपाहुड, द्रव्यसंग्रह, पंचसंग्रह आदि ग्रन्थों से संकलित हैं। इसकी उद्धरित कई गाथाओं के स्रोत तो अभी भी अज्ञात ही हैं। रचना सफल एवं ज्ञानवर्द्धक है।

सुखबोधवृत्ति (भास्करनन्दिकृत)

पण्डित भास्करनन्दि (विक्रम की बारहवीं शताब्दी) विरचित तत्त्वार्थसूत्र की यह वृत्ति प्रकारान्तर से आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का ही रूपान्तरण है। इसकी विषयवस्तु सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक के साथ कतिपय अन्य ग्रन्थों से भी संग्रहीत हुई है। किन्तु इनके नियोजन के कौशल से उनकी विद्वत्ता एवं सुरुचिपूर्ण शैली का प्रभाव पाठकों पर अवश्य पड़ता है।

---

१. तत्त्वार्थसार, १/४,

२. तत्त्वार्थवृत्तिटिप्पण, मंगलाचरण,

इस वृत्ति में, जिसको सुखबोधवृत्ति नाम दिया गया है एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि जहाँ सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में पाये जाने वाले मंगलाचरण रूप श्लोक 'मोक्षमार्गस्य नेतारं ....' को मूल ग्रन्थकार का स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है, उसे यहाँ कह दिया गया है। यथा - '..... **तत्त्वार्थसूत्रपद-विवरणं क्रियते तत्रादौ नमस्कारश्लोक.... तस्य समुदायार्थः कथ्यते।**'[1]

यह बात इससे पूर्व की किसी भी टीका में नहीं कही गयी थी। आगे इसे ही प्रमाण मानकर सभी ने इस मंगल श्लोक को तत्त्वार्थसूत्रकार का मान्य कर लिया है।

तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय)

भट्टारक श्रुतसागर ने ग्रन्थप्रशस्ति मे अपना सम्पूर्ण परिचय दिया है। यथा - आपके गुरु मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण में हुए विद्यानन्दि है। जिनके कि गुरु भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति थे। आप सूरत शाखा के भट्टारक थे। इन्होंने अपने को देशव्रती एव वर्णी जैसा अभिधान के साथ अनेक अलंकरणों से विभूषित निरूपित किया है। आपके पट्ट की विस्तृत पट्टावली एवं आपकी अन्य रचनाओं के आधार पर आपका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी निश्चित होता है।

आप बहुश्रुत विद्वान् थे। इसी कारण आपने अपनी इस वृत्ति में सर्वार्थसिद्धि के व्याख्यान को ही विस्तृत करने के लिए अनेक अन्य ग्रन्थो को आधार बनाया है। इस टीका में जैन व्याकरण ग्रन्थ कातन्त्र का पर्याप्त उल्लेख हुआ है। यह तत्त्वार्थसूत्र की प्रथम टीका है जिसमें कि कातन्त्र व्याकरण के सूत्रों के सन्दर्भ निबद्ध किये गये हैं।

इस वृत्ति की भाषा सरल व सुबोध संस्कृत है। लेखक का विषय के साथ भाषा पर भी पूर्ण अधिकार है। आपकी अन्य रचनाओं की अपेक्षा इस रचना में भाषागत प्रौढता के दर्शन होते हैं।

इस वृत्ति के कतिपय स्खलन भी चर्चा के विषय होते है। इनमें खासतौर पर दिगम्बर परम्परा में एक स्खलन की चर्चा तो अवश्य ही की जाती है। वह है **कुछ असमर्थ साधुओं के लिए शीतकाल आदि में कम्बल आदि ग्रहण करने का।**[2] यद्यपि आपके मत से वे साधु इसका प्रक्षालन, सीवन या अन्य कोई प्रयत्न नही करते और शीतकाल व्यतीत होने पर वह त्याज्य हो जाता है। किन्तु आपका यह मत दिगम्बर परम्परा में कथमपि मान्य नहीं हो सकता।

हारिभद्रीयवृत्ति

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य पर एक लघुकाय वृत्ति उपलब्ध होती है, जिसके कर्त्ता के रूप में यद्यपि याकिनीसूनु आचार्य हरिभद्र का नाम लिया जाता है किन्तु यह रचना सम्पूर्णतया उनकी नहीं है। अपितु इसमें कम से कम अन्य तीन आचार्यों का योग होने पुष्टि उपलब्ध साक्ष्यों से होती है। अन्य तीन सहकर्त्ताओं में एक आचार्य यशोभद्र हैं, दूसरे उनके शिष्य, जिनका कि नाम अज्ञात है। इसकी सूचना आचार्य यशोभद्र के शिष्य ने अपनी वृत्ति (मात्र दशवें अध्याय के अन्तिम सूत्र की वृत्ति लिखी) में दी है। आचार्य यशोभद्र ने आचार्य हरिभद्र से अवशिष्ट (साढे पाँच अध्याय के अलावा) भाग पर वृत्ति लिखी है।

---

१. सुखबोधवृत्ति,

२. तत्त्वार्थवृत्ति ९/४७,

यद्यपि आचार्य हरिभद्र ने सिद्धसेनगणी की वृत्ति से अपनी इस टीका को उपकृत किया है। किन्तु उसके बाद भी उनकी इस रचना में उनके व्यक्तित्व की छाप पृथक् दिखाई देती है। यथा -

सूत्र १/३ की टीका में शंका की गई है कि जब सभी जीव अनादि से हैं और उनके कर्म भी अनादिकालीन हैं तब उनको सम्यग्दर्शन अलग-अलग काल में क्यों होता है ? इसके समाधान में लिखा है - सम्यग्दर्शन का लाभ विशिष्ट काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषकार रूप सामग्री से होता है और वह सामग्री प्रत्येक जीव की भिन्न-भिन्न होती है। इसी प्रसंग में सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क की कारिका भी उद्धृत की गयी है। यह प्रसंग सिद्धसेनीयवृत्ति में अनुपलब्ध है।

इसी प्रकार भगवान केवली के ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग के विषय में भी प्रसंगोपात्त चर्चा की गयी है जो परम्परा से कुछ हटकर है।

इस छोटी-सी वृत्ति में अनेक विशेषताएँ हैं। चूंकि आचार्य हरिभद्र जैन आगमों के मर्मज्ञ एवं साहित्यविज्ञ अध्येता थे। इससे उनकी कृति में इस प्रकार की अपेक्षा होना ही स्वाभाविक है। उनकी शैली भी उनके ज्ञान से समान ही असाधारण है। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि कृति लघु होने पर भी यथेष्ट बोधप्रद एवं उपयोगी है।

अन्य अनुपलब्ध टीकाएं

इन वृत्तियों के अतिरिक्त भी कतिपय वृत्तियों जानकारी उपलब्ध होती है परन्तु वे रचनाएं अद्यावधि अनुपलब्ध ही हैं। अनुपलब्ध रचनाओं में दो प्रमुख रचनाओं के उल्लेख पं. कैलाशचन्द्र जी ने अपने जैन साहित्य का इतिहास में किये हैं।[1] उनमें प्रथम है **पं. योगदेव कृत**। उनकी सूचनानुसार यह टीका भी सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक की उपजीवी है। भाषा सुस्पष्ट एवं सुबोधगम्य है। आपकी सूचना से इसका नाम भी सुखबोधवृत्ति ही ज्ञात होता है। कर्त्ता के समय के विषय में कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती।

दूसरी अन्य टीका है **तत्त्वार्थरत्नप्रभाकर**। उनकी सूचनानुसार इसके आरम्भ में इसके प्रणयन का कर्त्ता एवं निमित्त आदि की चर्चा है। तदनुसार इसके कर्त्ता प्रभाचन्द नामक भट्टारक हैं, जो काष्ठासंघीय सुरेन्द्रकीर्ति, हेमकीर्ति आदि की परम्परा के हैं।

इस ग्रन्थ की विशेषता के विषय में पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री जी कहते हैं कि यह टीका संस्कृत और हिन्दी के मिश्रण रूप में उपलब्ध है। अथवा हिन्दी का भाग ही अधिक है। यथा - 'एवं गुण विराजमानं जीवतत्त्वं, व्यवहारी प्राण दश, पञ्चेन्द्रिय प्राण पंच, मन वचन काय प्राण तीन, उस्वास निश्वास प्राण एक, आव प्राण एक, एवं व्यवहार नय प्राण दश भवति, निश्चय प्राण चार चत्वारि भवन्ति।'[2]

एकत्र एक अन्य टीका का उल्लेख करते हुए शास्त्री जी कहते हैं कि भट्टारक राजेन्द्रमौली कृत 'अर्हत्सूत्रवृत्ति' भी तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गयी है। जिसका समय एवं परिचय अज्ञात ही है।[3]

---

१. भाग २, पृ. ३६६-७,

२. वही, पृ. ३६७,

३. वही, पृ. २३२,

इसके साथ ही पं. सुखलाल संघवी जी ने अपनी तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना में तीन-चार टीकाओं का उल्लेख किया है। किन्तु इनकी सम्पूर्ण परिचय उपलब्ध नहीं होते हैं। अधिकांश टीकाएं तत्त्वार्थाधिगम भाष्य लिखी गई हैं। जिनके कर्ता के नाम आचार्य मलयगिरि, चिरंतनमुनि, वाचक यशोविजय और गणी यशोविजय हैं। गणि यशोविजय कृत टिप्पण की विशेषता निदर्शित कराते हुए आपने सूचना दी है कि 'जैसे वाचक यशोविजय आदि श्वेताम्बर विद्वानों में अष्टसहस्री जैसे दिगम्बर-ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं वैसे ही गणी यशोविजय ने भी तत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धि मान्य दिगम्बर सूत्रपाठ पर मात्र सूत्रों का अर्थपूरक टिप्पण लिखा है और टिप्पण लिखते हुए उन्होंने जहाँ-जहाँ श्वेताम्बर-दिगम्बर मतभेद या मतविरोध आता है वहाँ सर्वत्र श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ही अर्थ किया है। सूत्रपाठ दिगम्बर होते हुए भी अर्थ श्वेताम्बरीय है।'[1]

यह संभवत: सर्वप्रथम गुजराती की तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध होने वाली टीका है। जिसका नाम लेखक ने बालावबोध दिया है।

तत्त्वार्थसूत्र पर जिस प्रकार संस्कृत भाषा में भाष्य या वृत्तियों का निर्माण हुआ है उसी प्रकार इनके अनुवाद/रूपान्तरण हिन्दी, गुजराती, मराठी, उर्दू, कन्नड, तमिल जैसी अन्य भारतीय भाषाओं एवं अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में भी उपलब्ध होते हैं। इनमें कितने ही विवेचन महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे - अंग्रेजी अनुवाद में जे. एल. जैनी, डा. नथमल टाटिया का या प्रो. एस ए. जैन का। हिन्दी में पं. सदासुखदास जी की अर्थप्रकाशिका या पं. सुखलाल संघवी का सूत्रार्थ विवेचन या पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री का विवेचन। इस तरह सभी भाषाओं निबद्ध होने वाले तत्त्वार्थसूत्र एवं उनकी टीकाओं की संख्या अर्द्धशतक के आसपास तक होगी, जो कि उसकी प्रसिद्धि के मानक स्थापित करती है।

इस प्रकार जैन वाङ्मय के विशाल भण्डार में तत्त्वार्थसूत्र जितना महनीय ग्रन्थराज है उतनी ही उनकी टीकायें/भाष्य/वृत्तियाँ सुबोधप्रद एवं विविधपूर्ण हैं। जिनके अभ्यास जैनागम, दर्शन एवं संहिता जैसे विविधविषयों की पर्याप्त जानकारी हासिल की जा सकती है।

यह कहना भी उचित ही होगा कि तत्त्वार्थसूत्र पर प्राप्त टीकाओं की बहुलता एवं विविधता ने ही तत्त्वार्थसूत्र को महनीय से महनीयतम बना दिया है। जैसे कि सोना सुगन्ध सहित मिल गया हो। तथा प्रत्येक टीकाएं शिखर पर सुशोभित होने वाले एक से बढ़कर एक कलश की तरह दैदीप्यमान हैं। ऐसी अमर कृति जैन साहित्य के भण्डार की श्रीवृद्धि करती हुई जयवन्त रहे।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना, पृ. ३८-९,

सम्पूर्ण जैनागम का सार : तत्त्वार्थसूत्र

* डॉ. के. एल. जैन

तत्त्व + अर्थ = तत्त्वार्थ। 'तत्त्व' का आशय है - जो श्रेष्ठ, शुभ और उपयोगी है वह 'तत्त्व' है। 'अर्थ' का आशय है - शब्द में अन्तर्निहित भाव की भूमि। 'सूत्र' का आशय है - संकेत/ऐसे संकेत जिनमें अर्थ की गरिमा का गाम्भीर्य विद्यमान हो।

इस प्रकार 'तत्त्वार्थसूत्र' से तात्पर्य है - इस सृष्टि में जो कुछ श्रेष्ठ, शुभ और उपयोगी है, उसमें अन्तर्निहित भाव की भूमि को ऐसे संकेतों के द्वारा समझना जिनमें अर्थ की गरिमा का गाम्भीर्य विद्यमान हो।

आचार्य उमास्वामी द्वारा विरचित 'तत्त्वार्थसूत्र' में सम्पूर्ण जैनागम का सार समाहित है। इसमें जैनधर्म के उन सूत्रों की विस्तृत विवेचना की गई है जिसे अपनाकर कोई भी सांसारिक प्राणी इस ससार से 'मुक्ति' को प्राप्त कर सकता है, इसलिए 'तत्त्वार्थसूत्र' का अपरनाम 'मोक्षशास्त्र' भी है। भारतीय दर्शन में अन्तिम पुरुषार्थ को 'मोक्ष' माना गया है। 'मोक्ष' का तात्पर्य है 'मम' का 'क्षय'। अर्थात् जब प्राणी मात्र के 'अहं' का पूर्ण रूप से 'क्षय' हो जाय तब उसके 'मोक्ष' का मार्ग स्वयमेव ही प्रशस्त हो जाता है।

जैन परम्परा में 'तत्त्वार्थसूत्र' का महत्त्व सर्वमान्य है। जिस प्रकार हिन्दुओं में गीता, ईसाइयों में बाईबिल और मुसलमानों में कुरान का महत्त्व है। ठीक उसी प्रकार से जैनों में 'तत्त्वार्थसूत्र' का महत्त्व है। इसके कर्त्ता आचार्य उमास्वामी है। आचार्य उमास्वामी श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी के प्रमुख शिष्य थे। वे विक्रम सम्वत् दूसरी शताब्दी मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। जैन आगमों में 'तत्त्वार्थसूत्र' की रचना सर्वप्रथम सस्कृत भाषा में हुई। इस शास्त्र का विस्तार और विवेचन करने के लिए अनेक टीकाएँ लिखीं गई। सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक और अर्थप्रकाशिका इसी शास्त्र की टीकाएँ हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बालक से लेकर महापण्डितों तक केलिए यह शास्त्र उपयोगी है। आचार्य उमास्वामी जी ने इसकी रचना इतनी आकर्षक ढंग से की है कि अत्यल्प शब्दों में ही 'जैनागम' के सारस्वरूप को सग्रहीत कर दिया है। इस शास्त्र को पढ़ने से पथ-भ्रान्त संसारी जीव 'मोक्षमार्ग' की यात्रा तय कर सकता है। इसके प्रारम्भ में ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता को 'मोक्षमार्ग' बतलाया है। अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।

'तत्त्वार्थसूत्र' को आचार्य उमास्वामी जी ने दस अध्यायों में विभक्त किया है। इस ग्रन्थ में कुल 357 सूत्र हैं। प्रथम अध्याय में 33 सूत्र हैं इनमें मुख्य रूप से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों की एकता को मोक्षमार्ग का रूप बतलाकर इनका विस्तार से विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में 53 सूत्र हैं जिनमें जीवतत्त्व का वर्णन है। इसमें मुख्य रूप से जीव के भाव, लक्षण और शरीर के साथ जीव के सम्बन्ध का वर्णन किया गया है। तीसरे और चौथे अध्याय में क्रमशः 39 और 42 सूत्र हैं। इन दोनों ही अध्यायों में संसारी जीवों के रहने के स्थान तथा अधो, मध्य, ऊर्ध्व इन तीनों लोकों का वर्णन है साथ ही साथ नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव इन चार गतियों का विवेचन किया गया है। इस तरह प्रथम चार अध्याय

* आचार्य/अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, नूतन बिहार कॉलोनी, टीकमगढ़

'जीवतत्त्व' के वर्णन से सम्बन्धित हैं। अध्याय पाँच में 42 सूत्र हैं जिनमें मुख्य रूप से अजीव तत्त्व का वर्णन किया गया है। इसमें पुद्गल आदि अजीव द्रव्यों का भी वर्णन है। छठवें और सातवें अध्याय में भी क्रमश: 57 और 36 सूत्र हैं। ये दोनों ही अध्याय आस्रव तत्त्व से सम्बन्धित हैं। छठवें अध्याय में आस्रव का स्वरूप तथा आठों कर्म के आस्रव के कारण बताये गये हैं। जबकि सातवें अध्याय में शुभास्रव का वर्णन है। जिसमें बारह व्रतों का समावेश मिलता है। श्रावकाचार का वर्णन भी इस अध्याय के सूत्रों में देखा जा सकता है। आठवें अध्याय में 26 सूत्र हैं। इनमें बन्धतत्त्व का वर्णन है। बन्ध की स्थिति और कारणों के भेदों का वर्णन भी इसमें किया गया है। नवम अध्याय में 47 सूत्र हैं। जिनमें संवर और निर्जरा की अत्यन्त सुन्दर विवेचना देखने को मिलती है। निर्ग्रन्थ मुनियों के स्वरूप का वर्णन भी इस अध्याय में किया गया है। इस प्रकार प्रथम अध्याय में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया गया और नवम अध्याय में सम्यक्चारित्र का वर्णन हुआ है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मोक्षमार्ग वर्णन पूर्ण होने के उपरान्त दसवें अध्याय में नौ सूत्रों के द्वारा 'मोक्षतत्त्व' का वर्णन आचार्य उमास्वामी ने किया है।

अत: सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'तत्त्वार्थसूत्र' में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के रूप में मोक्षमार्ग, प्रमाण-नय-निक्षेप, जीव-अजीवादि सात तत्त्व, ऊर्ध्व-मध्य-अधो इन तीन लोक, चार गतियाँ, छह द्रव्य और द्रव्य-गुण-पर्याय इन सबका स्वरूप आ जाता है। इस प्रकार आचार्य उमास्वामी जी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में तत्त्वज्ञान का अपरिमित भण्डार भर दिया है।

श्रमण संस्कृति के अनुसार 'जैनधर्म' गुणवादी है व्यक्तिवादी नहीं। वह व्यक्ति को नहीं वरन् उसके अन्दर के गुणों को ही श्रेष्ठ मानता है। इसीलिए 'श्रमणसंस्कृति' में पुरुषार्थ को विशेष महत्त्व दिया गया है। जीवन के चार पुरुषार्थों अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में 'मोक्ष' के लिए ही प्रधान पुरुषार्थ माना गया है। 'मोक्ष' अर्थात् संसार के परिभ्रमण से मुक्ति। जन्म-मरण के सतत् चक्र में चलते रहने से विराम की स्थिति को प्राप्त करना। विराम 'मोक्ष' है गतिमान संसार है। 'विराम' की स्थिति तक ले जाने के लिए इन सात तत्त्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष) को जीवन में उतारने, तथा उनका पथिक बनने की सतत् क्रिया है 'तत्त्वार्थसूत्र'। जिसने इसे सच्चे अर्थों में देखकर चेतन रूप में स्वीकार कर लिया और फिर उसके क्रियात्मक रूप को जीवन में धारण कर लिया उसका जीवन से मुक्त होना सुनिश्चित है। मुक्ति के लिए अन्दर का दर्शन शुचितापूर्ण होना चाहिए। क्योंकि सारा खेल तो अन्दर का है। बाह्य रूप अर्थात् काया, वाणी और क्रिया तो आन्तरिक परिवर्तन के प्रेरित रूप हैं। अत: जिसका अन्तस् सँवर गया उसका जीवन सम्हल गया। और जिसका अन्तस् बिगड़ गया उसका सब कुछ नष्ट हो गया। क्योंकि बाह्य रूप तो मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का भ्रम टूटे और अन्दर की शुचिता का विस्तार हो 'तत्त्वार्थसूत्र' का सच्चे अर्थों में यही सार है।

'तत्त्वार्थसूत्र' का अपरनाम 'मोक्षशास्त्र' भी है। 'मोक्ष' अर्थात् 'मम' का 'क्षय'। 'मोक्षमार्ग' का रास्ता, प्रशस्त करने के लिए 'मम' का 'क्षय' अपरिहार्य है। इसके लिए सम्यक्त्व की आवश्यकता होती है। 'सम्यक्' यहाँ 'सत्य' का प्रतीक है और 'मिथ्या' असत्य का। सम्यक् मोक्ष का मार्ग है, मिथ्या संसार का मार्ग है। संसारी प्राणी नाना प्रकार के विकल्पों में अपनी श्रद्धा बनाये रखता है इसलिए वह आत्मा को भूल जाता है। वह बाहरी पदार्थों को अपना मान लेता है। उसे यह भ्रम हो जाता है कि मैं ही कर्ता हूँ। फिर वह जड़ पदार्थों का भोक्ता बनकर अपने जीवन को नष्ट कर लेता है। यही 'मिथ्यात्व' प्राणी मात्र के लिए 'मोक्ष' से विलग होने तथा संसार में भटकने के लिए बाध्य करता है। संसार के जीव यदि दु:खी हैं तो केवल मिथ्यात्व के कारण। इस 'मिथ्यात्व' को दूर करने का एक ही उपाय है वह है 'सम्यग्दर्शन'। अर्थात् वस्तु के स्वभाव को सत्य रूप में जानना। वस्तु के सत्य रूप का बोध होने पर 'मम' का क्षय होने लगता है। इसके

द्वारा वास्तविक ज्ञान की प्रतीति होने लगती है । यह वास्तविक ज्ञान ही प्राणी मात्र का चेतन तत्त्व है जिसे हम 'सम्यग्ज्ञान' कह सकते हैं । जब वस्तु के यथार्थ स्वरूप को चेतना द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है तब उसके अनुरूप आचरण की बात आती है । ऐसा आचरण जो अन्तर्बाह्य की दृष्टि से एक रूप हो, यही सम्यक्चारित्र है । अत: यह कहा जा सकता है कि - वस्तु के यथार्थ स्वरूप को चेतन तत्त्व द्वारा स्वीकृत करने के उपरान्त उसी के अनुरूप आचरण करने पर प्राणी मात्र अपने गन्तव्य के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है । यह गन्तव्य है 'मोक्ष' अर्थात् मुक्ति / स्वतन्त्रता । ऐसी स्वतन्त्रता जो सभी प्रकार की आकुलताओं से रहित हो । और जब किसी प्राणी में किसी तरह की आकुलता नहीं रहती वही 'सच्चा सुख' है । और इस सुख को केवल वही सच्चा वीतरागी प्राप्त कर सकता है जिसने दर्शन, ज्ञान, चारित्र के 'सम्यक्' स्वरूप के मर्म को समझ लिया है । दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि जो जीव 'आत्मा' में रुचि रखता हो और जिसने आत्मा के यथार्थ ज्ञान को भली-भाँति जान लिया हो और फिर वह अपने उस आत्म रूप में स्थिरता से रमण करने लगे । ऐसा वीतरागी ही 'आत्मा' के सच्चे सुख की अनुभूति प्राप्त कर मोक्षमार्ग का पथिक बन सकता है । मोक्षमार्ग का तात्पर्य है 'आत्मा की शुद्धि' का मार्ग । यही सच्चे अर्थों में जैनदर्शन का सार रूप है ।

इस संसार में जितने भी धर्म हैं - हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिक्ख, ईसाई, इस्लाम आदि सभी धर्मों में जीवतत्त्व के लिए 'मुक्ति' की कामना की गई है । मुक्ति 'जीव' का अन्तिम लक्ष्य है । लेकिन सभी धर्म 'मुक्ति' की बात को अपने-अपने ढंग से कहते हैं । प्राय: सभी धर्मों का मानना है कि जीव का कल्याण परमात्मा की भक्ति में है । उसके द्वारा निर्देशित सिद्धान्तों को आचरण में उतारने में है । उसकी भक्ति का मूल प्रयोजन उसके गुणों को आत्मसात् करना है । ऐसा करने पर ही आत्मा का विस्तार संभव है । प्राय: सभी धर्मों के दर्शन आत्मा को परमात्मा का प्रतीक मानते हैं । अर्थात् सभी प्राणियो के अन्दर जीवतत्त्व परमात्मा का अंश है । इस आत्मा को 'ज्ञान' के द्वारा चेतन स्वरूप प्रदान कर उसे विस्तार दिया जा सकता है । जैनदर्शन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उसने 'आत्मा' को सच्चे अर्थों में उच्च पद प्रदान किया है । 'आत्मा' का विस्तार यदि यह जीव चाहे तो उस सीमा तक कर सकता है कि वह स्वयं परमात्मा बन जाय । जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिसने आत्मा को परमात्मा बनने का मौलिक अधिकार प्रदान किया है । आत्मा से परमात्मा बनने की सतत् क्रिया के स्वरूप का नाम ही 'तत्त्वार्थसूत्र' है । यह जीवन के अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' तक का रास्ता प्रशस्त करता है ।

जैनागम का सार भी एक ही है - संसार से परिभ्रमण का अन्त अर्थात् मुक्ति । इसीलिए प्रत्येक ज्ञानी जिसे आत्म तत्त्व का बोध सच्चे अर्थों में हो जाता है, 'मोक्ष' की कामना करता है । उस परम आनन्द की जिसे प्राप्त करने के उपरान्त समस्त कामनाएँ विराम ले लेती हैं, यह जीव अन्तिम पड़ाव 'मोक्ष' को प्राप्त कर लेता है ।

'तत्त्वार्थसूत्र' जैसे महनीय ग्रन्थ पर यह 'राष्ट्रीय संगोष्ठी' प्राणी मात्र के जीवन में 'मुक्ति' के माहात्म्य को चेतना में उतारकर 'मोक्षमार्ग' का अनुगामी बनने में सहायक बने ।

रत्नत्रय की विवेचना

* निर्मल जैन

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।।

रत्नत्रय एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है तीन रत्न। पौद्गलिक पृथ्वीकायिक पदार्थों में रत्न सर्वाधिक बहुमूल्य पदार्थ हैं। हमारी इन्द्रियाँ पौद्गलिक पदार्थों को ही ग्रहण कर पाती हैं अतः इन्द्रियातीत आत्मिक गुणों एवं अन्य महत्त्वपूर्ण चेतन-अचेतन पदार्थों को उनकी अलौकिक बहुमूल्यता के कारण रत्न की उपमा देकर समझाया जाता है।

हम देव-शास्त्र-गुरु की पूजा में पढ़ते हैं -

प्रथम देव अरहंत सुश्रुत सिद्धांत जू,
गुरु निर्ग्रन्थ महन्त मुकतिपुर पन्थ जू,
तीन रतन जग मांहि सो ये भवि ध्याइये,
तिनकी भक्ति प्रसाद परमपद पाइये ।

इन पंक्तियों में देव-शास्त्र-गुरु को तीन रत्न कहा गया है। जिनागम में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मा को परमात्मा बनाने के लिये तीन रत्नों के रूप में सबल कारण माने गये हैं अतः उन्हें रत्नत्रय के रूप में परिभाषित किया जाता है। आगम में रत्नत्रय का अर्थ प्रायः सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र ही मिलता है।

आचार्य उमास्वामी भगवंत ने अपने तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में रत्नत्रय शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया परन्तु पहले ही सूत्र में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग बताकर उनका महत्त्व और बहुमूल्यता सूचित कर दी। आगे तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के टीकाकार आचार्यों एवं विद्वानों ने इन तीन को प्रायः रत्नत्रय शब्द से उल्लिखित किया है।

आचार्य कार्तिकेयस्वामी ने धर्म की परिभाषा करते हुए रत्नत्रय को भी धर्म बताया है -

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ।।[1]

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ का प्रथम सूत्र '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्गः**' में अत्यंत गंभीर अर्थ समाहित है। उसमें मोक्षमार्गः एकवचन लिखकर आचार्य महाराज स्पष्ट कर रहे हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों के मिलने से ही मोक्षमार्ग बनता है और इनकी पूर्णता से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इनमें से कोई एक या दो पृथक् रहकर मोक्ष के लिये कारण नहीं बनते। कहा भी है -

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 478.

* सुषमा प्रेस परिसर, सतना 485001, 07672 - 234960, 257299

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-व्रत, इन बिन मुकति न होय ।
अन्ध, पंगु अरु आलसी, जुदे जलें दव-लोय ॥

अपने आत्म स्वरूप में श्रद्धा, अपनी आत्मा का ही स्वसंवेदन ज्ञान और अपनी आत्मा में ही निश्चल स्थिति रूप अभेद अर्थात् निर्विकल्प रत्नत्रय को निश्चय मोक्षमार्ग और सात तत्त्वों के श्रद्धान रूप सच्चे देव, शास्त्र व गुरु के श्रद्धान रूप, स्व-पर भेदविज्ञान रूप आदि भेद वाला सविकल्प रत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग माना गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द भगवंत ने रत्नत्रय की परिभाषा करते हुए लिखा है -

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं ।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ॥[१]

सम्यग्दर्शन पहले होता है, उससे मोक्षमार्ग का द्वार खुलता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होते ही जीव के ससार की अनंतता नष्ट हो जाती है। अब उसे किसी भी स्थिति में अर्धपुद्गल परावर्तन काल से अधिक ससार में नहीं रहना। अतः सम्यग्दर्शन को प्रमुखता देकर उसकी बहुत प्रशंसा तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य भगवंतों ने की है। आगम में अन्यत्र भी सम्यग्दर्शन को पूज्य माना गया है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन को कर्णधार कहा है -

दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥[२]

सम्यग्दृष्टि जीव की उपलब्धियों की भी प्रशंसा की गई है। दृढ़ श्रद्धान के कारण उसके आचरण में ऐसी विशेषता आ जाती है कि वह इकतालीस प्रकृतियों का अबंधक हो जाता है। फिर भी चारित्र के अभाव में वह सम्यग्दर्शन अकेला मोक्ष का कारण नहीं बनता।

पंडित दौलतराम जी ने छहढाला की तीसरी ढाल में सम्यग्दर्शन की भूरि-भूरि प्रशसा की है, उसे मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी कहा है। उक्त प्रशंसा पढ़कर कोई सम्यग्दर्शन मात्र को मोक्षमार्ग न मान ले इसलिये चौथी ढाल की पहली पंक्ति में ही लिख दिया - **'सम्यक् श्रद्धा धार पुनि सेवहु सम्यग्ज्ञान'**। उन्होंने सम्यग्ज्ञान की प्रशंसा में भी कह दिया - **'ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण'**। परंतु ज्ञान की प्रशंसा में आठ छंद लिखने के बाद पंडितजी ने लिखा - **'सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दिढ चारित लीजे'**। इस प्रकार पृथक्-पृथक् प्रशंसा करके भी मोक्षमार्ग में तीनों की एकता अनिवार्य बता दी।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है। औपशमिक सम्यग्दर्शन तो अन्तर्मुहूर्त के लिये ही होता है, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन अन्तर्मुहूर्त से लेकर छियासठ सागर तक रह सकता है और क्षायिक सम्यग्दर्शन कभी नष्ट नहीं होता, वह तो अनन्तकाल तक रहता है। सम्यग्दर्शन के सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन रूप दो भेद भी हैं। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणों के द्वारा जो अभिव्यक्त होता है वह सराग सम्यग्दर्शन है और आत्मविशुद्धि ही जिसमें प्रमुख है वह वीतराग सम्यग्दर्शन है, ऐसा आचार्य भास्करनन्दि ने तत्त्वार्थसूत्र की तत्त्वार्थवृत्ति टीका में कहा है।

आचार्य भगवंतों ने स्पष्ट किया है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में भी हो सकता है परंतु महाव्रतों के

१. समयसार, 150.
२. रत्न. श्राव. 31

अभाव में वह सराग रहेगा और सराग क्षायिक सम्यग्दृष्टि न तो पूर्ण ज्ञान प्राप्तकर श्रुतकेवली हो सकता है और न ही केवलज्ञान प्राप्तकर मोक्ष जा सकता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान सम्यक् हो जाता है और सम्यक् श्रुतज्ञान की अल्पता भी मोक्षमार्ग में बाधक नहीं है। परंतु केवलज्ञान की प्राप्ति चार घातिया कर्मों के नष्ट हुए बिना नहीं होती और उन कर्मों के नाश में वीतराग चारित्र ही कारण बनता है। अतः तीनों की एकता वाला रत्नत्रय ही मोक्ष का कारण है।

आचार्यों ने सम्यग्दर्शन की चारित्र के साथ विषम व्याप्ति स्वीकारी है। उन्होंने चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि को न तो रत्नत्रयधारी माना है और न ही मोक्षमार्गी। आचार्यों के स्पष्ट विवेचन के बाद भी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि को शुद्धोपयोगी या स्वरूपाचरण चारित्र वाला मानना तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के प्रथम सूत्र '**सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' की भावना के विपरीत है।

तत्त्वार्थसूत्र 357 सूत्रों का लघु ग्रन्थ होते हुए भी इतना महत्त्वपूर्ण है कि उस पर अनेक विज्ञ आचार्य भगवंतों ने विशद टीकाओं की रचना की है। जैसे आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि, आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक, आचार्य योगीन्द्रदेव ने तत्त्वप्रकाशिका, आचार्य अभयनन्दि ने तत्त्वार्थवृत्ति, आचार्य विद्यानन्दि ने श्लोकवार्तिक, आचार्य भास्करनन्दि ने सुखबोधटीका, आचार्य श्रुतसागर ने तत्त्वार्थवृत्ति आदि। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने गन्धहस्ति महाभाष्य नाम से वृहत् टीका की रचना की थी जो हमें उपलब्ध नहीं है। उसकी एकमात्र हस्तलिखित प्रति किसी विदेशी ग्रन्थालय की शोभा बढ़ा रही है।

तत्त्वार्थसूत्र थोड़े से पाठभेद के साथ श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी मान्य है अतः हरिभद्रसूरि और सिद्धसेनगणि जैसे श्वेताम्बर आचार्यों ने भी इसकी टीकायें की हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि प्रायः सभी टीकाकारों ने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का विवेचन करने वाले तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय का प्रमुखता से विवेचन किया है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक होना आवश्यक है इसमें मनुष्य होने की कोई शर्त नहीं है। चारों गतियों में सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है। मनुष्य, देव और नारकी तो संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। तिर्यंचों में संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। कौनसी गति में सम्यग्दर्शन प्राप्ति के कौन-कौन-से कारण हैं इसका विवेचन तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ की सर्वार्थसिद्धि एवं अन्य टीकाओं में प्रथम अध्याय के सातवें सूत्र '**निर्देश-स्वामित्वसाधना-धिकरणस्थितिविधानतः**' में किया गया है। विशेषता यह है कि धर्मश्रवण को चारों गतियों में सम्यग्दर्शन प्राप्ति का कारण माना है। इससे धर्मश्रवण की उपयोगिता सिद्ध होती है। श्रावकों को प्रयास पूर्वक धर्मश्रवण के अवसर जुटाने चाहिये।

ज्ञान तो ज्ञान ही है, उसमें सम्यक् और मिथ्या विशेषण तो ज्ञानधारी जीव के कारण लगते हैं। यदि जीव सम्यग्दृष्टि है तो सात तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धान होने से उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान माना जाता है और सम्यक्त्व के अभाव में वह मिथ्याज्ञानी कहलाता है। दूसरे सूत्र में ही **तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्** लिखकर आचार्य महाराज ने स्पष्ट कर दिया है तत्त्वों के वास्तविक अर्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। चौथे सूत्र में यह भी बता दिया कि तत्त्वार्थ से उनका आशय मोक्षमार्ग में कार्यकारी जीवादि सात तत्त्वों के वास्तविक अर्थ से है। उक्त सात तत्त्व समझाने के लिये ही दस अध्यायों में तत्त्वार्थसूत्र की रचना हुई है।

ज्ञान की चर्चा आचार्य उमास्वामी भगवंत ने तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में नौवें सूत्र से तैंतीसवें सूत्र तक की है। इसमें ज्ञान के सभी भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन है। नौवें सूत्र "**मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्**" में ज्ञान के पाँच नाम बताकर अगले तीन सूत्रों में स्पष्ट कर दिया कि सम्यग्ज्ञान प्रमाण है और उसके परोक्ष व प्रत्यक्ष दो भेद

हैं। आगे इकतीसवें सूत्र **"मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च"** में बताया कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्या भी होते हैं।

जीव तत्त्व कह देने मात्र से हम जैसे मंदबुद्धि लोग जीव का सही स्वरूप नहीं समझ पाते, हिंसा से विरत नहीं हो पाते और सम्यग्दर्शन से वंचित रह जाते। इसलिये आचार्य महाराज ने संसारी जीवों की समस्त अवस्थाओं का वर्णन करने के लिये दूसरा, तीसरा एवं चौथा अध्याय और लिखा। इन अध्यायों का विस्तार से विवेचन टीकाकार आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में किया है।

प्रतिपक्ष के ज्ञान बिना भी पदार्थ का सही ज्ञान नहीं हो पाता, अत: जीव को समझने के लिये अजीव को जानना भी आवश्यक है। अजीव तत्त्व समझाने के लिये ग्रन्थ में पांचवां अध्याय लिखा गया। इसमें उमास्वामी महाराज ने छह द्रव्यों की चर्चा करते हुए पाच अजीव द्रव्यों का विशेष व्याख्यान किया। उसमें भी पुद्गल द्रव्य का विस्तार से विवेचन है क्योंकि पुद्गल ही हमारी इन्द्रियों का विषय बनता है और पुद्गल के संसर्ग के कारण ही हम संसार में भटक रहे हैं। यह कठिनाई भी है कि ऐसे सूक्ष्म पुद्गल हमारी भटकन के विशेष कारण हैं जो हमारे इन्द्रियगोचर ही नहीं हैं। उनका स्वरूप समझे बिना हमारा उद्धार नहीं हो सकता।

आचार्यों ने उपयोग के तीन भेद बताये हैं। शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोग। शुद्धोपयोग प्राप्त कर सकें ऐसा क्षेत्र-काल तो हम पुण्यहीन जीवों को मिला ही नहीं है। अशुभोपयोग अविरोध रूप से ससार का ही कारण है। शुभोपयोग हमारे उत्थान में सहायक हो सकता है परंतु उसे भी सर्वथा हेय मानने की बातें आजकल सुनने को मिलती हैं। विचारणीय है कि आचार्य उमास्वामी भगवंत ने जब छठवें अध्याय में तीसरे तत्त्व आस्रव की सम्पूर्ण विवेचना कर दी तब आस्रव तत्त्व समझाने के लिए उन्हें एक और अध्याय लिखना आवश्यक क्यों लगा।

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ की टीकाओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सातवें अध्याय में शुभास्रव की विवेचना करते हुए सम्यक्चारित्र की बात प्रारभ की गई है। यद्यपि शुभास्रव भी बंध का ही कारण है परतु अशुभ आस्रव से बचने के लिये मोक्षमार्ग में इसकी उपयोगिता आचार्यों ने स्वीकार की है। ससार बढ़ाने में कारण पड़ने वाले अशुभोपयोग से बचने का एकमात्र कारण भी शुभोपयोग ही तो है। उस शुभोपयोग को भी सर्वथा हेय मानकर हम छोड़ देंगे तो अशुभोपयोग तो चलता ही रहेगा। बिना उपयोग के तो हम ससार में एक समय भी न रहे हैं और न रह सकते हैं।

सातवें अध्याय मे उमास्वामी भगवत ने सम्यक्चारित्र की चर्चा प्रारभ करते हुए पहले ही सूत्र **"हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्"** में यह स्पष्ट कर दिया कि पांच पापों का बुद्धिपूर्वक त्याग करने वाला ही व्रती है। दूसरे सूत्र **"देशसर्वतोऽणुमहती"** के माध्यम से व्रत के अणुव्रत और महाव्रत रूप दो भेद भी बता दिये हैं। व्रतों की पांच-पांच भावनाओं का विवेचन करके उनके माध्यम से व्रतों के निर्दोष पालन करने की प्रेरणा दे दी और पापों से बचने के लिये **"दुःखमेव वा"** लिखकर यह चेतावनी भी दे दी कि ये पांच पाप दुःखरूप ही हैं।

अध्याय के ग्यारहवें सूत्र **"मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्व-गुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु"** में आचार्य महाराज ने मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ रूप चार भावनाओं का वर्णन भी कर दिया जो पंचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती श्रावक की पहचान हैं। व्रती के अगारी और अनगारी दो भेद बताने के बाद उन्होंने तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप सात शील व्रतों का स्वरूप समझाया है तथा व्रतों में लगने वाले संभावित अतीचारों से सावधान किया है। इस अध्याय में वर्णित उपदेश से देशव्रत का सम्यक् पालन हो सकता है और महाव्रतों की शिक्षा भी मिलती है।

व्रती जीवन की सार्थकता समाधिमरण के बिना नहीं होती सो करुणावंत आचार्य ने सातवें अध्याय के अंत में सल्लेखना धारण करने का उपदेश दिया है और उसके अतीचार बताकर निर्दोष समाधिमरण करने की प्रेरणा रत्नत्रय के साधक को दी है।

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के आठवें अध्याय में बंधतत्त्व का विवेचन करते हुए बंध के पांच कारण बताये गये हैं। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। रत्नत्रय के मार्ग में लगा हुआ सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थान में मिथ्यादर्शन से तो छुटकारा पा चुका होता है परन्तु अविरति आदि बंध के चार कारण वहाँ उपस्थित हैं। पंचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती के लिये भी बंध के चारों कारण हैं, विशेष इतना है कि अविरति वहाँ अपनी समग्रता में नहीं रहती। साधक को वहाँ श्रावक के व्रत या देश-संयम की उपलब्धि हो जाती है। छठवें गुणस्थान से महाव्रतों का सद्भाव अविरति चले जाने से ही रहता है। सातवें गुणस्थान में प्रमाद भी नहीं रहता।

कषायांश तो दसवें गुणस्थान तक बंध कराते रहते हैं। उसके बाद तेरहवें गुणस्थान तक मात्र योग ही बंध का हेतु रहता है। वहाँ बंध एक समय मात्र का है, कषाय के अभाव में योग से होने वाला आस्रव सूखी दीवाल पर पड़ी रेत की तरह तुरंत झड़ जाता है। चौदहवें गुणस्थान में बंध का सर्वथा अभाव है। बारहवें गुणस्थान में रत्नत्रय पूर्णता को प्राप्त कर मोक्ष का साक्षात् कारण बन जाता है।

आठवें अध्याय में आचार्य भगवत ने प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध का व्याख्यान करते हुए आठ कर्मों की एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियों का विवेचन किया है और उनका पाप पुण्य रूप विभाग भी किया है। कषाय सहित आस्रव जब तक जीव को होता है तब तक आने वाले कर्म प्रदेशों का बटवारा प्रतिसमय आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों में होता रहता है इस दृष्टि से यह विवेचन समझना उपयोगी है।

बंध के प्रकरण में मुझे यह भी कहना है कि तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय में जीव के जो पांच भाव बताये हैं उनमें औदयिक भाव ही बंध में कारण बनते हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव बंध के कारण नहीं हैं। आगम में जहाँ भी सम्यक्त्व को या संयमासंयम को बंध का कारण कहा है वहाँ उसके काल में होने वाले बंध की विवक्षा से कहा है। वास्तव में वे बंध के कारण नहीं हैं। बंध तो उस काल में होने वाले रागादिक औदयिक भावों से ही होता है।

आस्रव और बंध की तरह निर्जरा भी जीव के प्रतिसमय होती रहती है। परंतु मोक्षमार्ग में संवरपूर्वक होने वाली निर्जरा ही कार्यकारी है अतः आचार्य भगवंत ने नवमें अध्याय में संवर और निर्जरा दोनों तत्त्वों का विवेचन कर दिया है। रत्नत्रय का साधक जैसे-जैसे अपनी साधना में आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे कर्म निर्जरा भी उसके अधिक होती है। तभी तो सत्ता में पड़े सागरों पर्यन्त की स्थिति वाले कर्मों को नष्ट कर साधक रत्नत्रय के माध्यम से संसार से मुक्ति पा लेता है। मोक्ष का संक्षिप्त-सा वर्णन दसवें अध्याय में किया गया है।

मोक्षमार्ग का अविनाभावी ऐसा बहुमूल्य रत्नत्रय मुझे प्राप्त हो इसलिये मैं चाहता हूँ -

जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिः सदास्तु मे।
श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः सदास्तु मे।
गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिः सदास्तु मे।

क्योंकि जिनेन्द्र भक्ति से सम्यग्दर्शन, श्रुतभक्ति से सम्यग्ज्ञान और गुरु भक्ति से सम्यक्चारित्र की प्राप्ति सहज ही हो जाती है और यही तीन मिलकर रत्नत्रय बनते हैं जो मोक्ष का हेतु है।

तत्त्वार्थसूत्र में रत्नत्रय की विवेचना

* डॉ. सुरेशचन्द जैन

'जाती जाती यद् उत्कृष्टं तद् तद् रत्नमिह उच्यते।' जो जो पदार्थ अपनी-अपनी जाति में उत्कृष्ट है उन्हें रत्न कहा जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्म गुणों में सर्वोत्कृष्ट हैं अतः उनको भी रत्नत्रय कहा जाता है। जैन परम्परा के साथ-साथ अन्य सभी भारतीय परम्पराओं के चिन्तन का केन्द्रबिन्दु जन्म-मरण की शृंखला से छुटकारा पाना रहा है। बौद्ध परम्परा की हीनयान शाखा को छोड़कर ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन परम्पराओं ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए अपने-अपने दृष्टिकोणों से जन्म-मरण की शृंखला से छुटकारा पाने का उपाय ढूंढ़ा है। जैन परम्परा आत्मा के प्रति अनन्य रूप से आस्थावान् है। तीर्थंकरों, आचार्यों ने जन्म-मरण की शृंखला से छूटने के उपाय के रूप में जो कुछ भी निर्दिष्ट किया है उसका आधार और केन्द्रबिन्दु रत्नत्रय है अर्थात् 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र का यह प्रथम सूत्र उपर्युक्त भाव का निदर्शक सूत्र है।

तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय इस सूत्र के इर्द-गिर्द ही विवेचित है। जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा मोक्ष विषयक अवधारणा का प्रतिफलन सूत्र के यथार्थ बोध और तदनुसार आचरण पर निर्भर है। प्राणिमात्र दुःख से मुक्ति का अभिलाषी है और तदनुरूप प्रवृत्ति भी पायी जाती है। दुःख से मुक्ति क्षणिक और आत्यन्तिक दोनों प्रकार की होती है। क्षणिक दुःखमुक्ति का आभास तो प्रायः सभी सांसारिक प्राणियों को होता है, परन्तु आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि साधक स्व-स्वभाव में स्थित न हो जाय। स्व-स्वभाव में बाधक तत्त्व है आवरणकर्म। यदि आवरण का क्षय हो जाय तो स्वभाव तो सत्-चित्-आनन्द रूप ही है। यही आत्यन्तिक सुख है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर कर्मोपाधि नहीं लग सकती।[1]

इतना ही नहीं, वहाँ स्वाभाविक सुख प्रतिबन्धक कारणों से निराकृत होने के कारण चिरन्तन रूप हो जाता है। वस्तुतः सहज सुख की अभिव्यक्ति कहीं बाहर से नहीं आती, बल्कि वह तो आत्मीक स्वाभाविक गुण है, जो कर्मावरण से आवृत्त होने के कारण व्यक्त नहीं होता है। प्रकारान्तर से सहज सुखात्म स्वभाव उन्मेष मात्र है। यही मोक्ष है। मोक्ष की अवस्था अभावात्मक नहीं, अपितु स्व-भावात्मक या आत्मलाभ रूप है।[2]

रत्नत्रय इसी आत्मलाभ रूप अवस्था को प्राप्त करने का साधन है। सूत्रकार ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को मोक्षमार्ग निरूपित किया है। जैसे पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर का उन्मेष सम्भव है उसी प्रकार उत्तरोत्तर से पूर्व-पूर्व का अस्तित्व

१. राजवार्तिक - 10/2/3/641/1 - मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययसांपरायिकसंततावनादौ ध्यानानलनिर्दग्धकर्मबीजे भवाङ्कुरोत्पादाभावान्मोक्ष इति।

२. धवला 6-1.9.9, 216. -...... दुःखहेतुकर्मणां विनष्टत्वात् स्वास्थ्यलक्षणस्य सुखस्य जीवस्य स्वाभाविकत्वात्।

* सम्पादक, जैन प्रचारक, दिल्ली,

निश्चय है।[1] सूत्र में दो पद हैं - सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि और मोक्षमार्ग: दोनों ही सामासिक पद हैं। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि में द्वन्द्व समास है। अत: समासघटक प्रत्येक पद प्रधान है। फलत: सम्यक् पद का सभी से स्वतन्त्र सम्बन्ध है। इस प्रकार सूत्र के एक अंश का अर्थ है - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग का अर्थ स्पष्ट है। तीनों की पूर्णता युगपद् भी हो सकती है और नहीं भी। अर्थात् जिसे सम्यक्चारित्र होगा उसे नियम से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होंगे ही, परन्तु जिसे सम्यग्दर्शन होगा उसे सम्यक्चारित्र हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता।

अभिप्राय यह है कि तीनों सम्मिलित रूप में मोक्षमार्ग है।[2] इस अपेक्षा तीनों एक हैं। सूत्र में विशेषण का बहुवचनान्त होना और विशेष्य का एकवचनान्त होना 'वेदा: प्रमाणम्' की तरह सोद्देश्य और सार्थक है।

कतिपय दार्शनिकों का अभिमत है कि बन्ध का कारण अज्ञान है और अज्ञाननिवृत्ति से मोक्ष साध्य है, परन्तु जैन परम्परा इससे सहमत नहीं। यद्यपि अज्ञाननिवृत्ति भी एक महत्त्वपूर्ण घटक है और अज्ञाननाश से बन्ध दूर होता है। सांख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष विषयक विपर्यय ज्ञान से बन्ध तथा अन्यथा ख्याति से मोक्ष मानता है। न्यायदर्शन तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञाननिवृत्ति पर मोक्ष स्वीकार करता है। मिथ्याज्ञान से दोष, दोष से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दु:ख की सतति प्रवहमान होती है। इसी सर्वमूल मिथ्याज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है। वैशेषिक की भी यह मान्यता है कि इच्छा और द्वेष से धर्माधर्म और उससे सुख-दु:खात्मक ससार की स्थिति है। यहाँ छ: पदार्थों का तत्त्वज्ञान होते ही मिथ्याज्ञान निवृत्त होता है। बौद्ध भी अविद्या के नष्ट होने पर समस्त दु:खचक्र की समाप्ति स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन के अनुसार मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बन्ध का कारण निरूपित किया है।[3] कैवल्यप्राप्ति को मोक्ष का कारण माना गया है। इस प्रकार जब सर्वत्र ज्ञान को दु:खनिवृत्ति का व्यञ्जक स्वीकार किया गया है तब कैवल्य को ही मोक्ष हेतु मानना सुघटित होता है। ज्ञान के साथ दर्शन और चारित्र की क्या आवश्यकता ? समकालोत्पादक दर्शन, ज्ञान, चारित्र भिन्न नहीं है यह समाधान पर्याप्त नहीं क्योंकि समकालोत्पादकता तो दो सींगों में भी है, क्या इसलिए वे एक हो जायेंगे ? तात्पर्य यह कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन हैं, एक नहीं। अत: केवलज्ञान मात्र को मोक्ष का हेतु मानने में कोई आपत्ति नहीं। वेदान्त भी कहता है 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:'।

आचार्य उमास्वामी के उपर्युक्त सूत्र की टीका करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने कहा है - मार्ग: एकवचनान्त है अत: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है।[4] राजवार्तिककार श्रीमद् भट्टाकलंकदेव ने समाधान करते हुए कहा है कि यद्यपि ज्ञान से निवृत्ति होती है, परन्तु जिस प्रकार रसायन का श्रद्धापूर्वक ज्ञानकर उपयोग या सेवन किए जाने पर आरोग्य फल की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार श्रद्धा और ज्ञानपूर्वक आचरण से ही अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है जिस प्रकार अज्ञानपूर्वक क्रिया निरर्थक है, उसी प्रकार क्रियाहीन ज्ञान निरर्थक है और उसके लिए दोनों ही निरर्थक हैं, जिसमें निष्ठा और श्रद्धा नहीं है।[5] इस प्रकार श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र - इन तीनों की ही अभीष्ट फल प्रदान करने में सम्मिलित कारणता सिद्ध होती है।

---

१. राजवार्तिक 1/1 - एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्। उत्तरलाभे तु नियत: पूर्वलाभ:।

२. राजवार्तिक 1/1/49/14/1 .... यतो मोक्षमार्गनियतकल्पना ज्यायसीति ...

३. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव:। तत्त्वार्थसूत्र 8/1.

४. सर्वार्थसिद्धि - सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येतत् त्रितयं मोक्षस्य साक्षान्मार्गो वेदितव्य:।
महापुराण - 24/120-122, न्यायदीपिका

५. राजवार्तिक - अतो रसायनज्ञानश्रद्धानक्रियासेवनोपेतस्य तत्फलेनाभिसम्बन्ध इति नि:प्रतिद्वन्द्वमेतत्। तथा न मोक्षमार्गज्ञानादेव मोक्षेणाभिसम्बन्धो, दर्शनचारित्राभावात्। 1/1/49/14/1

सम्यग्दर्शन - सम्यक् निपात शब्द है, जिसका अर्थ होता है प्रशंसा। कभी-कभी मिथ्या या असम्यक् के विरोध में भी इसका प्रयोग होता है। अतः सम्यक् विशेषण विशेषणों में सम्भावित मिथ्यात्व की निवृत्तिपूर्वक प्रशस्तता या अभ्यर्हता का द्योतक भी है। 'सम्यगिष्टार्थतत्त्वयोः' के आलोक में सम्यक् शब्द का अर्थ इष्टार्थ अथवा तत्त्व भी है। निपात शब्द अनेकार्थक होते हैं। अतः प्रसंगानुसार प्रशस्त या तत्त्वदर्शन भी लिया जा सकता है।

'दर्शन' शब्द दर्शनभाव या क्रिया परक तो है ही, दर्शन साधन-परक तथा दर्शन कर्त्ता-परक भी है। अर्थात् दर्शन क्रिया तो दर्शन है ही, वह आत्मशक्ति का दर्शन भी है, जिस रूप में आत्मा परिणत होकर दर्शन का कारण बनती है। स्वयं दर्शन आत्मस्वभाव होने से वह कर्त्ता आत्मा से अभिन्न भी है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वतः दर्शन आत्मा से भिन्न नहीं है फिर भी स्वभाव की उपलब्धि के निमित्त जब आत्मा और दर्शन में किञ्चिद् भेद माना जाता है तब उसे भाव और कारण रूप भी माना जाता है।

दर्शन शब्द 'दृशि धातु' से निष्पन्न है। यद्यपि भावपरक मानने पर 'देखना' 'अवलोकन करना' के ही अर्थ में उचित प्रतीत होता है, परन्तु धातुयें अनेकार्थक होती है अतः यहाँ उसका अर्थ श्रद्धान ही उपयुक्त है। इसीलिए आचार्य उमास्वामी ने उसका अर्थ तत्त्वार्थश्रद्धान ही किया है।[1] यों तो दर्शन अर्थ श्रद्धान ही है, परन्तु कोई अतत्त्वार्थ को भी श्रद्धान का विषय न बना ले, इसीलिए तत्त्वार्थ का स्पष्ट प्रयोग किया गया है। तत्त्व और अर्थ दो पदों से तत्त्वार्थ बना है तत्त्व का अर्थ है तत् का धर्म। भावमात्र जिस धर्म या रूप के कारण है, वही रूप है तत्त्व। अर्थ का अर्थ है ज्ञेय। इस प्रकार तत्त्वार्थ का अर्थ है - जो पदार्थ जिस रूप में है, उसका उसी रूप से ग्रहण। निष्पत्तिः तत्त्व रूप से प्रसिद्ध अर्थों का श्रद्धान ही तत्त्व श्रद्धान है।

यह सम्यग्दर्शन सराग भी होता है और वीतराग भी। पहला साधन है तो दूसरा साध्य। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य से अभिव्यञ्जित सराग सम्यग्दर्शन है। रागादि की तीव्रता का न होना प्रशम, संसार से भीतरूप परिणाम होना संवेग। सभी प्राणियों में दयाभाव अनुकम्पा और जीवादि पदार्थ सत् स्वरूप है, लोक अनादिनिधन है। निमित्त-नैमित्तिक भाव होते हुए भी अपने परिणामानुसार सबका परिणमन स्वयं होता है, आगम एवं सद्गुरु के उपदेशानुसार प्राञ्जल बुद्धि होना आस्तिक्य भाव है। आस्तिक्य भाव स्व-संवेद्य होने पर भी अभिव्यञ्जक है। यद्यपि सम्यक्त्व अत्यन्त सूक्ष्मभाव है और वचनगम्य नहीं है फिर भी उसकी अभिव्यक्तिय इन गुणों से होती है। प्रशमादि गुण प्रत्यक्षभासित होते हैं। वीतराग सम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धि रूप है। उभयविध सम्यग्दर्शन का अन्तरंग कारण एक है मोहनीयकर्म की सप्त प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम। देशनालब्धि व काललब्धि आदि बाह्य कारण हैं तथा भावात्मक होने से करण लब्धि और शुभ लेश्या आदि अन्तरंग कारण हैं।

उभयविध सम्यग्दर्शन स्वभावतः (निसर्गज) तथा परोपदेशवश (अधिगमज) होते हैं। अन्तरंग कारण तो समान हैं - (मोहनीयकर्म सात (अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्व) प्रकृतियों का उपशम-क्षय-क्षयोपशम)। सम्यक्त्व प्रगट होने में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव निमित्त होते हैं। जिनबिम्ब-द्रव्य, समवसरण-क्षेत्र अर्द्धपुद्गलपरावर्तन-काल अधःप्रवृत्तकरणादि भाव हैं। जातिस्मरण से भी निसर्गज सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। तत्त्वार्थसूत्र में अधिगमज सम्यग्दर्शन के दो निमित्त निर्देशित किए हैं - प्रमाण और नय। क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक भेद से भी सम्यग्दर्शन का निरूपण है। जीव के भावों का निदर्शन करते समय इसका उल्लेख किया गया है।

---

1. तत्त्वार्थसूत्र - तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।1/2

निश्चय-व्यवहार सम्यग्दर्शन - तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, लेकिन आचार्य समन्तभद्र ने -

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ 4 ॥

सत् देव, शास्त्र, गुरु का आठ अंग सहित, तीन मूढ़ता और आठ मद रहित श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है।

परवर्ती आचार्य भी इसी सरणि का अनुगमन करते हैं। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन है। निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मरुचि रूप है अथवा ज्ञेय और ज्ञाता इन दोनों की यथारूप प्रतीति सम्यग्दर्शन है - **'ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीति-लक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण'** ।

देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन और आत्मरुचि रूप सम्यग्दर्शन वस्तुतः तत्त्वार्थ का ही श्रद्धान है। परम वीतरागी अरहंत तद् प्ररूपित शास्त्र तदनुसार चर्या में निमग्न गुरु सम्यक्त्व में निमित्त हैं तो तत्त्वरुचि उपादान रूप में रहता है।

सम्यग्ज्ञान - रत्नत्रय का द्वितीय सोपान है सम्यग्ज्ञान वह प्रमाण रूप है। सम्यग्ज्ञान प्रमाणम्। तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण रूप इस ज्ञान को मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय-केवल के भेद से विभाजित किया गया है। मत्यावरणकर्म के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन की सहायता से अर्थों का मनन मतिज्ञान है। श्रुतावरण कर्म के क्षयोपशम से विशेष जानना श्रुतज्ञान है। इन दोनों को परोक्षज्ञान माना है। परोक्ष इसलिए कि इन ज्ञानों ज्ञस्वभावी आत्मा को स्वेतर इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा होती है। पराधीन होने के कारण परोक्ष है। अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान ये तीनों प्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं - देशप्रत्यक्ष तथा सर्वप्रत्यक्ष। देशप्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं - अवधि और मनःपर्यय। सर्वप्रत्यक्ष एक ही है- केवलज्ञान। व्यवहित का प्रत्यक्ष अवधिज्ञान, दूसरों के मनोगत का ज्ञान मनःपर्यय तथा सर्वावरण का क्षय होने पर केवलज्ञान होता है। अनन्तधर्मात्मक वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रमाण से अर्थात् सम्यग्ज्ञान से आता है और उसके एक-एक धर्म का ज्ञान कराने वाले ज्ञानांश को नय कहते हैं। वह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से दो और फिर अनेक प्रकार का है। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं - 'अनन्तधर्मात्मकवस्तु'। उन सब धर्मों से संयुक्त अखण्ड वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण और एक-धर्म को जानने वाला ज्ञान नय। यह ज्ञान प्राप्ति ही योगीजन के तप का ध्येय होता है। ज्ञानपूर्वक आचरण से कर्मबन्ध का अभाव होता है। निष्कर्षतः प्रमाण तथा नयों द्वारा जीवादितत्त्वों का संशय विपर्यय तथा अनध्यवसाय रहित यथार्थबोध सम्यग्ज्ञान है।

सम्यक्चारित्र - दर्शन और ज्ञान के समान ही चारित्र भी भाव करण तथा कर्मव्युत्पत्तिक शब्द है। चर्यंत इति चारित्रम् के अनुसार सामान्यतः कर्मव्युत्पत्तिक समझा जाता है अर्थात् जो चर्यमाण हो वही चारित्र है। आचरण ही चारित्र है। संसरण का मूलकारण है - राग-द्वेष। इसकी निवृत्ति का साधन है - कृतसंकल्पी विवेकी पुरुष द्वारा कायिक, वाचिक बाह्य क्रियाओं से और आभ्यन्तर मानसिक व्यापार से विरक्त होकर स्वरूप स्थिति को प्राप्त करना चाहिए सम्यक्चारित्र है।

तत्त्वार्थसूत्र का आदि सूत्र जहाँ मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करता है वहीं अन्तिम अध्याय का प्रथम सूत्र - **'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्'** तथा **'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो**

'मोक्ष:' - सिद्ध अवस्था की स्थिति का निदर्शन करता है। मध्यवर्ती अध्यायों में जीव-अजीव के सम्मिलन से आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा तत्त्वों का सुघटित विवेचन हुआ है।

सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिए साधक को किस प्रकार आचरण करना चाहिए उसकी जीवन चर्या कैसी हो आदि का विवेचन भी तत्त्वार्थसूत्र का प्रतिपाद्य है।

साधक निरन्तर बढ़ने का प्रयास करता है इसी क्रम में उसके भावों में निरन्तर शुद्धि होती है। मोक्षमार्ग में इसी निरन्तर विशुद्धि को गुणस्थानों के माध्यम से समझा जा सकता है - ये 14 सोपान हैं - मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि (संशयात्मक स्थिति के विनष्ट होने पर सम्यक् श्रद्धा का उदय), देशविरति, प्रमत्तविरति, अप्रमत्तविरति, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह (मोहनीय कर्म क्षय से उत्पन्न दशा), सयोगकेवलि (साधक का अनन्तज्ञान तथा अनन्त सुख से देदीप्यमान हो जाना), अयोगकेवलि (अन्तिमदशा)। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख से परिपूर्ण आत्मा स्व-स्वरूप में स्थित हो जाती है। यही चारित्र की अन्तिम परिणति है। तत्त्वत: चारित्र आत्मा का स्वरूप ही है, अत: उसकी अभिव्यक्ति और परिपूर्णता सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है।

इसी चारित्रगत स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए अणुव्रत और महाव्रतों का उल्लेख है - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। रागद्वेष के कारण - हिंसादिक पाँच पाप होते हैं। हिंसादिक कार्य प्रमादपरिणति मूल हैं। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र मे '**प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा**' के रूप मे हिंसादिक पाप परिभाषित है। इन पाँच पापों से विरति साध्य है। यह दो प्रकार का है - सर्वदेशविरति तथा एकदेशविरति। यावज्जीवन के लिए पंच पापों का सर्वथा त्याग सकलचारित्र और उनका एकदेश त्याग देशचारित्र है। सर्वदेश का त्यागी मुनि होता है तो एकदेश का त्यागी श्रावक या गृहस्थ। श्रावकों के बारहव्रत पच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत। एकदेशविरति से सर्वदेशविरति की ओर उन्मुख हुआ जाता है। क्रमश: साधक श्रावक माध्यस्थभाव से सम्पन्न हो उठता है।

पंच महाव्रत पांच महापापों के निरोध रूप है। वस्तुत: गणना में पांच पाप गिनाये गये हैं, परन्तु ये पाचों हिंसा रूप ही हैं। एक प्रकार से हिंसा, झूठ,चोरी, कुशील और परिग्रह एक दुश्चक्र है - हिंसा की परिणति परिग्रह में और परिग्रह की परिणति हिंसा में होती है। जैन परम्परा में परिग्रह को दु:ख का मूल माना गया हैऔर इसीलिए निर्ग्रन्थ चर्या की प्रतिष्ठा का कारण भी अपरिग्रही होना है। त्याग की प्रतिष्ठा भी इसी अपरिग्रहीवृत्ति के कारण होती है। हिंसा-अहिंसा की जितनी सूक्ष्म व्याख्या जैन परम्परा में है अन्यत्र नही। अहिंसा का सिरमौर होना उसकी विधायकता है। हिंसा का निषेध मात्र आचरण में ही नहीं बल्कि वैचारिक धरातल पर भी होनी चाहिए। अहिंसा अनेकान्त दर्शन का परिचायक है। समग्रदृष्टि से जैनधर्म-दर्शन आचार और विचार मे अहिंसा की प्रतिष्ठा करता है।

हिंसा की निवृत्ति- रागद्वेष की निवृत्ति है। वीतरागी चर्या अप्रमत्त होने से अहिंसक है। जो रागद्वेष पर विजय प्राप्त कर लेता है वस्तुत: वही जिन है। आत्मपरिणाम को न संभाल पाना भी हिंसा है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन दृष्टव्य है-

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वहिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥ पु. सि.

आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणामों के घात करने के कारण असत्यवचनादि सभी हिंसात्मक हैं। असत्यादि का कथन अल्पबुद्धि वालों को समझाने के लिए हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का निम्न कथन भी मननीय है-

> यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
> व्यपरोपणस्यकरणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥
> अप्रादुर्भाव: खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
> तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप: ॥

जिनागम का संक्षेपत: सार यही है कि रागादि भावों का प्रगट होना ही हिंसा है उनका उच्छिन्न हो जाना अहिंसा । कषाय (रागादिवश) स्व-पर के भाव और द्रव्य प्राण का घात करना हिंसा है । इस हिंसा के चार रूप हैं - 1. स्वभावहिंसा, 2. परभावहिंसा, 3. स्वद्रव्यहिंसा, 4. परद्रव्यहिंसा । आपाततः रागद्वेष ही हिंसा का मूल हेतु है । साधक दोनों पर बल देता है । भीतर अनासक्ति हो तो बाह्य परिग्रह अपरिग्रह है । इसका तात्पर्य यह नहीं कि परिग्रह भावों को प्रभावित नहीं करता । छद्मस्थ/गृहस्थ परिग्रह से प्रभावित होता हुआ देखा जाता है । अपरिपक्व बुद्धि अनासक्ति का अभिनय करता है परिपक्व बुद्ध अनासक्त भाव से स्व-भाव की रक्षा करने में सन्नद्ध रहता है । इसलिए साधक को अन्तर्बाह्य दोनों दृष्टि से साधना करनी पड़ती है ।

अत: साधक के लिए पहली शर्त है सम्यग्दृष्टि बनना । देशचरित्र को धारण करते ही वह पंचमगुणस्थानवर्ती हो जाता है । सकलचारित्र धारण करते ही छठे गुणस्थान पर पहुंच जाता है । इन तीनों - प्रथम-पंचम-षष्ठ गुणस्थान वाला जीव परिणामों की विशुद्धि से च्युत होने पर दूसरे तीसरे गुणस्थान को प्राप्त होते हैं और परिणामों की विशुद्धि तथा चारित्र की वृद्धि होने पर सातवें से लेकर ऊपर के गुणस्थानो की ओर बढ़ा जाता है । प्रथम, चौथे, पांचवे और तेरहवें गुणस्थान का काल अधिक है, शेष का काल कम है । इस सम्पूर्ण साधना को अहिंसा की साधना का नाम दिया जा सकता है । आचारण में अहिंसा के दो रूप हैं - सयम और तप । संयम से कर्मपुद्गलों का सवरण तथा तप से सचित कर्मों की निर्जरा या क्षय होता है । इस प्रकार आत्मा निरावरण होकर आत्मस्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाती है ।

निष्कर्ष रूप में रत्नत्रय की आराधना का तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम जीवाजीवादि सप्त तत्त्वों में श्रद्धा करे । यह श्रद्धा नैसर्गिक हो सकती है अथवा अधिगमज - पर जैसे भी हो श्रद्धावान् बने । तत्पश्चात् श्रद्धागोचर तत्त्वों का अभ्यास करे तदनन्तर यथाशक्ति श्रावकोचित या मुनिव्रत धारण करना चाहिए । यह निश्चित है कि बिना चारित्र धारण किए सिद्धत्व प्राप्त नहीं किया जा सकता । अनासक्ति को दृढ़ करने के लिए तत्त्वाभ्यास या सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है । ज्ञान का फल ही है - हेय-उपादेयबुद्धि का जागृत होना, इससे अनासक्ति परिपुष्ट होती है । इस प्रकार साधक जितना विषयों से पराङ्मुख होगा उतना ही आत्मोन्मुख होगा । जैसे-जैसे आत्मचिन्तन में वृद्धि होती है वैसे-वैसे आत्मानुभूति होने लगती है और संसार की स्थिति उसे नीरस लगने लगती है । जैसे ही आत्मशक्ति में वृद्धि होने लगती है, जीवन शान्ति की ओर बढ़ने लगता है, इस ध्यान और समाधि में जो सुख प्राप्त होता है वह वचनातीत है, अनिर्वचनीय है । आत्मा से परमात्मा बनने का यही क्रम है ।

इस प्रकार रत्नत्रय असिद्ध दशा में मार्ग रूप है, साधन रूप है, आत्मा की ही परिणति रूप है । सिद्धदशा में आत्मा की परिणति शक्ति रूप है । तत्त्वार्थसूत्र सिद्ध बनने का नियामक रूप ग्रन्थ है जिसकी विस्तृत व्याख्यायें परवर्ती आचार्यों ने की है । सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार जैसे महनीय ग्रन्थों का प्रणयन तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर ही हुआ है ।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप एवं साधन

* पं. मूलचन्द लुहाड़िया

तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शन व साहित्य का प्रथम संस्कृत सूत्र ग्रन्थ है। सूत्र ग्रन्थ होने से विषय प्ररूपणा में विस्तार के अभाव में हमें ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय को ठीक से समझ पाने के लिए परवर्ती टीकाग्रन्थों पर ही निर्भर होना पड़ेगा। टीकाकार अकलंकदेव के अनुसार संसार-सागर में निमग्न अनेक प्राणियों के उद्धार करने की पुण्य भावना से प्रेरित होकर तथा यह विचार करके कि मोक्षमार्ग के उपदेश के बिना जीव अपना हित नहीं कर सकते हैं, मोक्षमार्ग की व्याख्या करने के इच्छुक आचार्य उमास्वामी ने इस सूत्रग्रन्थ की रचना की। आचार्य उमास्वामी महाराज ने ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र **'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'** द्वारा मोक्षमार्ग का अत्यन्त युक्तियुक्त एव निर्दोष लक्षण प्ररूपित किया है। सूत्र का अर्थ है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का सुमेल रूप रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। विभिन्न दार्शनिकों द्वारा मोक्ष के उपाय का अलग-अलग रूप में प्ररूपण मिलता है। कोई केवल भक्ति से, कोई ज्ञान से और कोई क्रिया से मोक्ष होना मानते हैं। वास्तव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की समग्रता ही मोक्ष का उपाय है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इस क्रम का कारण यह है कि इनमें पूर्व की प्राप्ति होने पर ही उत्तर की प्राप्ति भजनीय रहती है। अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर सम्यग्ज्ञान भजनीय रहता है और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर सम्यक्चारित्र भजनीय रहता है।

उपर्युक्त मोक्ष के कारण रूप रत्नत्रय में प्रथम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का लक्षण आगे के सूत्र में आचार्यदेव ने कहा है - 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। तत्त्वार्थ में दो शब्द हैं। तत्त्व और अर्थ। अर्थ पदार्थ अथवा द्रव्य को कहते हैं। उस पदार्थ का भाव तत्त्व कहा जाता है। अस्तु पदार्थ के समीचीन स्वरूप का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन की यह परिभाषा तर्कसगत और निर्दोष है। यह सम्यग्दर्शन होने पर उपलब्ध ज्ञान स्वतः सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के जीवन में अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव में सामान्य चारित्रिक सुधार भी हो जाता है। सम्यग्दर्शन का सकारात्मक प्रभाव ज्ञान और चारित्र पर पड़ता है। ऐसे आत्मा में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के साथ ही एक दृष्टि से रत्नत्रय की उत्पत्ति हो जाती है और मोक्षमार्ग पर गमन प्रारम्भ हो जाता है। ज्ञान के संख्यात्मक विकास में तो ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम कारण होता है किन्तु ज्ञान की गुणात्मकता में अर्थात् उसके समीचीन होने या मिथ्या होने में सम्यग्दर्शन के सद्भाव अथवा अभाव की ही एक मात्र भूमिका रहती है। जो ज्ञान मिथ्यात्व के सद्भाव में मिथ्या ज्ञान बना हुआ था वही ज्ञान सम्यग्दर्शन प्रकट होते ही सम्यग्ज्ञान बन जाता है। ज्ञान में यह महत्त्वपूर्ण गुणात्मक परिवर्तन सम्यग्दर्शन के कारण हो जाता है। तत्त्वों के स्वरूप की विपरीतता के कारण ज्ञान में उस तत्त्व के सम्बन्ध में स्वरूप विपर्यास, कारण विपर्यास एवं भेदाभेद विपर्यास बना रहता है। उक्त प्रकार के विपर्यास का तत्त्व श्रद्धान के समीचीन होने पर अभाव हो जाता है और तत्त्व के स्वरूप कारण और भेदाभेद के सम्बन्ध में समीचीन ज्ञान हो जाता है। हम गहराई से विचार करें तो पायेंगे कि जीवन का विकास और विनाश समीचीन तत्त्वश्रद्धान के होने और उसके न

* लुहाड़िया सदन, जयपुर रोड, किशनगढ़ (अजमेर) 1643-242038

होने पर निर्भर करता है। ज्ञान और चारित्र वास्तव में श्रद्धान के अनुगामी होते हैं। श्रद्धान समीचीन होने पर ज्ञान तो उसी क्षण सम्यग्ज्ञान हो जाता है, किन्तु चारित्र जो पहले मिथ्या चारित्र था अब मिथ्याचारित्र तो नहीं रहता और सम्यक्चारित्र भी नहीं हो जाता अपितु वह अचारित्र की दशा को प्राप्त हो जाता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में अपनी आत्मा के स्वभाव का श्रद्धान नहीं रहने के कारण और शरीर में ही आत्मपने का श्रद्धान होने के कारण शरीर और इन्द्रियों में व इन्द्रिय भोगों में पूर्ण आसक्ति रहती है और उसके आगे शरीर और इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले पदार्थों में राग और अप्रिय पदार्थों में द्वेष बुद्धि उत्पन्न होने लगती है, किन्तु आत्मा के वास्तविक चेतनात्मक स्वरूप की श्रद्धा हो जाने पर शरीर और इन्द्रिय भोगो में वैसी आसक्ति नहीं रहती, जैसी पहले थी अपितु अनासक्ति होना प्रारम्भ हो जाता है। समीचीन श्रद्धा अब आचरण को समीचीन बनाने की ओर प्रयासरत होने लगती है।

अनादिकालीन मिथ्याचारित्र के दृढ़ संस्कारों के कारण शीघ्र सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होना कभी-कभी कठिन हो जाता है और उसमें कुछ समय लगना संभव हो सकता है। मिथ्याश्रद्धान की दशा में इन्द्रिय-भोगों को भोगने और राग-द्वेष रूप कषाय भावों को अपनाने में अपना हित समझते हुए आनन्द मानता था और आत्मा के हित के कारण वैराग्य, ज्ञान एव तप की साधना में कष्ट का अनुभव करता था, किन्तु अब वस्तु तत्त्व के समीचीन स्वरूप की श्रद्धा प्राप्त होने पर दृष्टि बदल जाती है। अब दृष्टि मोक्ष की ओर हो जाती है। दु:खनिवृत्ति रूप मोक्ष प्राप्त करना जीवन का उद्देश्य बन जाता है। मोक्ष रूप कार्य के प्रति जितने भी दार्शनिक है वे लगभग एकमत हैं। दु:ख की निवृत्ति को सभी मोक्ष मानते है, परन्तु कारण के प्रति सभी एकमत नहीं है। मार्ग के प्रति विवाद है। नैयायिक सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र रहित ज्ञान से मोक्ष मानते हैं। योगदर्शन ज्ञान व वैराग्य से मोक्ष होना मानता है। पदार्थों के अवबोध को ज्ञान कहते है। विषय-सुख की अभिलाषाओं के त्याग को वैराग्य कहते हैं। मीमासक क्रिया से मोक्ष मानता है। सर्व कर्मों के नाश रूप सामान्य मोक्ष मे विवाद नहीं है। यद्यपि मोक्ष के स्वरूप सम्बन्ध में भी सभी पूर्णत: एकमत नही है। बौद्ध मोक्ष को आत्मा के अभाव के रूप मे मानते हैं। सांख्य प्रकृति और पुरुष का भेद विज्ञान होने पर चैतन्य स्वरूप अवस्था का नाम मोक्ष मानता है। ज्ञेयाकार से विपरीत चैतन्य के स्वरूप को मोक्ष मानता है। वैशेषिक आत्मा के बुद्धि सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार आदि गुणों के अत्यन्त उच्छेद को मोक्ष कहते हैं। तथापि कर्मबन्धन या दु:खमुक्ति के सामान्य लक्षण में किसी का विवाद नही है। ससार रूपी घटीयत्र की निवृत्ति ही मोक्ष है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप अग्नि से जले हुए कर्मोदय का अभाव हो जाने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है।

आश्वासन के लिए पहले मोक्ष के कारणों को कहा है। अनादिकाल से बधा हुआ मनुष्य मोक्ष के कारण जानकर आश्वस्त हो जाता है। कारागृह में पड़ा हुआ व्यक्ति उससे छूटने का उपाय जानकर आश्वासन को प्राप्त होता है। वह आशान्वित हो बधन मुक्ति का प्रयास करता है। मिथ्यावादियों के द्वारा प्रणीत ज्ञान मात्र से या दर्शन या चारित्र मात्र से या ज्ञान, चारित्र इन दो से मोक्षमार्ग का निषेध करने के लिए प्रथम मोक्षमार्ग का कथन किया गया है। वस्तुत: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का सुमेल रूप रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है।

टीकाकार आचार्य अकलंकदेव के अनुसार यहाँ कोई शिष्य एवं आचार्य का सम्बन्ध विवक्षित नहीं है किन्तु संसार सागर में निमग्न अनेक प्राणियों के उद्धार करने की पुण्य भावना से प्रेरित होकर तथा मोक्षमार्ग के उपदेश बिना हितोपदेश दुष्प्राप्य है ऐसा विचार कर करके मोक्षमार्ग की व्याख्या करने के इच्छुक आचार्य उमास्वामी ने इस सूत्र की रचना की है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अन्तरंग कारण सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होता है। इसकी पूर्णता कहीं निसर्ग से होती है, कहीं अधिगम अर्थात् परोक्ष से। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के दो भेद हो जाते हैं। जीवादि पदार्थों का

याथात्म्य ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। संसार के कारणभूत राग-द्वेषादि की निवृत्ति के लिए कृत-संकल्प विवेकी पुरुष की बाह्य एवं आभ्यन्तर क्रियाओं का रुक जाना ही सम्यक्चारित्र है।

ज्ञान, दर्शन करण साधन हैं। चारित्र शब्द कर्म साधन है। जिस शक्ति विशेष से आत्मा जीवादि पदार्थों को जानता है उस शक्ति विशेष को ज्ञान कहते हैं। जिस शक्ति विशेष के सन्निधान से आत्मा जीवादि पदार्थों को देखता है या श्रद्धान करता है उसको दर्शन कहते हैं। आचरण को चारित्र कहते हैं। ज्ञान व जीव आत्मा में कथंचित् भिन्नता तथा कथंचित् अभिन्नता है। अविभक्त कर्तृक, करण उष्णता की अग्नि से और ज्ञान की आत्मा से पृथक् सत्ता नहीं है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः इसमें मोक्षमार्ग के प्रति परस्पर अपेक्षा की प्रधानता होने से इतरेतरयोग द्वन्द्वसमास है। इस सूत्र में मोक्षमार्ग के प्रति इन तीनों की प्रधानता है किसी एक की नहीं। अतः द्वन्द्वसमास का प्रयोग किया गया है। तीनों की प्रधानता होने से बहुवचनान्त का प्रयोग किया गया है। क्योंकि परस्पर सापेक्ष सम्यग्दर्शनादि तीनों की सहितता ही मोक्ष के प्रति प्रधान है, एक या दो की नहीं।

प्रशंसा सूचक वचन सम्यक् शब्द का अन्वय, दर्शनादि तीनों के साथ होता है। समानाधिकरण होने पर भी बहुवचन मोक्षमार्गः में नहीं है। मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है। अतः सम्यग्ज्ञान से मोक्ष होता है। सांख्य कहता है कि जब सतोगुण की वृद्धि होती है तो मोक्ष होता है और विपर्यय से बन्ध होता है, ऐसा साख्य का मत है। रसायन के समान सम्यग्दर्शनादि तीनों में अविनाभावसम्बन्ध है। तीनों के समग्रता के बिना मोक्ष नहीं हो सकता है। सराग सम्यग्दर्शन साधन है, वीतराग सम्यग्दर्शन साधन व साध्य दोनों हैं।

प्रस्तुत सूत्र ग्रन्थ का मुख्य नाम तत्त्वार्थसूत्र है। इस नाम का उल्लेख करने वाले टीकाकार हैं। यथा - **इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायां ... दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति .... ।**

जैनदर्शन में बताया है '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है। केवल तत्त्व या केवल अर्थ पद न रखकर तत्त्वार्थ पद क्यों रखा है ? तत्त्वार्थ शब्द दो शब्दों से बना है। अर्थ का अर्थ द्रव्य या वस्तु है। उस द्रव्य का भाव तत्त्वार्थ कहा जाता है। अपने-अपने स्वरूप के अनुसार पदार्थों का जो श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन है।

तत्त्व सात होते हैं - जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। संसार में जीव की अवस्था अनादि से अशुद्ध बनी हुई है। उसी के कारण जीव दुःखी है। दुःख के कारण आस्रव और बन्ध है। शुद्धदशा अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के कारण संवर-निर्जरा है। वे अशुद्ध दशा रूप रागादिक ज्ञानमय तथा स्वाभाविक होने से जीवादिक के पूर्ण परिज्ञान में बाधक है। सम्यग्दृष्टि जीव विवेक के कारण उन्हें कर्मोदयजन्य रोग के समान समझता है और उनको दूर करने की बराबर इच्छा रखता है एवं चेष्टा करता है। इसी से जिनशासन में उन रागादिक के निषेध पर प्रारम्भ में उतना जोर नहीं दिया जितना कि मिथ्यादर्शन के उदय में होने वाले रागादिक पर दिया है। सरागचारित्र के धारक श्रावकों एवं मुनियों में ऐसे ही राग का सद्भाव विवक्षित है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि न तो एक मात्र वीतरागता ही जैनधर्म है और न जैनशासन में राग का सर्वथा निषेध ही निर्दिष्ट है।

सम्यग्दर्शन सामान्यतया एक होकर भी विशेषतया भेद वाला होता है। सम्यग्दर्शन सराग व वीतराग के भेद से दो प्रकार का होता है। सम्यग्दर्शन के उपशम आदि तीन भेद भी होते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृति मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति तथा चारित्रमोहनीय की चार प्रकृति अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सब

को मिलाकर सात प्रकृतियों के उपशम से उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन को औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। जैसे - कतक आदि द्रव्य के सम्बन्ध से जल में कीचड़ उपशम हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रकट न होना उपशम है। सम्यग्दृष्टि के दर्शनमोहनीय का अन्तरकरण उपशम होता है और अनन्तानुबन्धी चतुष्क का अनुदय रूप उपशम होता है। अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने की योग्यता प्राप्त होती है। उक्त सातों प्रकृतियों के सर्वथा क्षय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन क्षायिक सम्यग्दर्शन कहा जाता है। उक्त प्रकृतियों में से 6 प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन की सर्वघाती प्रकृतियों के उदयाभावीक्षय तथा सदवस्था रूप उपशम और शेष देशघाती सम्यक्प्रकृति के उदय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। सम्यक्प्रकृति के उदय के कारण इस सम्यग्दर्शन में चल, मल, अगाढ आदि दोष लगते हैं। यह सम्यग्दर्शन औपशमिक और क्षायिक जैसा निर्मल नहीं होता है। अनादि मिथ्यादृष्टि को सर्व प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है। क्षायिक सम्यग्दर्शन की स्थिति अनन्तकाल होती है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट स्थिति 66 सागर एवं जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है। आत्मानुशासनकार ने सम्यग्दर्शन के 10 भेद भी कहे हैं।

वेदक या क्षयोपशम सम्यग्दर्शन सराग अवस्था में ही होता है, किन्तु शेष दो सम्यग्दर्शन सराग व वीतराग दोनों अवस्थाओं में होते हैं। चारित्रमोहनीय के क्षय से होने वाली वीतरागता क्षायिक सम्यग्दर्शन के ही सद्भाव में होती है।

सराग सम्यग्दर्शन प्रशम, सवेग, अनुकम्पा एव आस्तिक्य लक्षण वाला होता है। आत्मविशुद्धि रूप वीतराग सम्यग्दर्शन होता है। सराग सम्यग्दर्शन व्यवहार सम्यग्दर्शन व भेद सम्यग्दर्शन एकार्थक हैं। इसी प्रकार वीतराग सम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्दर्शन भी एकार्थवाची हैं। आगम में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में कारणभूत पांच लब्धियों में एकदेशनालब्धि कही गई है। आचार्य के द्वारा दिए गए तत्त्वों का उपदेश ग्रहण देशनालब्धि है। जिस जीव को जीवादि पदार्थ विषयक उपदेश वर्तमान पर्याय या पूर्वपर्याय में नहीं मिला है उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु जिस जीव को ऐसे उपदेश का निमित्त मिल गया उसको तत्काल या कालान्तर में चिन्तन के क्षणों में सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है। जो सम्यग्दर्शन तत्काल उपदेश के निमित्त से होता है उसको अधिगमज एवं जो कालान्तर में हो उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के दो भेद होते हैं। इन दोनों में सात प्रकृतियो के क्षय, उपशम या क्षयोपशम की अपेक्षा रहती है।

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणिणो पुरिसो।
अंतरहेदू भणियं दंसणमोहस्स खयपहुदी॥ -नियमसार

सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट छह अनुयोगद्वार - निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकार, स्थिति और विधान के आधार से सम्यग्दर्शन का वर्णन किया जा रहा है।

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है - ऐसा कथन निर्देश है। सम्यग्दर्शन किसके होता है? सामान्य से जीव के, विशेष से नरकगति में सब पृथिवीयों में पर्याप्तक नारकियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक होता है। पहली पृथ्वी में पर्याप्तक और अपर्याप्तक नारकियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक होता है। तिर्यंचगति में पर्याप्तक के औपशमिक होता है, क्षायिक और क्षायोपशमिक पर्याप्तक व अपर्याप्तक दोनों के होता है। तिर्यंचनी के क्षायिक नहीं होता। औपशमिक और क्षायोपशमिक पर्याप्तक तिर्यंचनी के होता है अपर्याप्तक के नहीं। मनुष्यगति में क्षायिक और

क्षायोपशमिक पर्याप्तक अपर्याप्तक दोनों के होता है। औपशमिक पर्याप्तक के ही होता है। अपर्याप्तक के नहीं। मनुष्यनियों के तीनों ही होते हैं किन्तु पर्याप्तक मनुष्यनियों के ही होता है, अपर्याप्तक के नहीं। देवगति में पर्याप्तक व अपर्याप्तक दोनों प्रकार के देवों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं। भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिषी देवों के तीनों की देवांगनाओं के और सौधर्म-ईशान में उत्पन्न देवियों के क्षायिक नहीं होता शेष दो होते हैं और वे भी पर्याप्तक अवस्था में ही होते हैं।

इन्द्रिय मार्गणा में संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अन्य जीवों के कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है। कायमार्गणा में त्रसकायिक जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, अन्य के नहीं। योगमार्गणा में तीनों योगों वाले के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु अयोगी के एक क्षायिक ही होता है। वेदमार्गणा में तीनों वेद वाले के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु अवेदी के औपशमिक और क्षायिक दो ही होते हैं। ज्ञानमार्गणा के अनुसार मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन:पर्ययज्ञानी जीवों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं, किन्तु केवलज्ञानी के केवल एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है।

संयममार्गणा के अनुसार सामायिक-छेदोपस्थापना संयत जीवों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। परिहारविशुद्धि संयतों के औपशमिक के अलावा शेष दो होते हैं। सूक्ष्मसापराय और यथाख्यात संयतों के औपशमिक व क्षायिक होते हैं। दर्शनमार्गणा से चक्षु, अचक्षु व अवधिदर्शन वालों के तीनों होते हैं। केवलदर्शन वाले जीवों के केवल क्षायिक सम्यक्त्व होता है। लेश्यामार्गणा के अनुसार छहों लेश्या वाले के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। लेश्यारहित के क्षायिक ही होता है। भव्यमार्गणा में भव्य के तीनों सम्यक्त्व होते हैं, किन्तु अभव्य के एक भी नहीं। सम्यक्त्वमार्गणा में जहाँ जो सम्यग्दर्शन है, वहाँ वही समझना चाहिए। संज्ञामार्गणा में संज्ञी के तीनों, असंज्ञी के एक भी नहीं। संज्ञारहित के क्षायिक सम्यग्दर्शन है। आहारकमार्गणा में आहारकों के तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। अनाहारक छद्मस्थों के भी तीनों होते हैं, किन्तु समुद्घातगत केवली व अनाहारकों के एक क्षायिक सम्यग्दर्शन ही होता है।

साधन दो प्रकार का है - अभ्यन्तर और बाह्य। अभ्यन्तर साधन कर्मों का क्षय, क्षयोपशम व उपशम है। बहिरंग साधन नारकियों के चौथे से पहले-पहले तीसरे तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, वेदनानुभव है। चौथे से सातवें तक जातिस्मरण, वेदनानुभव है। तिर्यंचों में जातिस्मरण, धर्मश्रवण एवं जिनबिम्बदर्शन बाह्य साधन हैं। मनुष्यों में जातिस्मरण, धर्मश्रवण एवं जिनमहिमा दर्शन सम्यग्दर्शन उत्पत्ति के साधन हैं। देवों के जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमा दर्शन एवं देवर्द्धि दर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। यह व्यवस्था आनतकल्प से पूर्व तक है। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्प के देवों के देवर्द्धिदर्शन को छोड़कर तीन दर्शन पाये जाते हैं। नौ ग्रैवेयिकों में सम्यग्दर्शन का साधन जातिस्मरण और धर्मश्रवण है।

अधिकरण दो प्रकार का है - अभ्यन्तर और बाह्य। जिस सम्यग्दर्शन का जो स्वामी है वही उसका अभ्यन्तर अधिकरण है। बाह्य अधिकरण त्रसनाड़ी है। औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त है। क्षायिक की संसारी जीव के जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्व कोटी तेतीस सागर है। मुक्त जीव के आदि-अनन्त है। क्षायोपशमिक की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त व उत्कृष्ट छ्यासठसागर है। भेद की अपेक्षा सामान्य एक है। उत्पत्ति की अपेक्षा निसर्गज व अधिगमज दो भेद हैं। कर्मप्रकृतियों की अपेक्षा तीन - औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिक तीन भेद हैं। सम्यग्दर्शन शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का है, श्रद्धान करने वालों की अपेक्षा असंख्यात प्रकार का और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है।

पुनः सूत्रकार ने कहा है कि आठ अन्य अनुयोगद्वारों के आधार पर भी सम्यग्दर्शन के बारे में विशेष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। सत् अर्थात् अस्तित्व, संख्या अर्थात् भेद, क्षेत्र अर्थात् वर्तमानकालीन निवास, स्पर्शन अर्थात् तीनकाल विषयकनिवास, काल अर्थात् मुख्य और व्यवहारकाल समय की मर्यादा, अन्तर अर्थात् विरहकाल, भाव अर्थात् औपशमिकादि भाव, अल्पबहुत्व अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा न्यूनाधिकता का ज्ञान। सम्यगञ्चति इति एति सम्यगस्ति जो पूर्ण रूप से भली प्रकार से गमन करता हो वह सम्यक् है। तस्य भाव: तत्त्वं इति प्रशस्ति: उसका भाव सम्यक्त्व है। ऐसी प्रशस्ति है, जोकि जब अपनी पूर्ण दशा पर पहुँच जाता है तब उस समय मुक्तिमय स्वतन्त्रता रूप होता है, किन्तु अपूर्णदशा में मुक्ति का मार्ग कहलाता है।

कारण-कार्यता अथवा निमित्त-नैमित्तिकता पर्यायों में होती है। द्रव्यों में नहीं। द्रव्य किसी का कारण है न किसी का कार्य। निश्चयनय अभिन्न को विषय करने वाला है। व्यवहारनय भिन्न को अथवा भेद को विषय करता है। अनादिकालीन मिथ्यात्व से तत्त्वों का अन्यथा श्रद्धान होता है और इसका अन्यथापन मिटकर तथापन आ जाना ही सम्यक्त्व है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का अर्थ खोटापन और खरापन समझना चाहिए। और को और मानने लगना मिथ्यात्व है तथा वस्तु स्वरूप को जैसे का तैसा मानना सम्यक्त्व है।

यह सम्यग्दृष्टि जीव लोकपथ में स्थित होते हुए भी यद्यपि सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुका है फिर भी चारित्रमोह का अंश इसकी आत्मा में अभी विद्यमान है। इसलिए इसकी प्रकृति/चर्या जैसी होनी चाहिए थी वैसी अभी नहीं हो पाई है। यद्यपि यह ज्ञान चुका है कि यह शरीर मेरी आत्मा से भिन्न है तथा जितने भी ये माता-पिता, पुत्री-पुत्रादि रूप सांसारिक नाते हैं वे शरीर के साथ हैं तथापि शरीर के नातेदारों को ही और लोगों की भांति अपने नातेदार समझते हुए उनके साथ में वैसा ही बर्ताव किया करता है, तो भी अपनी उस तात्त्विक श्रद्धा को नहीं खोता है, बल्कि इस व्यावहारिक चेष्टा को श्रद्धा के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है। जैसे - सोने की डली कीचड़ में गिरकर भी जंग को प्राप्त नहीं होती, जबकि लोहा जंग को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि सांसारिक वातावरण में रहकर भी संसार के कार्यों में पूरी तरह उस प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

जघन्यता और उत्कृष्टता की अपेक्षा सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है - सराग और वीतराग। **आत्माधीनज्ञानसुखस्वभावे शुद्धात्मद्रव्ये यन्निश्चल-निर्विकारानुभूतिरूपमवस्थानं तल्लक्षणनिश्चयचारित्राज्जीवस्य सम्पद्यते पराधीनेन्द्रियजनितज्ञानसुखविलक्षणं स्वाधीनातीन्द्रियरूपपरमज्ञानसुख-लक्षणं निर्वाणम्। सरागचारित्रात् पुनर्देवासुरमनुष्यराज्यविभवजनको मुख्यवृत्त्या विशिष्टपुण्यबंधो भवति परम्परया निर्वाणं चेति ॥** (ता.वृत्ति)

वीतराग सम्यग्दर्शन से साक्षात् निर्वाण और सराग सम्यग्दर्शन से परम्परा से निर्वाण की प्राप्ति होती है। सरागदशा में सम्यग्दृष्टि को भी सत्कर्मचेतना तथा कर्मचेतना होती है, किन्तु वीतरागदशा में ज्ञानचेतना होती है।

श्रद्धान, ज्ञान, आचरण में वस्तु भेद नहीं है। आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र से विवेचना मात्र की जाती है। ये तीनों आम, नींबू, नारंगी की भांति भिन्न-भिन्न नहीं हैं। ये तीनों आत्मा का परिणाम हैं जो आत्मा के साथ अनुस्यूत है। अग्नि को समझाने के लिए दाहकपन, पाचकपन और प्रकाशकपन के द्वारा समझाना होता है। इन गुणों में से तीनों या किसी एक गुण में कमी आने पर दूसरों में भी उस कमी का प्रभाव होता है और अग्नि में स्वयं में भी कमी आ जाती है।

यह सम्यक्त्व गुण नहीं है, किन्तु उन गुणों की मिथ्यात्व के समान अथवा सम्यग्मिथ्यात्व के समान अवस्था विशेष है। यह चतुर्थ गुणस्थान में प्रकट होता है। धीरे-धीरे सुधरते-सुधरते यह चौदहवें गुणस्थान में जाकर अपनी पूरी ठीक

स्थिति में पहुँचता है। वह आत्मसुधार दो तरह से होता है - एक यत्नसाध्य और दूसरा उसके अनन्तर अनायास रूप से होने वाला। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक आत्मा प्रयत्नवान् होता है, वह व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है। आगे सहजभाव से निजात्म गुणों की वृद्धि करता है तब निश्चयमोक्षमार्ग पर आरूढ़ कहा जाता है। चतुर्थ गुणस्थान में जब सम्यक्त्व प्रकट होता है तो ज्ञानावरणीय को भी विशिष्ट क्षयोपशम होता है जिससे गुरु की वाणी या तत्त्वों के स्वरूप को ठीक से ग्रहण कर पाता है।

संसार की ओर बल रखने वाली क्रिया अशुभ और मुक्ति की ओर बल रखने वाली क्रिया शुभ होती है। जिसमें कि बुद्धि पूर्वक सम्यग्दृष्टि जीव प्रवृत्त होता है यही उसका सरागपना है। तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों गुणों में परम उत्कृष्टत्व हो जाता है। ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में श्रुतज्ञान भावश्रुतज्ञान हो जाता है, जिसकी संतान यथाख्यात चारित्र है। सिद्ध अवस्था में दर्शन और चारित्रमोह दोनों के नाश से सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है। अत: दोनों दर्शनमोह और चारित्रमोह कथंचित् एक हैं और जब एक है तो चारित्रमोह के सद्भाव में सम्यक्त्व में अवश्य ही कुछ कमी होती है इसलिए सम्यक्त्व के सराग और वीतराग दो भेद किए गए हैं जो वास्तविक हैं। ज्ञानचेतना वीतरागी के ही होती है। चेत्यते अनुभूयते उपयुज्यते इति चेतना। यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान वाले का ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है किंतु राग भाव के कारण अज्ञान चेतना होती है।

तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन से सम्बन्धित सूत्र -

अ. 1 सू.1 सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:।
अ. 1 सू.2 तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।
अ. 1 सू.3 तन्निसर्गादधिगमाद्वा।
अ. 1 सू.4 जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।
अ. 2 सू.1 औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।
अ. 2 सू.3 सम्यक्त्वचारित्रे।
अ. 6 सू.13 केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।
अ. 6 सू.21 सम्यक्त्वं च।
अ. 6 सू.24 दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता........ तीर्थकरत्वस्य।
अ. 7 सू.23 शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसा: संस्तवा: सम्यग्दृष्टेरतीचारा:।
अ. 8 सू.1 मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव:।
अ. 8 सू.9 दर्शनचारित्रमोहनीयकषायाकषायवेदनीयाख्यास्त्रि-नवषोडशभेदा: ..... क्रोधमानमायालोभा:।
अ. 9 सू.14 दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनलाभौ।
अ. 9 सू.45 सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजक........... क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा:।
अ. 10 सू.4 अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य:।

इस प्रकार सरागसम्यग्दर्शन सम्यग्दर्शन की प्रारम्भिक अवस्था है जो उत्तर उत्कृष्ट अवस्था अर्थात् वीतरागसम्यग्दर्शन का कारण है। वीतराग-सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लक्ष्य पूर्वक सरागसम्यग्दर्शन की साधना यही मोक्षमार्ग है।

तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण-नय मीमांसा

* डॉ. जयकुमार जैन

जैनों की गीता कहे जाने वाले तत्त्वार्थसूत्र की महत्ता एवं प्रतिष्ठा जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों में कुछ पाठभेद एवं सूत्रभेद के साथ समान रूप से स्वीकृत है। पाठभेद एवं सूत्रभेद का प्रमुख कारण मुनि की नग्नता की स्वीकृति या अस्वीकृति है। इस ग्रन्थ में जैन तत्त्वज्ञान का सूत्रशैली में संक्षिप्त किन्तु विशद विवेचन हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वज्ञान के उपाय के रूप में जैन न्याय के प्रमुख अङ्ग प्रमाण और नय का भी वर्णन हुआ है। **'प्रमाणनयैरधिगमः'**[1] कहकर आचार्य उमास्वामी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पदार्थों का ज्ञान प्रमाण और नयों से होता है। जितना भी सम्यग्ज्ञान है, वह प्रमाण और नयों में विभक्त है। इनके अतिरिक्त पदार्थों के ज्ञान का दूसरा कोई साधन नहीं है। न्यायदीपिकाकार अभिनव धर्मभूषण यति ने स्पष्ट रूप से लिखा है - **'प्रमाणनयाभ्यां हि विवेचिता जीवादयः सम्यगधिगम्यन्ते। तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासंभवात्।'**[2] अर्थात् प्रमाण और नय से विवेचन किये गये जीव आदि समीचीन रूप से जाने जाते हैं। उनके अतिरिक्त जीवादि के ज्ञान में अन्य प्रकार संभव नहीं है।

प्रमाण और नय की न्यायसंज्ञा

न्याय शब्द नि उपसर्ग पूर्वक 'इण्' गत्यर्थक धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। अभिनव धर्मभूषणयति ने न्याय का स्वरूप प्रमाणनयात्मक मानते हुए न्यायदीपिका नामक प्रकरण ग्रन्थ को प्रारम्भ करने की प्रतिज्ञा की है - **"प्रमाणनयात्मकन्यायस्वरूपप्रतिबोधक-शास्त्राधिकारसम्पत्तये प्रकरणमिदमारभ्यते।"**[3] प्रमाण एवं नय को न्याय स्वीकारते हुए अन्यत्र भी कहा गया है - **"नितरामियते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः, अर्थ-परिच्छेदकोपायः न्याय इत्यर्थः। स च प्रमाणनयात्मक एव।"**[4] अर्थात् निश्चय से जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं वह न्याय है और वह प्रमाण एवं नय रूप ही है। इससे स्पष्ट है कि जैनदर्शन में प्रमाण एवं नय की ही न्याय संज्ञा है। षट्खण्डागम में ज्ञानमार्गणा का वर्णन करते हुए ज्ञानमीमांसा में आठ ज्ञानों का वर्णन किया गया है। वहाँ पाँच ज्ञानों को सम्यग्ज्ञान तथा विपरीत मति, विपरीत श्रुत एवं विपरीत अवधि ज्ञानों को मिथ्याज्ञान कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्र में भी पाँच ज्ञान एवं तीन विपरीत ज्ञानों का पृथक्-पृथक् सूत्रों में वर्णन किया गया है -

---

१. तत्त्वार्थसूत्र 1/6

२. न्यायदीपिका, पृ. 4.

३. न्यायदीपिका, पृ. 5.

४. वही, पृ. 6 टिप्पणी

---

* पटेलनगर, मुजफ्फरनगर,

'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।'[1]

'मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।'[2]

न्यायशास्त्र में विषय की दृष्टि से ज्ञान की प्रमाणता एवं अप्रमाणता का निश्चय किया जाता है अर्थात् जो ज्ञान घट को घट रूप जानता है, वह प्रमाण ज्ञान है और जो ज्ञान वस्तु को उस वस्तुरूप नहीं जानता है वह अप्रमाण ज्ञान है। मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान वस्तु को वस्तु रूप भी जानते हैं तथा मिथ्यादृष्टि में होने पर ये वस्तु को अवस्तु/भिन्नवस्तु रूप भी जानते हैं अतः इन तीनों में सम्यक्पना भी पाया जाता है और मिथ्यापना भी।

प्रमाण का लक्षण -

जैनदर्शन में स्व-पर-प्रकाशक सम्यग्ज्ञान को प्रमाण माना गया है। कषायपाहुड मे **'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्'**[3] कहकर पदार्थ के जानने के साधन को प्रमाण कहा गया है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में यद्यपि प्रमाण का कोई सीधा लक्षण नहीं किया है, किन्तु पाँच सम्यग्ज्ञानों को दो प्रमाण रूप कहकर **'तत्प्रमाणे'**[4] सूत्र में प्रमाण शब्द का उल्लेख किया है। आचार्य पूज्यपाद ने प्रमाण शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है - **'प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम् ।'**[5] अर्थात् जो अच्छी तरह मान करता है/जानता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है/जाना जाता है अथवा प्रमिति/ज्ञान मात्र प्रमाण है। प्रमाण के इस लक्षण मे उन्होंने कर्ता, करण और भाव रूप तीन प्रकार से प्रमाण शब्द का निरुक्त्यर्थ किया है। आचार्य अकलंकदेव ने इसका और स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि प्रमाण शब्द भाव, कर्ता और करण तीनो साधनों में निष्पन्न होता है। **जब भाव की विवक्षा होती है तो प्रमा को प्रमाण कहते हैं। कर्ता की विवक्षा में प्रमातृत्व शक्ति को प्रमाण कहते हैं और करण की विवक्षा में प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमाण की भेदविवक्षा करके साधन को प्रमाण कहते हैं।**[6]

प्रमाणाभास -

जो वास्तव में प्रमाण तो न हो किन्तु प्रमाण जैसा प्रतीत हो उसे प्रमाणाभास कहते है। तत्त्वार्थसूत्र में यद्यपि प्रमाणाभास का कोई स्वरूप या विवेचन नहीं किया गया है, **तथापि विपरीत मति, विपरीत श्रुत तथा विपरीत अवधि (विभंगावधि) इन तीन को अप्रमाण रूप कहने से इन्हें प्रमाणाभास ही समझना चाहिए। जैसे कड़वी तुम्बी में रखने से दूध कड़वा हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के संसर्ग से मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान में विपरीतता आ जाती है। जैसे रजादि को अलग कर देने पर संशोधित तुम्बी में रखा गया दूध कड़वा नहीं होता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन को दूर कर देने पर संशोधित इन त्रिविध ज्ञानों में मिथ्यापना नहीं आता है।**[7] तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में पूर्वपक्ष के रूप में उत्थापित शंका 'उसी को ज्ञान और उसी को अज्ञान कैसे कहा जा सकता है ?' का समाधान

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, 1/9.

२. वही, 1/31.

३. कषायपाहुड पुस्तक/भाग/प्रकरण 1/27 पृ. 37

४. तत्त्वार्थसूत्र 1/10

५. सर्वार्थसिद्धि 1/10 पृ. 98

६. तत्त्वार्थवार्तिक, 1/10 पृ. 49.

७. तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुतसागरसूरि, 1/31 की वृत्ति.
तत्त्वार्थवृत्ति, भास्करनन्दि, 1/31 की वृत्ति.

करते हुए कहा गया है कि मिथ्यादर्शन परिग्रह के कारण इन ज्ञानों की विपरीतता/अज्ञानता है।[1] इसी कारण ये अज्ञान हो जाते हैं।

प्रमाणाभास की अनुमानतः सिद्धि -

तत्त्वार्थसूत्र में मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान की विपरीतता को सिद्ध करने के लिए हेतु एवं उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जैसे कोई उन्मत्त व्यक्ति विवेकहीन होने के कारण सत् एवं असत् में अन्तर नहीं कर पाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि व्यक्ति प्रमाणाभास/अप्रमाण/मिथ्याज्ञान के द्वारा सत्-असत् का विवेक नहीं रख पाता है।[2]

उक्त सिद्धि में तत्त्वार्थसूत्रकार ने अनुमान के तीनों अवयवों - पक्ष, हेतु तथा उदाहरण को दो सूत्रों में उपस्थित किया है तथा इस आधार पर मति आदि तीन ज्ञानों को विपरीत/प्रमाणाभास भी सिद्ध किया है। यथा -

1. पक्ष (प्रतिज्ञा)	मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।
2. हेतु	सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेः।
3. उदाहरण	उन्मत्तवत्।

यहाँ यह अवधेय है कि जहाँ न्याय दर्शन में अनुमान प्रमाण के लिए प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन इन पञ्चावयव वाक्यों को माना गया है, वहाँ जैनदर्शन में अनुमान के लिए तीन अवयव ही अनिवार्य माने हैं। तत्त्वार्थसूत्र में अन्यत्र भी तीन अवयवों का ही वस्तु की अनुमानतः सिद्धि में उपयोग किया गया है।[3]

प्रमाण के भेद -

अंश-अंशी (धर्म-धर्मी) का भेद किये बिना वस्तु का ज्ञान प्रमाण कहा गया है। यह बात पाँचों ज्ञानों में पाई जाती है। अतः पाँचों ही ज्ञान प्रमाण हैं किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के इन ज्ञानों को दो प्रमाण रूप कहकर आदि के दो मतिज्ञान एवं श्रुत ज्ञान को परोक्ष तथा शेष अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान को प्रत्यक्ष स्वीकार किया है।[4] मति एवं श्रुत दो ज्ञानों को परोक्ष मानने का कारण यह है कि ये दो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं। शेष तीन ज्ञान इनकी सहायता के बिना आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होते हैं।

---

१. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र 1/32 (मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च) का भाष्य

२. सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्। - तत्त्वार्थसूत्र 1/32

३. द्रष्टव्य - क. मुक्त जीव की ऊर्ध्वगमन सिद्धि

पक्ष (प्रतिज्ञा) - तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।

हेतु - पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च।

उदाहरण - आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च। - तत्त्वार्थसूत्र 10/5-7

ख. जीवों की सम्पूर्ण लोकाकाश तक में अवगाह की सिद्धि

पक्ष (प्रतिज्ञा) - असंख्येयभागादिषु जीवानाम्।

हेतु - प्रदीपसंहारविसर्पाभ्याम्।

उदाहरण - प्रदीपवत्। - तत्त्वार्थसूत्र 5/15-16

४. तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। - तत्त्वार्थसूत्र 1/10-12

जैनेतर भारतीय दर्शनों में अक्ष का अर्थ इन्द्रिय करके इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा शेष ज्ञानों को परोक्ष माना गया है। किन्तु इस लक्षण के अनुसार योगियों का ज्ञान प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञान इन्द्रियों की सहायता के बिना ही होता है। उसे मानना तो जैनेतर दार्शनिकों को भी अभीष्ट नहीं है। अत एव अक्ष शब्द का आत्मा अर्थ मानकर तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा इन्द्रिय एवं मन के आधीन ज्ञान को परोक्ष कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। फिर भी राजवार्तिक में आचार्य अकलंकदेव ने अवधि, मन:पर्यय एवं केवलज्ञान को प्रत्यक्ष मानकर भी इन्द्रिय एवं मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञान को जो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है, वह लौकिक दृष्टि से कथन है, परमार्थत: नहीं।

कुछ दार्शनिक अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति एवं अभाव आदि को भी प्रमाण का भेद स्वीकार करते हैं। इस विषय में तत्त्वार्थाधिगमभाष्य का कथन अवधेय है -

'अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसंभवाभावानपि च प्रमाणानि इति केचिन्मन्यन्ते तत्कथमेतदिति। अत्रोच्यते - सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूता-नीन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात्। किं चान्यत् - अप्रमाणान्येव वा। कुत: ? **मिथ्यादर्शन-परिग्रहाद् विपरीतोपदेशाच्च। मिथ्यादृष्टेर्हि मतिश्रुतावधयो नियतमज्ञानमेवेति वक्ष्यते।**'[1]

अर्थात् कोई अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, संभव, अभाव को भी प्रमाण मानते हैं - यह कैसे माना जाय ? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि ये सभी प्रमाण मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। क्योंकि ये इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष का निमित्त पाकर ही उत्पन्न होने वाले हैं। अन्यथा ये प्रमाण ही नहीं है क्योंकि मिथ्यादर्शन के सहचारी होने से तथा विपरीत उपदेश देने वाले होने से इनकी अप्रमाणता है। मिथ्यादृष्टि के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एवं अवधिज्ञान अज्ञान ही होते हैं।

प्रमाण के अन्य भेद -

तत्त्वार्थसूत्र के प्रमुख टीकाकार आचार्य पूज्यपाद ने '**तत्प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च**'[2] कहकर प्रमाण के दो अन्य भेद किये हैं - स्वार्थ एवं परार्थ। ज्ञानात्मक प्रमाण को स्वार्थ प्रमाण कहते हैं तथा वचनात्मक प्रमाण को परार्थ प्रमाण कहते हैं।[3] **आचार्य अकलंकदेव का कहना है कि ज्ञान स्वाधिगम हेतु होता है जो प्रमाण और नय रूप होता है। वचन पराधिगम हेतु होता है। वचनात्मक स्याद्वाद श्रुत के द्वारा जीवादि की प्रत्येक पर्याय सप्तभंगी रूप से जानी जाती है।**[4]

स्वार्थ एवं परार्थ प्रमाण की संगति -

आचार्य पूज्यपाद ने स्वार्थ एवं परार्थ प्रमाणों की तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा मान्य प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से संगति बैठाते हुए कहा है कि **श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष चारों मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं। परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ प्रमाण भी है और परार्थ प्रमाण भी।**[5] फलित यह है कि स्वार्थ तो पाँचों ही

---

१. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य 1/2 पृ. 35

२. सर्वार्थसिद्धि, 1/6 पृ. 20

३. वही

४. तत्त्वार्थवार्तिक 1/6 पृ. 33

५. 'तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च।' - सर्वार्थसिद्धि 1/6 पृ. 20

ज्ञान हैं, किन्तु परार्थ मात्र श्रुतज्ञान ही है। अन्य कोई भी ज्ञान परार्थ नहीं है। इस प्रकार स्वार्थ एवं परार्थ प्रमाणों का भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाणों में ही अन्तर्भाव है। उनकी पृथक् प्रमाणता स्वीकृत नहीं है।

अनुमान आदि प्रमाणों का पृथक् कथन न करने का कारण स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थवार्तिककार ने **'अनुमानादीनां पृथगनुपदेशः श्रुतावरोधात्'**[1] वार्तिक लिखा है। इसके व्याख्यान में वे स्पष्ट करते हैं कि अनुमान आदि का स्वप्रतिपत्ति काल में अनक्षरश्रुत में तथा पर प्रतिपत्ति काल में अक्षर श्रुत में अन्तर्भाव हो जाता है। इसीलिए इनका पृथक् उपदेश नहीं किया गया है। आलापपद्धति आदि में जो केवलज्ञान को निर्विकल्पक तथा शेष को सविकल्पक कहा गया है,[2] वे भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण में ही अन्तर्भूत हैं। प्राचीन परम्परा तो पाँचों ज्ञानों को दो प्रमाण रूप मानने की ही है।

सम्यग्ज्ञान की प्रमाणता -

आचार्य यतिवृषभ ने **'णाणं होदि पमाणं'**[3] कहकर स्पष्टतया ज्ञान को प्रमाण माना है। श्लोकवार्तिक में कहा गया है -

मिथ्याज्ञानं प्रमाणं न सम्यगित्यधिकारतः ।
यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता ॥[4]

अर्थात् क्योंकि सूत्र में सम्यक्त्व का अधिकार अध्याहृत है, इसलिए संशयादि से युक्त मिथ्याज्ञान प्रमाण नही है। जिस प्रकार से जहाँ पर अविसंवाद है, वहाँ पर उस प्रकार प्रमाणपना है।

यहाँ पर यह विशेष अवधेय है कि स्वविषय में भी मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान एकदेश प्रमाण है, अवधि आदि तीन ज्ञान पूर्णतः प्रमाण हैं। केवलज्ञान तो सर्वत्र प्रमाण है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कहा भी गया है -

स्वार्थे मतिश्रुतज्ञानं प्रमाणं देशतः स्थितम् ।
अवध्यादि तु कार्त्स्न्येन केवलं सर्वतस्त्रिषु ॥[5]

प्रामाण्यवाद -

ज्ञान के प्रामाण्य एव अप्रामाण्य विषयक विचार को दार्शनिक जगत् में प्रामाण्यवाद कहा जाता है। ज्ञान यथार्थ है या अयथार्थ इस विचार को न्याय में प्रामाण्यग्रह कहते हैं। प्रामाण्य स्वतः है अर्थात् ज्ञानग्राहक सामग्री एवं प्रामाण्यग्राहक सामग्री एक है अथवा प्रामाण्य परतः है अर्थात् ज्ञानग्राहक सामग्री पृथक् है और प्रामाण्यग्राहक सामग्री पृथक् है, प्रमुखतया प्रामाण्यवाद का विवेच्य है।

सांख्य दार्शनिकों का विचार है कि ज्ञान का प्रामाण्य एव अप्रामाण्य स्वतः होते हैं[6] अर्थात् जिस प्रमाण के द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है, उसी प्रमाण के द्वारा उस ज्ञान की प्रामाणिकता या अप्रमाणिकता का भी निर्णय हो जाता है।

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक 1/20/15 पृ. 78

२. आलापपद्धति, 9

३. तिलोयपण्णत्ती, 1/83

४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 3/1/10/38

५. वही, 3/1/10/39

६. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः। - सर्वदर्शनसंग्रह, सांख्यप्रकरण

मीमांसकों के अनुसार प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है ।[१] वेदान्तदर्शन की भी यही मान्यता है । कुछ बौद्ध अप्रामाण्य को स्वतः और प्रामाण्य को परतः मानते हैं[२], जबकि कुछ प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को किञ्चित् स्वतः एवं किञ्चित् परतः स्वीकार करते हैं ।[३] न्याय-वैशेषिक दार्शनिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः मानते हैं ।[४]

जैन दार्शनिकों का कहना है कि उत्पत्ति की दशा में ज्ञान का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों स्वतः होते हैं तथा ज्ञप्ति की दशा में दोनों ही परतः होते हैं ।[५] यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रकार ने इस विषय में कोई उल्लेख नहीं किया है, किन्तु श्लोकवार्तिककार ने स्पष्टतया लिखा है -

तत्राभ्यासात्प्रमाणत्वं निश्चितं स्वत एव नः ।
अनभ्यासे तु परतः इत्याहुः ....॥[६]

अर्थात् अभ्यासदशा में ज्ञान स्वरूप का निर्णय करते समय ही युगपत् उसके प्रमाणपने का भी निर्णय कर लिया जाता है, परन्तु अनभ्यासदशा में तो दूसरे कारणों से ही प्रमाणपना जाना जाता है । अभिप्राय यह है कि अभ्यासदशा में प्रमाण स्वतः और अनभ्यासदशा में प्रमाण परतः होता है । अप्रमाण के विषय मे भी यही स्थिति है ।

प्रमाण-प्रमेय आदि में कथञ्चित् भेदाभेदपना -

आचार्य पूज्यपाद ने पूर्वपक्ष के रूप में प्रश्न उपस्थित किया है कि यदि ज्ञान को प्रमाण मानते हैं तो फल किसे मानेंगे ? फल का तो अभाव ही हो जायेगा । इसके उत्तर में वे कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पदार्थ के ज्ञान हो जाने पर प्रीति देखी जाती है । यही प्रमाण का फल कहा जाता है । अथवा अपेक्षा या अज्ञान का नाश प्रमाण का फल है ।[७] जो लोग सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं वे पदार्थ के ज्ञान को फल मान लेते हैं, किन्तु पूज्यपाद का कहना है कि यदि सन्निकर्ष को प्रमाण माना जायेगा तो सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थो का ग्रहण नहीं हो सकेगा और इस प्रकार सर्वज्ञता का भी अभाव सिद्ध होगा । इन्द्रियों को प्रमाण मानने पर भी यही दोष उपस्थित होता है । चक्षु एव मन के अप्राप्यकारी होने से इन्द्रिय और सन्निकर्ष भी नहीं बन सकता है । सन्निकर्ष को प्रमाण और पदार्थ के ज्ञान को फल मानते हैं तो सन्निकर्ष दो में रहने वाला सिद्ध होगा और इस प्रकार तो घट-पटादि पदार्थों के भी ज्ञान की प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा ।[८] अतएव सन्निकर्ष को प्रमाण नहीं माना जा सकता है ।

जैनदर्शन के अनुसार प्रमाण और प्रमेय सर्वथा भिन्न नहीं हैं । जिस प्रकार घटादि पदार्थों को प्रकाशित करने में दीपक हेतु है और अपने को प्रकाशित करने में भी वही हेतु है । इसके लिए प्रकाशान्तर की आवश्यकता नहीं होती है । उसी प्रकार प्रमाण भी है । अतः प्रमेय के समान प्रमाण के लिए यदि अन्य प्रमाण माना जाता है तो स्व का ज्ञान नहीं होने

---

१. न्यायमञ्जरी, भाग I पृ. 160-174
२. द्रष्टव्य - सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धप्रकरण
३. तत्त्वसंग्रह, कारिका 3123
४. न्यायमञ्जरी, पृ. 169-174
५. प्रमाणमीमांसा, 1/1/8
६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 3/1/10/126-127
७. सर्वार्थसिद्धि, 1/10 पृ. 97
८. वही 1/10 पृ. 97 तथा तत्त्वार्थवार्तिक 1/10/16-22

से स्मृति का अभाव हो जायेगा। स्मृति का अभाव हो जाने से व्यवहार के लोप का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अतः स्पष्ट है कि प्रमाण और प्रमेय सर्वथा भिन्न नहीं हैं। परन्तु दोनों में कथञ्चित् भिन्नपना भी है। जिस प्रकार बाह्य प्रमेयों से प्रमाण (घट से दीपक की तरह) भिन्न होता है उसी प्रकार प्रमेय से प्रमाण में कथञ्चित् भिन्नता भी है। क्योंकि प्रमाण तो प्रमाण भी है और प्रमेय भी, जबकि प्रमेय केवल प्रमेय है।

नय का लक्षण -

परस्पर विरुद्ध पक्षों वाली अनेक रूपात्मक वस्तु को किसी एक पक्ष से देखने वाली ज्ञाता की दृष्टि का नाम नय है। जब-जब वस्तु में धर्म-धर्मी का भेद होकर धर्म द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है तब-तब वह ज्ञान नयज्ञान कहलाता है। इसी कारण नयों को श्रुतज्ञान का भेद कहा गया है। यद्यपि प्रमाण और नय दोनों से पदार्थों का ज्ञान होता है तथापि इतनी विशेषता अवश्य है कि प्रमाण सकलादेशी है जबकि नय विकलादेशी है। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है - '**सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति** ।'[1]

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में नय का निरुक्त्यर्थ करते हुए कहा गया है - '**जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नयः** ।'[2] अर्थात् जो जीवादि पदार्थों को लाते हैं, प्राप्त कराते हैं, बनाते हैं, अवभास कराते हैं, उपलब्ध कराते हैं, प्रकट कराते हैं, वे नय हैं। तिलोयपण्णत्ती, आलापपद्धति, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थों में ज्ञाता, प्रमाता अथवा वक्ता के अभिप्राय को नय कहा गया है।[3] आचार्य पूज्यपाद का कहना है कि अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्यविशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं।[4] श्लोकवार्तिक में अपने को और पदार्थ को एकदेश रूप से जानना नय का लक्षण माना गया है।[5] आचार्य अकलंकदेव ने प्रमाण के द्वारा संगृहीत वस्तु के अर्थ के एक अंश को नय माना है।[6] आचार्य पूज्यपाद का कहना है कि वस्तु को प्रमाण से जानकर बाद में किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थ का निश्चय करना नय है।[7] श्लोकवार्तिककार के अनुसार श्रुतज्ञान को मूल कारण मानकर ही नयज्ञानों की सिद्धि मानी गई है।[8]

नय के भेद -

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने सात नयों का उल्लेख किया है - नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवं एवंभूत।[9]

---

१. सर्वार्थसिद्धि, 1/10 पृ. 20
२. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य 1/35
३. 'णयो वि णादुस्स हिदियभावत्थो।' - तिलोयपण्णत्ती 1/83
   'ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः।'-आलापपद्धति 9 'ज्ञातुरभिप्रायो नयः।'-प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ.676
४. 'वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः।'
   - सर्वार्थसिद्धि 1/33 पृ. 140
५. 'स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः।' - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 2/1/6/17
६. तत्त्वार्थवार्तिक, 1/33/1 पृ. 94
७. सर्वार्थसिद्धि, 1/6 पृ. 20
८. 'श्रुतमूला नयाः सिद्धाः।' - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 2/1/6/27
९. 'नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः।' - तत्त्वार्थसूत्र 1/33

मूल नयों की संख्या के विषय में पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने लिखा है - 'षट्खण्डागम में नय के नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच भेदों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि कषायपाहुड में ये ही पाँच भेद निर्दिष्ट हैं तथापि वहाँ नैगम के संग्रहिक और असंग्रहिक ये दो भेद तथा तीन शब्द नय बतलाये हैं। श्वेताम्बर तत्त्वार्थभाष्य और भाष्यमान्य सूत्रों की परम्परा कषायपाहुड की परम्परा का अनुकरण करती हुई प्रतीत होती है। उसमें भी नय के तीन भेद किये गये हैं। तत्त्वार्थभाष्य में जो नैगम के देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी ये दो भेद किये हैं सो वे कषायपाहुड में किये गये नैगम के संग्रहिक और असंग्रहिक इन दो भेदों के अनुरूप ही हैं। सिद्धसेन दिवाकर नैगमनय को नहीं मानते शेष छः नयों को मानते हैं। इसके सिवा सब दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों में स्पष्टत: सूत्रोक्त सात नयों का ही उल्लेख मिलता है। इस प्रकार विवक्षा भेद से यद्यपि नयों की संख्या के विषय में अनेक परम्पराएँ मिलती हैं, तथापि वे परस्पर एक-दूसरे की पूरक ही हैं।'[1]

उक्त सातों नय दो नय रूप -

नैगम आदि नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो भागों में विभक्त हैं। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है - **'स द्वेधा द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिक-श्चेति।'**[2] धवला में भी कहा गया है कि तीर्थंकरों के वचनों के सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्याता द्रव्यार्थिक नय है तथा उन्हीं वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों ही नयों के विकल्प या भेद हैं।[3] भास्करनन्दि ने कहा है कि ये नैगमादि सातों नय ही दो नय रूप होते हैं। क्योंकि श्रुतज्ञान के द्वारा गृहीत वस्तु के अंश से द्रव्य और पर्याय जिसके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, वे नय हैं, इस तरह व्युत्पत्ति है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे ये दो नय हैं। द्रव्य, सामान्य, अभेद, उत्सर्ग और अन्वय ये शब्द एकार्थवाची हैं। द्रव्य है प्रयोजन जिसका उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। द्रव्य विषय वाला द्रव्यार्थ नय है। पर्याय, विशेष, भेद, अपवाद, व्यतिरेक ये शब्द एकार्थवाची हैं। पर्याय है प्रयोजन जिसका उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। अथवा पर्याय विषय वाला पर्यायार्थ है। इनके द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नाम भी हैं। द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार करे वह द्रव्य है। इस प्रकार की बुद्धि है जिसकी वह नय द्रव्यास्तिक है। पर्याय के अस्तित्व को स्वीकार करे वह पर्याय है। इस प्रकार की बुद्धि है जिसकी वह पर्यायास्तिक है।

उक्त नैगमादि सात नयों में नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिक नय के भेद हैं तथा ऋजुसूत्र आदि शेष चार पर्यायार्थिक नय के भेद हैं।[4] नैगमनय यद्यपि द्रव्य और पर्याय दोनों को मुख्य-गौण भाव से ग्रहण करता है। फिर भी वह इनको उपचार से ग्रहण करता है, अत: वह द्रव्यार्थिक नय का भेद है। संग्रह नय तो द्रव्यार्थिक है ही। व्यवहारनय के विषय में ऊर्ध्वता सामान्य से भेद नहीं किया जाता है, इसलिए इसे भी द्रव्यार्थिक नय ही माना जाता है। आगे के चार नय पर्यायार्थिक हैं। ऋजुसूत्र नय तो पर्याय विशेष को ग्रहण करता ही है, शेष तीन भी पर्याय को ही विषय बनाते हैं। अत: इन्हें पर्यायार्थिक माना गया है।

उक्त सभी नय यद्यपि अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करते हैं किन्तु मुख्य-गौण भाव से परस्पर सापेक्ष रहते हैं।

---

1. तत्त्वार्थसूत्र 1/33 की हिन्दी व्याख्या
2. सर्वार्थसिद्धि, 1/33 पृ. 140
3. धवला पुस्तक खण्ड / सूत्र / पृ. / गाथा 5
4. तत्त्वार्थवृत्ति - भास्करनन्दि 1/33 पृ. 59

सातों नयों का संक्षिप्त स्वरूप -

श्री श्रुतसागरसूरि के अनुसार नैगमादि सातों नयों का स्वरूप इस प्रकार है -

1. नैगम - जो एक द्रव्य या पर्याय को ग्रहण नहीं करता इस विकल्प रूप हो वह निगम है और निगम का भाव नैगम है। संकल्पमात्रग्राही नैगम नय कहलाता है।
2. संग्रह - अभेद रूप वस्तु के ग्रहण करने को संग्रह नय कहते हैं।
3. व्यवहार - संग्रह नय से गृहीत अर्थ को भेद रूप से ग्रहण करना व्यवहारनय है।
4. ऋजुसूत्र - ऋजु का अर्थ सरल है। जो ऋजु अर्थात् सरल को सूचित करता है अर्थात् स्वीकार करता है, वह ऋजुसूत्र नय है।
5. शब्द - शब्द से, व्याकरण से, प्रकृति प्रत्यय द्वार से सिद्ध शब्दनय है हू
6. समभिरूढ - परस्पर अभिरूढ समभिरूढ नय है।
7. एवंभूत - क्रिया की प्रधानता से कहा जाय, वह एवंभूतनय है।[1]

भात पकाने की तैयारी करने वाले को भात पकाने वाला कहना, द्रव्य कहने से सभी जीव-अजीव द्रव्यों का ग्रहण करना, द्रव्य के छः भेद करना, वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करना, दार-भार्या-कलत्र एकार्थक होने पर भी लिंग भेद से भिन्न मानना, इन्द्र-शक्र-पुरन्दर में भिन्नार्थकता होने पर भी रूढि से एक अर्थ का ग्रहण करना तथा जब जो जिस अवस्था में हो उसे तब वेसा ही कहना उक्त सातों नयों में पाया जाता है। ये सातों नय क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय वाले हैं तथा इनमें पूर्व-पूर्व नय की उत्तर-उत्तर नय के प्रति कारणता है। अतः इनके क्रम को इसी प्रकार कहा जाना सहेतुक है।

नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ही होते हैं, गुणार्थिक नहीं -

आचार्य अकलकदेव ने कहा है कि द्रव्य के सामान्य और विशेष ये दो ही स्वरूप हैं। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये एकार्थक शब्द हैं। विशेष, भेद और पर्याय ये एकार्थक शब्द हैं। **सामान्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और विशेष को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय। दोनों से समुदित अयुतसिद्ध रूप द्रव्य है। अतः जब गुण को द्रव्य का ही सामान्य रूप माना गया है तब उसके ग्रहण करने के लिए द्रव्यार्थिक नय से भिन्न गुणार्थिक नय मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।** क्योंकि नय विकलादेशी है और समुदाय रूप द्रव्य सकलादेशी है। अतः समुदाय रूप द्रव्य तो प्रमाण का विषय है, नय का नहीं।[2] आचार्य अकलंकदेव ने **'तदुभयसंग्रहः प्रमाणम्'**[3] कहकर यह पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों का संग्रह प्रमाण है।

---

१. तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुतसागरसूरि, 1/33. पृ. 165
२. तत्त्वार्थवार्तिक 5/38/3
३. वही, 1/7/5

नयाभास -

परस्पर सापेक्ष नय ही सम्यक् होते हैं, निरपेक्ष नहीं। जिस प्रकार परस्पर सापेक्ष रहकर तन्तु आदि पट रूप कार्य का उत्पादन करते हैं, उसी प्रकार नय भी सापेक्ष रहकर ही सम्यग्ज्ञान रूप कार्य के कारण बनते हैं। निरपेक्ष नयों को ही मिथ्यानय, कुनय या नयाभास समझना चाहिए।

यहाँ पर विशेष अवधेय है कि जिस प्रकार शक्ति की अपेक्षा निरपेक्ष तन्तु, वेमा आदि में पट का कारणपना कथंचित् माना जाता है, उसी प्रकार निरपेक्ष नयों में भी शक्ति की अपेक्षा सम्यग्ज्ञान का कारणपना माना जा सकता है। इसी बात को सर्वार्थसिद्धि में निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया गया है -

'अथ तन्त्वादिषु पटादिकार्यं शक्त्यपेक्षया अस्तीत्युच्यते। नयेष्वपि निरपेक्षेषु बुद्ध्यभिधानरूपेषु कारणवशात् सम्यग्दर्शनहेतुत्व-विपरिणतिसद्भावात् शक्त्यात्मनास्तित्वमिति साम्यमेवोपन्यासस्य।'[1]

क्या नय सात ही हैं ?

नयों का विवेचन कहीं शब्द, अर्थ एवं ज्ञान रूप में त्रिविध हुआ तो कहीं पंचविध, सप्तविध या नवविध भी। वस्तुतः जितने भी वचनमार्ग हैं, उतने ही नय के भेद हैं। द्रव्य की अनन्तशक्तियाँ हैं। अतः उनके कथन करने वाले अनन्तनय हो सकते हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अनुसार संक्षेप में नय दो -द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक विस्तार से तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादित नैगमादिक सात तथा अतिविस्तार से संख्यात विग्रह वाले होते हैं।[2]

निरपेक्षनय ग्रहण से उत्पन्न भ्रान्तियाँ और उनके तत्त्वार्थसूत्र एवं उसकी टीकाओं में प्रदत्त समाधान -

भ्रान्ति 1. - शुभप्रवृत्ति, परिणाम एवं उपयोग से आस्रव और बन्ध ही होता है।

समाधान - व्रत-प्रवृत्ति रूप भी होते हैं तथा निवृत्ति रूप भी होते हैं। अहिंसा आदि व्रतों को एकदेश प्रवृत्ति रूप होने की वजह से आचार्य उमास्वामी ने जहाँ उन्हें आस्रव के कारणों में रखा है, वहीं संयम, ब्रह्मचर्य एवं तप को दस धर्मों में ग्रहण कर उन्हें संवर का कारण भी माना है तथा तप को तो निर्जरा का हेतु भी कहा है।[3]

भ्रान्ति 2. - निमित्त कुछ नहीं करता है तथा निमित्त के अभाव में भी कार्योत्पत्ति हो सकती है। निमित्त तो स्वतः मिल जाता है।

समाधान - कर्मों का फलदान द्रव्य-क्षेत्रादि के निमित्त होने पर ही होता है, उसके बिना नहीं होता है। यदि किसी कर्म का उदयकाल हो तो उसका उदय तो होगा पर वह स्वमुख से उदय न होकर परमुख से उदय हो जाता है।[4] पं.

---

१. सर्वार्थसिद्धि, 1/33 पृ. 146.

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 4/1/13 श्लोक 3-4 पृ. 215

३. आस्रवनिरोधः संवरः। स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः। तपसा निर्जरा च। - तत्त्वार्थसूत्र 9/1-3

४. सर्वार्थसिद्धि, 8/21

फूलचन्द्र शास्त्री ने सर्वार्थसिद्धि के विशेषार्थ में स्वयं लिखा है कि 'हास्य और रति का उत्कृष्ट उदयकाल सामान्यत: छ: माह है। इसके बाद इनकी उदय-उदीरणा न होकर अरति और शोक की उदय-उदीरणा होने लगती है। किन्तु छह माह के भीतर यदि हास्य और रति के विरुद्ध निमित्त मिलता है तो बीच में ही इनकी उदय-उदीरणा बदल जाती है।'[1] इसी प्रकार स्वर्ग में सातानिमित्तक सामग्री होने से असाता उदयकाल में साता रूप में परिणत हो जाती है तथा नरक में असातानिमित्तक सामग्री होने से साता उदयकाल में असाता रूप में परिणत हो जाती है। पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है - '**द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणां फल-प्राप्तिरुदय:।**'[2]

'**को भव: ? आयुर्नामकर्मोदयनिमित्त: आत्मन: पर्यायो भव:। प्रत्यय: कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम्।**'[3]

भ्रान्ति 3. - निमित्त को कारण मानने से द्रव्य की स्वतन्त्रता में बाधा होती है।

समाधान - उक्त प्रश्न के उत्तर में आचार्य अकलंकदेव का कहना है कि धर्मादि द्रव्यों के निमित्त से ही जीव एवं पुद्गल की गति-स्थिति संभव होती है। क्या ऐसा मानने से जीव अपने मोक्ष पुरुषार्थ में असमर्थ हो जाता है ? यदि नहीं, तो निश्चित है कि कार्योत्पत्ति में परद्रव्य के निमित्त मात्र होने से वस्तु स्वातन्त्र्य में कोई बाधा नहीं आती है।[4]

इसी प्रकार की अन्य अनेक भ्रान्तियाँ भी निरपेक्ष नयों को ग्रहण करने से उत्पन्न हुई हैं। अत: नयों में सापेक्षता आवश्यक है।

---

१. वही 9/36 का विशेषार्थ

२. वही, 2/1.

३. सर्वार्थसिद्धि, 21

४. तत्त्वार्थवार्तिक 5/1

तत्त्वार्थसूत्र में जैन न्यायशास्त्र के बीज

* डॉ. शीतलचन्द जैन

तत्त्वार्थसूत्र जैन वाङ्मय का बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें जैन तत्त्वज्ञान को 'गागर में सागर' की भाँति भर दिया गया है। सम्भवतः इसी से इसके मात्र पाठ को या श्रवण को एक उपवास करने के बराबर प्रगट कर इसका महत्त्व बतलाया गया है। यही कारण है कि जैन परम्परा में इसका वही स्थान है जो हिन्दू परम्परा में गीता का, मुस्लिम सम्प्रदाय में कुरान का और ईसाइयों में बाईबल का माना जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र की इस महत्ता को देखकर दिगम्बर और श्वेताम्बर व्याख्याकारो ने इस पर छोटी-बड़ी दर्जनों व्याख्याएं टीका, भाष्य, वार्तिक, टिप्पणी आदि लिखी हैं। इसमें 10 अध्याय है और इसमें सात तत्त्वों का सागोपाग कथन किया गया है। उन तत्त्वों के वर्णन में धर्म और दर्शन का पर्याप्त या यों कहिए कि प्रायः पूरा निरूपण उपलब्ध होता है।

अब प्रश्न है कि इस धर्म और दर्शन के ग्रन्थ में क्या उनके विवेचन या सिद्धि के लिए न्याय का भी अवलम्बन लिया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर जब हम तत्त्वार्थसूत्र का गहराई और सूक्ष्मता से अध्ययन करते है, तो उसी से मिल जाता है।

न्याय का स्वरूप : प्रमाण और नय -

न्यायदीपिकाकार अभिनव धर्मभूषणयति ने न्याय का स्वरूप लिखा है कि प्रमाण और नय दोनो न्याय है क्योंकि उनके द्वारा पदार्थों का ज्ञान किया जाता है। उनके अतिरिक्त उनके ज्ञान का अन्य कोई उपाय नहीं है जैसा कि उनके निम्न प्रतिपादन से स्पष्ट है। 'प्रमाणनयाभ्या हि विवेचिता जीवादयः सम्यगधिगम्यन्ते। तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासम्भवात्।'

न्याय शब्द की व्युत्पत्ति भी इस प्रकार दी गई है कि 'नि' पूर्वक 'इण् गतौ' धातु से करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'न्याय' शब्द सिद्ध होता है। 'नितरामियते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः अर्थपरिच्छेदकोपायो न्यायः इत्यर्थः स च प्रमाणनयात्मक एव' अर्थात् निश्चय से जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं वह न्याय है और वह प्रमाण एव नय रूप ही है क्योंकि उनके द्वारा पदार्थों का ज्ञान किया जाता है अतएव जैनदर्शन में प्रमाण और नय न्याय हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण, प्रमाणाभास और नय -

न्याय के उक्त स्वरूप के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण और नय दोनों का प्रतिपादन उपलब्ध है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने स्पष्ट कहा है कि प्रमाण और नयों के द्वारा पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है। यथा - प्रमाणनयैरधिगमः।

इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र में जहाँ धर्म और दर्शन का प्रतिपादन किया गया है वहाँ उसमें प्रमाण और नय रूप न्याय का भी प्रतिपादन है।

---

*प्राचार्य, श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत कॉलेज, वीरोदयनगर, सांगानेर (राजस्थान)

जैनदर्शन के चिन्तन की पूर्व परम्परा तीर्थंकरों की देशना से जुड़ी है, जिसका सर्वप्रथम उपलब्ध रूप आगमों में देखा जा सकता है। उन आगमों से लेकर अब तक प्रमाण का विवेचन ज्ञान-मीमांसा के अन्तर्गत किया जाता रहा है। जिसका आधार सैद्धान्तिक रहा है इस सैद्धान्तिक आगमिक परम्परा में आत्मा को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया और उसे ज्ञान रूप स्वीकार किया गया। कर्मबन्धन से मुक्त होने पर प्रकट हुए आत्मा के पूर्ण विशुद्ध स्वरूप को केवलज्ञान कहा गया। दार्शनिक युग में इस ज्ञान की प्रसिद्धि पारमार्थिक प्रत्यक्ष के रूप में भी हुई और पूर्ण प्रमाणता इसी में सिद्ध की गई। दरअसल प्रमाण, नय आदि के दार्शनिक शैली में विवेचन से पूर्व इनके विकास का प्रमुख आधार ज्ञान का विवेचन आत्मा की क्रमिक विशुद्धता को केन्द्रबिन्दु बनाकर आगमिक शैली में किया जाना है। कर्मबन्ध आत्मा का ज्ञान जितने अंशों में आत्मसापेक्ष होकर प्रकट होता है और जितने अंशों में इन्द्रिय सापेक्ष होकर प्रकट होता है, उसी के आधार पर उतने ही अंशों में उसकी क्रमिक प्रामाणिकता का निर्णय किया जाता है। प्रमाण के भेद निर्धारण करने में भी यही सैद्धान्तिक मान्यता आधार बनी।

सामान्य रूप से ज्ञानमीमांसा और प्रमाणमीमांसा को 'एक ही सिक्के के दो पहलू' के रूप में देखा जाता है, परन्तु उसमें थोडा अन्तर है और वह अन्तर सीमाओं का है आगमिक परम्परा में ज्ञान की मीमांसा मोक्षमार्ग को केन्द्रबिन्दु मानकर होती रही, जबकि प्रमाणमीमांसा का क्षेत्र मोक्षमार्ग के साथ सम्पूर्ण वस्तु जगत् तक विस्तृत हो गया। ज्ञान आत्मा का गुण होने के कारण उसका आत्मा के साथ एकत्व स्थापित कर ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत स्वभाव और विभाव के रूप में तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन किया गया। वस्तु के पर निरपेक्ष रूप स्वभाव और पर सापेक्ष रूप विभाव को ज्यों का त्यों जानने का ज्ञान का कार्य माना गया और ज्यों का त्यों न जानकर स्वभाव को विभावरूप एवं विभाव को स्वभावरूप जानने वाले ज्ञान को मिथ्या कहा गया। व्यवहार में असत्य होते हुए भी मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मोक्षमार्गोपयोगी न होने के कारण मिथ्या कहा गया। दार्शनिक युग में उक्त व्यवस्था मोक्षमार्ग तक सीमित न रहकर बाह्य अर्थ के प्रतिभास के अनुसार सम्पूर्ण तत्त्वों के अधिगम के लिए विस्तृत हो गई है। आगमिक युग में जो प्रयोजन सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के द्वारा पूर्ण किया जाता था, दार्शनिक युग में वही प्रयोजन प्राय: प्रमाण और अप्रमाण द्वारा पूर्ण किया जाने लगा। ज्ञात हो कि जैन विद्वानों ने जैनदर्शन के साहित्यिक विकास को चार युगों में विभक्त किया है -

1. आगम युग : विक्रम पांचवीं शती तक
2. अनेकान्त व्यवस्था युग : आठवीं शती तक
3. प्रमाण व्यवस्था युग : सत्रहवीं शत तक
4. नवीन न्याय युग : आधुनिक समय पर्यन्त

उपर्युक्त काल विभाजन की दृष्टि से दिगम्बर परम्परा के आगम युग के आचार्य कुन्दकुन्द तक ज्ञान, नय आदि का विवेचन पाया जाता है, परन्तु प्रमाण का विवेचन नहीं पाया जाता। कुन्दकुन्द ने शौरसेनी प्राकृतभाषा में लिखे अपने ग्रन्थों में सम्पूर्ण विवेचन हेय, उपादेय और ज्ञेय की दृष्टि से किया है। हेय और उपादेय के विवेचन के लिए उन्होंने निश्चय और व्यवहार नय का आश्रय लिया है तथा ज्ञेय दृष्टि से विवेचन हेतु द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का आश्रय लिया है। श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में ज्ञान के स्वतन्त्र विवेचन के साथ प्रमाण की भी स्वतन्त्र विवेचना की गई है।

ज्ञान के भेद -

कुन्दकुन्द एवं उनसे पूर्व की आगमिक परम्परा में स्वभाव, विभाव, सम्यक्, मिथ्या आदि ज्ञान के प्रकारों की

चर्चा के साथ 'णाणाणुवादेण अत्थि मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी विभंगणाणी अभिणिबोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि' के रूप में ज्ञान की अपेक्षा मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान, अभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन आठ ज्ञानों का उल्लेख मिलता है। इनमें आदि के तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान और अन्तिम पाँच ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं। ज्ञानों के ये सभी भेद ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम या क्षय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की अवस्थाओं का निरूपण है।

ज्ञानों का प्रमाणों में वर्गीकरण -

दार्शनिक युग में उपर्युक्त आगमिक चिन्तन को आधार मानकर तत्कालीन परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापन हेतु केवलज्ञान को पूर्ण प्रत्यक्ष माना ही गया, व्यावहारिक दृष्टि से इन्द्रियजन्य ज्ञानों को भी प्रत्यक्ष कहा गया है। इस चर्चा का सर्वप्रथम प्रमाण के सन्दर्भ में सूत्रशैली में सूत्रपात करने वाले, आगमिक चिन्तन के अन्तिम आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् हुए उमास्वाति है। इनके समय तक जैनदर्शन के क्षेत्र मे धर्म और दर्शन को विवेचित करने वाला कोई स्वतन्त्र संस्कृत भाषा में सूत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था। उस समय जैनेतर दर्शनों में संस्कृत भाषा में दार्शनिक ग्रन्थ, भाष्य एवं सूत्र ग्रन्थ आदि भी लिखे जा रहे थे। उमास्वाति ने जैन वाङ्मय में उस कमी को पूर्णकर सर्वप्रथम संस्कृत भाषा में तत्त्वार्थसूत्र नामक सूत्रग्रन्थ का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ में उन्होने जैनधर्म और दर्शन का सार सूत्र रूप में निबद्ध करके प्रथमबार ज्ञानचर्चा को प्रमाण चर्चा के साथ जोड़कर प्रमाण के भेदादि का स्पष्ट प्रतिपादन किया। उन्होंने जीवादि पदार्थों के ज्ञान के लिए प्रमाण और नय को आवश्यक बताकर मति, श्रुत आदि पांच ज्ञानों को प्रमाण कहा और उनका प्रत्यक्ष प्रमाण तथा परोक्ष प्रमाण के रूप में विभाजन भी किया। इनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षप्रमाण माने गये एवं अन्तिम तीन अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्या भी माने गये। इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले मतिज्ञान को स्मृति संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध नामों से भी पुकारा गया। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद करके इनके बहु, बहुविध आदि अनेक अवान्तर भेद भी किये गये। मतिज्ञान पूर्वक होने वाले श्रुतज्ञान को दो प्रकार, अनेक प्रकार और बारह प्रकार का बताया गया। भवप्रत्यय और क्षायोपशम निमित्तक के भेद से अवधिज्ञान के दो भेद किये गये और मन:पर्यय ज्ञान भी ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का माना गया। कुन्दकुन्द तक जहाँ एक ओर आत्म-सापेक्ष केवलज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता था, तत्त्वार्थसूत्रकार ने वहीं आत्मसापेक्षता के अन्तर्गत अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान को मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण कहा एवं जो पर सापेक्ष ज्ञान मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय परोक्षज्ञान माने जाते थे, उनमें से उन्होंने मति और श्रुतज्ञान को ही परोक्ष प्रमाण माना। तत्त्वार्थसूत्रकार का यह चिन्तन आपाततः आगमिक परम्परा से अलग-सा प्रतीत होता है, वस्तुत: वैसा है नहीं। आगमिक परम्परा में प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व ज्ञानों का किया गया है जबकि तत्त्वार्थसूत्रकार ने यह विभेद प्रमाणों का किया है। आगमिक परम्परा में ज्ञानों का प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व विषयाधिगम के क्रम और अक्रम पर निर्भर करता है वही तत्त्वार्थसूत्रकार की दृष्टि ज्ञान के कारणों का सापेक्षता और निरपेक्षता पर आधारित है।

प्रमाण भेद -

दिगम्बर आगमिक साहित्य में पंचज्ञानों की विस्तृत चर्चा की गई है, परन्तु उनका प्रमाणों में वर्गीकरण प्राप्त नहीं होता। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों में प्रमाणों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। कुन्दकुन्द ने आत्मा की शुद्धता और अशुद्धता को ध्यान में रखकर ज्ञान के स्वभाव ज्ञान और विभावज्ञान के रूप में दो भेद किये। उन्होंने कर्मोपाधि से रहित ज्ञान को स्वभावज्ञान तथा कर्मोपाधि से युक्त ज्ञान को विभाव कहा है। स्वभावज्ञान केवलज्ञान है। यही प्रत्यक्षज्ञान है। विभावज्ञान

परापेक्ष है। इसलिए परोक्ष है। प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में ज्ञान के दो भेद करके कुन्दकुन्द ने उनकी स्पष्ट व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत कुन्दकुन्द ने अवग्रह, ईहा आदि ज्ञानों को रखा अन्यत्र उन्होंने मतिज्ञान के उपलब्धि भावना और उपयोग तथा श्रुतज्ञान के लब्धि-भावना, उपयोग और नय भेद किये हैं। कुन्दकुन्द ने इस प्रकार ज्ञान के भेदों - प्रत्यक्ष और परोक्ष की चर्चा करके भी प्रमाण की कोई चर्चा नहीं की, परन्तु परवर्ती दार्शनिकों के लिए प्रमाण के सन्दर्भ में कुन्दकुन्द की ज्ञान चर्चा ही आधार बनी। तत्त्वार्थसूत्रकार ने मति और श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण और अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहकर प्रमाण चिन्तन के क्षेत्र में नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। समीक्षक विद्वानों की दृष्टि में तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा उक्त प्रतिपादन अन्य दर्शनों के प्रमाण निरूपण के साथ मेल बैठाने और आगमिक समन्वय के लिए था। मति, स्मृति, संज्ञा, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता, तर्क और अभिनिबोध- अनुमान को मतिज्ञान के अन्तर्गत प्रमाणान्तर मानकर उन्हें परोक्षप्रमाण कहा गया। सभी जैन तार्किकों के लिए उनका यह विभाग प्रमाण भेद का आधार सिद्ध हुआ।

डॉ. कोठिया समन्तभद्र के प्रमाण विभाग को तत्त्वार्थसूत्रकार के प्रमाणविभाग से भिन्न मानते हुए लिखते हैं कि स्वामी समन्तभद्र ने प्रमाण (केवलज्ञान) का स्वरूप युगपत्सर्वभासी तत्त्वज्ञान बताकर ऐसे ज्ञान को अक्रमभावी और क्रमशः अल्पपरिच्छेदी ज्ञान को क्रमभावी कहकर प्रमाण को दो भागों में विभक्त किया है। समन्तभद्र के इन दो भेदों में जहाँ अक्रमभावि मात्र केवल है और क्रमभावि मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान हैं। वहाँ गृद्धपिच्छ के प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाण भेदों में प्रत्यक्ष तो अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये तीन ज्ञान है तथा परोक्ष मति और श्रुत ये दो ज्ञान इष्ट हैं। प्रमाण भेदों की इन दोनो विचारधाराओं मे वस्तुभूत कोई अन्तर नही है। गृद्धपिच्छ का निरूपण जहाँ ज्ञान कारणों की सापेक्षता और निरपेक्षता पर आधृत है वहाँ समन्तभद्र का प्रतिपादन विषयाधिगम के क्रम और अक्रम पर निर्भर है। पदार्थों - ज्ञेयों का क्रम से होने वाला ज्ञान क्रमभावि और युगपत् होने वाला अक्रमभावि प्रमाण है।

लगता है समन्तभद्र ने प्रमाण के सन्दर्भ में तत्त्वार्थसूत्रकार का अनुकरण करने का भरसक प्रयत्न किया है, पर जो आगमिक प्रतीत नहीं हुआ उस पर उन्होंने अपना सामान्य विचार अभिव्यक्त कर दिया। तत्त्वार्थसूत्रकार ने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान को प्रमाण कहा। समन्तभद्र ने भी मति आदि चार ज्ञानों के नामोल्लेख किये बिना सभी को प्रमाण कहा है उनके अनुसार एक साथ सभी के अवभासन रूप, तत्त्वज्ञान, जिसे केवलज्ञान कहा गया है, प्रमाण है। तत्त्वार्थसूत्रकार भी केवलज्ञान को प्रमाण बताकर उसे सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों को एक साथ जानने वाला कहा है। समन्तभद्र की दृष्टि में अन्य ज्ञान क्रमभावी भी प्रमाण है। तत्त्वार्थसूत्रकार भी क्रम से होने वाली मति आदि चार ज्ञानों को प्रमाण मानते हैं। उन्होंने प्रथम दो ज्ञानों को परोक्ष और अन्तिम तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में प्रमाण के दो भेद किये हैं, इसका भेद करना समन्तभद्र ने तत्त्वनिर्णायकों पर छोड़ दिया। उन्होंने सामान्यरूप से ज्ञानों के प्रमाण होने की स्थिति की विवेचना की।

संक्षेप में यह प्रतिफलित होता है कि समन्तभद्र की दृष्टि में प्रमाण के दो भेद हैं -

1. युगपत्सर्वभासन रूप तत्त्वज्ञान - केवलज्ञान और
2. स्याद्वाद-नय से संस्कृत क्रमभावी ज्ञान।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकार के प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों के अन्तर्गत मति आदि ज्ञानों के विभाजन विषयक अवधारणा के अनुकरण की स्पष्टोक्ति समन्तभद्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में अकलंक की दृष्टि भी अनुत्तरित प्रतीत होती है। समन्तभद्र के सभी व्याख्याकारों के दृष्टिकोण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनका

समन्तभद्र के युगपत्सर्वभासन रूप तत्त्वज्ञान - केवलज्ञान की प्रत्यक्ष प्रमाण और स्याद्वादनयसंस्कृत क्रमभावीज्ञान को परोक्षप्रमाण मानना अभीष्ट है।

अनुमान के (पक्ष, हेतु और उदाहरण) तीन अवयवों से सिद्धि -

तत्त्वार्थसूत्र में कुछ सिद्धान्तों की सिद्धि अनुमान (युक्ति) से की गई है। उन्होंने अनुमानप्रयोग के तीन अवयवों- पक्ष, हेतु और उदाहरण से मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों के विपर्यय (अप्रमाण-प्रमाणाभास) सिद्ध करते हुए प्रतिपादन किया है -

1. पक्ष - मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च,
2. हेतु - सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेः,
3. उदाहरण - उन्मत्तवत्।

अर्थात् मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपर्यय (मिथ्या - अप्रमाण-प्रमाणाभास) भी हैं, क्योंकि उनके द्वारा सत् (समीचीन) और असत् (असमीचीन) का भेद न कर स्वेच्छा से उपलब्धि होती है, जैसे उन्मत्त (पागल पुरुष) का ज्ञान। उन्मत्त व्यक्ति विवेक न रखकर माता को स्त्री और स्त्री को माता कह देता है। उसी प्रकार मति, श्रुत और अवधि (विभंग) ज्ञान भी सत्-असत् का भेद न कर कभी काचकामलादि के वश वस्तु का विपरीत (अन्यथा) ज्ञान करा देते हैं। अतः ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान भी कहे जाते है।

तत्त्वार्थसूत्रकार के इस प्रतिपादन से स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र मे न्यायशास्त्र भी समाहित है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनके समय में तीन ही अनुमानावयव वस्तु-सिद्धि में प्रचलित थे, उपनय और निगमन को अनुमानावय स्वीकार नहीं किया जाता था या उनका जैन सस्कृति मे विकास नहीं हुआ था। तत्त्वार्थसूत्रकार के उत्तरवर्ती आचार्य समन्तभद्र ने भी 'देवागम' (आप्तमीमांसा) में उक्त तीन अवयवों से ही अनेक स्थलो पर वस्तु-सिद्धि की है। न्यायावतारकार सिद्धसेन ने भी अनुमान के तीन ही अवयवों का प्रतिपादन किया है।

तत्त्वार्थसूत्रकार का तीन अवयवों से वस्तु-सिद्धि का दूसरा उदाहरण और यहाँ प्रस्तुत है। तत्त्वार्थसूत्र के दशवें अध्याय में तीन सूत्रों द्वारा मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन को सयुक्तिक सिद्ध करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार ने लिखा है -

1. पक्ष - तदनन्तरं (मुक्तः) ऊर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।
2. हेतु - पूर्वप्रयोगात्, असंगत्वात्, बन्धच्छेदात्, तथागतिपरिणामाच्च।
3. उदाहरण - आविद्धकुलालचक्रवत्, व्यपगतलेपालबुवत्, एरण्डबीजवत्, अग्निशिखावच्च।

अर्थात् द्रव्यकर्मों और भावकर्मो से छूट जाने के बाद मुक्त जीव लोक के अन्तपर्यन्त ऊपर को जाता है, क्योंकि उसका ऊपर जाने का पहले का अभ्यास है, कोई संग (परिग्रह) नहीं है, कर्मबन्धन नष्ट हो गया है और उसका ऊपर जाने का स्वभाव है। जैसे कुम्हार का चाक, लेपरहित तूमरी, एरण्डका बीज और अग्नि की ज्वाला। मुक्त-जीव के ऊर्ध्वगमन को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने चार हेतु दिये और उनके समर्थन के लिए चार उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। इस तरह अनुमान से सिद्धि या विवेचन करना न्यायशास्त्र का अभिधेय है यद्यपि साध्याविनाभावी एक हेतु ही विवक्षित अर्थ की सिद्धि के लिए पर्याप्त है, उसे सिद्ध करने के लिए अनेक हेतुओं का प्रयोग और उनके समर्थन के लिए अनेक हेतुओं का प्रयोग और उनके समर्थन के लिए अनेक उदाहरणों का प्रतिपादन अनावश्यक है, किन्तु उस युग में न्यायशास्त्र का इतना

विकास नहीं हुआ था, वह तो उत्तरकाल में हुआ है। इसी से अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि आदि न्यायशास्त्र के आचार्यों ने साध्य (विवक्षित अर्थ) की सिद्धि के लिए पक्ष और हेतु इन दोनों को अनुमान का अंग माना है, उदाहरण को भी उन्होंने नहीं माना - उसे अनावश्यक बतलाया है तात्पर्य यह कि तत्त्वार्थसूत्रकार के काल में परोक्ष अर्थों की सिद्धि के लिए न्याय (युक्ति-अनुमान) को आगमन के साथ निर्णय-साधन माना जाने लगा था। यही कारण है कि उनके कुछ ही काल बाद हुए स्वामी समन्तभद्र ने युक्ति और शास्त्र दोनों को अर्थ के यथार्थ प्ररूपण - के लिए आवश्यक बतलाया है। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि वीरजिन इसलिए आप्त हैं, क्योंकि उनका उपदेश युक्ति और शास्त्र से अविरूद्ध है। तत्त्वार्थसूत्र के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उसमें न्यायशास्त्र के बीज समाहित हैं, जिनका उत्तरकाल में अधिक विकास हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय के पन्द्रह और सोलहवें सूत्रों द्वारा जीवों का लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह प्रतिपादन किया गया है। यह प्रतिपादन भी अनुमान के उक्त तीन अवयवों द्वारा हुआ है। पन्द्रहवां सूत्र पक्ष के रूप में और सोलहवा सूत्र हेतु तथा उदाहरण के रूप में प्रयुक्त है। जीवों का अवगाह लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश में है, क्योंकि उनमें प्रदेशों का सहार (सकोच) और विसर्प (विस्तार) होता है, जैसे प्रदीप। दीपक को जैसा आश्रय मिलता है उसी प्रकार उसका प्रकाश हो जाता है। इसी तरह जीवो को भी जैसा आश्रय प्राप्त होता है वैसे ही वे उसमे समव्याप्त हो जाते हैं।

सत् में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की सिद्धि -

द्रव्य का लक्षण तत्त्वार्थसूत्र में आगमानुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की युक्तता को बतलाया है। यहाँ प्रश्न उठता है कि उत्पाद, व्यय अनित्यता (आने जाने) रूप है और ध्रौव्य (स्थिरता) नित्यता रूप है। ये दोनों (अनित्यता और नित्यता) एक ही सत् में कैसे रह सकते हैं ? इसका उत्तर सूत्रकार ने हेतु का प्रयोग करके दिया है। उन्होंने कहा कि मुख्य (विवक्षित) और गौण (अविवक्षित) की अपेक्षा से उन दोनों की एक ही सत् में सिद्धि होती है। द्रव्यांश की विवक्षा करने पर उसमें नित्यता और पर्यायांश की अपेक्षा से कथन करने पर अनित्यता की सिद्धि है। इस प्रकार युक्ति पूर्वक सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप नयात्मक या अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है।

नय -

प्रमाण की विवेचना के उपरान्त न्याय के दूसरे अंग नय का प्रतिपादन भी तत्त्वार्थसूत्रकार ने सक्षिप्त मे कहा है परन्तु जिनागम के मर्म को समझने के लिए नयों का स्वरूप समझना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है क्योंकि समस्त जिनागम नयों की भाषा में ही निबद्ध है। नयों के समझे बिना जिनागम का मर्म जान पाना तो बहुत दूर, उसमें प्रवेश भी सम्भव नहीं है।

जिनागम के अभ्यास में सम्पूर्ण जीवन लगा देने वाले विद्वज्जन भी नयों के सम्यक् प्रयोग से अपरिचित होने के कारण जब जिनागम के मर्म तक नहीं पहुँच पाते तब सामान्य जन की तो बात ही क्या कहना ? कहा है कि -

'जे णयदिट्ठिविहीणा ताणेण वत्थूसहावउवलद्धि।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति ॥'

जो व्यक्ति नय दृष्टि से विहीन है उन्हें वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तुस्वरूप को नहीं जानने वाले सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं ?

तत्त्वार्थसूत्रकार ने प्रकारान्तर से कुन्दकुन्द का अनुकरण कर पदार्थ के अधिगम के लिए प्रमाण और नयों आवश्यक माना। उन्होंने नयों और उन सब भेदों का भी निरूपण किया है, जो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो मूल नयों में अन्तर्भूत हैं। उनकी दृष्टि में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं। इनमें प्रथम तीन द्रव्य को विषय करने के कारण द्रव्यार्थिक और ऋजुसूत्र आदि अन्तिम तीन पर्याय को विषय करने के कारण पर्यायार्थिक माने जा सकते हैं। सम्भवतः इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर '**गुणपर्ययवत् द्रव्यम्**' इस सूत्र का सृजन किया गया है।

नय का स्वरूप -

तत्त्वार्थसूत्रकार ने नय का स्वरूप बताने के लिए कोई पृथक् सूत्र तो नहीं बनाया है परन्तु उक्त सात भेदों का प्रतिपादन कर उत्तरवर्ती आचार्यों के लिये मार्गदर्शन जरूर दिया है। पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी महाराज ने इन सात नयों के सम्बन्ध में **जैनतत्त्वविद्या** में नयों की उपयोगिता एवं उदाहरण देकर सात नयों की सूक्ष्मता का प्रतिपादन किस प्रकार किया है सो दृष्टव्य है -

वस्तुबोध की अनन्त दृष्टियों का सात दृष्टियों में वर्गीकरण करने के कारण नय सात ही माने गए हैं। यह वर्णन पूर्ण रूप से व्यावहारिक है और इसके द्वारा जगत् का व्यवहार सम्यक् रूप से संचालित हो सकता है।

इस प्रकार, इन सात नयों के द्वारा जगत् का समस्त व्यवहार संचालित होता है। इनमें आदि के चार नय को अर्थ नय कहते हैं, क्योंकि ये अर्थात्मक पदार्थ का विचार करते है। शब्द, समभिरूढ और एवभूत ये तीन नय शब्द नय हैं। शब्दनय शब्दात्मक पदार्थों पर विचार करता है। इन सातों नयों के विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म हैं। नयों की विषयगत सूक्ष्मता को इस उदाहरण से सुगमता से समझाया जा सकता है।

कोई व्यक्ति घर से पूजन करने के लिए मन्दिर की ओर जा रहा है, उसे देखकर कहना कि पुजारी जी मन्दिर जा रहे हैं, नैगम नय का विषय है, मन्दिर पहुँचकर पूजा योग्य द्रव्य का संग्रह करते हुए व्यक्ति को पुजारी कहना संग्रहनय का विषय है। पूजा योग्य समस्त द्रव्यों का वर्गीकरण/विभाजन करते वक्त उस व्यक्ति को पुजारी कहना व्यवहार नय का विषय है। पूजा की क्रिया में प्रवृत्त व्यक्ति को पुजारी कहना ऋजुसूत्रनय का विषय है। शब्द नय शब्दात्मक पदार्थ का विचार करता है। उस नय की दृष्टि से पूजा करने वाले व्यक्ति को पुजारी कहा जा सकता है, पुजारिन नहीं, उसे उपासक, अर्चक, आराधक आदि विभिन्न शब्दों से सम्बोधित किया जा सकता है, पर पुरुष को स्त्रीवाची शब्दों से नहीं, एक व्यक्ति को बहुवचन में नहीं, वर्तमान काल की बात को अतीत और अनागत के अर्थ में नहीं। समभिरूढ नय शब्द नय से भी सूक्ष्म है। इस नय की दृष्टि में पुजारी का अर्थ पूजा करने वाला है। यद्यपि पूजा करने वालों को उपासक, आराधक, पूजक, अर्चक आदि अन्य नामों से भी सम्बोधित किया जा सकता है, लेकिन समभिरूढ नय शब्द के पर्यायवाची शब्दों को न स्वीकार कर प्रत्येक शब्द के प्रधान अर्थ को ही ग्रहण करता है। एवंभूतनय का विषय सबसे सूक्ष्म है, इस नय के अनुसार पूजा करने वाला पुजारी कहा जा सकता है, पर तभी जब वह पूजा की क्रिया कर रहा है। दुकान चलाते वक्त वह व्यक्ति व्यापारी कहलाएगा, पुजारी नहीं। यह नय भिन्न-भिन्न क्रिया की अपेक्षा भिन्न-भिन्न नाम देता है।

इस प्रकार ये सातों नयों के विषय यद्यपि एक-दूसरे से भिन्न दिखाई पड़ते हैं, फिर भी ये एक-दूसरे के विरोधी न होकर परिपूरक हैं, क्योंकि एक नय-दूसरे नय के विषय को गौण तो करता है, पर उसका निराकरण नहीं करता। एक-दूसरे के विषय को मुख्य-गौण भाव से स्वीकार करने वाले नय सुनय तथा परस्पर विरोधी नय दुर्नय कहलाते हैं। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकार ने प्रमाण-नय की विवेचना कर उत्तरवर्ती आचार्यों को मार्गदर्शन तो किया ही है साथ में आगम व्यवस्था का भी समन्वय किया है।

जीव के असाधारण भावों की विवेचना आधुनिक सन्दर्भ में

* डा. कमलेशकुमार जैन

जिस लोक में हम निवास करते हैं, वह लोक छह द्रव्यों से ठसाठस भरा है। वे छह द्रव्य हैं - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव द्रव्य चेतन रूप है, और शेष पाँच द्रव्य अचेतन रूप। यद्यपि छहों द्रव्यों की सत्ता पृथक्-पृथक् है और उन सबके कार्य भी स्वतन्त्र हैं तथापि सभी द्रव्य परस्पर सापेक्ष और एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

इन छहों द्रव्यों में जीव द्रव्य प्रमुख है, क्योंकि वही पुद्गल द्रव्य के निमित्त से स्वकर्मानुसार शरीर, वाणी, मन और श्वासोच्छ्वास तथा स्वर्ग-नरकादि में जाकर सांसारिक सुख, दुःख, जीवन और मरण प्राप्त करता है,[1] किन्तु उन सबका उपादान कारण तो जीव ही है। भव्य जीव अपने पुरुषार्थ से पुद्गल द्रव्य रूप कर्मों से छुटकारा पाकर मोक्ष की प्राप्ति भी कर सकता है।

भारतीय दर्शनों में जीव और आत्मा - दोनों एकार्थवाची है। जैनशास्त्रों में जीव का लक्षण उपयोगमय कहा गया है।[2] यह उपयोग दो प्रकार का है - ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। अर्थात् जीव में जानने और देखने की शक्ति है। इस जीव में पाँच भाव पाये जाते हैं - औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक। ये जीव के स्वतत्त्व/निजभाव है।[3] इनमें से प्रथम चार भाव कर्मसापेक्ष हैं, क्योंकि इनमें कर्मों की भूमिका निर्विवाद है। जैसे - औपशमिक भाव में कर्मों की उपशम रूप स्थिति, क्षायिकभाव में कर्मों की क्षय रूप स्थिति, क्षायोपशमिक भाव में कुछ कर्मों की क्षय और कुछ कर्मों की उपशम रूप मिश्र स्थिति तथा औदयिक भाव में कर्मों की उदय रूप स्थिति रहती है। किन्तु जीव के पञ्चम पारिणामिक भावों अथवा स्वाभाविक भावों अथवा जिन्हें हम असाधारण भाव भी कह सकते हैं, में कर्मों की किसी भी प्रकार की भूमिका नहीं रहती है। अतः ये भाव जीव के स्वतन्त्र अथवा कर्म निरपेक्ष भाव हैं।

ये पाँचों भाव जीव द्रव्य में ही पाये जाते हैं, अन्य पाँच द्रव्यों, यथा - पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल रूप द्रव्यों में नहीं। अतः ये पाँचों भाव सापेक्ष दृष्टि से जीव के असाधारण भाव हैं।

सांख्यदर्शन और वेदान्तदर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं तथा उसमें कोई परिवर्तन नहीं मानते हैं। सांख्यदर्शन तो ज्ञान, सुख, दुःख आदि परिणमनों को प्रकृति के ही मानता है। वैशेषिक, नैयायिक और मीमांसक ज्ञान आदि को आत्मा का गुण मानते हैं, किन्तु वे भी आत्मा को अपरिणमनशील मानते हैं। बौद्ध आत्मा को पूर्ण रूपेण क्षणिक अर्थात् भावों का प्रवाह मात्र मानते हैं - यत् क्षणिकं तत् सत्। किन्तु जैनदर्शन का सिद्धान्त है कि जिस प्रकार प्राकृतिक

१. शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्। सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च। - त. सू. 5/19-20

२. उपयोगो लक्षणम्। - तत्त्वार्थसूत्र 2/8

३. औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च। - त. सू 2/1

*निर्वाण भवन, बी. 2/249, लेन नं. 14, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी - 221005 फोन नं. 0542- 2315323

जड़ पदार्थ न तो सर्वथा नित्य है और न ही सर्वथा क्षणिक अर्थात् अनित्य है, अपितु उनमें नित्यता और अनित्यता - ये दोनों धर्म (गुण) सापेक्षदृष्टि से एक साथ पाये जाते हैं, वैसे ही आत्मा (जीव) एक साथ नित्य और अनित्य परिणमन रूप है। अत: ज्ञान-सुख आदि परिणाम आत्मा (जीव) के ही हैं और आत्मा के परिणामों की ही भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ उसके भाव हैं। ये भाव पाँच प्रकार के होते हैं - औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक (मिश्र), औदयिक और पारिणामिक।

औपशमिक भाव - आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारण विशेष से प्रकट न होना उपशम है और यह उपशम केवल मोहनीयकर्म का होता है। अत: मोहनीय कर्म के उपशम से आत्मा में होने वाले भाव औपशमिक भाव हैं।

क्षायिकभाव - कर्मों के आत्यन्तिक क्षय हो जाने पर आत्मा में होने वाले भाव क्षायिक भाव हैं।

क्षायोपशमिक (मिश्र) भाव - कुछ कर्मों का क्षय होने और कुछ कर्मों का उपशम होने पर आत्मा में होने वाले मिले भाव क्षायोपशमिक अर्थात् मिश्र भाव हैं।

औदयिकभाव - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से कर्मों के उदय में आने पर होने वाले आत्मा के भाव औदयिक भाव हैं।

इन चारों भावों के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि यत: आत्मा अमूर्तिक है, अत: अमूर्तिक के साथ मूर्त पुद्गल कर्मों का बन्धन सम्भव नहीं है, अतएव तत्-तत् रूप भावों का होना भी नहीं बनता है। किन्तु इसका समाधान यह है कि अनेकान्त से प्रत्येक अवस्था में आत्मा अमूर्तिक नहीं है। अपितु संसारावस्था में आत्मा कर्मबन्धन रूप पर्याय की अपेक्षा से कथञ्चित् मूर्तिक है और मुक्तावस्था में शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा आत्मा कथञ्चित् अमूर्तिक है।

पारिणामिक भाव - कर्मों की अपेक्षा के बिना ही आत्मा में स्वाभाविक रूप से होने वाले भाव पारिणामिक भाव हैं।

यहाँ पर यह बात ध्यातव्य है कि आत्मा चाहे संसारी हो या मुक्त, किन्तु उसमें उपर्युक्त पाँचों भावो में से कोई न कोई भाव अवश्य पाया जायेगा। जैसे सभी मुक्त जीवों में क्षायिक और पारिणामिक - ये दो भाव नियम से पाये जाते हैं। उसी प्रकार संसारी जीवों में भी कोई तीन भावों वाला, कोई चार भावों वाला और कोई पाँचों भावों वाला जीव होता है। एक या दो भावों वाला कोई भी संसारी जीव नहीं है।

जो ससारी भव्य जीव उपशम श्रेणी पर आरूढ़ है उस क्षायिक सम्यग्दृष्टि के पाँचों भाव होते हैं। जो उपशम सम्यग्दृष्टि है उसके क्षायिक भाव को छोड़कर शेष चार भाव होते हैं। संसारी अभव्य जीव के क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक - ये तीन भाव होते हैं।

औपशमिक आदि प्रथम चार भाव कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय की अपेक्षा औपशमिक आदि संज्ञा वाले हैं और परिणमनशील होने से मात्र पञ्चम भाव पारिणामिक भाव कहा जाता है। ये पारिणामिक भाव कर्मों की अपेक्षा नहीं रखते हैं, अपितु संसारी निगोदिया जीव से लेकर अष्ट कर्मों का नाश करने वाले लोकाग्रवासी सिद्धों के भी पाये जाते हैं। इन पारिणामिक भावों की प्राप्ति हेतु किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती है। ये भाव जीव की निजी योग्यता के कारण होते हैं।

यद्यपि जीव में अस्तित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व और अमूर्तत्व आदि अन्य भी अनेक कर्मनिरपेक्ष पारिणामिक भाव हैं[1]

1. असाधारणाश्चास्तित्वान्यत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वपर्यायवत्त्वासर्वगतत्वानादिसन्ततिबन्धनबद्धत्व-प्रदेशवत्त्वारूपत्वनित्यत्वादय:। - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार 2/7 वृत्ति

किन्तु ये जीव के असाधारण भाव नहीं हैं, क्योंकि ये भाव जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। किन्तु जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - ये तीन पारिणामिक भाव जीवातिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते हैं। अतः सापेक्ष दृष्टि से ये जीव के असाधारण भाव हैं।

न्यायशास्त्र में तीन प्रकार के दोष बतलाये गये हैं - अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। जो लक्षण इन तीन दोषों से रहित हो वही लक्षण निर्दोष लक्षण कहा जाता है। यहाँ जीव के जिन जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - इन तीन भावों को पारिणामिक भाव कहा गया है, उनमें से एक मात्र जीवत्व भाव सभी जीवों में पाया जाता है, अतः जीवत्व भाव असाधारण भाव कहा जायेगा। शेष दो भव्यत्व और अभव्यत्व भावों में से अभव्यत्व भाव अभव्य जीवों में पाया जाता है और भव्यत्व भाव भव्य जीवों में। लोकाग्रवासी सिद्धों में न अभव्यत्व भाव है और न भव्यत्व भाव। अर्थात् वे अभव्यत्व और भव्यत्व - इन दोनों भावों से रहित हैं।

न्यायशास्त्र के उपर्युक्त बिन्दुओं को ध्यान में रखकर यदि विचार किया जाये तो जीव के तीनों पारिणामिक भाव कर्म निरपेक्ष हैं, किन्तु असाधारण भाव नहीं हैं। अपितु उन तीनों में से मात्र जीवत्व भाव ही असाधारण भाव ठहरता है। शेष दो पारिणामिक भाव सम्पूर्ण जीवराशि में न पाये जाने से अव्याप्ति दोष से ग्रसित हैं, अतः इन्हें जीव के पारिणामिक भाव तो कह सकते हैं, किन्तु असाधारण भाव कदापि नहीं कहा जा सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि सिद्धों में भव्यत्व भाव को भूतनय की अपेक्षा स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु अभव्यत्व भाव को तो किसी भी स्थिति में जीव का असाधारण भाव स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह न तो भव्यों में रहता है और न सिद्धों में। अपितु मात्र अभव्य जीवों में रहता है।

श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने - इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास - इन चार प्राणों को तीनों कालों में धारण करने वाले को व्यवहार से जीव कहा है और निश्चय से जीव वह है, जिसमें चेतना पाई जाये - **णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स।**[1] यहाँ चेतना का अर्थ जीवत्व ही है। क्योंकि पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काय रूप तीन बल तथा आयु और श्वासोच्छ्वास - ये दस प्राण संसारी जीव ही धारण करते हैं, सिद्ध भगवान् नहीं। सिद्ध भगवान् में तो भावप्राण ही पाया जाता है। इसी का अपरनाम जीवत्व रूप पारिणामिक भाव है और यही जीव का एक मात्र असाधारण भाव है। क्योंकि जीवत्व भाव व्यापक है और शेष दो भाव व्याप्य।

जीव के पूर्वोक्त औपशमिकादि पाँचों भावों के क्रमशः दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं। इस प्रकार जीव के कुल तिरेपन भाव होते हैं,[2] जिनका शास्त्रों में विस्तार से वर्णन किया गया है।

जीव के जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - इन तीन पारिणामिक भावों में से अभव्य जीव के जीवत्व और अभव्यत्व - ये दो भाव पाये जाते हैं और भव्यजीव के जीवत्व और भव्यत्व - ये दो भाव पाये जाते हैं तथा मुक्त जीव के केवल जीवत्व भाव पाया जाता है। मुक्त जीवों के कर्मों का अत्यन्त अभाव होने के साथ-साथ अन्य किन-किन भावों का अभाव होता है, इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य उमास्वामी ने लिखा है - **'औपशमिकादिभव्यत्वानां च'**[3] अर्थात् मुक्त जीवों के औपशमिक आदि चार भावों का और पारिणामिक भावों में से भव्यत्व भाव का सर्वथा अभाव हो जाता है। और

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 3

२. सम्यक्त्वचारित्रे। ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च। ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च। गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतु-श्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः। जीवभव्याभव्यत्वानि च। - तत्त्वार्थसूत्र 2/2-7

३. तत्त्वार्थसूत्र, 10/3.

अभव्यत्व भाव तो उनके था ही नहीं, अतः उसके नाश होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार तीन पारिणामिक भावों में से एक मात्र जीवत्व भाव ही सिद्ध परमेष्ठी के पाया जाता है। अर्थात् यह जीवत्व भाव ही एक ऐसा भाव है जो संसारी और मुक्त - दोनों प्रकार के जीवों में पाया जाता है। अतः वस्तुतः जीवत्व भाव ही जीव का असाधारण भाव है।

आचार्य पूज्यपाद ने अपने सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रन्थ में जीव के पाँच भावों का विवेचन करने के पश्चात् लिखा है कि - '**त एते पञ्च भावा असाधारणा जीवस्य स्वतत्त्वम् उच्यन्ते**।'[१] अर्थात् वे ये पांच भाव असाधारण हैं, इसलिये जीव के स्वतत्त्व कहलाते हैं। इसी का अनुसरण करते हुये आचार्य अकलंकदेव अपने तत्त्वार्थवार्तिक नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि - '**ते भावा जीवस्य स्वतत्त्वम् - स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वम्, स्वो भावोऽसाधारणो धर्मः**।'[२] अर्थात् वे भाव जीव के स्वतत्त्व हैं। असाधारण भाव है।

आचार्य विद्यानन्द ने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार में लिखा है कि - '**तस्य (जीवस्य) स्वम् असाधारणं तत्त्वम् औपशमिकादयः पञ्च भावाः स्युः। .... प्रमाणोपपन्नास्तु जीवस्यासाधारणाः स्वभावाः पञ्चौपशमिकादयः**।'[३] इन पंक्तियों का अर्थ स्पष्ट करते हुये विद्वत्प्रवर पं. माणिकचन्द्र जी कौन्देय लिखते हैं कि - 'उस जीव के निज आत्मस्वरूप हो रहे औपशमिक आदिक पाँच भाव तो स्वकीय असाधारण तत्त्व हैं, जो अन्य अजीव माने गये पुद्गल आदि में नहीं पाये जाकर केवल जीव में ही पाये जायें, वे जीव के असाधारण भाव हो सकेंगे। प्रतिपक्षी कर्मों के उपशम होने वाले या कर्मों के क्षय से होने वाले अथवा उदय, उपशम आदि की नहीं अपेक्षा कर जीव द्रव्य के केवल आत्मलाभ से अनादि सिद्ध हो रहे पारिणामिक ये तीन भाव तो जीव के निज स्वरूप है ही। साथ मे गुण या स्वभावों के प्रतिपक्षी हुये कर्मों की सर्वघाती प्रकृतियों के उदय-क्षय और उपशम होने पर तथा देशघाति प्रकृतियो के उदय होने पर हो जाने वाले कुज्ञान, मतिज्ञान, चक्षुर्दर्शन आदि क्षायोपशमिक भाव तथा कतिपय कर्मों का उदय होने पर उपजने वाले मनुष्यगति, क्रोध, पुवेद परिणाम, मिथ्यात्व आदिक औदयिक भाव भी आत्मा के निज तत्त्व है। क्योंकि क्षायोपशमिक और औदयिक भावों का भी उपादान कारण आत्मा ही है। कर्मों के क्षयोपशम या उदय को निमित्त पाकर आत्मा ही मतिज्ञान, क्रोध आदि रूप परिणत हो जाता है। आत्मा के चेतना गुण की पर्याय मतिज्ञान, कुमतिज्ञान आदि है और आत्मा के चारित्रगुण का विभाव परिणाम क्रोध आदि है। केवल निश्चयनय द्वारा शुद्ध द्रव्य के प्रतिपादक समयसार आदि ग्रन्थों में भले ही मतिज्ञान, क्रोध आदि को परभाव कह दिया होय, किन्तु प्रमाणो द्वारा तत्त्वों की प्रतिपत्ति कराने वाले या अशुद्ध द्रव्य का निरूपण करने वाले श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, गोम्मटसार, राजवार्तिक आदि ग्रन्थों मे क्रोध, वेद आदि को आत्मा का स्व-आत्मक भाव माना गया है। अतः पाँचों ही भाव जीव के स्वकीय असाधारण तत्त्व हैं।'[४]

इसी तत्त्व चर्चा को विस्तार देते हुए पण्डित कौन्देय जी आगे लिखते हैं कि - 'जिन गुण या स्वभावों करके पदार्थ आत्मलाभ किये हुये हैं, वे उपजीवक माने जाते हैं और उन करके आत्मलाभ कर रहा पदार्थ उपजीव्य समझा जाता है। पाँच भाव जीव के उपजीवक हैं। अनादि और सादि सहभावी क्रमभावी पर्यायों को धारने वाला जीव तत्त्व है। शुद्ध परमात्मा द्रव्य हो रहे सिद्ध भगवानों में यद्यपि औपशमिक, क्षायोपशमिक और औदयिक - ये तीन प्रकार के भाव नहीं हैं। सिद्धों में पारिणामिक और क्षायिक भाव ही हैं। तथा बहुभाग अनन्तानन्त संसारी जीवों में क्षायिक भाव या औपशमिक भाव नहीं पाये जाते हैं, तो भी जिन जीवों में पाँचों भावों में से यथायोग्य दो ही, तीन ही, चारों ही अथवा क्षायिक

१. सर्वार्थसिद्धि 2/1, 252
२. तत्त्वार्थवार्तिक, 2/1/6
३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार 2/1 उत्थानिका (भाग 5, पृष्ठ 2)
४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार 2/1 उत्थानिका का हिन्दी अनुवाद (भाग 5, पृष्ठ 2)

सम्यग्दृष्टि पञ्चेन्द्रिय पुरुष जीव के ग्यारहवें गुणस्थान में पाँचों, यों जितने भी सम्भव पाये जाते हैं, सब जीव के तदात्मक हो रहे असाधारण भाव हैं। अतः प्रमाणों से युक्तिसिद्ध हो रहे पाँच औपशमिक आदि स्वभाव तो जीव के असाधारण स्वभाव हैं।[1]

यहाँ आचार्य विद्यानन्द ने एक शङ्का उपस्थित की है कि - ज्ञान, सुख, चैतन्य, सत्ता - इस प्रकार के भावप्राणों का धारण होने से सिद्धों के भी मुख्य जीवत्व प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार स्वीकार करने पर तो यह जीवत्व भाव क्षायिक हो जायेगा। क्योंकि अनन्तज्ञान आदिक तो ज्ञानावरण आदि कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुये क्षायिक हैं -

'ननु ज्ञानादिभावप्राणस्य धारणात् सिद्धस्य मुख्यं जीवत्वम् इत्यभ्युपगमे क्षायिकम् एतत् स्यात् अनन्तज्ञानादेः क्षायिकत्वात् ।'[2]

इस शङ्का का समाधान करते हुये आचार्य विद्यानन्द लिखते हैं कि - **'इति चेत् न, जीवनक्रियायाः शब्द-निष्पत्त्यर्थत्वात् तदेकार्थसमवेतस्य जीवत्वसामान्यस्य जीवशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वोपपत्तेः । अथवा न त्रिकाल-विषयजीवनापेक्षं जीवत्वम् । किं तर्हि चितत्वं न च तदायुरुदयापेक्षं न चापि कर्मक्षयापेक्षं सर्वदाभावात् ।'**[3]

अर्थात् उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि प्राणधारण रूप जीवन क्रिया तो व्याकरणशास्त्र द्वारा जीव शब्द की निष्पत्ति मात्र के लिये हैं। जहाँ ही जीव द्रव्य में प्राण धारण रूप क्रिया रहती है वहाँ ही जीवत्व नाम की जाति रहती है। जो दो धर्म एक द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से ठहरते हैं। उनका रूप- रस के समान परस्पर में एकार्थ समवाय सम्बन्ध माना गया है। अतः जीवत्व नामक सामान्य को जीव शब्द की प्रवृत्ति का निमित्तपना युक्ति से निर्णीत हो रहा है। जीवत्व जाति ही जीवत्व भाव है। रूढ़ि शब्दों में धात्वर्थक्रिया को केवल व्युत्पत्ति के लिये ही माना गया है। वस्तुतः आत्मा का चैतन्य गुण ही जीवत्व है। वह चेतना तो आयुष्य कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाली नहीं है। और वह चैतन्य कर्मों के क्षय की अपेक्षा को धारने वाले भी नहीं हैं। क्योंकि अनादि से अनन्तकाल तक निगोद अवस्था से लेकर सिद्धों तक में वह चेतना भाव सदा पाया जाता है।

सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि शास्त्रों में तीन प्रकार से जीव के असाधारण भावों का सयुक्तिक विश्लेषण प्राप्त होता है - १. यह कि द्रव्य की अपेक्षा औपशमिकादि पाँचों भाव मात्र जीव द्रव्य में पाये जाते हैं अजीव द्रव्य मे नही, अतः सभी पाँचों भाव जीव द्रव्य के असाधारण भाव हैं। २. यह कि औपशमिक आदि प्रथम चार भाव कर्म सापेक्ष हैं, जो सिद्ध भगवान् में न पाये जाने के कारण अव्याप्ति दोष से दूषित हैं। अतः कर्म निरपेक्ष पारिणामिक भाव मात्र ही जीव के असाधारण भाव हैं। ३. यह कि भव्य जीवों में अभव्यत्व भाव का अभाव है और अभव्य जीवों में भव्यत्व भाव का अभाव है तथा सिद्ध परमेष्ठी में अभव्यत्व और भव्यत्व - इन दोनों पारिणामिक भावों का भी अभाव है। अतः एक मात्र जीवत्व भाव ही जीव का असाधारण भाव है।

यद्यपि ऊपर से ऐसा प्रतीत होता है कि जीव के तीन प्रकार से असाधारण भाव कैसे हो सकते है ? और तीनों ही शास्त्रसम्मत भी। किन्तु सापेक्षदृष्टि से विचार करने पर कहीं भी और कोई भी प्रकार का परस्पर विरोध नहीं है। मात्र विश्लेषण करने की अपनी-अपनी दृष्टि है।

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार 2/1 उत्थानिका का हिन्दी अनुवाद (भाग 5, पृष्ठ 3)

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार 2/7 की वृत्ति

३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार 2/7 की वृत्ति

आचार्य उमास्वामी की दृष्टि में अकालमरण

* डा. श्रेयान्सकुमार जैन

संसार में जीव का जन्म-मरण शाश्वत सत्य है। जो जन्म लेता है, उसका मरण होना भी निश्चित है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय के अन्तिम सूत्र "**औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येय-वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः**" द्वारा स्पष्ट किया है कि उपपाद जन्म वाले देव और नारकी, चरमोत्तमदेहधारी और असंख्यातवर्ष की आयु वाले जीव अनपवर्त्य (परिपूर्ण) आयु वाले होते हैं। यह विधि पक्ष है इसका निषेध पक्ष होगा कि इनसे अवशिष्ट जीव अपवर्त्य (अपूर्ण) आयु वाले होते हैं अर्थात् इनसे अवशिष्ट कर्मभूमियां मनुष्य और तिर्यञ्च हैं, जिनका अकालमरण हो सकता है। यह पूर्ण सत्य है। क्योंकि आचार्य शिवार्य का कहना है -

पढमं असतवयणं सभूदत्थस्स होदि पडिसेहो ।
णत्थि णरस्स अकाल मच्चु त्ति जधेव मादीयं ॥[1]

जो विद्यमान पदार्थ का प्रतिषेध करना सो प्रथम असत्य है। जैसे कर्मभूमि के मनुष्य के अकाल में मृत्यु का निषेध करना प्रथम असत्य है।

इसका तात्पर्य है कि कर्मभूमिया जीवों की अकालमृत्यु होती है, जिसके अन्य शास्त्रों में भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, उन्हीं की प्रस्तुति की जा रही है-

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अकालमरण के निम्नकारण दर्शाये हैं -

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणं संकिलेसाणं ।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जदे आऊ ॥ 25 ॥
हिमअणलसलिलगुरुयर पव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं ।
रसविज्जजोयधारणं अणयपसंगेहिं विविहेहिं ॥ 26 ॥[2]

अर्थात् विषभक्षण से, वेदना की पीड़ा के निमित्त से, रुधिर के क्षय हो जाने से, भय से, शस्त्रघात से, संक्लेश परिणाम से, आहार तथा श्वास के निरोध से, आयु का क्षय हो जाता है और हिमपात से अग्नि से जलने के कारण, जल में डूबने से, बड़े पर्वत पर चढ़कर गिरने से, बड़े वृक्ष पर चढ़कर गिरने से शरीर का भंग होने से, पारा आदि रस के संयोग (भक्षण) से आयु का व्युच्छेद हो जाता है।

---

१. भ. आ. 830

२. भावपाहुड,

---

* रीडर, संस्कृत विभाग, दिगम्बर जैन कालिज, बड़ौत

इन कारणों के होने से ही असमय में जीव की मौत होती है यह सत्य है कि यदि सोपक्रमायुष्क अर्थात् संख्यातवर्षायुष्क मनुष्य व तिर्यञ्च को उपर्युक्त कारणों में से एक या अधिक कारण मिल जायेंगे तो अकाल मरण होगा और उक्त कारणों में कोई भी कारण नहीं जुड़ता है तो अकालमरण नहीं होता है। कारण का कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक अवश्य पाया जाता है। कारण कार्य सम्बन्ध को बताते हुए आचार्य कहते हैं - ''यस्मिन् सत्येव भवति असति तु न भवति तत्तस्य कारणमिति न्यायात्''[1] जो जिसके होने पर ही होता है और जिसके न होने पर नहीं होता, वह उसका कारण होता है ऐसा न्याय है। आचार्य विद्यानन्दि ने शस्त्र परिहार आदि बहिरंग कारणों का अपमृत्यु के साथ अन्वय-व्यतिरेक बताया है। इससे सिद्ध है कि खड्ग प्रहार आदि से जो मरण होगा वह अकालमरण होगा और इन शस्त्र आदि के अभाव में कदलीघात मरण नहीं होगा।

भास्करनन्दि आचार्य भी अपनी सुखबोधनाम्नी टीका में लिखते हैं - ''**विषशस्त्रवेदनादिबाह्यविशेषनिमित्त-विशेषणापवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते इत्यपवर्त्यः**''

अर्थात् विष, शस्त्र, वेदनादि बाह्य विशेष निमित्तों से आयु का ह्रस्व (कम) करना अपवर्त्य है अर्थात् बाह्य निमित्तों से भुज्यमान आयु की स्थिति कम हो जाती है। इसी सन्दर्भ में आचार्य विद्यानन्दि कहते हैं कि - ''**न ह्यप्राप्तकालस्य मरणाभावः खड्गप्रहारादिभिः मरणस्य दर्शनात्**'' अप्राप्तकाल अर्थात् जिसका मरणकाल नहीं आया ऐसे जीव के भी मरण का अभाव नहीं है। क्योंकि खड्गप्रहार आदि से मरण देखा जाता है।

श्रीश्रुतसागरसूरि ने तत्त्वार्थवृत्ति में अकालमरण की मान्यता की पुष्टि में कहा है - ''**अन्यथा दयाधर्मोपदेश-चिकित्साशास्त्रं च व्यर्थं स्यात्**'' अकालमरण को न मानने से दयाधर्म का उपदेश और चिकित्सा शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे।[2]

भट्टाकलंकदेव ने कहा है - ''बाह्य कारणों के कारण आयु का ह्रास होना अपवर्त है, बाह्य उपघात के निमित्त विष शस्त्रादि के कारण आयु वाले हैं और जिनकी आयु का अपवर्त नहीं होता वे अनपवर्त आयु वाले हैं। देव नारकी चरमशरीरी और भोगभूमिया जीव हैं, बाह्य कारणों से इनकी आयु का अपवर्तन नहीं होता है।''[3]

शस्त्रादि के बिना संक्लेश परिणामों या परिश्रम आदि के द्वारा भी आयु का ह्रास हो सकता है और वह भी कदलीघात मरण है जैसे किसी की आयु 80 वर्ष है, वह 40 वर्ष का हो चुका। परिश्रम या सक्लेश के कारण उसकी आयु कर्म के निषेक 75 वर्ष की स्थिति वाले रह गये, वह 75 वर्ष में मरण को प्राप्त होता है, तो वह भी अकालमरण ही कहा जायेगा। यदि एक अन्तर्मुहूर्त भी भुज्यमान आयु कम होती है, तो वह अकालमरण ही कहलाता है। यह निश्चित है कि कोई भी जीव आत्मघात करता है, तो वह भी अकालमरण को प्राप्त होता है किन्तु सभी अपवर्तन को प्राप्त होने वाले जानबूझकर अपवर्तन नहीं करते हैं, जैसे आहार निमित्तों से रसादिक रूप स्वयं परिणमन कर जाता है, इसी प्रकार अपवर्तन के सम्बन्ध में जानना चाहिये।

---

१. ध. पु. 12 पृ. 289

२. अकाल मृत्यु के अभाव में चिकित्सा आदि का प्रयोग किस प्रकार किया जायेगा क्योंकि दुःख के प्रतिकार के समान ही अकालमृत्यु के प्रतिकार के लिए चिकित्सा आदि का प्रयोग किया जाता है। श्लोकवार्तिक, पृ. 343

१. बाह्यप्रत्ययवशादायुषो ह्रासोऽपवर्तः। बाह्यस्योपघातनिमित्तस्यविषशस्त्रादेः सति सन्निधाने ह्रासोऽपवर्त इत्युच्यते। अपवर्त्यमायुर्येषां त इमे अपवर्त्यायुषः। नापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुष। एते औपपादिकादय उक्ता अनपवर्त्यायुषः न हि तेषामायुषो बाह्यनिमित्तवशादपवर्तोऽस्ति। तत्त्वार्थवार्तिक भाग 1, पृ. 426.

आगम में यह भी उल्लेख है कि आगामी भव की आयु का बन्ध हो जाने के बाद अकालमरण नहीं होता है। अगले भव की आयु का बन्ध हो जाने के बाद भुज्यमान आयु जितनी शेष रह गई है, उस आयु स्थिति के पूर्ण हो जाने पर ही जीव का मरण होगा। उससे पूर्व नहीं होगा।

आचार्य वीरसेन इसी बात को कहते हैं - **''परभवियाउए बद्धे पच्छा भुंजमाणाउअस्स कदलीघादो णत्थि जहा सरूवेण चेव वेदेदित्ति''**[1] अर्थात् परभव सम्बन्धी आयु के बंधने के पश्चात् भुज्यमान आयु का कदलीघात नहीं होता किन्तु जीव की जितनी आयु थी उतनी का ही वेदन करता है। यह नियम सभी जीवों के साथ लागू होता है किन्तु शास्त्रों में कदलीघात मरण वाले और कदलीघात मरण को प्राप्त न होने वाले जीवों के आयुबन्ध के नियम में अन्तर है। जिन जीवों की आयु का कदलीघात नहीं होता अर्थात् जो निरुपक्रमायुष्क जीव हैं, वे अपनी भुज्यमान आयु में छह माह शेष रहने पर आयुबन्ध के योग्य होते हैं, ऐसा स्वाभाविक नियम है। अत: उनकी आयु के अन्तिम छह मास के अतिरिक्त शेष भुज्यमान आयु परभविक आयुबन्ध के बिना बीत जाती है।[2] एक समय अधिक पूर्वकोटि आदि रूप आगे की सब आयु असंख्यातवर्ष आयु वाले मनुष्य व तिर्यञ्च भोगभूमिया होते हैं। असख्यातवर्ष की आयु वाले जीवों का कदलीघात मरण नहीं होता क्योंकि वे अनपवर्त्य निरुपक्रम आयु वाले होते हैं।

पण्डित श्री वंशीधर व्याकरणाचार्य इस विषय में कुछ पृथक् कथन करते हैं, उनका कहना है कि - 'वध्यमान आयु में उत्कर्षण अपकर्षण होते ही हैं किन्तु भुज्यमान सम्पूर्ण आयुओं में भी उत्कर्षण अपकर्षण करण हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि भुज्यमान तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु की उदीरणा सर्वसम्मत है।'

भुज्यमान देवायु और नरकायु की उदीरणा भी सिद्धान्त ग्रन्थों में बतलायी है - **''संक्रमणाकरणूणा णवकरणा होंति सव्व आऊणं ॥''**[3] अर्थात् एक संक्रमण करण को छोड़कर बाकी के बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशान्त, निधत्ति और निकाचना ये नव करण सम्पूर्ण आयुओं मे होते हैं।

किसी भी कर्म की उदीरणा उसके उदयकाल में ही होती है, कारण उदीरणा का लक्षण **''अण्णत्थठियस्सुदये संथुहणमुदीरणा हु अत्थि तं''**[4] उदयावलिबाह्यस्थितस्थितिद्रव्यस्यापकर्षणवशादुदयावल्यां निक्षेपणमुदीरणा खलु। उदयावली के द्रव्य से अधिक स्थिति वाले द्रव्य को अपकर्षण के द्वारा उदयावली में डाल देना उदीरणा है। उदयगत कर्म के वर्तमान समय से लेकर आवली पर्यन्त जितने समय हों उन सबके समूह को उदयावली कहा है। इससे यह निर्णय हुआ कि कर्म की उदीरणा उसके उदयकाल में ही हो सकती है। लब्धिसार में लिखा है कि - **''उदयाणमावलिम्हि य उभयाणं बाहिरम्मि खिवणइ।''**[5] अर्थात् उदयावली में उदयगत प्रकृतियों का ही क्षेपण होता है। उदयावली के बाहर उदयगत और अनुदयगत दोनों तरह की प्रकृतियों का क्षेपण होता है।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि जिस कर्म का उदय होता है उसी का उदयावली बाह्यद्रव्य उदयावली में दिया जा सकता है। इसलिए देवायु और नरकायु की उदीरणा क्रम से देवगति और नरकगति में होगी अन्यत्र नहीं। इससे स्पष्ट है कि भुज्यमान देवायु और नरकायु की भी उदीरणा हो सकती है।

---

१. ध. पु. 10 पृ. 237

२. णिरुवक्कमाउआ पुण छम्मासावसेसे आउअबंधपाओग्गा होंति। - धवल पु. 10, पृ. 234.

३. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 441,

४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 439

५. वही, गाथा 68

ऊपर के निषेकों का द्रव्य उदयावलीविषैं देना देवायु और नरकायु के सम्बन्ध में उदीरणा है न कि बाह्य निमित्त से मरण का नाम उदीरणा है।

देव, नारकी, चरमशरीरी और असंख्यातवर्षायुष्क (भोगभूमिया) जीवों की आयु विषशस्त्र आदि विशेष बाह्य कारणों से ह्रस्व (कम) नहीं होती इसलिए वे अनपवर्त्य हैं। इनका मरण जन्म से ही व्यवस्थित है किन्तु कर्मभूमिया जीवों का मरण व्यवस्थित नहीं है। क्योंकि जिस कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यञ्च ने अगले भव की आयु का बन्ध नहीं किया है, उसकी आयु का क्षय बाह्य निमित्त से हो सकता है। अकालमरण में भी आयुकर्म के निषेक अपना फल असमय मे देकर झड़ते हैं, बिना फल दिए नहीं जाते हैं। आचार्य अकलंकदेव तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय के 53 वें सूत्र व्याख्या करते हुए कहा है - ''आयु उदीरणा में भी कर्म अपना फल देकर ही झड़ते हैं, अतः कृतनाश की आशका उचित नही है। जैसे गीला कपड़ा फैला देने पर जल्दी सूख जाता है, और वही यदि इकट्ठा रखा रहे तो सूखने में बहुत समय लगता है, उसी प्रकार बाह्य निमित्तों से समय से पूर्व आयु के निषेक झड़ जाते हैं, यही अकालमृत्यु है।''[1]

सर्वज्ञ के उपदेश द्वारा अकालमरण सिद्ध हो जाता है -

आयुर्यस्यापि दैवज्ञैः परिज्ञाते हितान्तके ।
तस्यापि क्षीयते सद्यो निमित्तान्तरयोगतः ॥ - सारसमुच्चय६७ सारसमुच्चय६७

भविष्य के भाग्य-ज्ञाता द्वारा किसी (कर्मभूमिज) की आयु का हितान्त अर्थात् अमुक समय पर मरण होगा, ऐसा जान भी लिया जावे तो भी विपरीत निमित्तों के मिलने पर उसकी आयु का शीघ्र क्षय हो जाता है।

जैनाचार्यों ने सोपक्रमायुष्क (अपमृत्यु) जीवों का विस्तृत विचार आचार्य श्री उमास्वामी द्वारा लिखित ''**औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येय-वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः**'' सूत्र के आधार पर किया है। क्योंकि इस सूत्र मे अनपवर्त्य (निरुपक्रमायुष्क) जीवों का कथन होने से उनसे प्रतिपक्षी जीवों का प्रतिपादन क्रम प्राप्त है। आचार्य पूज्यपाद ने उक्त सूत्र की व्याख्या में लिखा है कि औपपादिक आदि जीवों की आयु बाह्य निमित्त से नहीं घटती यह नियम है तथा इनसे अतिरिक्त शेष जीवों का ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि कारण मिलेंगे तो आयु घटेगी और कारण न मिलेंगे तो आयु नहीं घटेगी।[2]

भास्करनन्दि भी इसी बात की पुष्टि करते हैं - 'औपपादिक से जो अन्य ससारी जीव हैं, उनकी अकालमृत्यु भी होती है।'[3] इसी क्रम में भट्टाकलंकदेव, आचार्य विद्यानन्दि, कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य वीरसेन आदि सभी आचार्यों ने आचार्य उमास्वामी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का समर्थन किया है।

आचार्य उमास्वामी के परवर्ती आचार्यों को अकालमरण के सन्दर्भ में विशेष दृष्टि मिली। उनसे प्राप्त

१. दत्त्वैव फलं निवृत्तेः नाकृतस्य कर्मणः फलमुपभुज्यते, न च कृतकर्मफलविनाशः अनिर्मोक्षप्रसङ्गात् दानादिक्रियारम्भाभावप्रसङ्गाच्च किन्तु कृतं कर्म कर्त्रे फलं दत्त्वैव निवर्तते वितताार्द्रपटशोषवत् अयथाकालनिर्वृत्तः पाक इत्ययं विशेषः। - तत्त्वार्थवार्तिक, 2/53 की टीका

२. न ह्येषामौपपादिकादीनां बाह्यनिमित्तवशादायुरपवर्त्यते इत्ययं नियमः इतरेषामनियमः। - स. सि. 2/53

३. तेभ्योऽन्ये तु संसारिणः सामर्थ्यादपवर्त्यायुषोऽपि भवन्तीति गम्यते।

तद्विषयसम्बन्धी बीज को पाकर विस्तार के साथ स्पष्ट किया। इस विषय में आचार्य उमास्वामी के अवदान को निश्चित रूप से सराहा गया है तभी तो परवर्ती आचार्यों ने इस विषय को विशेष रूप से प्रतिपादित किया है।

जैनागम की स्वतन्त्र देन नय पद्धति के आश्रय से भी उक्त विषय की सिद्धि की गई है।[1] अनेक पौराणिक कथनों पर भी भुज्यमान के अपकर्षण करण का स्पष्टीकरण हो जाता है।

लौकिक उदाहरणों से समझा जा सकता है। जैसे किसी व्यक्ति ने एक लालटेन किसी दुकानदार से रातभर जलाने हेतु किराये पर ली। दुकानदार ने उसमें रात भर जलती रहेगी इतना पर्याप्त तेल भर दिया और ग्राहक को कह भी दिया कि यह लालटेन रात्रिभर जलेगी किन्तु ग्राहक के घर वह रात्रि 12 बजे बुझ गई, उसका मेंटल नहीं टूटा और न वह भभकी किन्तु समय से पूर्व बुझ गई। दुकानदार से ग्राहक शिकायत करता है। दुकानदार परेशान होता है उसे असमय में बुझने का कारण नहीं पता होता। जब वह सावधानी से देखता है तो लालटेन के नीचे छोटा बारीक सुराक पाता है और वह असमय में बुझने के कारण को जान जाता है। ऐसा ही आयुकर्म के सम्बन्ध में है। बाह्यनिमित्त से आयुकर्म के निषेक समय से पूर्व झड़ जाते हैं और कर्मभूमिया मनुष्य तिर्यञ्च अपमृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बध्यमान आयु की स्थिति और अनुभाग में जिस प्रकार अपवर्तन होता है उसी प्रकार भुज्यमान आयु की स्थिति और अनुभाग में भी अपवर्तन होता है किन्तु बध्यमान आयु की उदीरणा नही होती और भुज्यमान आयु की उदीरणा होती है, जिससे अकालमरण (अपवर्तन) भी होता है इसमें कोई सशय / सन्देह को अवकाश नहीं है।

वर्तमान में चिन्तनीय है कि शास्त्रों में स्वकाल मरण और अकालमरण दोनों व्याख्यान पढ़ने के बाद भी कुछ लोग अकालमरण का निषेध क्यों करते हैं, उनका इसमें क्या उद्देश्य है ? मुझे तो सर्वमान्य शास्त्रीय विषय के निषेध में कोई विशेष प्रयोजन प्रतीत होता है। वह यह है कि लोग संसार, शरीर, भोगों से भयभीत न हों, और संयम-व्रत-चारित्र से दूर रहें। उन जैसे भोगविलासिता में लिप्त रहते हुए, अपने को धर्मात्मा कहला सकें या मानते रहें। पुरुषार्थहीन रहते हुए स्वयं भोगी रहें और दूसरों को भी अपने जैसा बनाये रखें जिससे स्वार्थसिद्धि में बाधा न रहे।

---

१. कालनयेन निदाघदिवसानुसारि पच्यमानसहकारफलवत्समया यत्र सिद्धि: अकालनयेन कृत्रिमोष्मपच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धि:।।
- प्रवचनसार,

बायोटेक्नालॉजी, जेनेटिक इंजीनियरी एवं जीवविज्ञान

* प्रो. डॉ. अशोक जैन,

वर्तमान युग विज्ञान का युग कहा जाता है। विभिन्न क्षेत्रों में नित नये आविष्कार किये जा रहे हैं। इन आविष्कारों से एक ओर जहाँ जीवनयापन करने के साधन सुलभ बना दिये हैं वहीं दूसरी ओर अनेक कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो गई हैं। विज्ञान के आविष्कारों का वास्तविक लक्ष्य तो वास्तव में प्रकृति के रहस्यों एवं क्रियाकलापों के बारे मे विस्तृत जानकारी हासिल कर उन्हें मानव एवं अन्य प्राकृतिक अवयवों के लिये लाभ पहुँचाना ही है।

विज्ञान की इन्हीं खोजों की शृंखला में सन् 1970-80 मे जीव विज्ञान एवं प्रोद्योगिकी के बीच अन्त:सम्बन्ध से एक नई शाखा का जन्म हुआ। इस प्रकार जैवप्रौद्योगिकी (Biotechnology) विगत चार-पाँच दशकों में विकसित जीवविज्ञान की नवीन लेकिन उपादेयता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण शाखा है। जैव-प्रौद्योगिकी विशुद्ध प्राकृतिक विज्ञान न होकर विज्ञान की विभिन्न शाखाओं, उपशाखाओं का सम्मिलित समन्वयित विज्ञान है। आलेख के पश्च भाग मे बायोटेक्नालॉजी की व्याख्या तत्त्वार्थसूत्र के सन्दर्भ में की गई है।

जैवतकनीक की उपयोगिता -

वर्तमान में विभिन्न क्षेत्रों में जैवतकनीकि (Biotechnology) का उपयोग विभिन्न कार्यों में किया जा रहा है। कुछ प्रमुख उपयोग निम्न हैं -

अ. किण्वन तकनीक (Fermentation Technology)

1. स्वास्थ्य : अनेक स्वास्थ्य रक्षक दवाओं, प्रतिजैविक (एण्टीबायोटिक्स), एन्जाइम, पॉलीसेकिराइडस, स्टीराइडस, एल्केललाइडस, इस तकनीक से निर्मित किये जा रहे हैं।

2. खाद्य एवं कृषि उद्योग : कई प्रकार के अम्लों के निर्माण, एन्जाइम्स एवं बायोपॉलीमर्स निर्माण में।

3. कृषि विज्ञान : नई किस्मों के उत्पादन एवं कीटनाशक दवाओं के निर्माण में।

4. ऊर्जा : इथेनॉल, एसीटोन, ब्यूटेनॉल, बायोगैस आदि में।

5. रासायनिक उद्योग : इथेनॉल, इथाइलीन, एसीटेलिडहाइड, एसीटोन, ब्यूटेनोल आदि के उत्पादन में।

ब. एन्जाइमेटिक अभियांत्रिकी (Enzymatic Engineering)

---

*. प्राध्यापक, वनस्पतिविज्ञान विभाग, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर,

1. खाद्य व कृषि उद्योग : आइसोग्लूकोन, ग्लूकोन।

2. ऊर्जा : इथेनॉल निर्माण में।

स. जीन अभियांत्रिकी (Genetic Engineerıng)

1. खाद्य एवं कृषि उद्योग : एकल कोशिका प्रोटीन्स

2. स्वास्थ्य : इन्टरफेरोन, हार्मोन्स, वेक्सीन, मोनोक्लोनल एण्टीबॉडी के निर्माण में।

जैव प्रौद्योगिकी एक आनुप्रायोगिक विज्ञान-

वास्तव में बायोटेक्नालॉजी विज्ञान की कई शाखाओं का सम्मिश्रण है। किसी एक शाखा के सहारे इसे समुचित रूप से नहीं समझा जा सकता है। कुछ प्रमुख शाखायें निम्न हैं -

सूक्ष्म जीव विज्ञान (Microbiology) : सूक्ष्मतम जीवों तक की शरीर संरचना एवं जीवन यापन।

आनुवंशिकी (Genetics) : जीवों का आनुवंशिक अध्ययन आदि।

ऊतक संवर्धन (Tıssu Culture)

रोधक्षमता विज्ञान (Immunology)

जैव रसायन विज्ञान (Bıochemıstry)

कोशिका जैविकी (Cell Bıology)

रसायन विज्ञान (Chemıstry)

जन्तु विज्ञान (Zoology)

वनस्पति विज्ञान (Botany)

शरीरक्रिया विज्ञान (Physıoloy)

कम्प्यूटर विज्ञान (Computer Scıence)

जैव प्रौद्योगिकी के विभिन्न चरण -

किसी सूक्ष्म जीव जन्तु अथवा पौधों की कोशिका की सहायता से बायोटेक्नालॉजी निम्न चरणों में सम्पन्न की जाती है :

1. विभेद चयन एवं सुधार (Strain choice and improvement): जिस किसी भी सूक्ष्म जीव-जन्तु अथवा पौधे को बहुतायत में प्राप्त करना होता है तो सर्वप्रथम उसी की कोशिका को प्राप्त किया जाता है।

2. बृहद्संवर्धन (Mass Culture) : उक्त प्रकार से प्राप्त कोशिका को विभिन्न विधियों से संवर्धित किया जाता है। इस उद्देश्य के लिये ऊतक संवर्धन, कोशिका जैविकी, अभियांत्रिकी आदि की जानकारी आवश्यक है।

3. कोशिका अनुक्रियाओं का इष्टतमीकरण (Optimisation of Cell resposes) किसी भी जीव की कोशिकायें कोई कार्य कुछ विशेष परिस्थितियों में ही कर सकती हैं जो कि उनके जीन प्रारूप (Genotype) पर निर्भर होता है अतः किसी यौगिक के अधिक उत्पादन के लिये आवश्यक वातावरण का होना अनिवार्य है जिसमें कि अधिकतम उत्पादन हो सके।

4. प्रक्रम संक्रियाएँ एवं उत्पाद प्राप्ति (Process operation & Recovery of products): जैव प्रौद्योगिकी उत्पाद सम्बन्धित प्रयोग प्रयोगशाला में किये जाते हैं व इस प्रक्रिया में प्रयुक्त उपकरण व संक्रियाएँ वृहद पैमाने पर उत्पादन प्राप्ति से अलग होते हैं। वृहद पैमाने पर उपयोग किये जाने वाले उपकरण व प्रक्रियाओं का दक्ष, सुरक्षित व नियंत्रित होना आवश्यक है।

बायोटेक्नालॉजी का क्रिया क्षेत्र एवं महत्त्व -

1. जीन अभियांत्रिकी (Genetic Engineernng)

अ. चिकित्साक्षेत्र में - अनेक चिकित्सीय उत्पादों जैसे मोनोक्लोनल प्रतिरक्षी, हार्मोन्सटीके, शिशुओं की विकृति, भ्रूण के लिंग, अवैध संतानों के माता-पिता व संदिग्ध अपराधियो का पता लगाया जा सकता है। यह विधि डी.एन.ए. फिंगर प्रिंटिंग कहलाती है।

ब. कृषि उपयोगिताएँ - पौधों को खरपतवारों, कीटों, वाइरस, क्रवम संक्रमण के विरुद्ध प्रतिरोधी बनाया जाता है। पौधों में नाइट्रोजन स्थरीकरण क्षमता का विकास किया जाता है।

स. पशु उपयोगिताएँ - पशुओं में जीन्स निवेशित करवाकर उनके दुग्ध उत्पादन, ऊन उत्पादन, वृद्धिदर, रोगरोधिता आदि क्षमताओं में वृद्धि की गई है।

द. पर्यावरणीय उपयोगिताएँ - स्यूडोमोनास प्यूटिडा के विभिन्न प्रभेदों से सुपरवग तैयार किया गया है। यह उत्पाद पेट्रोलिका उत्पाद के निम्नीकरण व औद्योगिक इकाइयों के बहिस्त्राण में उपस्थित पदार्थो के निम्नीकरण में उपयोगी है।

इ. औद्योगिक उपयोगिताएँ - अनेक महत्त्वपूर्ण औद्योगिक उत्पाद जैसे ग्लाइकॉल, एल्कोहाल, एथीलीन आदि तैयार किये गये हैं। इन उत्पादों का काफी औद्योगिकी महत्त्व है।

जीन अवधारणा : बायोटेक्नालॉजी को समझने के लिये न्यूक्लिक अम्ल एवं जीन्स के बारे में जानकारी होना आवश्यक है। मनुष्यों एवं जीव-जन्तुओं का शरीर अत्यन्त सूक्ष्म कोशिकाओं का बना होता है। इन कोशिकाओं में नामिक (न्यूक्लियस) होता है। नामिक के अन्दर गुणसूत्र (क्रोमोसोम्स) होते हैं। जिनमें कि न्यूक्लिक अम्ल होता है। ये अम्ल दो प्रकार के होते हैं :

1. डिआक्सीराइबो न्यूक्लिक अम्ल (डी एन ए)
2. राइबोन्यूक्लिक अम्ल (आर एन ए)

डी एन ए एक द्विक कुण्डलीय (Double helical) संरचना जो दो लड़ियों का बना होता है यह लड़िया एक अक्ष के चारों ओर सर्पिलाकार रूप से कुण्डलित रहती है। प्रत्येक लड़ी एक बहुन्यूक्लियोटाइड शृंखला होती है। प्रत्येक न्यूक्लियोटाइड में नाइट्रोजन युक्त क्षार, डिऑक्सीराइबोज शर्करा तथा फास्फोरिक अम्ल का एक 2 अणु होता है। पूर्व उपस्थित डी एन

ए अणुओं से नये डी एन ए अणुओं का संश्लेषण पुनरावृत्ति कहलाता है। डी एन ए पुनरावृत्ति के समय दोनों पॉलीन्यूक्लियोटाइड शृंखलाएँ अकुण्डलित होकर अलग हो जाती हैं। प्रथम हुई शृंखलाएँ एक-दूसरे की पूरक होती हैं।

जीन रासायनिक रूप से डी एन ए का बना होता है। डी एन ए की कितनी लम्बाई जीन बनाती है इसके लिये बेन्जन ने निम्न शब्द प्रतिपादित किये : 1. सिस्ट्रॉन, 2. रिऑन, 3. म्यूटॉन, 4. कॉम्प्लान, 5. रेप्लीकॉन, 6. ओपरॉन

वह तकनीक जिसमें एक प्रजाति के जीन को दूसरी प्रजाति के डी एन ए में प्रवेश करवाकर पुनर्योजी डी एन ए (Recombinent DNA) प्राप्त किया जाता है, जीन अभियांत्रिकी (Genetic Engineering) तकनीक कहलाती है। इस तकनीक का लक्ष्य व विधि सरल प्रतीत होती है परन्तु वास्तविक रूप में यह अतिसंवेदनशील एवं कठिन कार्य है। इस तकनीक का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है -

1. आवश्यक जीन की प्राप्ति : यूकेरियोटस की कोशिकाओं के सहस्र जीन्स में से आवश्यक जीन को खोजना व वियुक्त करना जीन अभियांत्रिकी का प्रथम चरण है।

2. जीन वाहम की प्राप्ति : उत्पाद बनाने के लिये चुने हुए जीन को किसी वाहम के साथ बांधना होता है क्योंकि वाहम में अन्य जीवों या आतिथेय (Host) में जाकर अपने डी एन ए को आतिथेय के डी एन ए के साथ जुड़कर या स्वतन्त्र रूपसे संश्लेषण करने की क्षमता होती है।

3. वाहक जीन के साथ आवश्यक जीन को जोड़ना

4. पुनर्योजी डी एन ए आतिथेय कोशिका में निवेशन।

5. पुनर्योजी डी एन ए अणुओं युक्त कोशिकाओं का चयन व गुणन - वे कोशिकायें जिनमें पुनर्योजी डी एन ए का प्रवेश संभव हो जाता है उनका चयन किया जाता है। चयनित कोशिकाओं का गुणन कर इनकी कई गुणा संख्या प्राप्त कर ली जाती है। इन्हें क्लोन कोशिकाएँ कहते हैं।

6. आवश्यक उत्पाद की प्राप्ति - वांछित जीन आतिथेय कोशिका में अपनी अभिव्यक्ति करता है। उदाहरणत: यदि किसी वैक्टीरिया में किसी विशिष्ट प्रोटीन के लिये जीन निवेशित किया जाता है तब वैक्टीरिया में उसी प्रकार का प्रोटीन संश्लेषित होने लगता है। इसी प्रकार यदि किसी पादप (पौधा) या जन्तु में रोगाणु प्रतिरोधी जीन का निवेशन कराया जाता है तब ऐसी स्थिति में पौधे या जन्तु रोग के प्रति प्रतिरोधी हो जाते हैं।

पूर्णशक्तता (Totipotency) - लैंगिक जनन विधि द्वारा वह बीज से पूर्ण पौधे का निर्माण हो सकता है व कायिक जनन विधि में पौधे का छोटा भाग भी पूर्ण पौधे का निर्माण कर सकता है। अर्थात् कोशिका में पुनर्जनित (Regenerate) होने की क्षमता प्राकृतिक रूप से पाई जाती है। प्रत्येक कोशिका में वे सभी जीन्स विद्यमान होते हैं जो सिद्धान्त रूप से पूर्ण पौधे के विकास के लिये आवश्यक होते हैं। सजीवों की प्रत्येक कोशिका में उस जीव के सभी लक्षणों को उत्पन्न करने की क्षमता को ''टोटीपोटेन्सी'' कहते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के सन्दर्भ में बायोटेकनालॉजी -

तत्त्वार्थसूत्र के अनेक सूत्रों की व्याख्या करने पर बायोटेकनालॉजी से सम्बन्धित होने का भान होता है। जैसे कि द्वितीय अध्याय में कहा गया है -

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ 12 ॥

अर्थात् संसार में त्रस एवं स्थावर दो प्रकार के जीव हैं। पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक तक के जीव स्थावर हैं। वर्तमान में विज्ञान केवल त्रस एवं वनस्पतिकायिकों को ही जीव मानता है।

इन वनस्पतिकायिक जीवों में मूल से उत्पन्न होने वाले अदरक, हल्दी आदि, अग्रबीज - कलम से उत्पन्न होने वाले गुलाब आदि, पर्व से उत्पन्न होने वाले गन्ने आदि, कन्द से उत्पन्न सूरण आदि, स्कन्ध से उत्पन्न होने वाले ढाक आदि, बीज से उत्पन्न होने वाले गेंहू, चना आदि हैं। तथा सम्मूर्च्छन, अपने आप उत्पन्न होने वाली घास आदि वनस्पतिकायिक प्रत्येक तथा साधारण दोनों प्रकार के होते हैं। जैसा कि बायोटेक्नालॉजी के सन्दर्भ में वर्णित है कि इन पौधों की प्रत्येक कोशिका में वृद्धि करने एवं अपने जैसा प्रतिरूपी बनाने की क्षमता होती है जिसे टोटीपोटेन्सी कहा जाता है।

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥ 22 ॥

अर्थात् वनस्पतिकायिक तक के जीवों के एक अर्थात् प्रथम इन्द्रिय होती है।

जन्म के भेदों में कहा गया है -

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ 31 ॥

अर्थात् सम्पूर्ण विश्व के अनन्तानन्त जीव मुख्यतः तीनरूप से जन्म ग्रहण करते है - 1. सम्मूर्च्छन, 2. गर्भ एवं 3. उपपाद।

बायोटेक्नालॉजी के सिद्धान्तों के आधार पर सम्मूर्च्छन एव गर्भ जन्म की व्याख्या की जा सकती है। सम्मूर्च्छन जन्म का अभिप्राय है कि चारों ओर से पुद्गलों का ग्रहण कर अवयवों की रचना होना। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीवों का जन्म सम्मूर्च्छन ही होता है। जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी प्रत्येक कोशिका स्वय में समस्त गुणों से परिपूर्ण होती है एवं अपने जैसी शरीर रचना बनाने में सक्षम होती है। जैव अभियान्त्रिकी विधियों से पौधों के किसी भी भाग की कोशिका लेकर उसे उचित माध्यम में रखकर उसका संवर्धन किया जाता है एव कुछ समय पश्चात् ही ऐसी अनेक कोशिकाओ का समूह बन जाता है जिसे 'केलस' कहा जाता है। इसी केलस से नया पौधा तैयार हो जाता है। कई प्रकार के जन्तुओं को भी इसी तकनीक से विकसित किया जा चुका है। सन् 1952 मे मेंढक के तीस क्लोन तैयार किये गये। सत्तर के दशक में खरगोशों तथा चूहों के क्लोन तैयार किये गये एवं नब्बे के दशक में भेड़ का क्लोन तैयार कर लिया गया। एडिनवर्ग (स्काटलैण्ड) के 'रोसलिन इन्स्टीटयूट' में वैज्ञानिक डा. इआन विलमर ने सन् 1996 में 'डॉली' के रूप मे एक पूर्ण स्वस्थ भेड़ का क्लोन तैयार कर दिया।

पशुओं के क्लोन तैयार करने की प्रक्रिया में सर्वप्रथम मादा के शरीर में से एक स्वस्थ अण्डाणु लिया जाता है इस अण्डाणु में से न्यूक्लिअस निकाल कर कोशिका को सुरक्षित रख लिया जाता है। जिस जीव का क्लोन तैयार करना होता है उसकी त्वचा की कोशिका लेकर उसमें से न्यूक्लिअस को अलग कर लिया जाता है। इस जीव को हम DonorParent कहते हैं। इस न्यूक्लियस के पूर्व में सुरक्षित रखी कोशिका (न्यूक्लियसविहीन) में प्रतिस्थापित कर दिया जाता है। इस प्रकार एक नयी कोशिका तैयार हो जाती है । यह नयी कोशिका द्विगुणन द्वारा भ्रूण में परिवर्तित हो जाती है। इस भ्रूण को किसी मादा के गर्भाशय में स्थित कर दिया जाता है जहाँ वह सामान्य रूप से विकसित होने लगता है। इस भ्रूण द्वारा उत्पन्न नवजात शिशु में गुणसूत्र (Chromosoms) वे ही होते हैं जो कि डोनर पेरेन्ट के होते हैं। इसकी आकृति भी डोनर पेरेन्ट जैसी ही होती है एवं लिंग भी वही होता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि डोनर पेरेन्ट एवं क्लोन दोनों ही अलग-अलग अस्तित्व के स्वतंत्र जीव हैं । चूंकि डोनर के शरीर की प्रत्येक कोशिका स्वयं में परिपूर्ण है अत: उसका न्यूक्लियस अलग होकर एक स्वतंत्र एवं परिपूर्ण इकाई के रूप में विकसित हो गया । क्लोन का आयुष्य, भावनायें एव क्रियाविधियाँ भी अपने डोनर से भिन्न होगी । चूंकि क्लोन बनाने के लिये भ्रूण के गर्भाशय में रखा गया है अत; जैनधर्म के आधार पर इस प्रकार के पचेन्द्रिय जीवों के गर्भ जन्म की पुष्टि होती है । शेष चतुरिन्द्रिय तक के जीवों के क्लोन तैयार करने के लिये उचित वातावरण ही काफी होता है अतः उनके सम्मूर्च्छन जन्म की पुष्टि होती है ।

लिंग (वेद) के लिये तत्त्वार्थसूत्र में निम्न वर्णन है -

नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥ 50 ॥

अर्थात् नारक और सम्मूर्च्छन नपुंसक होते हैं । चूंकि विज्ञान अभी नरकगति की विवेचना नहीं कर सका है अत: यहाँ केवल सम्मूर्च्छन जीवो की ही चर्चा करेंगे । वनस्पतिकायिक जीवो में मनुष्यो अथवा पशुओं जैसा लिंग भेद नहीं होता है । उनकी बाह्य आकृति को देखने पर नर अथवा मादा की पहिचान नहीं हो पाती है । जिन वनस्पतियों मे परागण से निषेचन होता है उनमें अवश्य पुष्प आने के पश्चात् कुछ समय के लिये जननांग विकसित हो जाते है जो कि परागण एवं निषेचन के तुरन्त पश्चात् नष्ट हो जाते हैं अर्थात् यह एक अस्थायी एवं अल्पकालिक क्रिया है । स्थायी जननागों का अभाव होने से उन्हें नर अथवा मादा की श्रेणी में न रखकर नपुसकवेद ही कहा गया है ।

आठवें अध्याय में नामकर्म के भेद इस प्रकार बताये गये हैं -

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघू-पघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेय-यशःकीर्ति सेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ 11 ॥

अर्थात् गति, जाति, शरीर, अगोपांग, निर्माण, बन्धन, सघात, संस्थान, सहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति तथा प्रतिपक्षभूत प्रकृतियों के साथ अर्थात् साधारण शरीर और प्रत्येक शरीर, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दु:स्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त और पर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयश:कीर्ति और यश:कीर्ति एवं तीर्थंकर ये बयालीस नाम कर्म के भेद हैं ।

उक्त में से कुछ भेदों को बायोटेक्नालॉजी के अनुसार स्पष्ट किया जा सकता है । जैसा कि पहिले बताया गया है कि जीव कोशिका के नाभिक (न्यूक्लियस) में क्रोमोसोम्स में जीन्स होते हैं । इन जीन्स की उपस्थिति, परिमाण, व्यवस्था आदि से ही शरीर रचना का निर्धारण होता है । स्वस्थ्य शरीर वाले मनुष्यों में जहाँ यह जीन्स सुव्यवस्थित होते हैं वहीं यदि इन जीन्स की स्थिति बदल जावे तो शरीर में कई विकृतियाँ पैदा हो जाती हैं । पूरे शरीर में हजारों प्रकार की संरचना के लिये अलग-अलग जीन्स होते हैं एक मामूली से परिवर्तन से ही आगोपाग की रचना, व्यवहार, शक्ति, स्वर, स्पर्श, गन्ध, वर्ण आदि में परिवर्तन आ सकते हैं । शरीरनामकर्म, अंगोपांग नामकर्म, संस्थान नामकर्म, निर्माणनामकर्म, बन्धननामकर्म, संघातनामकर्म, संस्थाननामकर्म, संहनननामकर्म, स्पर्शनामकर्म, रसनामकर्म, गन्धनामकर्म एवं वर्णनामकर्म आदि को यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखे तो प्रतीत होता है कि यह सब नामकर्म द्वारा शरीर में जीन्स स्थापित एवं प्रभावित होते हैं ।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जैनधर्म के अनुसार तो जीव के शरीर की रचना कर्मों के अनुसार होती है फिर बायोटेक्नालॉजी अथवा जीन अभियांत्रिकी के द्वारा शरीर रचना की अवधारणा की किस प्रकार व्याख्या की जावेगी ? क्योंकि बायोटेक्नालॉजी में प्रयास होता है कि मनचाहे गुण शरीर में प्रविष्ट करा सकें। यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि जैनधर्म के अनुसार भी कर्मों में उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण तथा संक्रमण संभव है। जिसके कारण कर्मों में परिवर्तन भी किया जा सकता है। पुरुषार्थ द्वारा कर्मों की निर्जरा समय से पहिले भी की जा सकती है। कर्मों की काल मर्यादा एवं तीव्रता को घटाया, बढ़ाया जा सकता है तथा कर्म एक भेद से सजातीय दूसरे भेद में भी बदल सकता है। उदय में आ रहे कर्मों के फल देने की शक्तिको कुछ समय के लिये दबाया जा सकता है तथा कालविशेष के लिये उन्हें फल देने में अक्षम भी किया जा सकता है इसे उपशम कहते हैं। कर्मों का विपाक द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के अनुसार होता है। यह विपाक निमित्त के आश्रित है एवं उसी के अनुसार फल देता है।

शरीर एवं व्यक्तित्व के निर्माण में आनुवंशिकता, वातावरण, भौगोलिकता, पर्यावरण अत्यन्त प्रभाव डालते है अत: नामकर्म के अलावा इन सभी स्थितियों का भी अत्यन्त महत्त्व होता है। अत: जेनेटिक इंजीनियरी से विभिन्न प्रकार के गुणों का समावेश करना जीन्स के सिद्धान्त के अनुसार संभव है एवं कर्मसिद्धान्त के अनुसार भी कर्मों में संक्रमण संभव है।

अत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्त्वार्थसूत्र के अनेक अध्यायों के सूत्रों में वर्णित शरीर एवं जीवों की स्थिति आधुनिक बायोटेक्नालॉजी एवं जेनेटिक इंजीनियरी से साम्य प्रतीत होती है। फिर भी विज्ञान अभी भी अनेक स्थितियों को स्पष्ट नहीं कर सका है जैसे कि आत्मा एवं उसका शरीर परिवर्तन आदि।

सन्दर्भ पुस्तक सूची

1. स्वतंत्रता के सूत्र (मोक्षशास्त्र) आचार्य कनकनन्दी महाराज, धर्मदर्शनविज्ञान शोध संस्थान बड़ौत,
2. बायोटेक्नालॉजी - एस. एस. पुरोहित एवं महेन्द्र असीज एग्रोबायोस प्रकाशन, जोधपुर
3. ए प्रेक्टीकल मेनुएल फॉर प्लाण्ट बायोटेक्नालॉजी - जी. तेजोवनी, विमला वाय. एवं रेखा भदौरिया, सीबीए प्रकाशन, नई दिल्ली
4. क्लोनिंग तथा कर्मसिद्धान्त - डॉ. अनिलकुमार जैन, आस्था और अन्वेषण, ज्ञानोदय विद्यापीठ, भोपाल, पृष्ठ 1-10.

भूगोल एवं खगोल : तत्त्वार्थसूत्र के सन्दर्भ में

* पं. अभयकुमार जैन

करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग को अपने में समाहित करने वाला, दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य/प्रिय तत्त्वार्थसूत्र/मोक्षशास्त्र एक बहुमूल्य व बहुमान्य कृति है। इसमें जिनागम के मूलतत्त्वों को 357 सूत्रों में निबद्ध किया गया है। संस्कृतभाषा में निबद्ध सूत्रशैली का यह आद्य सूत्र ग्रन्थ है ओर इसके रचयिता आचार्य श्री उमास्वामी संस्कृतभाषा के आद्य सूत्रकार हैं। इसमें जैनधर्म का सार है।

जितनी विस्तृत टीकाएँ इस ग्रन्थराज पर लिखी मिलती हैं उतनी अन्य किसी ग्रन्थ पर नहीं। आचार्य श्री उमास्वामी के पश्चात्-वर्ती अनेक आचार्यों ने इस पर अनेक टीकाएँ लिखी, जिनमें आचार्य पूज्यपाद की तत्त्वार्थवृत्ति जिसका अपर नाम सर्वार्थसिद्धि है। इसके बाद श्रीअकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक एव आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक नामक विस्तृत टीकाएँ लिखीं। श्वेताम्बरों में भी तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, आचार्य सिद्धसेन गणि कृत एव आचार्य हरिभद्रसूरिकृत विशेष प्रसिद्ध भाष्य उपलब्ध होते हैं। श्वेताम्बराभिमत तत्त्वार्थसूत्र में कुल 344 सूत्र हैं, जिनमें शाब्दिक भेद होने के साथ-साथ कहीं-कहीं सैद्धान्तिक दृष्टि से भी मतभेद है।

सूत्र रूप में ग्रथित इस ग्रन्थराज में जैनाचार-विचार, सिद्धान्त, न्याय, दर्शन आदि के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान का विषय भी सूत्र रूप में ग्रथित है। इसमें जीवविज्ञान, प्राणिविज्ञान, भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, भूगोल-खगोल विज्ञान आदि का भी कथन है। जिसका विस्तार ही परवर्ती टीकाओं में उपलब्ध होता है।

तत्त्वार्थसूत्र एवं जैनवाङ्मय में भूगोल-खगोल - तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे और चौथे अध्याय में जैन भूगोल-खगोल का संक्षेप में विवेचन है। जिसका विस्तार परवर्ती आचार्यों की टीकाओं में हुआ है। अनेक आचार्यों ने जैन भूगोल-खगोल के परिचायक विस्तृत ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है, जिनमें आचार्य श्री यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ती और आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का त्रिलोकसार प्रमुख है। अन्य स्वतन्त्र रचनाओं में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि उल्लेखनीय हैं। पुराणकारों ने भी अपनी-अपनी रचनाओं में जैनाभिमत भूगोल-खगोल का विवेचन प्रसङ्गानुसार किया है।

जैनभूगोल-खगोल करणानुयोग का विषय है - आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है - 'लोक-अलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन और चतुर्गति के स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए करणानुयोग दर्पण की तरह है।' इस अनुयोग में प्रतिपादित समस्त विवरण इन्द्रियज्ञानगम्य न होने से आस्था के विषय हैं, क्योंकि स्वर्ग-नरक तो परोक्ष हैं और द्वीप-समुद्र आदि पदार्थ दूरवर्ती और अत्यन्त प्राचीन हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि खगोलीय

* कानूनगो वार्ड, बीना - फोन 07580 - 224803

पिण्ड भी दुरार्थ हैं। सभी केवलीगम्य हैं। ध्यानस्थ श्रमण संस्थानविचय धर्मध्यान में इनके स्वरूप, विस्तार आदि के विषय में चिन्तवन किया करते हैं।

दो मान्यताएँ - भूगोल-खगोल विषय में दो प्रमुख मान्यताएँ वर्तमान में प्रचलित हैं - क. आधुनिक मान्यता और ख. प्राचीन।

क. आधुनिक मान्यता - आधुनिक भूगोल का समावेश होता है, जिसे आज के वैज्ञानिकों ने बाह्य परिदृश्य का निरीक्षण, परीक्षण और विश्लेषण कर प्रयोगों के आधार पर प्रमाणित किया है और जिसके आधार पर आधुनिक विश्व के सभी कार्य-कलाप (समय-निर्धारण, सभी आर्थिक व्यापारिक क्रियाएँ, यातायात-परिवहन, दूरदर्शन, दूरसंचार, उपग्रह-प्रक्षेपण आदि) संचालित हैं।

ख. प्राचीन मान्यता - इसमें भूगोल-खगोल का वह परिदृश्य है, जिसे हमारे आचार्यों भगवन्तों ने सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि के अनुसार वाङ्मय में लिपिबद्ध किया है। जैनागम के करणानुयोग प्रतिपादक शास्त्रों में/पुराणों में हमें इसके रूप-स्वरूप सुनने-पढ़ने को मिलते हैं। यही जैन भूगोल है। इसमें त्रिलोक का सविस्तार वर्णन है। त्रिलोक की स्थिति-विस्तार, विभाग, क्षेत्रफल, घनफल, स्वर्ग-नरक, द्वीप-समुद्र, कुलाचल, पर्वत, नदियाँ, कृत्रिमाकृत्रिम रचनाएँ, काल-परिवर्तन, तदनुसार देव-नारकियों और भोगभूमिज कर्मभूमिज/कुभोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों का पर्यावरण अनुसार क्रियाकलाप आदि का वर्णन इसका प्रतिपाद्य है। इनके चर-अचर ज्योतिष्क देवों का वर्णन भी इसी का खगोलीय विवेचन प्रस्तुत करता है। अस्तु, जैन भूगोल-खगोल का क्षेत्र/विषय बहुत व्यापक है, हृदयावर्जक और विस्मयकारी है।

आधुनिक भूगोल - आधुनिक भूगोल सौर्यमण्डल को लेकर सृष्टि की विवेचना करता है। एक सूर्य और उसके ग्रहों, उपग्रहों, क्षुद्र ग्रहो, पुच्छल ताराओं और उल्काओं के समूह को और सौर-परिवार या सौर्यमण्डल कहते हैं। प्रत्येक सौर्यमण्डल का केन्द्र सूर्य होता है। सभी ग्रह अपने-अपने उपग्रहों के साथ इसके चारो ओर चक्कर लगाते है। हमारे सौर-परिवार की उत्पत्ति 4.5 - 5 अरब वर्ष पूर्व हुई है।

इसके अनुसार प्रमुख मान्यताएँ हैं -

1. ब्राह्मण्ड में सौर्यमण्डल का जनक सूर्य है।
2. इसके 9 ग्रह और 31 उपग्रह हैं।
3. सूर्य एक गरम गैसीय स्वत: प्रकाशित पिण्ड है।
4. प्राणमूलक ऊर्जा का उद्गम और अनन्तशक्ति का स्रोत भी यही है।
5. इसी से पृथ्वी को ताप व प्रकाश प्राप्त होते हैं।
6. पृथ्वी सूर्य के 9 ग्रहों में से एक है।
7. पृथ्वी के व्यास से सूर्य का व्यास 109 गुना बड़ा है।
8. वह पृथ्वी से 15 करोड़ कि. मी. दूर है।
9. इसकी बाहरी सतह का ताप 600 सैल्सियस है।

10. सूर्य-प्रकाश को पृथ्वी तक आने में 8 मिनट लगते हैं।

11. सूर्य एक तारा है, पृथ्वी एक ग्रह है।

12. पृथ्वी सूर्य प्रकाश से प्रकाशित होती है।

13. सूर्य का पदार्थ बहुत हल्का है।

14. सूर्य गैसरूप है जबकि पृथ्वी ठोस है।

15. सूर्य का भ्रमण बहुत धीमा है, जबकि पृथ्वी धुरी पर बड़े वेग से घूम रही है।

सौर परिवार का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रह पृथ्वी है, क्योंकि बुद्धि युक्त मानव जीवन इसी पर पाया जाता है। अन्य प्राणिजगत का अस्तित्व भी इसी पर है। गेंद के आकार का ठोस पिण्ड है, जो ध्रुवों पर कुछ चपटा है। शुक्र और मंगल का एक चक्कर लगा लेती है। पृथ्वी की दैनिक गति और वार्षिक गति के फल स्वरूप ही रात-दिन और ऋतुपरिवर्तन होते हैं। इसके चारों ओर वायुमण्डल है। जिसमें अनेक गैसें हैं। भारी गैसें नीचे की ओर और हल्की गैसें ऊपर की ओर हैं। जलवाष्प का अस्तित्व भी वायुमण्डल में पाया जाता है।

इसी पृथ्वी ग्रह पर ही एशिया, यूरोप, आफ्रीका, आस्ट्रेलिया, उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका - ये 6 महाद्वीप तथा आन्ध्र, प्रशान्त, हिन्द, उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुव महासागरों का विस्तार है। धरातल विषम हैं। कहीं पर्वत, हिमशिखर, पठार, मैदान मरुस्थल और सघन वन हैं, तो कहीं अथाह महासागर, सागर, झीलें और छोटी-बड़ी नदियाँ हैं। नानाविध वनस्पति और नानारंग-रूप, प्रकृति तथा भौगोलिक पर्यावरण के अनुसार क्रिया-कलापों में सलग्न हैं। यही दृश्यमान जगत ही आज का विश्व है। आधुनिक भूगोल में इसी का वर्णन है।

जैन भूगोल - अनन्त आकाश के मध्य लोक की स्थिति को स्पष्ट करते हुए लोक के आकार, विस्तार, क्षेत्रफल, विभाग आदि का विशद विवेचन है। यह लोक जीवादि छह द्रव्यों से परिव्याप्त है, जितने आकाश में छहों द्रव्य हैं, वही लोक है। यह लोक अनादि है, अनिधन, अकृत्रिम है। यह किसी के द्वारा बनाया नहीं गया और न ही किसी के द्वारा संचालित या नाश को प्राप्त होता है।

अनन्त अलोकाकाश के बीचों-बीच निराधार सींके की तरह लोक की स्थिति है। दोनों पैर फैलाकर कमर पर हाथ रखे पुरुष के आकार के समान लोक का आकार है। यह सम्पूर्ण लोक ऊपर-नीचे 14 राजू ऊँचा है। यह तीन भागों में विभक्त है - ऊर्ध्व, मध्यम और अधोलोक। इसे घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय इस प्रकार घेरे हैं कि जैसे वृक्ष छाल से घिरा होता है। इनमें अधोलोक वेत्रासन, मध्यमलोक थाली व ऊर्ध्वलोक मृदंग के आकार जैसा है। इसका घनफल 343 घनराजू है।

लोक की चौड़ाई नरकों के नीचे पूर्व-पश्चिम सात राजू है। ऊपर क्रम से घटकर सात राजू की ऊँचाई पर मध्यम लोक में एक राजू ही चौड़ा है। इसके ऊपर फैलता हुआ यह लोक साढ़े दस राजू की ऊँचाई पर ब्रह्मलोक स्वर्ग के अन्त में इसकी चौड़ाई पाँच राजू एवं फिर घटते हुए सिद्धालय के ऊपर एक राजू मात्र है। उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात राजू मोटा है। नीचे ऊपर लोक की ऊँचाई चौदह राजू है। इसमें जीवादि छहों द्रव्य हैं तथा इसके असंख्यात प्रदेश हैं।

ओखली में जैसे एक पोली बांस की नली खड़ी कर दी हो, वैसे ही लोक के बीच में त्रसनाली है। यह 14 राजू ऊँची एवं सर्वत्र एक राजू लम्बी-चौड़ी है। इसी में त्रस जीवों का निवास रहता है। लोक का निचला हिस्सा अधोलोक है। जो सात राजू ऊँचा है, जहाँ सातों नरकों में नारकी जीव हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी के पङ्कभाग में असुरकुमारों के भवन और राक्षसों के आवास हैं। शेष भवनवासी और व्यन्तरदेवों के आवास खरभाग में हैं। लोक के ऊपरी भाग को ऊर्ध्वलोक कहते हैं। यह 40 योजन कम सात राजू ऊँचा है। इसमे वैमानिक देवों का निवास तथा शिखर पर सिद्धालय है।

अवस्थित क्षेत्र - त्रिलोक के अन्तर्गत दो प्रकार का क्षेत्र है - अवस्थित एवं अनवस्थित। जहाँ षट्काल परिवर्तन नहीं होता है, सदा एक-सी वर्तना रहती है वह अवस्थित है। अधोलोक एवं ऊर्ध्वलोक में अवस्थित क्षेत्र हैं। मध्यमलोक में भी अधिकांश भाग अवस्थित होता है। इनमें भोगभूमि, कुभोगभूमि एवं कर्मभूमि के म्लेच्छखण्ड में बिल्कुल ही परिवर्तन नहीं होता।

अनवस्थित क्षेत्र - भरत और ऐरावत के 5-5 आर्यखण्डों में ही उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के 6-6 काल परिवर्तन होते हैं। तदनुसार हानिवृद्धि और परिवर्तन होते रहते हैं। अत: ये क्षेत्र अनवस्थित हैं।

आर्यखण्डों में प्रलय एवं कायाकल्प - अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालचक्र के अनुसार भरत और ऐरावत क्षेत्रो के आर्यखण्डों में षट्काल परिवर्तन होता है। अवसर्पिणी के अन्त में छठे काल के अन्त में **संवर्तक** वायु, पर्वत, वृक्ष, भूमि आदि का चूर्ण करती हुई दिशाओं के अन्त तक भ्रमण करती है, जिससे वहाँ स्थित जीव मूर्च्छित हो जाते हैं, कुछ मर भी जाते हैं। कुछ पुण्यात्माओं को विद्याधर दया करके गुफाओं में वेदियों और बिलों में रख देते हैं। तत्पश्चात् छठे काल के अन्त में ही क्रमश: पवन, अतिशीत, क्षाररस, विष, कठोर अग्नि, धूल और धुआँ इनकी 7-7 दिन तक वर्षा होती है। संवर्तक वायु के प्रकोप से बचे मनुष्य इन कुवृष्टियों से कालकवलित हो जाते हैं। कालवश विष एवं अग्नि की वर्षा से दग्ध हुई पृथ्वी एक योजन नीचे तक चूर-चूर हो जाती है।

उत्सर्पिणी के प्रथम काल में मेघ, क्रमश: जल, दूध, घी, अमृत और रस की वर्षा सात-सात दिन तक करते हैं। जलादि की वर्षा से पृथ्वी उष्णता को छोड़कर ठंडी होती है। सुन्दर छवि, स्निग्धता, धान्य औषधि आदि को धारण करती है। जल की वर्षा से बेल, लता, गुल्म वृक्ष आदि सब वृद्धि को प्राप्त होते हैं। सुकाल आ जाता है। तब देवों और विद्याधरों द्वारा दयापूर्वक बचाकर ले जाए गये विजयार्द्ध की गुफाओं, गगा-सिन्धु की वेदियों, क्षुद्र बिलों आदि के निकट, नदी के किनारे गुफा आदि में रहने वाले जीव धरातल की शीतलता सुगन्ध आदि से आकृष्ट होकर वहाँ से निकलकर सारे भूभाग में फैल जाते हैं। धीरे-धीरे कुछ ही समय में भोगभूमि की स्थिति निर्मित हो जाती है। भरत-ऐरावत क्षेत्रों के आर्यखण्डों का कायाकल्प हो जाता है।

आधुनिक भूगोल के अनुसार तीन मण्डलों में विभक्त हमारी पृथ्वी और उसका परिवेश सतत परिवर्तनशील है। पृथ्वी पर जलमण्डल और स्थलमण्डल का विस्तार है और वायुमण्डल इस धरा को सब ओर से घेरे हुए है। इस पृथ्वी पर विद्यमान सभी सागर और जलाशय तरंगों और धाराओं से सदा ही चंचल बने रहते हैं, तीव्र-प्रहारों से तटीय भूरूपों में परिवर्तन लाते रहते हैं।

वायुमण्डल में विद्यमान गैसें और जलवाष्प तापमान की घटा-बढ़ी से सतत् मौसमी बदलाव करते रहते हैं। कभी धूप, कभी छाँव, कभी बादल, कभी वर्षा, कभी आँधी, कभी तूफान, कहीं सूखा, कहीं बाढ़ - ये सब वायुमण्डल की

क्षण-क्षण बदलती दशा के ही परिणाम है। ये सब भी धरातलीय स्वरूप में परिवर्तन लाते हैं। इसी तरह स्थलमण्डल के परिवर्तन में भूकम्प, ज्वालामुखी आदि आन्तरिक शक्तियाँ हैं।

इस तरह आधुनिक एवं जैन भूगोल के आधार से निम्न बातें उभर का आती हैं। यथा -

1. सृष्टि का आदि है और अन्त भी होगा।

2. लोक की कोई सुनिश्चित अवधारणा नहीं है। इसका कोई आकार भी नहीं है।

3. सूर्य स्थिर है। पृथ्वी आदि ग्रह उसका चक्कर (परिक्रमा) लगाते है

4. सूर्य एक गरम गैसीय स्वयं प्रकाशवान पिण्ड है और सभी ग्रहों का जनक है। सभी ग्रह प्रकाश तथा उष्मा सूर्य से ही प्राप्त करते हैं। पृथ्वी की चाँदनी सूर्य प्रकाश की प्रतिच्छाया है।

5. पृथ्वी आदि सभी ग्रह गोलाकार हैं।

6. आधुनिक भूगोल में स्वर्गों-नरकों की कोई कल्पना/अवधारणा नहीं हैं।

7. पृथ्वी अपनी धुरी पर परिभ्रमण करती है, जिससे दिन-रात होते हैं तथा अपने ग्रह-पथ पर सूर्य के चारो ओर परिभ्रमण करती है, जिससे ऋतु-परिवर्तन होते है। पृथ्वी 365. 25 दिन में सूर्य का एक चक्कर लगा लेती है।

पृथ्वी की दैनिक गति से रात-दिन होते है और वार्षिक गति से ऋतुएं बदलती है। वार्षिक गति से ही उत्तरायण-दक्षिणायन होते हैं।

8. आधुनिक भूगोल का दृश्य जगत इस पृथ्वी ग्रह पर विद्यमान 6 महाद्वीप, 5 महासागरो सहित छोटे-छोटे द्वीप और समुद्रो तक सीमित है।

9. इसके भौगोलिक तथ्य सीमित हैं।

10. इसके तथ्य साव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं।

11. आन्तरिक एवं वाह्यशक्तियों द्वारा धरातलीय स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन जारी है। पर्वतों का निर्माण/महाद्वीपों का प्रवहण/तटों का उन्मज्जन-निमज्जन, पठारो-मैदानो के धरातलीय स्वरूपों का बनना-बिगड़ना आदि।

12. भौगोलिक तथ्यों (स्थलीय दूरियो समुद्री दूरियाँ-गहराई/तापमान/वर्षा/आर्द्रता/वायुभार/गति/शक्ति आदि) को नापने के लिए आधुनिक भूगोल में विभिन्न मापक निर्धारित किये गये है।

1. सृष्टि अनादि अनिधन है।

2. लोक की सुनिश्चितता है और इसका आधार भी सुनिश्चित है।

3. पृथ्वी स्थिर है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि अपने-अपने पथ पर सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते हैं (केवल मनुष्य लोक में, इसके बाहर सभी स्थिर हैं।)

4. सभी ज्योतिष्कों में चन्द्रमा इन्द्र है, सूर्य प्रतीन्द्र है। इन सभी विमानों से किरणें फैलती हैं। सूर्यविमान से गरम और चन्द्रविमान से शीतल किरणें निकलती हैं।

5. पृथ्वी का धरातल तिर्यक् लोक में जम्बूद्वीप का थाली के आकार का गोल तथा चपटा है। अन्य द्वीप-समुद्र वलयाकार रूप से एक दूसरे को घेरे हुए हैं।

6. जैन भूगोल में स्वर्गों और नरकों का अस्तित्व माना गया है तथा बड़े विस्तार के साथ उनका वर्णन भी किया गया है।

7. पृथ्वी स्थिर है। सूर्य-चन्द्र अपनी-अपनी वीथियों में सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते हैं। इससे दिन-रात होते हैं। जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं, जो आमने-सामने रहकर सुमेरु की परिक्रमा करते हैं।

जम्बूद्वीप में 180 योजन भीतर से लवणसमुद्र में 330 योजन तक 510 योजन में चन्द्रमा की 15 और सूर्य की 184 वीथियाँ हैं। ये प्रतिदिन एक-एक गली में होकर भीतरी से बाहरी गली में से सुमेरु के चारों ओर घूमते हैं। चन्द्रमा पहली से अन्तिम 15 वीं वीथी में 15 दिन में पहुँचता है तथा अन्तिम से प्रथम में 15 दिन में वापिस आता है। इससे कृष्णपक्ष-शुक्लपक्ष होते हैं।

सूर्य 6 माह में पहली वीथी से अन्तिम वीथी में पहुँचता है और 6 माह में वापिस पहली वीथी में आता है। इससे ऋतुएँ बदलती हैं। यही उत्तरायण-दक्षिणायन कहलाता है।

8. इसमें मात्र एक राजू लम्बे-चौड़े तिर्यक, लोक में जम्बूद्वीप से स्वयंभूरमणद्वीप और लवणसमुद्र से स्वयंभूरमणसमुद्र तक असंख्यात द्वीप और समुद्र विद्यमान हैं। समुद्र अत्यन्त गहरे पातालों से युक्त है। द्वीपों में हजारों योजन ऊँचे पर्वत भी विद्यमान हैं। जम्बूद्वीप में सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है।

9. इसके असीमित हैं, जिनकी भाव-भासना मात्र ही की जा सकती है।

10. इसके सभी तथ्य केवली प्रत्यक्ष हैं।

11. जैनभूगोल के अनुसार भरत-ऐरावत क्षेत्रों के 10 आर्यखण्डों को छोड़कर शेष सभी क्षेत्र अवस्थित हैं। इनमें अवसर्पिणी के 1, 2, 3, 4, 5 वें काल जैसी वर्तना भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में सदाकाल रहती है। षट्काल परिवर्तन केवल भरत-ऐरावत क्षेत्रों के आर्यखण्डों में ही होता है तथा छठे के अन्त में प्रलय और उत्सर्पिणी के प्रथम काल के प्रारम्भ में सुवृष्टियों के उपरान्त सुकाल आता है।

12. जैन भूगोल में भी अपने मापक हैं, जो आज के मापकों से भिन्न हैं। जैसे - राजू, जगच्छ्रेणी, पल्य-पल्योपम, सागर-सागरोपम, सूची, प्रतर, योजन, कोश, धनुष आदि।

ये सभी अद्भुत एवं आश्चर्यकारी हैं तथा हमारी भाव-भासना के विषय हैं।

उपसंहार - आधुनिक वैज्ञानिकों ने निरीक्षण-परीक्षण, विश्लेषण करके जो भूगोल-खगोल सम्बन्धी तथ्य संग्रहीत किये हैं वे चूँकि अनुमान पर आधारित है, इसलिए विवादित भी हैं। मात्र पृथ्वीमण्डल की रचना प्रत्यक्ष होने से सर्वसम्मत है। यंत्रों से प्राप्त जानकारी की अपेक्षा योगियों की दृष्टि अधिक विश्वस्त एवं विस्तृत रही है। आवश्यकता है कि विशेषज्ञ समुदाय प्राचीन एवं आधुनिक भूगोल के सम्बन्ध में आपसी मेलकर बैठाकर नये तथ्यों को उजागर कर सकते हैं।

पौद्गलिक स्कन्धों का वैज्ञानिक विश्लेषण

* अजित कुमार जैन

सारांश :- प्रस्तुत आलेख का मूल प्रतिपाद्य विषय आचार्य उमास्वामी द्वारा निरूपित पौद्गलिक स्कंध और उनके निर्माण की प्रक्रिया, स्कंध निर्माण हेतु आवश्यक बिन्दु एवं निर्मित स्कंध की प्रकृति को आधुनिक रसायन विज्ञान के आलोक में समझना है।

प्रस्तुत आलेख में निम्नांकित सूत्रों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

1. **भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते** (अध्याय - 5 सूत्र नं. 27)
2. **भेदसंघाताभ्यां चाक्षुष:** (अध्याय - 5 सूत्र नं. 28)
3. **स्निग्धरूक्षत्वाद बंध:** (अध्याय - 5 सूत्र नं. 33)
4. **न जघन्यगुणानाम्** (अध्याय - 5 सूत्र नं. 34)
5. **गुण-साम्ये सदृशानाम्** (अध्याय - 5 सूत्र नं. 35)
6. **द्व्यधिकादिगुणानां तु** (अध्याय - 5 सूत्र नं. 36)
7. **बंधेधिकौ पारिणामिकौ च** (अध्याय - 5 सूत्र नं. 37)

प्रस्तावना :- उपर्युक्त सूत्रों का विश्लेषण निम्नांकित बिन्दुओं पर आधारित है।

1. विज्ञान मान्य परमाणु जैन दर्शनकारों की दृष्टि से स्कंध माना जायगा क्योंकि परमाणु के नाभिक में तीन प्रकार के मौलिक कण उपस्थित रहते हैं।

2. जैन दर्शन में अणु एवं परमाणु समानार्थक हैं, जबकि विज्ञान में अणु को परमाणु से भिन्न माना गया है। विज्ञान मान्य अणु की उत्पत्ति दो या दो से अधिक समान परमाणुओं अथवा असमान परमाणुओं के योग से मानी गयी है।

3. आचार्य उमास्वामी ने "स्निग्धरूक्षत्वाद्बंध:" नामक सूत्र में जो स्निग्ध एवं रूक्ष परमाणुओं का उल्लेख किया है वास्तव में उनका स्निग्ध परमाणुओं से तात्पर्य धात्विक परमाणुओं एवं रूक्ष परमाणुओं से तात्पर्य अधात्विक परमाणुओं से रहा होगा। (तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पेज नं. 700)

4. धातु तत्त्व जैसे सोना, चाँदी, लोहा, जस्ता आदि स्निग्ध तत्त्व (Element) हैं। इन तत्त्वों की वैद्युत ऋणात्मकता (परमाणुओं का एक विशिष्ट गुण) अधातु तत्त्वों के परमाणुओं की तुलना में कम होती है एवं यह तत्त्व क्षारकीय गुण वाले होते हैं।

* प्राध्यापक रसायन शास्त्र, सेठ सिताबराय लक्ष्मीचंद जैन महाविद्यालय, विदिशा (म.प्र.)

5. अधातु तत्त्व जैसे सिलीकान, बोरॉन, हीरा (कार्बन) क्लोरीन, ब्रोमीन, फ्लोरीन आदि रूक्ष तत्त्व हैं। इन तत्त्वों की वैद्युत ऋणात्मकता धातु तत्त्वों कीतुलना में अधिक तथा स्वभाव से अम्लीय होते हैं।

उक्त बिन्दुओं को आधार मानकर स्कंध निर्माण की तीनों प्रक्रियाओं को रासायनिक समीकरणों के माध्यम से समझाने का प्रयास किया गया है।

दर्शन

पौद्‌गलिक स्कंधों एवं उनके परमाणुओं का आधुनिक रसायन विज्ञान में जो विशद् विवेचन-विश्लेषण हमें प्राप्त होता है उसी प्रकार का सूक्ष्म एवं प्रमाणिक विवेचन हजारों वर्ष पूर्व अनेक जैन दर्शनकारों ने किया है। इन दर्शनिकारों में आचार्य उमास्वामी का स्थान प्रमुख है। तत्त्वार्थ सूत्र नामक उनके ग्रथ में पौद्‌गलिक स्कधों का जैसा सांगोपांग विवेचन हुआ है और उनके निष्कर्ष जिस तरह आधुनिक रसायन विज्ञान की कसौटी पर खरे उतरे हैं उन्हें देखकर आश्चर्य होता है। आचार्य उमास्वामी ने पौद्‌गलिक स्कंध की विवेचना में पुद्‌गल, पुद्‌गल के गुण, पुद्‌गल के भेद, पुद्‌गल की पर्यायें, पुद्‌गल परमाणु, पौद्‌गलिक स्कंध (MOLECULE) और उनके निर्माण की प्रक्रिया आदि विषयों पर जो अवधारणायें प्रस्तुत की हैं उनको देखकर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जैन दर्शनकारों की भेदविज्ञान दृष्टि अत्यत सूक्ष्म एवं विशद थी।

परमाणु - जैन दर्शन की दृष्टि में

जैन दर्शन में परमाणु से तात्पर्य पुद्गल के उस लघु से लघु अंश से है जिसे और विभाजित न किया जा सके अर्थात् जो एक प्रदेशी है।[1] आचार्य अकलंक देव ने परमाणु की विशेषता बतलाते हुए कहा है कि सभी पुद्गल स्कंध परमाणुओं से निर्मित है और परमाणु पुद्गल के सूक्ष्मतम अंश हैं। परमाणु नित्य, अविनाशी और सूक्षम है। वह दृष्टि द्वारा लक्षित नहीं हो सकते। परमाणु में कोई एक रस, एक गंध,एक वर्ण और दो स्पर्श (स्निग्ध अथवा रूक्ष, शीत अथवा उ ष्ण) होते हैं।[2] परमाणु के अस्तित्व का अनुमान उससे निर्मित पुद्गल स्कंध रूप कार्य से लगाया जा सकता है। जैन दर्शनकारों ने अणु एवं परमाणु को समानार्थक माना है।

परमाणु - विज्ञान की दृष्टि में

डाल्टन नामक वैज्ञानिक का विचार था कि परमाणु द्रव्य का सूक्ष्मतम एव अविभाज्य कण है। यह धारणा उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक सही मानी गई किन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में थॉमसन, रदरफोर्ड एवं चेडविक आदि वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि परमाणु द्रव्य का अंतिम कण नहीं है इसकी भी अपनी एक विशेष प्रकार की संरचना है एवं यह तीन प्रकार के मौलिक कणों इलैक्ट्रॉन, प्रोटान व न्यूट्रॉन से मिलकर बना है। रदरफोर्ड की अपनी भाषा में `Atom has a definite structure. It consists of a massive and positively charged central part which is called Nucleus of the Atom. The Nucleus is surrounded by negatively charged moving small particles called Electrons. The Atom is about ten thousand times larger than its Nucleus. The Nucleus of an Atom is composed of proton, positively charged patricles and neutral particles neutron and about a dozen of smaller particals like positron, meson, pions and nutrino etc. The sum of the masses of the protons and neutrons is called Atomic mass.'

---

१. भाणोः, तत्त्वार्थसूत्र, 5/11, २. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, आचार्य अकलंक देव, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली,अध्याय - 5

कारणमेव तदन्त्यः सूक्ष्मो नित्यो भवेत्परमाणु। एकरसगंधवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥
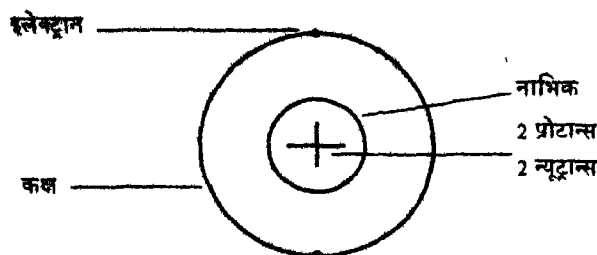
हीलियम की पर आणविक संरचना

परमाणु में उपस्थित इन सूक्ष्म कणों की संख्या वर्तमान में तीस तक हो गई है परंतु यह सभी (इलेक्ट्रॉन, प्रोटान एवं न्यूट्रॉन को छोड़कर) अल्पकालिक हैं। इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषानुसार विज्ञान मान्य परमाणु बहुप्रदेशी सिद्ध होता है जो कि जैन दर्शन के अनुसार परमाणु न होकर स्कंध की श्रेणी में आता है।

अणु

जैन दर्शन के अनुसार अणु और परमाणु दोनों पर्यायवाची हैं और अंतिम रूप से अविभाज्य हैं। परमाणु की उत्पत्ति भेद द्वारा अर्थात् विघटन द्वारा होती है।[1]

रसायन विज्ञान में अणु को परमाणु से भिन्न माना गया है और इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि पदार्थ का वह सूक्ष्मतम अंश जो दो या दो से अधिक समान परमाणुओं अथवा असमान परमाणुओं के योग से निर्मित होता है तथा जो स्वतंत्र अवस्था में रह सकता है और जिसमें पदार्थ (पुद्गल) के समस्त गुण विद्यमान हों, अणु कहलाता है। इस परिभाषानुसार विज्ञान मान्य अणु एवं जैन दर्शन मान्य स्कंध एक ही हैं पृथक नहीं, क्योंकि एक से अधिक अणु या परमाणुओं के समूह को स्कंध कहते हैं।

विश्लेषण : स्कंधोत्पत्ति की प्रक्रियायें विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में -

स्कंधोत्पत्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए आचार्य उमास्वामी ने कहा है कि '**भेद संघातेभ्य उत्पद्यन्ते**'[2] अर्थात् भेद, संघात एवं भेदसंघात इन तीन प्रक्रियाओं द्वारा स्कंधोत्पत्ति होती है। यहाँ भेद का अर्थ विघटन से है तथा संघात का तात्पर्य है संयोजन से और भेदसंघात का अर्थ है भेद और संघात का साथ-साथ होना। कुछ स्कंध भेद अर्थात् परस्पर विघटित होकर निर्मित होते हैं तो कुछ स्कंध संघात अर्थात् परस्पर संयोजन के फलस्वरूप बनते हैं तथा कुछ स्कंध ऐसे भी हैं जो विघटन और संयोजन दोनों प्रक्रियाओं के एक साथ होने पर निर्मित होते हैं।

रसायन विज्ञान के अनुशीलन से भी इन तीनों प्रक्रियाओं का पता चलता है। कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें भेद द्वारा स्कंधोत्पत्ति होती है।

---

१. भेदादणुः, तत्त्वार्थसूत्र, ५/27., २. वही, 28.

(1) $K_2SO_4 . Al_2(SO_4)_3 24H_2O \xrightarrow{92^\circ C} K_2O + Al_2O_3 + SO_3 + 24\ H_2O$
फिटकरी → पोटाशियम ऑक्साइड, एल्युमीनियम ऑक्साइड, सल्फर ट्राय ऑक्साइड, जल

(2) $2FeSO_4 \xrightarrow{720^\circ C} Fe_2O_3 + SO_2 + SO_3$
फेरस सल्फेट → फेरिक ऑक्साइड, सल्फर डॉय ऑक्साइड, सल्फर ट्राय ऑक्साइड

(3) $NH4NO_3 \xrightarrow{\text{गर्म करने पर}} N_2O + 2H_2O$
अमोनियम नाइट्रेट → नाइट्रस आक्साइड, जल

(4) $2Pb(NO_3)_2 \xrightarrow{\text{गर्म करने पर}} 4NO_2 + 2PbO + O_2$
लेड नाइट्रेड → नाइट्रोजन पर आक्साइड, लेड आक्साइड, आक्सीजन

(5) $4LiNO_3 \xrightarrow{\text{गर्म करने पर}} 2Li_2O + 4NO_2 + O_2$
लीथियम नाइट्रेट → लीथियम आक्साइड, नाइट्रोजन पर आक्साइड, आक्सीजन

(6) $2KMNO_4 \xrightarrow{\text{गर्म करने पर}} K_2MnO_4 + MnO_2 + O_2$
पोटेशियम परमेंगनेट → पोटेशियम मेंगनेट, मेंगनीज डाय आक्साइड, आक्सीजन

(7) $C_{14}H_{30} \xrightarrow{\text{उच्च ताप पर}} C_6H_{14} + C_8H_{16}$
टेट्रा डेकेन → हेक्जेन, आक्टेन

(8) $NaNO_3 \xrightarrow{\text{गर्म करने पर}} 2NaNO_2 + O_2$
सोडियम नाइट्रेट → सोडियम नाइट्राइट, आक्सीजन

(9) $2ZnSO_4 \xrightarrow{767^0} 2ZnO + 2SO_2 + O_2$
जिंक सल्फेट → जिंक आक्साइड, सल्फर डाय आक्साइड, आक्सीजन

(10) $ZnCO_3 \xrightarrow{\text{गर्म करने पर}} ZnO + CO_2$
जिंक कार्बोनेट → जिंक आक्साइड, कार्बन डाय आक्साइड

रेडियो सक्रिय तत्त्वों के विघटन में भेदप्रक्रिया द्वारा ही स्कंधोत्पत्ति

एक रेडियो सक्रिय तत्त्व द्वारा अल्फा, बीटा एवं गामा कणों का उत्सर्जन उसका विघटन कहलाता है। रेडियो सक्रिय तत्त्व जिसे हम जैनाचार्यों की भाषा में स्कंध कह सकते हैं, विघटित होकर एक नया तत्त्व देता है जो आगे चलकर स्वयं विघटित होकर एक और एक नया तत्त्व देता है। इस प्रकार विघटन एवं दुहिता तत्त्व (Daughter Element) की उत्पत्ति का अनवरत क्रम तब तक चलता रहता है जब तक अन्य उत्पाद के रूप में रेडियो सक्रियताहीन तत्त्व प्राप्त न हो जावे।[1]

$${}^{232}_{90}Th \xrightarrow{\text{अल्फाकण}} {}^{228}_{88}Ra \xrightarrow{\text{बीटाकण}} {}^{228}_{89}Ac \xrightarrow{\text{बीटाकण}} {}^{228}_{90}Th$$

थोरियम → रेडियम → एक्टीनियम → थोरियम
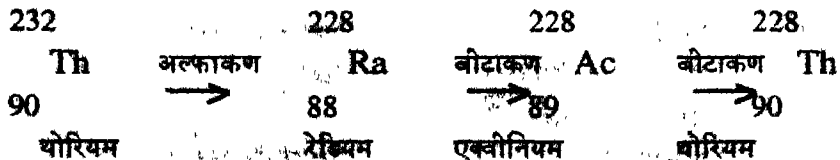
1. नीचे के समीकरणों में प्रयुक्त अल्फा, बीटा कणों से आशय निम्नवत् है - अल्फा कण - हीलियम परमाणु का नाभिक ${}^4_2He$ [illegible]

$^{228}_{90}Th \xrightarrow{\text{अल्फाकण}} {}^{224}_{88}Ra \xrightarrow{\text{अल्फाकण}} {}^{220}_{86}Rn \xrightarrow{\text{अल्फाकण}} {}^{216}_{84}Po$

थोरियम   रेडियम   रेडान   पोलोनियम

$^{216}_{84}Po \xrightarrow{\text{अल्फाकण}} {}^{212}_{82}Pb \xrightarrow{\text{अल्फाकण}} {}^{208}_{80}Hg \xrightarrow{\text{बीटाकण}} {}^{208}_{81}Tl \xrightarrow{\text{बीटाकण}} {}^{208}_{82}Pb$

पोलियम   लेड   मरकरी   थेल्विम   लेड

संघात द्वारा स्कंधोत्पत्ति

रसायन विज्ञान में संघात द्वारा स्कंधोत्पत्ति की प्रक्रिया का भी लक्षण दृष्टिगोचर होता है। स्कंधोत्पत्ति की इस प्रक्रिया को सहसंयोजी बंध के रूप में समझा जा सकता है।

सहसंयोजी बंध में अणु निर्माण में भाग ले रहे परमाणुओं के मध्य इलेक्ट्रॉन्स की साझेदारी से जो बंध बनता है उसे सहसंयोजी बंध एवं निर्मित यौगिक को सहसंयोजी यौगिक (स्कंध) कहा जाता है।[1]
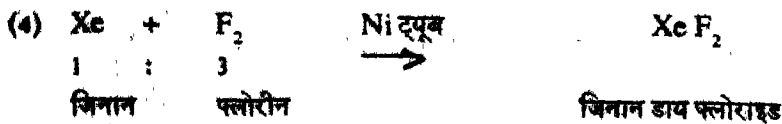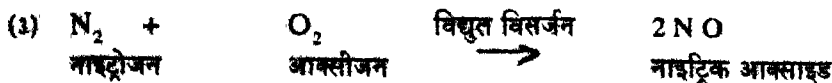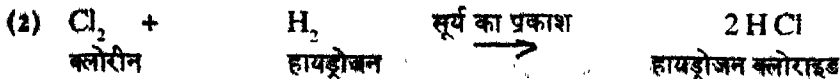
(1)

(2) Cl_2 + H_2 $\xrightarrow{\text{सूर्य का प्रकाश}}$ 2 H Cl
क्लोरीन   हायड्रोजन   हायड्रोजन क्लोराइड

(3) N_2 + O_2 $\xrightarrow{\text{विद्युत विसर्जन}}$ 2 N O
नाइट्रोजन   आक्सीजन   नाइट्रिक आक्साइड

(4) Xe + F_2 $\xrightarrow{\text{Ni ट्यूब}}$ Xe F_2
1 : 3
जिनान   फ्लोरीन   जिनान डाय फ्लोराइड

(5) Xe + $2F_2$ $\xrightarrow[400^0C]{\text{निकिलट्यूब}}$ XeF_4
1 : 10
जिनान   फ्लोरीन   जिनान टेट्रा फ्लोराइड

[illegible] इलेक्ट्रॉन (e) [illegible] किरणें - [illegible] (... नहीं) [illegible] । १. O एवं x ये दोनों चिन्ह अणु के इलेक्ट्रॉनों को व्यक्त करते हैं।

(6) $2NO + N_2O_4 \xrightarrow{230 K} 2N_2O_3$
नाइट्रिक आक्साइड + डाय नाइट्रोजन टेट्रा आक्साइड → नाइट्रोजन सेस्क्वा आक्साइड

(7) $3NaF + AlF_3 \longrightarrow Na_3AlF_6$
सोडियम फ्लोराइड + एल्यूमिनियम फ्लोराइड → क्रायोलाइट

(8) $FeSO_4 + (NH_4)_2SO_4 + 6H_2O \longrightarrow FeSO_4 (NH_4)_2 SO_4 . 6H_2O$
फेरस सल्फेट + अमोनियम सल्फेट + जल → मोर्हस लवण

(9) $KCl \quad MgCl_2 + 6H_2O \longrightarrow KCl. \ Mg \ Cl_2 . \ 6H_2O$
पोटेशियमक्लोराइड मेग्नेशियम क्लोराइड जल → कार्नेलाइट

(10) $K_2SO_4 \quad Al_2(SO_4)_3 \quad 24H_2O \longrightarrow K_2SO_4 \ Al_2(SO_4)_3 \quad 24 H_2O$
पोटेशियम सल्फेट एल्यूमिनियमसल्फेट जल → फिटकरी
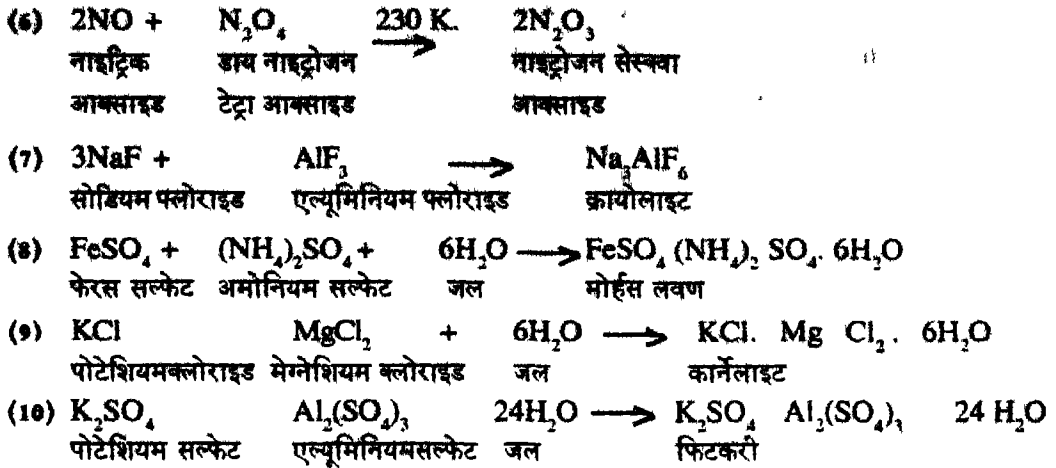
भेदसंघात द्वारा स्कंधोत्पत्ति

भेद संघात से होने वाली स्कंधोत्पत्ति की इस प्रक्रिया की तुलना हम रसायन विज्ञान मे मान्य वैद्युत संयोजी बंध से कर सकते हैं।

स्कंध निर्माण की इस प्रक्रिया में विज्ञान में मान्य परमाणुओं में से सर्वप्रथम एक परमाणु एक या एक से अधिक इलेक्ट्रॉन का त्याग करता है। इलेक्ट्रॉन त्याग की इस प्रक्रिया को भेद कहेंगे, तदोपरान्त दूसरा परमाणु इन त्यागे हुए इलेक्ट्रॉन्स को ग्रहण करता है। इलेक्ट्रॉन के त्याग से प्रथम परमाणु धन आवेशित तथा इलेक्ट्रॉन्स के ग्रहण से दूसरा परमाणु ऋणावेशित हो जाता है। अंत में विपरीत आवेशित आयन्स एक दूसरे से वैद्युतबल रेखाओं द्वारा जुड़ जाते हैं। जुड़ने की इस प्रक्रिया को संघात कहेंगे। इस प्रकार भेदसंघात (वैद्युतसंयोजी बंध द्वारा) प्रक्रिया द्वारा स्कंध (अणु) का निर्माण हो जाता है।

(3) $CoCl_3$ + $6NH_3$
कोबाल्टिक क्लोराइड — अमोनिया

↓ भेद — संघात

Co^{+++} + $3Cl$ + $6NH_3$ $\xrightarrow{\text{संघात}}$ $(Co(NH_3)_6)\,Cl_3$
कोबाल्टिक आयन — क्लोराइड आयन — अमोनिया — हेक्जा अमीन कोबाल्टिक क्लोराइड

(4) $CuSO_4$ + $4NH_3$
कापर सल्फेट — अमोनिया

↓ भेद

Cu^{++} + SO_4^{-} + $4NH_3$ $\xrightarrow{\text{संघात}}$ $(Cu(NH_3)_4)\,SO_4$
कापर आयन — सल्फेट आयन — अमोनिया — ट्रेटा अमीन क्यूप्रिक सल्फेट

(5) $2KI$ + HgI_2
पोटेशियम आयोडाइड — मरक्यूरी आयोडाइड

↓ भेद

$2K^{+}$ + $2I^{-}$ + $\xrightarrow{\text{संघात}}$ HgI_2 — $K2(Hg(I)_4)$
पोटेशियम आयन — आयोडाइड आयन — मरक्यूरिक आयोडाइड — पोटेशियम टेट्रा आयोडो मरक्यूरेट

(6) Ca केल्शियम + O आक्सीजन

↓ भेद $- 2e^{-}$ ↓ $+ 2e^{-}$

Ca^{++} + O^{--} $\xrightarrow{\text{संघात}}$ CaO
केल्शियम आयन — आक्साइड आयन — कली चूना

(7) Mg मेग्नीशियम + Cl_2 क्लोरीन अणु

भेद ↓ $-2e^{-}$ — ↓ $+ 2e^{-}$

Mg^{++} + $2Cl^{-}$ $\xrightarrow{\text{संघात}}$ $MgCl_2$
मेग्नीशियम आयन — क्लोराइड आयन — मेग्नीशियम क्लोराइड

जैनाचार्यों ने मात्र स्कंधोत्पत्ति की विभिन्न प्रक्रियाओं को ही नहीं समझाया है, बल्कि उन बिंदुओं पर भी समुचित प्रकाश डाला है जो स्कंधोत्पत्ति के लिये आवश्यक हैं। इसी संदर्भ में आचार्य उमास्वामी बतलाते हैं कि **'स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः'**[1] अर्थात् स्निग्ध-स्निग्ध, रूक्ष-रूक्ष एवं स्निग्ध-रूक्ष गुण वाले परमाणु परस्पर बंध करने में समर्थ होते हैं।

इस कथन के वैज्ञानिक विश्लेषण के पूर्व स्निग्ध एवं रूक्ष गुणों को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में समझना आवश्यक है। तत्त्व मूलतः (धातु एवं अधातु) दो प्रकार के होते हैं। वह तत्त्व जो प्रकृति से वैद्युत धनीय, क्षारीय गुण वाले तथा कम वैद्युत ऋणात्मकता वाले होते हैं उन्हें धातु तत्त्व कहा जाता है जैसे सोना, चाँदी, पारा, तांबा, जस्ता, आदि। इन सभी में स्वाभाविक स्निग्धता (चिकनापन) पाई जाती है तथा वह तत्त्व जो प्रकृति से वैद्युत ऋणीय, अम्लीय गुण वाले एवं धातु तत्त्वों की तुलना में अधिक वैद्युत ऋणात्मक वाले होते हैं अधातु तत्त्व कहलाते हैं। जैसे सिलीकान, बोरोन, हीरा (कार्बन), सल्फर (गंधक), फ्लोरीन, ब्रोमीन आदि। इन सभी में स्वाभाविक रूक्षता (रूखापन) पाया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य उमास्वामी द्वारा स्निग्ध गुण धात्विक परमाणुओं का तथा रूक्ष गुण अधात्विक परमाणुओं का माना गया है।

वैज्ञानिक विश्लेषण

वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा धातु-धातु, अधातु-अधातु एवं धातु-अधातु परमाणु परस्पर बंध निर्माण करने में सक्षम होते हैं।

स्निग्धगुणयुक्त धात्विक परमाणु + स्निग्धगुणयुक्त धात्विकपरमाणु → परिणाम

1. तांबा (Cu) + जस्ता (जिंक) (Zn) + निकिल (Ni) → जर्मन सिल्वर
2. लोहा (Fe) + निकिल (Ni) + क्रोमियम (Cr) → स्टेनलैस स्टील
3. जस्ता (Zn) + एल्युमीनियम (Al) + कॉपर (Cu) → सफेदकांसा(गोटा चाँदी)
4. तांबा (Cu) + जस्ता (Zn) → पीतल
5. तांबा (Cu) + वंग (Sn) → कांसा
6. तांबा (Cu) + एल्युमीनियम (Al) → रोल्डगोल्ड
7. सीसा (Pb) + वंग (Sn) → टांका धातु
8. लोहा (Fe) + निकल (Ni) → इन्वार

रूक्ष गुण वाले अधात्विक परमाणु + रूक्ष गुण वाले अधात्विक परमाणु → परिणाम

1. नाइट्रोजन(N_2) + हाइड्रोजन($3H_2$) $\xrightarrow{500°C}$ अमोनिया ($2NH_3$)
2. नाइट्रोजन(N_2) + क्लोरीन($3Cl_2$) $\xrightarrow{200\ AP(Fe)}$ नाइट्रोजन ट्राय क्लोराइड ($2NCl_3$)
3. हाइड्रोजन($2H_2$) + ऑक्सीजन(O_2) $\xrightarrow[\text{विसर्ग}]{\text{वैद्युत}}$ जल ($2H_2O$)

---

1. तत्त्वार्थ सूत्र (5/33)

4. कार्बन(C)	+	हाइड्रोजन($2H_2$)	1100°C →	मेथेन (CH_4)
5. हाइड्रोजन(H_2)	+	सल्फर(S)	200-400°C →	हाइड्रोजन सल्फाइड (H_2S)
6. सिलिकन(Si)	+	ऑक्सीजन(O_2)	ज्वलन पर →	रेत (SiO_2)
7. कार्बन(C)	+	ऑक्सीजन(O_2)	ज्वलन पर →	कार्बनडाइऑक्साइड (CO_2)
8. हाइड्रोजन(H_2)	+	क्लोरीन(Cl_2)	सूर्य का प्रकाश →	हायड्रोजन क्लोराइड (2HCl)

स्निग्धगुणयुक्त धातु		**रूक्षगुणयुक्त धातु**	→	**परिणाम**
1. सोडियम(2Na)	+	क्लोरीन (Cl_2)	→	नमक (2NaCl)
2. तांबा(Cu)	+	सल्फर(S)	गर्म करने पर →	क्युप्रिक सल्फाइड (CuS)
3. चाँदी(2Ag)	+	क्लोरीन(Cl_2)	गर्म करने पर →	सिल्वर क्लोराइड (2AgCl)
4. सोडियम(2Na)	+	सल्फर(S)	360°C →	सोडियम सल्फाइड (Na_2S)
5. कैल्शियम (2Ca)	+	ऑक्सीजन(O_2)	ज्वलन पर →	कैल्शियम ऑक्साइड (2CaO)
6. मरकरी(Hg)	+	आयोडीन(I_2)	रगड़ने पर →	मरक्यूरिक आयोडाइड (HgI_2)
7. सोडियम(3Na)	+	फास्फोरस(P)	360°C →	सोडियम फोस्फाइड (NA_3P)
8. कैल्शियम (Ca)	+	क्लोरीन(Cl_2)	गर्म करने पर →	कैल्शियम क्लोराइड ($CaCl_2$)

अगले तीन सूत्रों के माध्यम से आचार्य उमास्वामी द्वारा उन बिंदुओं पर प्रकाश डाला गया प्रतीत होता है जो भेद संघात प्रक्रिया द्वारा स्कंधोत्पत्ति के लिये आवश्यक हैं। यह सूत्र एवं इनकी विवेचना निम्नानुसार है।

"गुणसाम्ये सदृशानाम्"[1]

अर्थात् गुण साम्य रहने पर सदृशों का बंध नहीं होता। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जिन परमाणु ओं में स्निग्ध एवं रूक्ष गुणों की संख्या समान होती हैं, उनका परस्पर बंध नहीं होता। आधुनिक विज्ञान भी इस कथन से पूर्ण रूप से सहमत है कि ऐसे परमाणु जिनकी वैद्युत ऋणात्मकता समान होती है, परस्पर वैद्युत संयोजी (भेद संघात प्रक्रिया द्वारा) बंध द्वारा स्कंध निर्माण नहीं करते।

परमाणु	**वैद्युतऋणात्मकता**	**वैद्युतसंयोजी बंध द्वारा स्कंधोत्पत्ति**
1. नाइट्रोजन(N)	3.0	
क्लोरीन(Cl)	3.0	
2. फास्फोरस(P)	2.1	
हाइड्रोजन(H)	2.1	

---
१. तत्त्वार्थ सूत्र (5/35)

3. आरसेनिक(As)	2.2		नहीं होती
आयोडीन(I)	2.2		
4. बोरोन (B)	2.0		नहीं होती
हाइड्रोजन(H)	2.1		
5. ऑक्सीजन(O)	3.5		नहीं होती
ऑक्सीजन(O)	3.5		

"न जघन्य गुणानाम्"[१]

इस सूत्र के माध्यम से आचार्य उमास्वामी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जघन्य गुण वालों का बंध नहीं होता। रसायन विज्ञान में भी ऐसे परमाणु परस्पर वैद्युत संयोजी बंध द्वारा स्कंध निर्माण नहीं करते जिनकी वैद्युत ऋणात्मकता में मात्र एक का अंतर होता है।

परमाणु	वैद्युतऋणात्मकता	वै.ऋणा. का अंतर	वै.संयोजी बंध द्वारा स्कंधोत्पत्ति
1. कार्बन(C)	2.5	01	नहीं होता
ऑक्सीजन(O)	3.5		
2. क्लोरीन (Cl)	4.0	01	नहीं होता
फ्लोरीन (F)	3.0		
3. फॉस्फोरस(P)	2.1	0.9	नहीं होता
क्लोरीन (Cl)	3.0		
4. नाइट्रोजन(N)	3.0	01	नहीं होता
फ्लोरीन (F)	4.0		
5. बोरोन (B)	2.0	01	नहीं होता
क्लोरीन (Cl)	3.0		
6. कॉपर (Cu)	1.8	1.2	नहीं होता
क्लोरीन (Cl)	3.0		

"द्वयधिकादिगुणानाम् तु"[२]

आचार्य उमास्वामी इस सूत्र के माध्यम से आगे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दो अधिक गुण वालों का परस्पर बंध होता है अर्थात् जिनमें स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणों की संख्या में दो का अंतर होता है वे परस्पर बंध निर्माण करने में सक्षम होते हैं। रसायन विज्ञान में भी वैद्युत संयोजी बंध द्वारा स्कंधोत्पत्ति के लिये आवश्यक है कि बंध निर्माण में भाग ले रहे परमाणुओं की वैद्युत ऋणात्मकताओं में दो का अंतर हो या दो से अधिक का अंतर हो।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र (5/34), २. वही, (5/36)
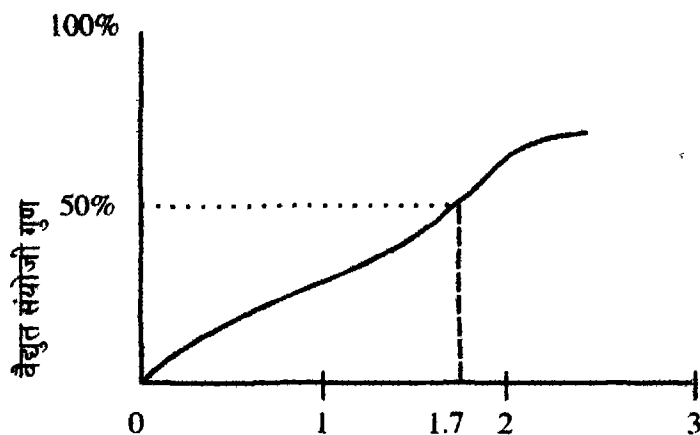
A NEW CONCISE IN ORGANIC CHEMISRY
By J. D. LEE Page No. 25, 100, 102

परमाणु	वैद्युतऋणात्मकता	वै.ऋणा. का अंतर	वै.संयोजी बंध द्वारा स्कंधोत्पत्ति
1. सोडियम(Na) क्लोरीन(Cl)	1.0 3.0	2.0	सोडियम क्लोराइड(NaCl)
2. पोटेशियम(K) क्लोरीन(Cl)	0.8 3.0	2.2	पोटेशियम क्लोराइड(KCl)
3. बोरोन (B) फ्लोरीन(F)	2.0 4.0	2.0	बोरोन ट्राय फ्लोराइड(BF_3)
4. बिस्मथ (Bi) फ्लोरीन (F)	1.7 4.0	2.3	बिस्मथ फ्लोराइड(BiF_3)
5. एल्युमीनियम(Al) फ्लोरीन(F)	1.5 4.0	2.5	एल्युमीनियम फ्लोराइड(AlF_3)
6. कैल्शियम(Ca) क्लोरीन(Cl)	1.0 3.0	2.0	कैल्शियम क्लोराइड($CaCl_3$)
7. सीजियम(Cs) ब्रोमीन(Br)	0.7 2.7	2.0	सीजियम ब्रोमाइड(CsBr)

8. लीथियम(Li)	1.0	2.0	लीथियम नाइट्रेट(LiN)
नाइट्रोजन(N)	3.0		
9. बेरियम (Ba)	1.0	2.0	बेरियम क्लोराइड($BaCl_2$)
क्लोरीन(Cl)	3.0		
10. रेडियम(Ra)	1.0	2.0	रेडियम क्लोराइड($RaCl_2$)
क्लोरीन(Cl)	3.0		
11. स्ट्रोन्शियम(Sr)	1.0	2.0	स्ट्रोन्शियम क्लोराइड($SrCl_2$)
क्लोरीन(Cl)	3.0		

स्कंध निर्माण की विभिन्न प्रक्रियाओं के उपरांत आचार्य उमास्वामी स्कंध की प्रकृति के बारे में बतलाते हुए कहते हैं कि **"बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च"**[१] अर्थात् बध होने पर अधिक गुण वाला न्यून गुण वाले को अपने रूप परिणमन करा लेता है। रसायन विज्ञान मान्य स्कंधों (मोलीक्यूल्स) में भी प्राय: यही देखने में आता है। अर्थात् जब स्निग्ध (धातु) गुण युक्त परमाणु एवं रूक्ष (अधातु) गुण युक्त परमाणु परस्पर बध कर स्कध निर्माण करते हैं तब निर्मित अणु (स्कंध) उसी गुण रूप होता है जिसका द्रव्यमान अधिक होता है।

तात्पर्य यह है कि स्कंध (अणु) निर्माण में भाग ले रहे परमाणुओं में से यदि स्निग्ध गुण युक्त (धातु) परमाणुओं का द्रव्यमान अधिक है तब निर्मित स्कंध क्षारीय प्रकृति वाला होगा इसके विपरीत रूक्ष गुण युक्त (अधातु) परमाणुओं का द्रव्यमान अधिक होने पर निर्मित स्कंध (अणु) अम्लीय प्रकृति का होगा। क्योंकि क्षारीय प्रकृति का होना धातुओं का तथा अम्लीय प्रकृति का होना अधातु का विशिष्ट गुण होता है।

	परमाणु	प्रकृति	द्रव्यमान	निर्मित स्कंध	स्कंध की प्रकृति
1.	मैग्नीज़(Mn)	स्निग्ध	54 X 1+	मैग्नस ऑक्साइड	
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	16 X 1	(MnO)	क्षारीय
2.	मैग्नीज़(Mn)	स्निग्ध	54 X 2 +	मैग्नीज हेप्टोक्साइड	
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	16 X 7	(Mn_2O_2)	अम्लीय
3.	क्रोमियम(Cr)	स्निग्ध	52 X 1 +	क्रोमए ऑक्साइड	
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	16 X 1	(CrO)	क्षारीय
4.	व्हेनेडियम(V)	स्निग्ध	50 X 1 +	हाइपो व्हेनेडस ऑक्साइड	
	ऑक्सीजन (O)	रूक्ष	16 X 1	(VO)	क्षारीय
5.	व्हेनेडियम(V)	स्निग्ध	50 X 1 +	हाइपोव्हेनेडिक ऑक्साइड	
	ऑक्सीजन (O)	रूक्ष	16 X 2	(VO_2)	क्षारीय
6.	बोरोन(B)	रूक्ष	10 X 2 +	बोरोन ट्राय ऑक्साइड	
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	16 X 3	(B_2O_3)	अम्लीय

---
१. तत्त्वार्थ सूत्र (5/37)

7.	एल्युमीनियम(Al)	स्निग्ध	26 X 2 +	एल्युमीनियम ऑक्साइड	
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	16 X 3	(Al_2O_3)	उभयगुणी
8.	सल्फर(S)	रूक्ष	32 X 1 +	सल्फर डाय ऑक्साइड	
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	16 X 2	(SO_2)	अम्लीय
9.	सिलिकॉन(Si)	रूक्ष	28 X 1 +	सिलीका	
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	16 X 2	(SiO_2)	अम्लीय
10.	सोडियम(Na)	स्निग्ध	23 X 1 +	सोडियम हाइड्रोक्साइड	
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	16 X 1 +	(NaOH)	क्षारीय
	हाइड्रोजन(H)	रूक्ष	01 X 1		
11.	कैल्शियम(Ca)	स्निग्ध	40 X 2 +	कैल्शियम हाइड्रोक्साइड	
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	16 X 2 +	$(Ca(OH)_2)$	क्षारीय
	हाइड्रोजन(H)	रूक्ष	01 X 1		
12.	कॉपर(Cu)	स्निग्ध	63 X 1+	कॉपर सल्फेट	
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	32 X 1+	$(CuSO_4)$	अम्लीय
	सल्फर(S)	रूक्ष	16 X 4		
13.	आयरन(Fe)	स्निग्ध	56 X 1+	फेरिक क्लोराइड अम्लीय	अम्लीय
	क्लोरीन(Cl)	रूक्ष	35 X 3	$(FeCl_3)$	
14.	कार्बन(C)	रूक्ष	12 X 1+	कार्बन डाय ऑक्साइड	
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	16 X 2	(CO_2)	अम्लीय
15.	बिस्मथ(Bi)	स्निग्ध	208 X 2+	बिस्मथ ट्राय ऑक्साइड	
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	16 X 3	(Bi_2O_3)	क्षारीय
16.	नाइट्रोजन(N)	रूक्ष	14 X 3 +	हायड्रोजोइक	
	हाइड्रोजन(H)	रूक्ष	01 X 1	(N_3H)	अम्लीय
17.	हायड्रोजन(H)	रूक्ष	01 X 1 +	नाइट्रिक अम्ल	
	नाइट्रोजन(N)	रूक्ष	14 X 1 +	(HNO_3)	अम्लीय
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	16 X 3		
18.	आयरन(Fe)	स्निग्ध	56 X 1 +	फेरस सल्फेट	
	सल्फर(S)	रूक्ष	32 X 1 +	$(FeSO_4)$	अम्लीय
	ऑक्सीजन(O)	रूक्ष	16 X 4		

"भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः"[२]

अर्थात् भेदसंघात प्रक्रिया द्वारा चाक्षुष स्कंध बनता है अथवा इसी प्रक्रिया द्वारा अचाक्षुष स्कंध चाक्षुष

२. तत्त्वार्थ सूत्र (5/28)

बनता है।

वैज्ञानिक विश्लेषण

भेदसंघात अर्थात् वैद्युत संयोजी बंध द्वारा निर्मित स्कंध (अणु) ठोस होते हैं अतः चाक्षुष होते हैं। क्योंकि इस प्रक्रिया द्वारा निर्मित अणु ध्रुवीय होते हैं जिस कारण अनंत अणु एक दूसरे से विपरीत आवेशित आयनों की ओर से वैद्युत बल रेखाओं द्वारा जुड़ते चले जाते हैं तथा चाक्षुष का निर्माण करते हैं।

$^{+}Nacl^{-}$ $\quad$ $^{+}Nacl^{--}$ $\quad$ + $\quad$ $^{+}Nacl^{-}$ $\quad$ $^{+}Nacl^{--}$
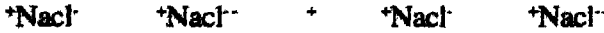
वैद्युत बल रेखायें

उदाहरण :- नमक, चूना, नौसादर, फिटकरी, नीला थोथा, हरा कसीस आदि बंध की भेदसंघात प्रक्रिया द्वार अचाक्षुष बन जाते हैं। इस आधार पर वैद्युत संयोजी यौगिकों (स्कंधों) की विलियम में होने वाली आयनिक क्रियाओं को भी समझा जा सकता है।

स्कंधों का अचाक्षुष जलीय विलयन $\qquad$ **भेदसंघात प्रक्रिया द्वारा बने चाक्षुष स्कंध**

1. $NaCl + AgNo_3$

नमक ↓ सिल्वर नाइट्रेट

भेद

$$Na^{+} + cl^{-} + Ag^{+} + No_3^{-} \xrightarrow{\text{संघात}} AgCl + NaNo_3$$

सिल्वर क्लोराइड (सफेद) $\qquad$ सोडियम नाइट्रेट

2. $PbCl_2 + K_2CrO_4$

लेड क्लोराइड ↓ पोटेशियम क्रोमेट

भेद

$$Pb^{++} + 2Cl^{--} + 2K^{+} + CrO_4^{-} \xrightarrow{\text{संघात}} PbCrO_4 + 2KCl$$

लेड क्रोमेट (सुनहरा पीला ठोस) $\qquad$ पोटेशियम क्लोराइड
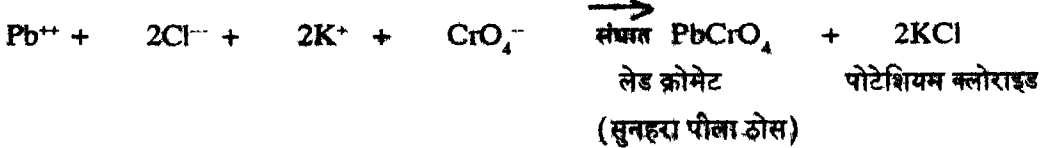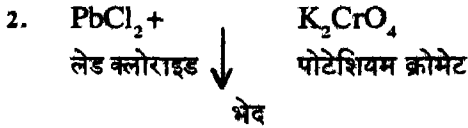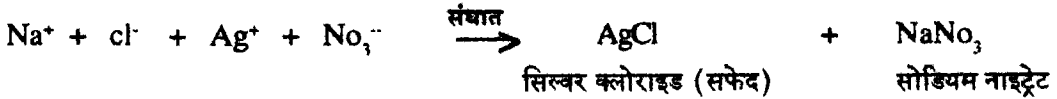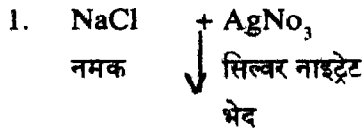
तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित पुद्गल द्रव्य

* डॉ. कपूरचन्द जैन

जिस प्रकार आकाश में आज अनेक उपग्रह टंगे हुए है वैसे ही अलोकाकाश में लोकाकाश टंगा हुआ है। लोकाकाश में जीव, पुद्गल या अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य ठसाठस भरे हुए हैं। इन द्रव्यों का विभाजन करें तो

	द्रव्य					
	जीव	**पुद्गल**	**धर्म**	**अधर्म**	**आकाश**	**काल**
1. चेतन अचेतन की दृष्टि से	चेतन	अचेतन	अचेतन	अचेतन	अचेतन	अचेतन
2. मूर्तिक-अमूर्तिक की दृष्टि से	अमूर्तिक	मूर्तिक	अमूर्तिक	अमूर्तिक	अमूर्तिक	अमूर्तिक
3. अस्ति-अनस्तिकाय दृष्टि से	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अस्तिकाय	अनस्तिकाय

जैनदर्शन में पुद्गल को मूर्तिक स्वीकार किया गया है। आचार्य उमास्वामी कहते हैं - '**रूपिणः पुद्गलाः**'[१]। पुद्गल की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा गया है - **पूरयन्ति गलयन्तीति पुद्गलाः**[२] अर्थात् जो द्रव्य (स्कन्ध अवस्था मे) अन्य परमाणुओं से मिलता है (पृ + णिच्) और गलन (गल्) = पृथक्-पृथक् होता है, उसे पुद्गल कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है -

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो ।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥[३]

बादरसुहुमगदाणं खंधाणं पुग्गलोत्ति ववहारो ।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं ॥

तत्त्वार्थसूत्र में भी '**स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः**'[४] कहकर इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है। भाव यह है कि पुद्गल द्रव्य में 5 रूप, 5 रस, 2 गन्ध और 8 स्पर्श ये चार प्रकार के गुण होते हैं। पुद्गल के इन गुणों की एक रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार देख सकते हैं -

---

१. तत्त्वार्थसूत्र 5/5

२. माधवाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह, चौखम्भा विद्या भवन, 1964, पृ. 153

३. प्रवचनसार, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वि. स. 2021, गाथा 2/40

४. तत्त्वार्थसूत्र 5/23

---

* अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, श्री कुन्दकुन्द जैन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, खतौली, (उ. प्र.)
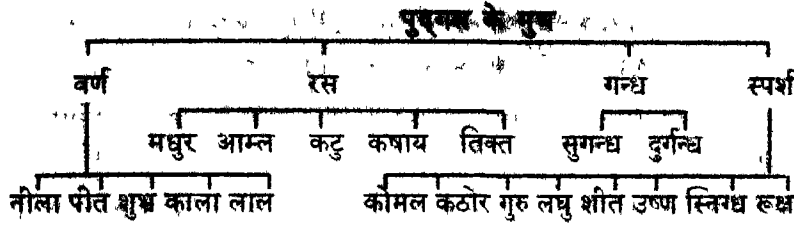
तत्त्वार्थसूत्र के '**अणवः स्कन्धाश्च**'[1] सूत्र के अनुसार पुद्गल दो प्रकार के हैं एक अणुरूप और दूसरा स्कन्ध रूप । आज के विज्ञान के अनुसार भी पुद्गल अर्थात् मैटर (Matter) के दो ही रूप हैं । मूल रूप अणु या परमाणु है । दूसरा रूप परमाणुओं के सम्मिलन से बने विभिन्न रूप हैं ।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार स्कन्ध के तीन रूप होकर तथा परमाणु मिलाकर पुद्गल के चार रूप होते हैं । ये हैं - 1. स्कन्ध, 2. स्कन्धदेश, 3. स्कन्धप्रदेश और 4. परमाणु । अनन्तानन्त परमाणुओं का पिण्ड स्कन्ध कहलाता है, उस स्कन्ध का अर्धभाग स्कन्धदेश और उसका भी अर्धभाग अर्थात् स्कन्ध का चौथाई भाग स्कन्धप्रदेश कहा जाता है तथा जिसका दूसरा भाग नहीं होता उसे परमाणु कहते हैं । यथा -

खंधं सयलसमत्थं, तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति ।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥[2]

स्कन्ध के प्रकार -

स्कन्ध दो प्रकार के हैं - बादर और सूक्ष्म । बादर स्थूल का पर्यायवाची है । स्थूल अर्थात् जो नेत्रेन्द्रिय ग्राह्य हो और सूक्ष्म जो नेत्रेन्द्रिय ग्राह्य न हो । इन दोनों को मिलाकर स्कन्ध के छह भेद स्वीकार किये गये है ।

बादर-बादर - (स्थूल-स्थूल) - जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होने पर स्वय न मिल सके, ऐसे ठोस पदार्थ । यथा - लकड़ी, पत्थर, आदि ।

बादर - (स्थूल) - जो छिन्न-भिन्न होकर आपस में मिल जाये ऐसे द्रव पदार्थ । यथा - घी, दूध, जल, तेल आदि।

बादर-सूक्ष्म (स्थूल-सूक्ष्म) - जो दिखने में तो स्थूल हों अर्थात् केवल नेत्रेन्द्रिय से ग्राह्य हों, किन्तु पकड में न आवें । यथा - छाया, प्रकाश, अन्धकार आदि ।

सूक्ष्म-बादर (सूक्ष्म-स्थूल) - जो दिखाई न दें अर्थात् नेत्रेन्द्रिय ग्राह्य न हों, किन्तु अन्य इन्द्रियों स्पर्श, रसना आदि से ग्राह्य हों । जैसे - ताप, ध्वनि, रस, गन्ध, स्पर्श आदि ।

सूक्ष्म - स्कन्ध होने पर भी जो सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न किये जा सकें । जैसे - कर्मवर्गणा आदि।

अतिसूक्ष्म - कर्मवर्गणा से भी छोटे द्व्यणुक (दो अणुओं - दो परमाणुओं वाले) आदि ।

परमाणु सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, अविभागी है, शाश्वत है तथा एक है । परमाणु का आदि, मध्य और अन्त वह स्वयं ही है । आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है -

१. वही, 5/25
२. पंचास्तिकाय गाथा 75

अत्तादिअत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं ।
अविभागी जं दव्वं परमाणु तं वियाणाहि ॥[1]

अर्थात् जिसका स्वयं स्वरूप ही आदि, मध्य और अन्त रूप है, जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण योग्य नहीं है, ऐसा अविभागी - जिसका दूसरा भाग न हो सके, द्रव्य परमाणु है।

आज का विज्ञान भी यही मानता है। विज्ञान के अनुसार भी परमाणु किसी भी इन्द्रिय या अणुवीक्षण यंत्रादि से ग्राह्य नहीं है। जैनदर्शन में परमाणु को केवल सर्वज्ञ के ज्ञानगोचर मात्र माना गया है। आज विज्ञान का जितना भी अध्ययन है चाहे वह भौतिकी हो या रसायन हो परमाणु पर ही आधारित है। क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार आतप और उद्योत भी पुद्गल की ही पर्यायें हैं। आज विज्ञान का अध्ययन करने वाला प्राथमिक छात्र भी यह जानता है कि परमाणु को हम देख नहीं सकते, इन्द्रियों से जान नहीं सकते, परमाणु तत्त्व का सबसे छोटा कण है, परमाणु उदासीन है, यह रासायनिक अभिक्रिया में भाग लेता है, परमाणु स्वतन्त्र रूप से नहीं पाया जाता आदि। (संक्षिप्त विवरण हेतु - देखें विज्ञान, भाग 1, उ. प्र. सरकार द्वारा निर्धारित कक्षा 9-10 की पुस्तक)। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हजारों वर्ष पूर्व जैन दार्शनिको द्वारा कथित परमाणु सम्बन्धी विज्ञान पूर्णत: सत्य था। कुन्दकुन्द का 'णेव इंदिए गेज्झं' कथन आज पूरी तरह खरा उतर रहा है।

तत्त्वार्थसूत्र में परमाणु को अप्रदेशी कहा गया है - **'नाणोः'**[2] यहाँ अप्रदेशी का अर्थ है एक प्रदेशी। परमाणु से छोटा कोई द्रव्य नहीं होता, अत: दो आदि प्रदेश उसके हो नहीं सकते। दूसरी बात यह भी है कि आकाश के जितने स्थान को अविभागी परमाणु रोकता है वह एक प्रदेश है। यथा -

जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणु उट्ठद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥[3]

विशेष ध्यातव्य यह भी है कि पुद्गलों की परमाणु अवस्था स्वभाव पर्याय है और स्कन्धादि अवस्था विभाव पर्याय है। जैनदर्शन और विज्ञान दोनों के अनुसार ही परमाणु जितने हैं उतने ही रहेंगे, उनमें न एक घट सकता है और न बढ़ सकता है। पुद्गल द्रव्य के प्रदेशों के सन्दर्भ में उमास्वामी का कथन है कि वे अर्थात् पुद्गलों के प्रदेश सख्यात, असंख्यात और अनन्त हैं। वस्तुतः तो पुद्गल परमाणु रूप है किन्तु बन्ध के कारण कोई पुद्गल स्कन्ध संख्यात प्रदेशों का होता है, कोई स्कन्ध असंख्यात प्रदेशों का होता है, कोई स्कन्ध अनन्तप्रदेशों का और कोई अनन्तानन्त प्रदेशों का होता है। यथा - **संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम्** ।[4]

परमाणु की उत्पत्ति -

परमाणु शाश्वत है अतः उसकी उत्पत्ति उपचार से है। परमाणु कार्य भी है और कारण भी। जब उसे कार्य कहा जाता है तो उपचार से ही कहा जाता है, क्योंकि परमाणु सत् स्वरूप है, ध्रौव्य है। अतः इसकी उत्पत्ति का प्रश्न नहीं उठता। परमाणु पुद्गल की स्वाभाविक दशा है। दो या अधिक परमाणु मिलने से स्कन्ध बनते हैं। अत: परमाणु स्कन्धों

---

१. नियमसार, गाथा 26
२. तत्त्वार्थसूत्र 5/11
३. द्रव्यसंग्रह, गाथा 27
४. तत्त्वार्थसूत्र, 5/10

का कारण है। उपचार से कार्य भी इस प्रकार है कि लोक में स्कन्धों के भेद से परमाणु की उत्पत्ति देखी जाती है। इसी कारण आचार्य उमास्वामी ने कहा है - '**भेदादणुः**'[1] अर्थात् अणु भेद से उत्पन्न होता है। किन्तु यह भेद की प्रक्रिया तब तक चलनी चाहिए जब तक कि स्कन्ध द्वयणुक न हो जाये।

स्कन्धों की उत्पत्ति

स्कन्धों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उमास्वामी ने तीन कारण दिये हैं - 1. भेद से, 2. संघात से और 3. भेद तथा संघात (दोनों) से "**भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते**"[2]। यथा - 1. भेद से - जब किसी बडे स्कन्ध के टूटने से छोटे-छोटे दो या अधिक स्कन्ध उत्पन्न होते हैं तो वे भेदजन्य स्कन्ध कहलाते हैं। जैसे - एक ईंट के तोड़ने से उसमें से दो या अधिक टुकडे होते हैं। ऐसी स्थिति में वे टुकड़े स्कन्ध हैं तथा बड़े स्कन्ध टूटने से हुए हैं अतः भेद-जन्य हैं। ऐसे स्कन्ध द्वयणुक से अनन्ताणुक तक हो सकते हैं।

संघात से - संघात का अर्थ है जुडना। जब दो परमाणुओं या स्कन्धों के जुडने से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है तो वह संघात-जन्य उत्पत्ति कही जाती है। यह तीन प्रकार से सम्भव है - अ. परमाणु + परमाणु, आ. परमाणु + स्कन्ध, इ. स्कन्ध + स्कन्ध। ये भी द्वयणुक से अनन्ताणुक तक हो सकते हैं।

भेद-संघात दोनों से - जब किसी स्कन्ध के टूटने के साथ ही उसी समय कोई स्कन्ध या परमाणु उस टूटे हुए स्कन्ध में मिल जाता है तो वह स्कन्ध भेद तथा सघातजन्य स्कन्ध कहलाता है। जैसे टायर के छिद्र से निकलती हुई वायु उसी क्षण वायु से मिल जाती है। यहाँ एक ही काल में भेद तथा संघात दोनों हैं। बाहर निकलने वाली वायु का टायर के भीतर की वायु से भेद है तथा बाहर की वायु से संघात ये भी द्वयणुक से अनन्ताणुक तक हो सकते हैं।

पुद्गल की पर्यायें

'**शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च**'[3] अर्थात् पुद्गल शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थौल्य, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, आतप और उद्योत रूप होते हैं।

शब्द - शब्द पुद्गल की पर्याय है, आज के विज्ञान ने शब्द को पकड़कर ध्वनि-यन्त्रों, रेडियो, टी.वी. टेपरिकार्डर, टेलीफोन, ग्रामोफोन, कम्प्यूटर आदि से स्थिर कर दिया है, और एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेज दिया है। जैनदर्शन के अनुसार लोक में सर्वत्र भाषा वर्गणायें व्याप्त हैं। जिस वस्तु से ध्वनि निकलती है उस वस्तु में कम्पन होने के कारण इन पुदगल वर्गणाओं में भी कम्पन होता है, जिससे तरंगे निकलती हैं। ये तरंगें ही उत्तरोत्तर पुद्गल की भाषा वर्गणाओ में कम्पन पैदा करतीं हैं, जिससे शब्द एक स्थान से उद्भूत होकर दूसरे स्थान पर पहुँच जाता है।[4] विज्ञान भी शब्द का वहन इसी प्रकार की प्रक्रिया द्वारा मानता है।

बन्ध - परस्पर में श्लेष बन्ध कहलाता है। बन्ध का ही पर्यायवाची शब्द है संयोग। परन्तु संयोग में केवल अन्तर रहित अवस्थान होता है, जबकि बन्ध में एकत्व होना, एकाकार हो जाना आवश्यक है। बन्ध प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से दो प्रकार का है। यथा -

१. तत्त्वार्थसूत्र, 5/27
२. वही, 5/26
३. वही, 5/24
४. तत्त्वार्थसूत्र, पं. फूलचन्द्र शास्त्री कृत व्याख्या, पृ. 230
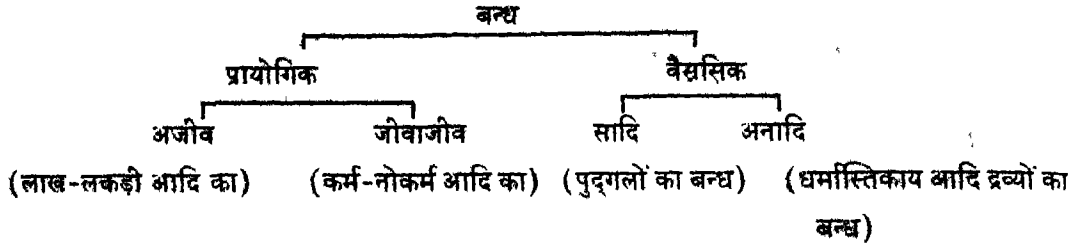
परमाणुओं में परस्पर बन्ध कैसे होता है इस सन्दर्भ में उमास्वामी का कहना है कि "**स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः**"[1] अर्थात् स्निग्ध और रूक्षत्व गुणों के कारण बन्ध होता है। परमाणु में दो स्पर्श शीत और उष्ण में से एक तथा स्निग्ध और रूक्ष में से एक पाये जाते हैं। इन्हीं के कारण बन्ध होता है और स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। स्निग्धत्व का अर्थ चिकनापन और रूक्षत्व का अर्थ रूखापन है। वैज्ञानिक परिभाषा में इन्हें पाजिटिव और निगेटिव कहा जा सकता है। आज विद्युत की उत्पत्ति में पाजिटिव और निगेटिव को जो कारण माना जाता है उसका मूल इस सूत्र में देखा जा सकता है। यह बन्ध तीन रूपों में होता है -

स्निग्ध	+	स्निग्ध परमाणुओं का
रूक्ष	+	रूक्ष परमाणुओं का
स्निग्ध	+	रूक्ष परमाणुओं का

तत्त्वार्थसूत्र के "**द्व्यधिकादिगुणानां तु**"[2] सूत्र के अनुसार जिन परमाणुओं में बन्ध होता है उनमें चाहे सदृश हों चाहे विसदृश, सर्वत्र दो शक्त्यंशों (गुणों) का अन्तर होना चाहिए। समान शक्त्यंश होने पर बन्ध नहीं होता।[3] साथ ही जघन्यगुण वाले परमाणुओं का बन्ध नहीं होता।[4] भाव यह है कि यदि एक परमाणु में एक ही शक्त्यंश है तो उसका दो का अन्तर होने पर भी 3 शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होगा। बन्ध होने पर अधिक अंश वाला परमाणु हीन अंश वाले परमाणुओं को अपने में मिला लेता है।[5]

सूक्ष्मत्व - सूक्ष्म भी अन्त्य और आपेक्षिक के भेद से दो प्रकार का है। अन्त्य सूक्ष्म परमाणुओं में तथा आपेक्षिक सूक्ष्मत्व बेल, आवला आदि में होता है।[6]

स्थौल्य - यह भी अन्त्य और आपेक्षिक के भेद से दो प्रकार का है। अन्त्य स्थौल्य लोक रूप महास्कन्ध मे होता है तथा आपेक्षिक स्थौल्य बेर, आंवला आदि में होता है।[7]

संस्थान - संस्थान का अर्थ है आकृति। यह इत्थंलक्षण और अनित्थंलक्षण भेद रूप दो प्रकार की है। कलश आदि का आकार गोल, चतुष्कोण, त्रिकोण आदि रूपों को इत्थंलक्षण कहा जा सकता है तथा जो आकृति शब्दों में नहीं कही

१. तत्त्वार्थसूत्र 5/33
२. वही, 5/36
३. गुणसाम्ये सदृशानाम्, तत्त्वार्थसूत्र 5/35
४. न जघन्यगुणानाम्, तत्त्वार्थसूत्र 5/34
५. बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च, तत्त्वार्थसूत्र 5/37
६. तत्त्वार्थसार, 3/65
७. वही, 3/66

जा सकती वह अनित्थंलक्षण है। जैसे मेघ आदि की आकृति।[1] आधुनिक भाषा विज्ञान में भी इनके लिए ऐसे ही शब्दों का प्रयोग होता है। संस्थान पुद्गल की ही एक पर्याय है क्योंकि पुद्गलों (परमाणुओं) के समूह से ही आकृति बनती है। अन्धकार, छाया आदि भी पुद्गल ही हैं।

भेद - एक पुद्गल पिण्ड का भंग होना भेद कहलाता है। यह उत्कर, चूर्णिका, चूर्ण, खण्ड, अणुचटन और प्रतर रूप छह प्रकार का है।[2] लकड़ी, पत्थर आदि का आरी से भेद उत्कर है। उड़द, मूंग आदि की चुनी चूर्णिका है। गेहूँ आदि का आटा चूर्ण है। घट आदि के टुकड़े खण्ड हैं। गर्म लोहे पर घन-प्रहार से जो स्फुलिंग (कण) निकलते हैं वे अणुचटन हैं तथा मेघ, मिट्टी, अभ्रक आदि का बिखरना प्रतर है।

अन्धकार - अन्धकार भी पौद्गलिक स्वीकार किया गया है। नेत्रों को रोकने वाला तथा प्रकाश का विरोधी तम अर्थात् अन्धकार है।

छाया - शरीर आदि के निमित्त से जो प्रकाश आदि का रुकना है, वह छाया है। यह भी पौद्गलिक है। छाया दो प्रकार की है। एक वह जिसमें वर्ण आदि अविकार रूप में परिणमते है। यथा पदार्थ जिस रूप और आकार वाला होता है दर्पण में उसी रूप और आकार वाला दिखाई देता है। आधुनिक चलचित्र फोटो आदि को इस रूप में समझा जा सकता है। दूसरी छाया वह है जिसमें प्रतिबिम्ब मात्र पडता है, जैसे धूप या चादनी में मनुष्य की आकृति।[3] आधुनिक विज्ञान ने छाया को कैमरे में बन्द करके जैनदर्शन की मान्यता की पुष्टि की है। कैमरा छाया को ही ग्रहण करता है।

आतप और उद्योत - सूर्य आदि का उष्ण प्रताप आतप है तथा चन्द्रमा, जुगनूँ आदि का ठण्डा प्रकाश उद्योत कहलाता है। जैनदर्शन में ये पुद्गल की ही पर्यायें हैं।[4] आधुनिक विज्ञान ने सौर ऊर्जा के रूप में सूर्य की किरणों को संग्रहीत कर जैन मान्यता को सिद्ध किया है।

इस प्रकार जैन दर्शन में पुद्गल तथा परमाणु के सन्दर्भ में विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। आज के राकेट आदि की गति वस्तुत: परमाणु की गति से कम है। यत: परमाणु की उत्कृष्ट गति एक समय में 14 राजू बताई गई है। (मन्दगति से एक परमाणु को लोकाकाश के एक प्रदेश पर से दूसरे प्रदेश पर जाने में जितना काल लगता है, उसे समय कहते हैं।) एक समय काल की सबसे छोटी इकाई है। वर्तमान एक सेकेण्ड में जैन पारिभाषिक असंख्यात समय होते हैं। विज्ञान के अनुसार भी समय की सूक्ष्म इकाई बताना कठिन है। राजू सबसे बड़ा प्रतीकात्मक माप है। एक राजू में असंख्यात किलोमीटर समा जायेंगे। इसी कारण विश्वविख्यात दार्शनिक विद्वान् डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है - 'अणुओं के श्रेणी विभाजन से निर्मित वर्गों की नानाविध आकृतियाँ होती हैं। कहा गया है कि अणु के अन्दर ऐसी गति का विकास भी सम्भव है जो अत्यन्त वेगवान् हो, यहाँ तक कि एक क्षण के अन्दर समस्त विश्व की एक छोर से दूसरे छोर तक परिक्रमा कर आये।'[5]

इस प्रकार जैनदर्शन में पुद्गलद्रव्य का विस्तार से विवेचन उपलब्ध होता है। यहाँ पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को अजीव माना है। जीवद्रव्य मिलाकर छह द्रव्य हो जाते हैं, जिनका ज्ञान मोक्षमार्ग में आवश्यक है।

---

१. तत्त्वार्थसार, 3/64

२. वही, 3/72

३. वही, 3/69-70

४. वही, 3/71

५. भारतीयदर्शन, प्रथम भाग, राजपाल एण्ड संस दिल्ली, पृ. 292

जैनदर्शन में अजीव द्रव्यों की वैज्ञानिकता

* प्राचार्य (पं.) निहालचन्द्र जैन

जैनदर्शन और विज्ञान, दोनों का लक्ष्य सत्य का अन्वेषण है। जहाँ जैनदर्शन में आत्म-अनुभूति से सत्य को जानने की एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है, वहाँ विज्ञान, भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में प्रयोगों के आधार पर सत्य के निकट पहुँचने का दावा है।[1] यहाँ जैनदर्शन में वर्णित पाँच अजीव द्रव्यों की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर तुलनात्मक दृष्टि से जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित व्याख्याओं को समझना है।

उमास्वामी देव ने तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय 5 में इसका विशद विवेचन किया है। इनमें 4 द्रव्यधर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल अजीवकाय है। 'काय' से तात्पर्य बहुप्रदेशी होने से है। काल भी अजीव द्रव्य है परन्तु वह कायवान नहीं है। धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी, एवं आकाश अनन्तप्रदेशी एक, एक द्रव्य हैं। पुद्गल - संख्यात-असंख्यात और अनन्तप्रदेशी होते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल - चारों अमूर्तिक और निष्क्रिय द्रव्य हैं। जबकि पुद्गल मूर्तिक रूपी द्रव्य है। रूपी कहने से उसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण चारों गुण अविनाभावी रूप से विद्यमान हो जाते हैं।

1. **पुद्गल** - 'पुद्गल' जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। विज्ञान शब्दावलि में इसे पदार्थ या मेटर (Matter) कहा जाता है। ऊर्जा, शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, (आकार) अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत, पुद्गल की पर्यायें - विशेष हैं। 'पुद्गल' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार तत्त्वार्थ राजवार्तिक में की गयी है - 'पूरणाद् गलनाद् पुद्गल इति संज्ञा' पूरणात् - 'पुत्' और गलयतीति - 'गल' मिलकर पुद्गल बना। पूरण- यानी संयुक्त होना, (Fusion) और गलन यानी वियुक्त होना Fission। जिस द्रव्य में संयोजन और वियोजन की क्षमता होती है, वह पुद्गल कहलाता है। आधुनिक विज्ञान में रेडियो एक्टिवता (Radio activity) घटना में α, β, χ आदि विकिरणों के द्वारा उत्सर्जन या अवशोषण की क्रियाएँ होना, पूरण और गलन के सटीक उदाहरण हैं।

पुद्गल (Matter) के दो भेद होते हैं - 1. परमाणु और 2. स्कन्ध। पुद्गल का अविभाज्य अंश परमाणु है। भगवतीसूत्र में उसे अविभाज्य (Indivisible) अभेद्य (Impenetrable) अदाह्य (Incumbastible) और अग्राह्य (Imperceetible) कहा गया है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में परमाणु की व्याख्या इस प्रकार की गयी है - परमाणु की लम्बाई चौड़ाई नहीं होती न उसका भार होता है। इसका आदि, अन्त और मध्य एक ही होता है। आधुनिक विज्ञान में का परमाणु व्यास 10^{-8} Cm (एक सेमी का दस

1. Science is a series of opproximaturis of the truth at no stage do we claim to have reached finality any theory is liable to revision in the light of new faet.
Cosmology : Old & New - Dr. G. R. Jain.

* जवाहर वार्ड, बीना (सागर) (07580) 224044

करोड़वाँ भाग) तथा भार 1.64×10^{-23} है। जैनदर्शन में परमाणु को सर्वथा अविभाज्य और अन्तिम अंश माना है। आधुनिक विज्ञान में एक परमाणु में प्रोटान, इलेक्ट्रान और न्यूट्रान प्राथमिक कण हैं।

जैनदर्शन में वर्णित परमाणु इनसे भी सूक्ष्म है -

परमाणु का अस्तित्व वास्तविक है। परन्तु वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। उसे अतीन्द्रियज्ञान (केवलज्ञान या परमावधिज्ञान) द्वारा ही प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है। 'अस्तित्व' - प्रत्येक द्रव्य का एक सामान्य गुण होता है। **गुणपर्ययवद् द्रव्यम्** ॥ 5-38 ॥ द्रव्य-गुण और पर्यायों से युक्त होता है। प्रत्येक द्रव्य या पुद्गल परमाणु में अस्तित्व आदि छह सामान्य गुण, तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि आठ विशिष्ट गुण होते हैं। पर्याय - अवस्था में परिवर्तन से सम्बन्धित है। प्रत्येक परमाणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस, दो स्पर्श इस प्रकार पाँच मौलिक गुण अनिवार्यतः पाये जाते हैं। आठ स्पर्शों में स्निग्ध या रूक्ष में से एक, तथा शीत, उष्ण में से एक इस प्रकार 2 स्पर्श होते हैं।

स्कन्धनिर्माण - पुद्गल के गलन और मिलन स्वभाव के कारण स्कन्ध का निर्माण होता है। पञ्चास्तिकाय में स्कन्ध के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण गाथा है -

खंधा य खंधादेसा खंधपदेसा या होंति परमाणु ।
इति ते चदुव्वियप्पा, पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥

अर्थात् पुद्गल चार रूपों में पाया जाता है - 1. स्कन्ध, 2. स्कन्धदेश, 3. स्कन्धप्रदेश, और 4. परमाणु। किसी पुद्गल का एक पूर्ण अणु स्कन्ध कहलाता है। उसका आधा - स्कन्धदेश, आधे का आधा - स्कन्धप्रदेश तथा जिसका फिर विभाजन न हो सके ऐसा स्कन्ध - परमाणु कहलाता है।[1]

स्कन्ध की रचना - 'भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते' अर्थात् भेद से (Division) संघात से (Union or Sharing) तथा भेदसंघात से स्कन्ध की रचना होती है।

विज्ञान की शाखा - भौतिक रसायन (Physical Chemistry) मे 'इलेक्ट्रानिक थ्योरी ऑफ वेलेन्सी' स्कन्ध निर्माण की सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत करता है। **'खंधो परमाणुसंगसंघादो'** । **स्थूलभावेन ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापार-स्कन्धनात्स्कन्धा इति संज्ञायन्ते** । अर्थात् स्कन्ध - संघात और भेद की प्रक्रिया से प्राप्त होते हैं। स्कन्ध दो प्रकार के होते हैं - 1 सूक्ष्म और 2. बादर (स्थूल)।

परमाणु की गतिशीलता - इस सम्बन्ध में गोम्मटसार में एक बहुत वैज्ञानिक सम्मत पुद्गल की विशेषता के सम्बन्ध में गाथा का उल्लेख है - **पोग्गलदव्वम्हि अणू संखेज्जादी हवंति चलिदा हु** ॥ गो. सा. 593 ॥ तत्त्वार्थ राजवार्तिक में भी पुद्गल - गति के सम्बन्ध में वार्तिक 16 सूत्र 7 में वर्णित है - **'पुद्गलानामपि द्विविधा क्रिया विस्रसाप्रयोगनिमित्ता च ।'**

---

1. खंधं सयलं समत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसोत्ति ।
   अद्धद्धं च पदेसो, अविभागी चेव परमाणु ॥ गो. सा. 604 ॥

पुद्गल - परमाणु में 2 प्रकार की गति पायी जाती है - 1. स्वत: गति - जैसे परमाणु में इलेक्ट्रॉन अपने परिपथ में चक्कर लगाते रहते हैं या हवा में गैस के सूक्ष्म-स्कन्ध। 2. बाह्य बल द्वारा गति होना या अन्य पुद्गल के निमित्त से होने वाली गति। जैसे परमाणु का तरंग रूप में कम्पन या परिस्पन्दन। स्वत: गति अनुश्रेणी रूप होती है, जबकि अन्य पुद्गल के निमित्त से होने वाली गति -विश्रेणी (वक्ररेखी) हो सकती है।

पुद्गल के उपकार -

शरीरवाङ्मन:प्राणापाना: पुद्गलानाम् ॥ 5-19 ॥

पुद्गल स्कन्धों के सामान्यत: 23 भेद हैं। जिनमें 5 भेद ऐसे हैं जो जीव के ग्रहण करने में आते हैं - 1. कार्माणवर्गणा- जिनसे ज्ञानावरणादिक आठ कर्म बनते हैं। नोकर्मवर्गणाओं के अन्तर्गत आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और तैजसवर्गणा आते हैं। आहारवर्गणा से औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर - संसारी जीव के होता है वचन या भाषावर्गणा द्वीन्द्रियादिक जीवों के, मनोवर्गणा संज्ञी जीवों के तथा प्राणापान - पर्याप्त जीवों में ही पाया जाता है। इसके अलावा - सुख में, दु:ख में, जीवन और मरण में पुद्गल द्रव्य निमित्त बनता है। ये सभी जीव द्रव्य के प्रति उसके उपकार हैं।[1]

पुद्गल के रूप - पुद्गल को छह रूपों में विभाजित किया जा सकता है।[2]

स्कन्ध के भेद -

1. **स्थूल-स्थूल** - जैसे ठोस पृथ्वी पाषाण आदि
2. **स्थूल** - जैसे द्रव - पानी, पिघला घी, दूध आदि
3. **स्थूल-सूक्ष्म** - जैसे - ताप, प्रकाश, विद्युत या चुम्बकीय ऊर्जाएं
4. **सूक्ष्म-स्थूल** - जैसे - गैस, हवा, हाइड्रोजन आदि
5. **सूक्ष्म** - द्रव्य मन आदि
6. **सूक्ष्म-सूक्ष्म** - इलेक्ट्रॉन के पुंज, प्रोटॉन या न्यूट्रॉन

आधुनिक परमाणु के मूल कणों को इसमें लिया जा सकता है - जैसे उक्त वर्गीकरण पूर्णत: वैज्ञानिक सम्मत है। जैनदर्शन के अनुसार पदार्थ (Matter) और ऊर्जा (Energy) पुद्गल द्रव्य की दो विभिन्न अवस्थाएँ या पर्याय हैं। महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने एक गणितीय सूत्र द्वारा ऊर्जा - संहति समीकरण के नाम से इसे प्रतिपादित किया है।

१. आहार वग्गणादो तिण्णि सरीराणि होंति उस्सासो।
णिस्सासोवि य तेजो वग्गणखंधादु तेजंगं ॥
भासमणवग्गणादो कमेण भासा मणं च कम्मादो।

२. अइथूल-थूलं, थूलं थूल-सुहुमं च सुहुम-थूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥ नियमसार ॥

(Energy) - (E) = Mass (M) X (Velocity of light- C)^2 उक्त समीकरण इस बात का द्योतक है कि ऊर्जा, संहति युक्त होती है, जो जैनदर्शन की मान्यतानुसार है। पुद्गल की प्रमुख विशेषताएँ - 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ 5-23 ॥'

व्याख्या प्रज्ञप्ति में कहा गया है - **पोग्गलत्थिकाए पंचवण्णे दुगंधे पंचरसे अट्ठफासे पण्णत्ते** ॥ अर्थात् पुद्गल में 8 स्पर्श, 2 गन्ध, 5 रस, व 5 वर्ण कुल 20 मूलगुण पाये जाते हैं। स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण ये चार स्पर्श चतुःस्पर्शी पुद्गल स्कन्धों में पाये जाते हैं। मनोवर्गणा, भाषावर्गणा, श्वासोच्छ्वासवर्गणा और कार्मणवर्गणा चतुस्प्रर्शी श्रेणी में आते हैं जो संहति रहित होते हैं, जबकि अष्टस्पर्शी स्कन्धों में आठों ही स्पर्श होने से वे संहतिवान होते हैं। जैसे - आहारवर्गणा (और तैजसवर्गणा वाले पुद्गल-स्कन्ध)।

आधुनिक विज्ञान स्कन्धों की गति तीव्रता या मन्दता से क्रमशः ताप-वृद्धि और ताप-हानि मानता है। जैनदर्शन- 'वर्ण' प्रत्येक पुद्गल परमाणु या सूक्ष्म स्कन्ध का वस्तु-सापेक्ष गुण मानता है। पाँच वर्णों में से एक वर्ण अवश्य होता है। विज्ञान वर्ण की व्याख्या - प्रकाश के तरंग सिद्धान्त से प्रतिपादित करता है। प्रकाश तरंग की विविध आवृत्तियाँ (Frequeucies) अथवा तरंग दैर्घ्य (Wave length) विशिष्ट वर्ण की सूचक होती हैं। जैसे लालवर्ण का औसत तरंग दैर्घ्य 7000 A^0 है। वर्ण के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर सी0 वी0 रमन द्वारा किये गये वैज्ञानिक शोधकार्य (1930 में नोबल पुरस्कार) से यह बात प्रमाणित होती है कि वर्ण-वस्तु सापेक्ष है, ज्ञाता-सापेक्ष नहीं। यह तथ्य जैनसिद्धान्त से मेल खाती है।

पुद्गल द्रव्य के अन्य गुण - 'रूप, रस, गन्ध और वर्ण के अलावा उसके और भी गुण धर्म हैं जिन्हें आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र 5-24 में वर्णित किया है -

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥

अर्थात् शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम (अन्धकार), छाया, आतप (सूर्य का प्रकाश), उद्योत (दृश्य एवं अदृश्य ठंडी प्रभा) ये दस पुद्गल द्रव्य के ही धर्म (Properties) हैं।

2. **धर्मद्रव्य** - '**गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः**' ॥ 5-17 ॥

उक्त धर्मद्रव्य के लक्षण को द्रव्यसंग्रह में कहा है -

गइपरिणयाण धम्मो, पुग्गलजीवाण गमणसहकारी।
तोयं जह मच्छाणं, अच्छंताणेव सो णेई ॥ 17 ॥

जिस प्रकार मछली के तैरने या चलने में जल सहायक होता है, उसी प्रकार जीव व पुद्गल के गमन में, धर्मद्रव्य सहकारी कारण बनता है। पंचास्तिकाय में धर्मद्रव्य को इस प्रकार व्याख्यापित किया गया - "न तो यह स्वयं चलता है न किसी को चलाता है, केवल गतिशील जीव व पुद्गल स्कन्धों या अणुओं की गति में सहकारी या उदासीन कारण बनता है। धर्मद्रव्य-सम्पूर्ण लोक में व्याप्त अमूर्तिक द्रव्य है जो जीव के आगमन, गमन, बोलना, मनोयोग, वचनयोग, काययोग, मनोवर्गणाओं और भाषावर्गणाओं के अतिसूक्ष्म पुद्गलों के प्रसारित होने में निमित्त कारण बनता है।"

माइकेल्सन वैज्ञानिक ने प्रकाश का वेग ज्ञात करते समय एक ऐसे ही अखण्ड सर्वव्याप्त द्रव्य की परिकल्पना की थी जो पूर्ण प्रत्यास्थ (Perfactly Elastic) पूर्ण लचीला, अत्यन्त हल्का, और प्रकाश कणों को चलाने में सहायक माध्यम की भाँति व्यवहार करता है। उसे 'ईथर' नाम दिया गया। ईथर और धर्मद्रव्य के गुणों में साम्यता देखी गयी।

दोनों - अमूर्तिक, भाररहित, निष्क्रिय हैं तथा उदासीन कारण हैं। वैज्ञानिक अभिधारणाएँ हैं कि यह भौतिक पदार्थ नहीं है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में ज्योतिष विद्या के प्रोफेसर A. S. Eddington का यह कथन सर्वमान्य हुआ - 'Nowadays it is agreed that aether is not a Kind of matter', Filling all Space and not moving.'

उक्त कथन को जैनाचार्यों ने इस प्रकार वर्णित किया -

अमूर्तो निष्क्रियो नित्यो मत्स्यानां जलवद् भुवि ॥

3. **अधर्मद्रव्य** - नियमसार में अधर्मद्रव्य के सम्बन्ध में कहा है -"**अधम्मं ठिदिजीवपुग्गलाणं च ॥**"

द्रव्यसंग्रह की गाथा 18 दृष्टव्य है -

ठाणजुदाण अधम्मो, पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं, गच्छंता णेव सो धरई ॥

अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक या उदासीन कारण होता है, जिस प्रकार एक पथिक के लिए उसके रुकने में वृक्ष की छाया उदासीन निमित्त होती है। यह भी एक अखण्ड, लोक में परिव्याप्त, घनत्व रहित, अभौतिक, अपारमाण्विक पदार्थ है। आधुनिक विज्ञान इसकी तुलना गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र से करता है। क्योंकि लोक में वस्तु के ठहराव में गुरुत्वाकर्षण को स्वीकार किया गया है।

उक्त दोनों धर्म और अधर्म - असंख्यात प्रदेश वाले हैं। लोकाकाश भी असख्यात प्रदेशी होता है, जबकि सम्पूर्ण आकाश अनन्त प्रदेशी है। एक जीव भी असंख्यात प्रदेशी है। ये चारों असख्यात प्रदेशी होने से प्रदेशों मे समान होते है। क्योंकि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का अवगाह केवल लोकाकाश में ही है, अलोकाकाश में नहीं।

4. **आकाशद्रव्य** - तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि जीव और पुद्गल द्रव्यों को अवगाह देना आकाश द्रव्य का कार्य है - "**आकाशस्यावगाहः**" ॥ 5-18 ॥

जैन दार्शनिकों ने आकाश को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना है। यह दो प्रकार रूप है 1. लोकाकाश और 2. अलोकाकाश। विज्ञान जगत में आकाश को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। डॉ. हेन्सा का यह कथन बहुत प्रासंगिक है -

'These four Elements - Matter Time and Medium of motion are all seperate and we can not imagine that one of thow could depend on another or converted into another.'

अर्थात् आकाश, पुद्गल, काल और धर्मद्रव्य (गति का माध्यम) ये चारों तत्त्व न एक दूसरे पर निर्भर हैं और न ही एक दूसरे में परिवर्तित हो सकते हैं। जिसके अन्दर जीवसहित शेष पाँच द्रव्य रहते हैं वह लोकाकाश है। आकाश लोक में भी है और लोक के बाहर यानी सर्वत्र व्याप्त है। अलोकाकाश में अन्य पाँच द्रव्य अनुपस्थित रहते हैं। केवल वहाँ आकाश द्रव्य ही रहता है।

आइन्स्टीन के विश्व विषयक सिद्धान्त में समस्त आकाश अवगाहित है। इसका कोई अंश रिक्त नहीं है। परन्तु डच वैज्ञानिक 'डी सीटर' का मानना है कि शून्य (पदार्थरहित) आकाश की विद्यमानता है।

अनेकान्तवाद से उक्त दोनों वैज्ञानिक के कथन की पुष्टि की जा सकती है। आइन्स्टीन का 'विश्व-आकाश' लोकाकाश की ओर संकेत करता है, जबकि डी सीटर का विश्व आकाश जो सम्पूर्ण रूप से शून्य है, अलोकाकाश की ओर संकेत करता है।

आकाश सांत होते हुए भी उसकी सीमा को नहीं पाया जा सकता है। वैज्ञानिक पॉइनकेर ने सान्त आकाश का विश्लेषण इस प्रकार प्रस्तुत किया -

पॉइनकेर ने विश्व को एक अत्यन्त विस्तृत गोले के समान माना है, जिसके केन्द्र में उष्ण तापमान है, जो गोले की सतह की ओर जाने पर क्रमश: घटता जाता है। विश्व की सीमा पर, यानी गोले की अन्तिम सतह पर वास्तविक शून्य होता है। पदार्थों का विस्तार उष्ण तापमान के अनुपात से होता है। केन्द्र से सीमा की ओर जाने पर पदार्थों का विस्तार भी क्रमश: कम होना प्रारम्भ हो जायेगा तथा उसका वेग भी घटता जायेगा। जिससे कोई कभी उसकी सीमा तक नहीं पहुँच सकते। यही कारण है कि जैनदर्शन में वर्णित - जीव, पुद्गल आदि अलोकाकाश में नहीं पाये जाते हैं।

5. **काल द्रव्य** - उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवे अध्याय में "कालश्च" सूत्र देकर 'काल' को एक स्वतन्त्र द्रव्य निरूपित किया है। जो अकायवान है तथा पदार्थों के परिणमन में यह उदासीन निमित्त होता है। 'काल' द्रव्य का उपकार - वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्वापरत्व है।[१] समय के आश्रय से होने वाली गति, स्थिति, उत्पत्ति और वर्तना ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं। यद्यपि सभी पदार्थ अपनी उपादान शक्ति से वर्त रहे हैं। परन्तु उनको वर्तानेवाला - कालद्रव्य है। 'काल' द्रव्य के सन्दर्भ में क्रिया शब्द से 'गति' समझना चाहिए जो 3 प्रकार की होती है - प्रयोगगति, विस्रसागति, और मिश्रगति। इसीप्रकार परत्वापरत्व - प्रशंसाकृत, क्षेत्रकृत और कालकृत होता है।

आधुनिक भौतिकी के अनुसार - 'The speed of a space point relative to its surrowding points is the fundamental aspect in corporated in the cllsign og the universal space and from this basic Phenomen on of the changing positions or space points arises The veru concept of time.' (**Beyond Matter - By - P. Tiwari Page - 87)**

श्वेताम्बर परम्परा में काल को औपचारिक द्रव्य माना गया है,[२] जबकि दिगम्बर परम्परा में काल को वास्तविक द्रव्य माना है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा भी है -

लोगागास पदेसे एक्के एक्के जेट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासी इव ते कालाणु असंखदव्वाणि ॥588॥

---

१. वर्तनापरिणाम: क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ 5+22 ॥

२. 'कालश्चेत्येके' पाठ मिलता है जबकि दिगम्बर परम्परा में 'कालश्च'।

काल के अणु रत्नराशि के समान लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक रूप से स्थित हैं। अर्थात् लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं (असंख्यात) उतने ही स्वतन्त्र कालाणु हैं।

दोनों परम्पराओं का सापेक्ष विवेचन करें तो वर्तना और परिणमादि काल के लक्षण भी हैं और पदार्थ की पर्यायें भी। पर्यायें -पदार्थ रूप ही होती है, इस अपेक्षा से काल को स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर औपचारिक द्रव्य माना है। लेकिन कालाणु भिन्न-भिन्न हैं और पर्याय परिवर्तन में सहकारी निमित्त के रूप में भाग लेता है, उपादान रूप से नहीं, इस अपेक्षा से काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना जा सकता है।

वैज्ञानिक मिन्को के चतुर्दिक आयाम समीकरण ($dx + dy + dz + dt = 0$) में आकाश के 3 आयाम एवं काल को अन्तर्निहित किया गया है। वैज्ञानिक ऐडिन्टन के अनुसार - 'Time is more Physical reality than matter.'

अर्थात् काल, पदार्थ से ज्यादा वास्तविक भौतिक है।' जैनदर्शन में 'काल' द्रव्य को अस्तिकाय न मानकर 'अकाय' माना है। काल के अकायत्व का समर्थन ऐडिन्टन के इस कथन से होता है - 'I shall use the Phrase time-arrow to express thus one way property of time which no analogne in space.' उन्होने काल द्रव्य की अनन्तता पर कहा - 'The world is closed in space dimension, but it is open at forth and of time-dimension' ऐडिन्टन ने उस कहावत को समय के सन्दर्भ में चरितार्थ किया कि समय तीर की तरह भागता है और जैसे तरकस से निकला तीर कभी वापिस नहीं आता, वैसे ही गुजरा हुआ समय वापिस नहीं आता।

आइन्स्टीन का कथन है[1] कि जिस प्रकार रंग, आकार, परिमाण हमारी चेतना से उत्पन्न विचार हैं, उसी प्रकार आकाश और काल भी हमारी आन्तरिक अभिकल्पना के ही रूप हैं। जिन वस्तुओं को हम आकाश में देखते हैं उनके क्रम के अतिरिक्त आकाश की कोई वस्तु सापेक्ष वास्तविकता नहीं है। इसी प्रकार जिन घटनाओं के द्वारा हम समय को मापते हैं, उन घटनाओं के क्रम के अतिरिक्त काल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। आकाश व काल का स्वतन्त्र वस्तु सापेक्ष अस्तित्व न होने पर भी 'आकाश व काल की संयुक्त चतुर्विमीय सततता' वस्तु सापेक्ष वास्तविकता का प्रतीक है।

जैनदर्शन में काल के मुख्य दो भेद किये गये हैं -

1. व्यवहारकाल, 2. निश्चयकाल।

लोकाकाश के प्रदेशों में स्थित कालाणु निश्चय काल है और वे ही पदार्थों के परिणमन में निमित्त बनते हैं। आगम में व्यवहारकाल के सम्बन्ध में निम्नलिखित गणना पायी जाती है -

1. असंख्यात 'समय' के समुदाय को - एक आवलिका।

---

1. कालद्रव्य : जैनदर्शन एवं विज्ञान, कुमार अनेकान्त जैन : डॉ. हीरालाल जैन स्मृति ग्रन्थ 'ऋषिकल्प' आपेक्षिकता के सिद्धान्त के अनुसार आकाश की तीन विमायें और काल की एक विमा मिलकर एक चतुर्विमीय अखण्डता का निर्माण करता है, और हमारे वास्तविक जगत में होने वाली सभी घटनायें चतुर्विमीय सततता का विविध अवस्थायें के रूप में सामने आती है।

1. The Universe and Dr Einstino - Page 21-22 to Page 78.

(आकाश के एक प्रदेश पर स्थित एक परमाणु मंदगति द्वारा निकटस्थ आकाश प्रदेश पर जितने काल में पहुँच जाता है, वह 'समय' (Unit of time) कहलाता है।)

2. संख्यात आवलिका = 1 उच्छ्वास

3. 1 श्वासोच्छ्वास को प्राण कहते हैं ऐसे सात प्राण = 1 स्तोक

4. 7 स्तोकों का एक लव

5. 7 लव का 1 मुहूर्त

6. 30 मुहूर्त = 24 घण्टे (1 अहोरात्रि) (1 मुहूर्त = 48 मिनिट)

7. 30 अहोरात्रि = 1 मास

8. 12 मास = 1 वर्ष

समय का माप सूर्यचन्द्र की गति के आधार पर भी किया जा सकता है।

द्रव्यसंग्रह में व्यवहारकाल को इस प्रकार निरूपित किया है -

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो ॥

अर्थात् जो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक, परिणामादि लक्षण से युक्त है वह व्यवहारकाल है। पंचास्तिकाय ग्रन्थ में लिखा है - समय, निमेष, काष्ठा, काल, घड़ी, अहोरात्रि, मास, ऋतु, अयन और वर्ष ऐसा जो काल (व्यवहारकाल) है, वह पराश्रित है।

इस आलेख का उपसंहार करते हुए एक बात विशेष रूप से कह देना चाहता हूँ कि प्राचीन समय में धर्म एवं दर्शन का उद्भव मात्र श्रद्धा जनित नहीं था। धर्म के पीछे विज्ञान की भांति विचार, तर्क युक्ति और कारण रहे। एक विचार देकर अपना आलेख समाप्त करना चाहूँगा कि क्या धर्म की तरह विज्ञान भी सम्यग्दर्शन की साधना और सम्यग्ज्ञान की आराधना का हेतु बनाया जा सकता है? छहढाला (पं. दौलतरामकृत) में 'वीतराग विज्ञान' शब्द जैनधर्म की ऐवज में प्रयोग किया गया है। जो यह बात स्पष्ट करता है कि जैसे विज्ञान प्रयोगों के द्वारा सत्यान्वेषण की दिशा में लगा है उसी तरह अध्यात्म - 'तप' के प्रयोगों के द्वारा आत्मानुसन्धान की प्रशस्त राह पा सकता है। जो विज्ञान हमें वीतरागता की ओर उन्मुख कर दे वही विज्ञान का आध्यात्मीकरण है।

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' : एक व्याख्या

* ब्र. अशोक जैन, दशमप्रतिमाधारी

द्रव्य का स्वरूप

जैनदर्शन में पदार्थ को सत् कहा गया है। सत् द्रव्य का लक्षण है।[१] यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला है।[२] वस्तुत: जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। सारा विश्व परिवर्तन की धारा मे बहा जा रहा है। जहाँ भी हमारी दृष्टि जाती है, सब कुछ बदल रहा है। वह देखो ! सामने पेड खड़ा है, उसमें कोपलें फूट रही हैं, पत्तियाँ बढ रही हैं, वे झड़ रहीं हैं, प्रतिक्षण वह अपनी पुरानी अवस्था को छोड़कर नित-नवीन रूप धर रहा है। बालक युवा हो रहा है, युवा वृद्ध हो रहा है, वृद्ध मर रहा है। सर्वत्र परिवर्तन ही परिवर्तन है। चाहे जड़ हो या चेतन, सभी इस परिवर्तन की धारा में बहे जा रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ विश्व के रंगमंच पर प्रतिक्षण नया रूप धर कर आ रहा है। वह अपनी पुरानी अवस्था को छोडता है, नये को ओढ़ता है। पुराने का विनाश और नये की उत्पत्ति ही इस परिवर्तन का आधार है। कच्चे आम का पक जाना ही तो आम का परिवर्तन है। बालक का युवा, युवा का वृद्ध हो जाना ही तो मनुष्य का परिवर्तन है। पुरानी अवस्था के विनाश को व्यय कहते हैं तथा नयी अवस्था की उत्पत्ति को उत्पाद।[१] नये की उत्पत्ति और पुराने के विनाश के बाद भी द्रव्य अपनी मौलिकता को नहीं खोता। कच्चा आम बदलकर भले ही पक जाये पर वह अपने आमपने को नहीं खोता। बालक भले ही वृद्ध हो जाए, पर मनुष्यता नहीं बदलती। इस मौलिक स्थिति का नाम ध्रौव्य है,[२] जो प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने के बाद भी पदार्थ में समरूपता बनाए रखता है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला है। जगत् का कोई भी पदार्थ इसका अपवाद नहीं है।

पुरानी अवस्था का विनाश और नये की उत्पत्ति दोनों साथ-साथ होती हैं, प्रकाश के आते ही अन्धकार तिरोहित हो जाता है। इनमें कोई समय भेद नही है। यह परिवर्तन प्रतिक्षण हो रहा है, यह बात अलग है कि सूक्ष्म होने के कारण वह हमारी पकड़ के बाहर है अर्थात् हम उसे देख नहीं पा रहे हैं। बालक, यौवन और प्रौढ अवस्थाओं से गुजरकर ही वृद्ध हो पाता है। ऐसा नहीं है कि कोई साठ-सत्तर वर्ष की अवस्था में एकाएक वृद्ध हो गया, वह तो साठ-सत्तर वर्ष तक निरन्तर वृद्ध होता रहा है, वृद्ध होने की यात्रा प्रतिक्षण हुई। यदि एक क्षण भी वह रुक जाए तो वह वृद्ध हो ही नहीं सकता।

---

१. सद्द्रव्यलक्षणं। - तत्त्वार्थसूत्र, 5/29

२. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। -वही, 5/30

१. सर्वार्थसिद्धि, पृ. 229

२. ध्रौव्यमवस्थिति:। - प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, 95

---

* उदासीन आश्रम, तुकोगंज, इन्दौर,

नित्यानित्यात्मकता

प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने के कारण द्रव्य अनित्य है तथा परिवर्तित होते रहने के बाद भी वह अपने मूल में अपरिवर्तित है, अतः द्रव्य नित्य भी है। इसलिए जैनदर्शन में द्रव्य को नित्यानित्यात्मक कहा गया है।[१] यदि द्रव्य सर्वथा नित्य होता, तो जगत् के सारे पदार्थ कूटस्थ हो जाते। न तो नदियाँ बह पातीं, न ही पेड़ों के पत्ते हिल पाते। बालक, बालक ही रहता, वह युवा न हो पाता, युवा युवा ही रहता, वह वृद्ध नहीं हो पाता, वृद्ध वृद्ध ही रहता, वह मर न पाता। जो जैसा है, वह वैसा ही रहता। यदि पदार्थ अनित्य ही होता, तो प्रतिक्षण बदलाव होते रहने के कारण हम एक-दूसरे को पहचान ही नहीं पाते और प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन की इस दौड़ में किसी का किसी से परिचय ही नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में न तो हमें कोई स्मृति होती, न ही होते हमारे कोई सम्बन्ध, जबकि ऐसा है ही नहीं, क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष और अनुभव के विपरीत है। अतः जैनदर्शन में पदार्थ के स्वरूप को नित्य और अनित्य दोनों रूपों वाला अर्थात् नित्यानित्यात्मक कहा गया है।

नित्यानित्यात्मक होने के कारण द्रव्य को गुण-पर्याय वाला कहा गया है।[२] गुण पदार्थ का नित्य अंश है, वह कभी भी नष्ट नहीं होता।[३] उसकी अवस्थाएँ/पर्यायें बदलती रहती हैं। पदार्थ अनेक गुणों का समूह है। उनमें होने वाला परिवर्तन ही पर्याय है।[४] प्रत्येक गुण द्रव्य के आश्रित रहता है, किन्तु स्वयं अन्य गुणों से हीन/रहित होता है।[५] इसलिए यह गुण होकर भी निर्गुण कहलाता है। गुण पदार्थ में सर्वत्र रहते हैं। ऐसा नहीं है कि वह पदार्थ के किसी एक अंश में रहता हो, वह तो तिल में तेल की तरह पूरे पदार्थ में व्याप्त होकर रहता है। सर्वत्र होने के साथ-साथ वह सर्वदा पाया जाता है, इसलिए इसे नित्य कहते हैं। पर्यायें क्षण-क्षायी होती हैं, प्रतिक्षण मिटते रहने के कारण ये (पर्यायें) अनित्य कहलाती हैं।

समझने के लिए, आम एक पदार्थ है। स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूप इसके गुण हैं। इन गुणों का समूह ही आम है। यदि इन्हें पृथक् कर लिया जाये तो आम नाम का कोई पदार्थ ही नहीं बचता, किन्तु इन्हें पृथक् किया ही नहीं जा सकता। ये द्रव्य के अनन्य अंग हैं। द्रव्य से इनका नित्य सम्बन्ध रहता है। आम का स्वाद, रंग, गंध और स्पर्श रूप गुण आम के रग-रग में समाये हैं। अतः वस्तु गुणों का समूह रूप है। इन गुणों में परिवर्तन होता रहता है। आम खट्टे से मीठा, मीठे से कड़वा, कड़वे से कसैला हो सकता है, उसका हरा रंग बदलकर पीला या काला हो सकता है, वह कठोर से मृदु अथवा पिलपिले स्पर्श वाला हो सकता है, सुगंधित से वह दुर्गन्धित भी हो सकता है। ये सब पूर्वोक्त चार गुणो की अवस्थाएँ हैं, किन्तु गुणों में परस्पर कोई परिवर्तन नहीं होता। उसका रंग बदलकर रस नहीं होता, रस बदलकर रंग नहीं बन सकता। उसी तरह गंध और स्पर्श भी अपने मूल रूप में नहीं बदलते। गुण त्रैकालिक होते हैं। यही गुणों की नित्यता है।[६] पर्यायों में परिवर्तन होते रहने के कारण उन्हें अनित्य कहते हैं।[७]

१. सर्वार्थसिद्धि, पृ. 232
२. गुणपर्ययवद् द्रव्यम्। - तत्त्वार्थसूत्र, 5/38
३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 241
४. गुणविकासः पर्यायः। - आलापपद्धति, पृ. 134
५. द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः। - तत्त्वार्थसूत्र, 5/41
६. सहभुवो हि गुणाः। - धवला, पु. 174
७. क्रमवर्तिनः पर्यायाः। - आलापपद्धति, पृ. 140

इस प्रकार गुण भी सत् द्रव्य की तरह नित्यानित्यात्मक हैं। चूंकि सत् नित्यानित्यात्मक है, इसलिए उसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण वाला कहा गया है। गुण नित्य है, पर्याय अनित्य है, इसलिए द्रव्य को गुण पर्याय वाला भी कहते हैं। इन तीनों लक्षणों में ऐक्य है, इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य का लक्षण तीनों प्रकार से किया है -

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ।। पंचास्तिकाय,10

अर्थात् भगवान् जिनेन्द्र द्रव्य का लक्षण सत् कहते हैं, वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है अथवा जो गुण और पर्यायों का आश्रय है, वह द्रव्य है।

आचार्य समन्तभद्र ने एक उदाहरण से द्रव्य की नित्यानित्यात्मकता की सुन्दर प्रस्तुति की है -

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।। आ.मी.59

एक राजा है जिसकी एक पुत्री है और एक पुत्र। उसके पास सोने का कलश है, पुत्री उसे चाहती है। पुत्र उसे गलवाकर मुकुट बनवाना चाहता है। राजा पुत्र की भावना को पूर्ण करने के लिए कलश को गलवाकर मुकुट बनवा देता है। घट के नाश से पुत्री दुःखी होती है, पुत्र आनन्दित होता है। राजा स्वर्ण का स्वामी है, घट के टूटने और मुकुट के बनने दोनों में उसका स्वर्ण सुरक्षित है, इसलिए वह मध्यस्थ रहता है। अतः वस्तु त्रयात्मक है।

जैनदर्शन मान्य पदार्थ की नित्यानित्यात्मकता को पातंजलि ने भी स्वीकार किया है, वे लिखते है - **'द्रव्यं नित्यं आकृतिरनित्या। सुवर्णं कयाचित् आकृत्या युक्तो पिण्डो भवति। पिण्डाकृतिमुपमर्द्य रुचकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरा च आकृत्या युक्तः खदिरांगार सदृशे कुण्डले भवतः। आकृति अन्या च अन्या च भवति द्रव्यं पुनस्तदेव आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।'**[1]

अर्थात् द्रव्य नित्य है और आकार अर्थात् अनित्य है। सुवर्ण किसी एक विशिष्ट आकार में पिण्ड रूप होता है। पिण्ड रूप का विनाश करके उसकी माला बनाई जाती है। माला का विनाश करके उसके कड़े बनाए जाते हैं। कड़ों को तोड़कर उससे अमुक आकार का विनाश करके खदिरांगार के सदृश दो कुण्डल बना लिये जाते हैं। इस प्रकार आकार बदलता रहता है, परन्तु द्रव्य वही रहता है। आकार के नष्ट होने पर भी द्रव्य शेष रहता ही है।

पातंजलि के उपर्युक्त कथन से जैनदर्शन मान्य द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता का पूर्ण रूप से पोषण होता है। नित्यानित्यात्मक होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप वस्तु को 'मीमांसकदर्शन' के प्रवर्त्तक 'कुमारिल्लभट्ट' ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने तो 'आचार्य समन्तभद्र' कृत उदाहरण को भी अपनाया है। वे वस्तु को त्रयात्मक मानते हुए कहते हैं-

वर्धमानक भंगे च रुचकः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ।।

---

१. पातञ्जल महाभाष्य, 1/1/1

हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ।।

न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ।।[1]

अर्थात् सुवर्ण के प्याले को तोड़कर जब माला बनाई जाती है, तब प्याले के इच्छुक मनुष्य को दुःख होता है, माला इच्छुक मनुष्य आनन्दित होता है, किन्तु स्वर्ण के इच्छुक मनुष्य को न हर्ष होता है, और न शोक। अतः वस्तु त्रयात्मक है। यदि पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य न होते, तो तीन व्यक्तियों के तीन प्रकार के भाव नहीं होते, क्योंकि प्याले के नाश से प्याले के इच्छुक व्यक्ति को शोक नही होता। माला के उत्पाद बिना माला के इच्छुक व्यक्ति को सुख नहीं होता तथा स्वर्ण का इच्छुक मनुष्य प्याले के विनाश और माला के उत्पाद में माध्यस्थ नहीं रह सकता। अतः वस्तु सामान्यतया नित्य है और विशेष की अपेक्षा से अनित्य।

यद्यपि द्रव्य को गुण-पर्याय वाला कहा गया है तथा उनके परस्पर भेद भी बताये गए हैं, किन्तु ये पृथक्-पृथक् नहीं हैं, इनमें कोई सत्तागत भेद नहीं है, अपितु तीनों एकरस रूप हैं, एक सत्तात्मक हैं। पर्याय से रहित गुण और द्रव्य तथा द्रव्य और गुण से रहित कोई पर्याय नहीं होती। तीनों की संयुति ही द्रव्य है। जैसे स्वर्ण अपने पीतत्वादि गुण तथा कड़ा, कुण्डलादि आकृतियों से रहित नहीं मिलता, वैसे ही पदार्थ जब भी मिलता है, वह अपने गुण और पर्यायों के साथ ही मिलता है। इसलिए पर्याय को द्रव्य और गुण से अपृथक् कहा गया है।

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूवेंति ।। पंचास्तिकाय, 12

अर्थात् पर्याय से रहित कोई द्रव्य नही तथा द्रव्य से रहित कोई पर्याय नही है, दोनो अनन्यभूत है, ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं। वस्तुतः पदार्थ गुण और पर्यायों का अपृथक् गुच्छ है।

इस प्रकार हमने सत् रूप पदार्थ के स्वरूप को समझा। यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है तथा गुण और पर्याय वाला है।

गुण और पर्याय

गुण पदार्थ में रहने वाले उस अग का नाम है, जो उसमें सर्वदा रहता है तथा सर्वांश में व्याप्त रहने के कारण सर्वत्र भी रहता है। जैसे पूर्वोक्त उदाहरण में दिये गए आम में रहने वाले उसके स्पर्श आदि गुण उसमें सदा रहते हैं तथा वे सर्वांश में व्याप्त हैं। गुणों में होने वाले परिवर्तन को पर्याय कहते हैं। गुण पदार्थ में सदा रहते हैं, इसलिए इन्हे सहभावी या सहवर्ती भी कहते हैं तथा पर्याय क्षण-क्षायी होती है तथा तात्कालिक ही होती है, एक काल में एक ही होती है। इस वजह से क्रम में आने के कारण इन्हें क्रमवर्ती या क्रमभावी भी कहते हैं। गुण त्रैकालिक होते हैं, पर्यायें तात्कालिक होती हैं। गुण और पर्याय में इतना ही अन्तर है।

---

1. मीमांसकश्लोकवार्तिक, पृ. 610

पर्याय के भेद

पर्यायें दो प्रकार की होती हैं - द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय, अथवा व्यंजनपर्याय और अर्थपर्याय ।[1] दोनों शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार की होती हैं। एक गुण की एक समयवर्ती पर्याय को गुणपर्याय कहते हैं तथा अनेक गुणों के एक समयवर्ती पर्यायों के समूह को द्रव्यपर्याय कहते हैं।[2] जैसे - आम का खट्टापन और मीठापन गुणपर्याय हैं, क्योंकि इसमें एक गुण की मुख्यता है तथा आम का कच्चापन और पक्कापन या आम का छोटा-बड़ा होना द्रव्यपर्याय है, क्योंकि ये आम के सभी गुणों के सामुदायिक परिणमन का फल है अथवा द्रव्य के आकार या संस्थान सम्बन्धी पर्याय को द्रव्यपर्याय तथा उससे अतिरिक्त अन्य गुणों के पर्याय को गुणपर्याय कहते हैं। द्रव्य और गुणपर्याय का यह भी लक्षण पाया जाता है।[3]

गुणपर्याय उस गुण की एक समय की अभिव्यक्ति है और गुण उसकी त्रिकालगत अभिव्यक्तियों का समूह है। उसी प्रकार त्रिकालवर्ती समस्त गुणों का समूह द्रव्य है और सकल गुणो के एक समय के पृथक्-पृथक् पर्यायों के समूह का नाम द्रव्यपर्याय है। गुणपर्याय तथा गुण और द्रव्यपर्याय तथा द्रव्य में यही अन्तर है।

अर्थपर्याय व व्यंजनपर्याय का लक्षण भिन्न प्रकार से भी किया गया है। द्रव्य में होने वाले प्रतिक्षणवर्ती परिवर्तन को अर्थ पर्याय तथा इन परिवर्तन के फलस्वरूप दिखाने वाले स्थूल परिवर्तन को व्यंजनपर्याय कहते हैं।[4] प्रत्येक स्थूल परिणमन किन्हीं सूक्ष्म परिणमनों का ही फल है, जो कि सत्तर वर्षीय वृद्ध के उदाहरण से स्पष्ट है। दोनों प्रकार की पर्यायें शुद्ध-अशुद्ध के भेद से दो प्रकार की होती हैं। उसमे शुद्धद्रव्य की दोनों पर्यायें शुद्ध होती हैं तथा अशुद्ध द्रव्य की दोनों ही पर्यायें अशुद्ध ही होती हैं। मुक्त जीव तथा पुद्‌गल के शुद्ध परमाणु की दोनों ही पर्यायें शुद्ध होती हैं तथा ससारी जीव और पुद्‌गल स्कन्धों की दोनों ही पर्यायें अशुद्ध। यही पर्यायों का संक्षिप्त परिचय है ।

---

१. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति 16

२. नयदर्पण, 85

३. वही,

४. अ. प्रतिसमयपरिणतिरूपा अर्थपर्यायाः भण्यन्ते । -प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, 1/80

ब. स्थूला कालान्तरस्थायी सामान्यज्ञानगोचराः ।
दृष्टिग्राह्यस्तु पर्यायो भवेद् व्यञ्जनसंज्ञकः ॥ - भावसंग्रह, 377

Tattvartha Sutra

An Important Source of Indian Law

* **Suresh jain**, I.A.S

1. The Tattvartha Sutra written in the first century, is a well known and a very Important work of the jaina Acharya and great logician His Holiness Umaswami. It is also known as "MOKSHA SASTRA" It is a gold mine of Principles relating to jaina philosophy. It is a compendium of the basic doctrines of Jainism. It is a compact book of sublime wisdom and basic epitome of Jainism. It is a jain Bible. It describes the path of liberation. It is a great instrument of salvation in our hands. It prescribes the join way of life. It describes the essentials of jaina philosophy and Religion with the utmost brevity. It is an authoritative religious book with its excellent social dimensions [illegible] sacrosanctity is highly respected by all the jains. It bestowed immortal. fame on Umaswami, who was endowed with outstanding and exceptional literary and philosophical talent.

2. Acharya Umaswami is a greatest philosopher. He is noted for its depth of thought and simplicity of expression. With his constants meditation, contemplation, clarity of thinking and brevity and conciseness in expression, he created Tattvarthsutra which consists of 357 sutras in its ten chapters. If we delve deep into the truths expounded and enunciated in it, we find that such truths are eternal, universal and immutable.

3 The Tattvarth Sutra deals with **seven substances** (Tattvas) for the welfare of spirit or soul. It perfectly divides the universe into two eternal substances, Spirit and Matter or living (Jiva) and non-living (Ajiva) or soul and non-soul substances. It defines the nature and process of their interaction between them. Such process of inter action involves influx of karmic matter [Aasrava], its union or attachments or fusion or bondage with soul [Bandha] . The stoppage of further influx of larmic matter [Samvara] and detachment or shedding away of karmic from soul [Nirjara]. Such separation of the soul from matter results in the perfect liberation of soul [Mokha]. Right belief, [Samyak Darshan], right knowledge [Samyak Gyan] and right conduct [Samyak Charitra] unitedly constitute the path of such liberation.

* 30,Nishant Colony, Bhopal. M.P462003 Tel (0755) 2555533

4. The seventh chapter of Tattvartha Sutra deals with THE FIVE VOWS and prescribes the ethical and moral guidelines for householder. It is an idea land outstanding code of conduct for every citizen. The five main vows are 'Ahimsa' 'Satya' 'Asteya' 'Brahmacharya' and A\parigraha. The first vow Ahimsa or Non–violence ensures minimization of violence and greatest Kindness to all living creature without any intention to injure them. The second vow Satya ensures truthfullness. The third vow Asteya restrains from theft. The fourth vow Bhahmacharya regulates sexual desires and practices and the fifth vow Aparihraha restrains accumulation of excessive wealth and possessions. The Non-violence underlies in each and every rule of jain Ethies. It perneates and pervades into drinking and food habirs, professions, trade, industries and social behavior of jains.

5. These five vows prescibe the individual. Familial and social behavior for every person constitute jain ethical code and accord religious sanvtions to most important public behavior and moral conduct. This ethical code covers the same ground as the 511 sections and 23 chapters of the Indian penal code whoch enumerates almost all offences known to our modern civilization. Therefore this ethical code is most important for creation of national and social values.

6 This ethical code is an important source of constitutional, criminal and civil law of the land. The object of the penal law is the prevention of offences by the example of punishment. The jain scholars believe that the object of jain Ethical code is wide and more sacrosanct because the due observance of jain Ethical code would save a person from pffences against property, state and public justice and offences relating to human body, coin and stamps and weights and measures and offences affecting the pubkic health, safety, convenience, decency and morality .

7. The 29th sutra of Tattvarth sutra lays down that every householder should prescribe imits to immovable and movabla properties owned by him. He should never transgress such limits. If a parson exceeds such limits. It amounts to breach of vow. This original sutra which is in Sanskrit languahe is being quoted below:-

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥

'Kshetra' consists of fields in which various types of crops are grown. 'Vastu' is the habitation or place of residence. 'Hiranya' means silver. 'Suvarna' means gold. 'Dhanya' denotes food grains such as wheat and rice. 'Dasi-Dasa' means male and female servants. 'Kupya' includes clothes and utensils. The householder resolves that he will fix the limits of possession of the said goods and will not exceed such limits. If he exceeds such limits, his action will constitute the transgression of such vow of limiting his possessions.

8. This Sutra propounds that we should nor exceed the limits set by us with

regard to cultivable land and house, wealth such as gold and silver, cattle and food grains,

men and woman servants and clothes and utensils.Really it is a soul of social code of jain Society.

9. In the first century, this sutra displayed the worldly wisdom of practical utility to the thinkers and law makers of 20th century. It commanded for minimization of possessions. It contained and elaborated the baice features for the development of democratic society. It provided effective solutions for the social and economic problems of the day. This distinctive rule of conduct of jain Ethics, directly led to economic and social equalization by preventing undue accumulation of wealth and services by an individual. Thus the laid down fhe foundations for Constitution of India and a number of modern laws of the contry.

10. the Constitution of India, following the spirit of Tatvatha Sutra prescribes Directive Principles of State Policy and provides therein that :-

    (i) The State shall strive to promote the welfare of the people by securing and protecting as effectively as it may ,a social order in which justice social , economic and political shall inform all the institutions of the national life .

    (ii) The state shall , in particular , strive to minimize the inequalities in income, and endeavor to eliminiate inequalities in status, facilities and oppatunities, not only amongst individuals but also amongst groups of people residing in different areas or engaged in different vocations .

    (iii) The state shall, in particular, direct its policy towards securing

    a. That the civizen, men and women equally, have the right to an adequate means of livelihood;

    b. That the ownership and control of the material resources of the community are so distributed as best to sub serve the common good;

    c. That the operation of the economic system does not result in the concentration of wealth and means of production to the common detriment;

    d. The State take steps for prohibiting the slaughter, of cows and calves and other mulch and draught cattle.

    e. The State shall endeavor to protect and improve the environment and to safeguard the forests and wild life of the country.

11. The Constitution of India prescribes Fundamental Duties of every citizen of India and provides that –

    It shall be the duty of every citizen of India –

a. To promote harmony and the spirit of common brotherhood amongst all the people of India.

b. To abjure violence;

c. To protect and improve the natural environment including forests, lakes, rivers and wild life, and

d. To have compassion for living creatures;

12. The following **laws embody the spirit and principles incorporated in the Tattvartha Sutra:-**

12.1 The Urban Land (Ceiling and Regulation) Act, 1976

This Act was promulgated to socialize to all urban and urbanisable land and to impose ceiling on individual holdings and ownership of urban property beyond reasonable limits. Its objective was to impose a ceiling on the size pf holdings and discourage luxury housing. However this Act has been rejpealed.

12.2 For the socialization of urban land, the following complementary measures have been taken:-

1.Imposition of property tax on vacant urban land in Municipal law.

2.Imposition of property tax on urban land with buildings in Municipal law.

3.Imposition of development charge on land when they are developed in Municipal law and in law relating to land.

12.3 M.P.Ceiling on agricultural Hodings Act, 1960

This act imposes ceiling on existing agricultural holdings as well as on future acquisition of agricultural lands with a view to provide for a more equitable distribution of land. This act also promotes the economic and social interest of the weaker sections of the community and to subservr the common good.

12.4 The Income Tex Act, 1961.

This act imposes the income tax and surcharge on the income earned by citizens of India for the welfare of the State. If a citizen earns income exceeding a particular limit, he is liable to pay income tax on such income and surcharge thereon. He is required to the State.

12.5 M.P. Rice Procurement order and M.P. Wheat procurement order.

This state Government promulgated both these orders to procure levy on the production of wheat and rice. Both these orders provided that of production and storage of wheat and rice exceeded the particular quantities fixed by the Stats Government for purposes of these orders the surplus wheat/rice shall be procured by the Government at the reasonable rates prescribed by the Government.

13. The standard books written by jain Acharyas contain principles of good govirnance, excellent corporate culture and ideal human conduct. The researchers should study all these books and the laws of the land and find out the similarities and aspects of interdependence between the law laid down by our great saints in books like Tattvarth Sutra and codified law laid down by the Constitution of India and by the Acts enacted by Indian Parliament and State Legislative Assemblies of all States of India.

14. In the end, I would like to make the humble submission that Jain code of conduct enshrined in Tattvarth Sutra and similar books, made members of Jain community better, mre responsible and more successful citizens and better human beings. Consequently the Jains excel in their professions not only in this country but in the whole world.

आहार के उपरान्त पूज्य मुनिश्री मन्दिर जी में शान्तिनाथ वेदिका के बगल में बैठते थे, पीछे के दरवाजे से आने वाली शीतल वायु उन्हें आनन्द देती। उनके तीनों तरफ भक्तों की भीड़ उन्हें घेर लेती। उस दिन जिस घर में उनके आहार हुये होते, उस परिवार के सभी सदस्यों का उत्साह और उमंग देखते ही बनती थी। लोग प्रश्न करते, मुनिश्री त्वरित उत्तर देते। प्रश्न-उत्तर का यह कार्यक्रम पूरे चातुर्मास काल में अबाधरूप से चलता रहा।

एक दिन मैंने पूज्य मुनिश्री से साक्षात्कार लेने का उपक्रम किया। टेपरिकार्डर और माइक की व्यवस्था की, लेकिन शोरगुल के कारण व्यवस्थित ढंग से रिकार्ड नहीं हो सका। फिर भी पूज्य मुनिश्री से हुये साक्षात्कार के कुछ रोचक अंश यहाँ प्रस्तुत हैं -

१. प्रश्न - परम पूज्य गुरुदेव ! बाल्यावस्था में आप पढ़ने के साथ-साथ क्या खेल में भी रुचि रखते थे ?

उत्तर - हाँ, रखता तो था।

प्रश्न - किस खेल में ?

उत्तर - फुटबाल खेला हूँ।

प्रश्न - महाराज श्री, आपको इतने सारे खेलों में फुटबाल ही क्यों पसन्द आई ? कोई विशेष कारण था क्या?

उत्तर - हाँ, यह ताकत और क्षमता का खेल है। फुटबाल को आप ज्यादा देर अपने पास नहीं रखते, एक जोरदार किक लगाकर उसे उसके गन्तव्य (विरोधी गोल) तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं। गेंद के लिये आप लपकते हैं, छीना-झपटी भी करते हैं, पर डालते उसे विरोधी गोल में ही हैं।

प्रश्न - तो महाराज श्री, इससे क्या सीख लें ?

उत्तर - मन्तव्य बहुत स्पष्ट है, आसक्ति नहीं। अनासक्ति रखो। फुटबाल को जितनी ज्यादा देर अपने पास रखने की कोशिश करोगे, वह तुमसे छिन जायेगी। हाँथ से पकड़ने की कोशिश फाउल करार देगी। गोलकीपर भी एक समय सीमा से अधिक गेंद को अपने पास नहीं रखता।

प्रश्न - पूज्य गुरुदेव ! तो क्या हम सभी यही समझें कि आपने घर-परिवार रूपी फुटबाल को एक बार ही जोरदार किक लगाकर सफलता पाई और संसार रूपी फुटबाल के प्रति आसक्ति को तोड़कर मुक्ति लक्ष्मी रूपी ट्राफी प्राप्त करने के मार्ग पर चल पड़े हैं ?

उपस्थित भक्तों की खिलखिलाहट और जय ध्वनि।

तत्त्वार्थसूत्र एवं भारतीय दण्डविधान : एक विवेचन

* अनूपचन्द जैन एडवोकेट

तत्त्वार्थसूत्र	भारतीय दण्डविधान
1. तत्त्वार्थसूत्र आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित ईसा की दूसरी शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जिसे जैनधर्म और दर्शन का सार माना जाता है।	1. भारतीय दण्डविधान की परिकल्पना लॉर्ड मैकाले ने की थी और इसमें मूल भावना शारीरिक एवं सम्पत्ति सम्बन्धी अपराधों का किस प्रकार नियन्त्रण किया जाये यही थी। इसका प्रथम आलेख 04 सदस्यीय विधि कमिश्नर्स जिनमे लॉर्ड मैकाले मुख्य थे ने तैयार करके 11 अक्टूबर 1837 को गवर्नर जनरल के समक्ष प्रस्तुत किया और उसके बाद 26 अप्रैल 1845 को उस आलेख में कुछ संशोधनों की सिफारिश गवर्नर जनरल के द्वारा की गई और अन्तत: 06 अक्टूबर 1860 को यह अमल मे आया।
2. तत्त्वार्थसूत्र में 357 सूत्र हैं।	2. भारतीय दण्डविधान में 511 / 530 धारायें हैं।
3. तत्त्वार्थसूत्र में कोई संशोधन करके न तो उनके पुराने सूत्रों को बदला गया है और न नये सूत्रों को जोड़ा गया है।	3. भारतीय दण्डविधान में 511 धारायें थी परन्तु समय-समय पर आवश्यकतानुसार उनमें 19 धारायें और जोड़ी गई हैं और इस प्रकार भारतीय दण्डविधान में अब लगभग 530 धारायें हैं।
4. तत्त्वार्थसूत्र तीनों लोकों के तीनों कालों में छह द्रव्यों और सात तत्त्वों का शाश्वत विवेचन करता है।	4. भारतीय दण्डविधान सम्पूर्ण भारतवर्ष में भी लागू नहीं होता बल्कि इसकी धारा 1 के अनुसार इसका विस्तार जम्मूकश्मीर को छोडकर सम्पूर्ण भारतवर्ष रखा गया है।
5. तत्त्वार्थसूत्र द्रव्यों एवं तत्त्वों की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान कराता है।	5. भारतीय दण्डविधान एक व्यवस्था है जिसमें अपराध करने का दण्ड दिया गया है।

* फिरोजाबाद

6. तत्त्वार्थसूत्र में जिन क्रियाओं को मन, वचन कर्म के योग से करने पर शुभ एवं अशुभ भावों के आस्रव और तदनुसार पुण्य, पाप एवं उसके परिणाम के बारे में विवेचना की गई है।

6. भारतीय दण्डविधान में संकल्प द्वारा की गई क्रिया से उत्पन्न अपराध के दण्ड का प्रविधान है। मात्र संकल्प तो दण्डनीय ही नहीं है।

7. तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार प्रत्येक जीव को उसके किये गये कर्मो के आस्रव का चाहे वे शुभ हों या अशुभ हों फल भोगना ही पड़ता है।

7. भारतीय दण्डविधान के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि जिसने अपराध किया हो उसे दण्ड मिल ही जाये अनेक ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। जिन्हें हम साम, दाम, दण्ड और भेद के रूप में कह सकते हैं, जिनके कारण अपराध करने वाला व्यक्ति दण्ड पाने से बच जाता है। जैसे रिश्वत आदि।

8. तत्त्वार्थसूत्र में अध्याय 6 के सूत्र 15 में बहुत आरम्भ और परिग्रह वाले भाव को नरकगति का कारण कहा है। इसी प्रकार सूत्र 16 में तिर्यंच आयु का, सूत्र 18 में मनुष्य आयु का एव सूत्र 21 में देव आयु का तथा सूत्र 25, 26 व 27 में क्रमश: नीचगोत्र, उच्चगोत्र एवं अन्तराय का आस्रव का विवेचन है।

8. भारतीय दण्डविधान में ऐसा कोई विवेचन नहीं है।

9. तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय 7 के सूत्र 13 में हिंसा के लिए कहा गया प्रमत्तयोग से प्राणों का वध करना ही हिंसा है और प्रमत्त अर्थात् प्रमाद को कषाय सहित अवस्था का रूप दिया है। 15 प्रकार के प्रमादों का भी विवरण दिया है, जिसमें 5 इन्द्रियाँ, 4 कषाय, 4 विकथा (स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भोजन कथा), निद्रा तथा स्नेह के रूप में निरूपित किया गया है।

9. ऐसा कोई विवेचन भारतीय दण्ड विधान में नहीं है।

10. तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार 5 पाप एवं उसके कारण दर्शाये गये हैं और ये भी कहा गया है कि द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दो प्रकार की हिंसा है। जैसे - यदि कोई मछली पकड़ने वाला किसी जलाशय में कांटा और जाल लेकर मछली पकड़ने गया और पूरे दिन प्रयास करने के बाद भी उसके जाल में एक भी मछली नहीं आई तो भी उसे हिंसा का अपराध होगा।

10. भारतीय दण्डविधान में धारा - 425 अनिष्ट से सम्बन्ध रखती है। इसके अनुसार धारा 428 और 429 अपराध की खुली छूट देती है। धारा 428 के अनुसार यदि कोई व्यक्ति 10/- रूपये या उससे अधिक मूल्य के किसी जीव जन्तु या जीवजन्तुओं का वध करके विष देने विकलांग करने या निरुपयोगी बनाने का अनिष्ट कार्य करता है तो वह दो वर्ष की सजा या आर्थिक दण्ड या दोनों से दण्डित किया जा सकेगा। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यदि वह व्यक्ति 9 रूपये 99 पैसे तक के जीवजन्तुओं को जिनकी संख्या सैकड़ों और हजारों

में भी हो सकती है, मारता है तो उसको कोई दण्ड नहीं भुगतना पड़ेगा। उदाहरण के लिए चीटियों, मक्खियों या मच्छरों का कोई मूल्य नहीं है और यदि हजारों की संख्या में कोई व्यक्ति मारता है तो वह किसी भी दण्ड को पाने का उत्तरदायी नहीं है और इसी प्रकार धारा 429 में किसी हाथी, ऊँट, घोड़े, खच्चर, भैंसे, सॉड, गाय व भैस को चाहे उसका कोई भी मूल्य हो या 50 रूपया या उससे अधिक मूल्य के किसी भी अन्य जीवजन्तु को विष देने विकलाग करने या निरुपयोगी बनाने का अनिष्ट करता है तो वह कारावास से या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जावेगा। यहाँ जानवरो की दृष्टि मे भेद किया गया है। जबकि तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा कोई भेद नहीं किया गया है। भारतीय दण्डविधान में अध्याय 4 में धारा 76 से लेकर 106 तक साधारण अपवाद बताये गये हैं और इसमें यदि कोई व्यक्ति शराब पीकर अपराध करता है तो वह अपवाद की श्रेणी में आ सकता है। जबकि तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा नहीं है।

11. तत्त्वार्थसूत्र में अणुव्रत व महाव्रत और उनके अतिचारो की स्पष्ट व्यवस्था एव व्याख्या दी गई है तथा इसमें कुल 10 अध्याय हैं।

11. भारतीय दण्डविधान में 23 अध्याय हैं।

12. तत्त्वार्थसूत्र में जीव के शुभ-अशुभ भावों के अनुसार उसका शुभ-अशुभ आस्रव होता है और उसके परिणाम भोगने के लिए वह स्वयं कर्त्ता एवं भोक्ता है।

12. भारतीय दण्डविधान में अपराध करने वाला उस अपराध से प्रभावित पक्ष न्याय व्यवस्था तक पहुँचने वाली प्रक्रिया और न्याय देने वाला व्यक्ति इन सबका होना आवश्यक है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ तत्त्वार्थसूत्र का आधार जीव की चारों गतियों की अवस्था का वर्णन करते हुये उसे सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वोच्च अवस्था में अर्थात् मोक्ष में जाने का मार्ग प्रशस्त करना है, वहीं भारतीय दण्डविधान केवल एक समय विशेष की व्यवस्था है लेकिन तत्त्वार्थसूत्र एवं भारतीय दण्डविधान में कुछ समानतायें भी हैं जो कि निम्नलिखित सारणी से स्पष्ट होती हैं और जो निरतिचार अर्थात् निर्दोष व्रतों का पालन करने में सहायक होती हैं -

1. भूमिका	1. न्यायविधिपूर्वक रहना अथवा ग्रहण करना।
2. साधारण व्याख्यायें अहिंसाणुव्रतादि	2. 6-52 में हिंसादि 5 पापों एवं 5 व्रतों के लक्षण
3. दण्ड शिक्षा के विषय में	3. 53-75 में प्रायश्चित्त विधि
4. साधारण अपवाद	4. 76-106 में प्रमत्तयोग न होने से पाप का बन्ध नहीं होता

5. प्रेरणा अथवा सहायता करने के विषय में	5. 107-120 पाँच अणुव्रत एवं उनके अतिचार
6. राज्यविरुद्ध अपराधों के विषय में	6. 121-130 विरुद्ध-राज्यातिक्रम त्याग
7. सेना सम्बन्धी अपराधों के विषय में	7. 131-140 में विरुद्धराज्यातिक्रम त्याग
8. सार्वजनिक शान्ति के विरुद्ध अपराधों के विषय में	8. 141-160 में अहिंसाणुव्रत एवं उसके 5 अतिचार
9. राज्य कर्मचारियों द्वारा या उनसे सम्बन्धित अपराधों के विषय में	9. 161-171 में असत्य के अतिचार एवं अचौर्य तथा उसके अतिचार
10. राज्य कर्मचारियों के प्राधिकार की अवमानना के विषय में	10. 172-190 में विरुद्धराज्यातिक्रम का त्याग
11. झूठी गवाही और सार्वजनिक न्याय के विरुद्ध अपराध	11. 191-229 में असत्य मिथ्या आरोपण विरुद्ध राज्यातिक्रमत्याग
12. सिक्क तथा सरकारी स्टाम्प सम्बन्धी अपराधों राज्यातिक्रम त्याग	12. 230-263 में प्रतिरूपक व्यवहार एवं विरुद्ध
13. माप-तौल सम्बन्धी अपराध	13. 264-267 में हीनाधिक मानोन्मान अतिचारों का त्याग
14. सार्वजनिक स्वास्थ्य सुरक्षा सुविधा सदाचार तथा शिष्टाचार के विरुद्ध अपराधों के विषय में	14. 268-294 में अहिंसा, सत्य तथा इनके समस्त अतिचारों का त्याग
15. धर्म सम्बन्धी अपराध	15. 295-298 में उपर्युक्त
16. मानव शरीर के विरुद्ध अपराधों के विषय मे	16. 299-377 में निरतिचार (निर्दोष) अहिंसाणुव्रत का पालन करना
17. सम्पत्ति सम्बन्धी अपराध	17. 378-462 में निरतिचार अचौर्याणुव्रत का पालन
18. दस्तावेजों तथा व्यापार अथवा सम्पत्ति चिह्नों से सम्बन्धित अपराधों के विषय में	18. 463-489 में कूटलेखक्रिया और प्रतिरूपक व्यवहारत्याग
19. सेवा संविदाओं (शर्तनामों) सम्पत्ति चिह्नों के विरुद्ध आपराधिक भंग के विषय में	19. 490-492 में सत्याणुव्रत का पालन
20. विवाह से सम्बन्धित अपराध	20. 493-498 में परस्त्री -कामना का त्याग
21. मानहानि	21. 499-502 में सत्याणुव्रत के और रहोभ्याख्यान अतिचार का त्याग
22. आपराधिक अभित्रास (धमकी देना) अपमान तथा क्लेश देने के अपराध में	22. 503-510 में सत्याणुव्रत के अतिचार का त्याग
23. अपराध करने के प्रयत्न के विषय में	23. 511 में पाँचों अणुव्रतों का निर्दोष पालन

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र सार्वकालिक, सार्वभौमिक एव शाश्वत स्वरूप का दिग्दर्शन कराता है। वहीं भारतीय दण्ड विधान भारत में भी जम्मूकश्मीर को छोड़कर शेष भारत में लागू होता है और केवल आपराधिक क्रिया होने पर दण्ड की व्यवस्था करता है। अत: जहाँ तत्त्वार्थसूत्र की कोई उपमा नहीं की जा सकती वहीं भारतीय दण्ड विधान सामाजिक रूप से व्यक्ति की जीवन, सम्पत्ति आदि की सुरक्षा व्यवस्था से सम्बन्ध रखता है।

जैन कर्म-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान

* प्रो. भागचन्द जैन 'भास्कर'

आचार्य उमास्वामी या उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र एक युगातीत ग्रन्थ है जिसे हम समग्र जैन सिद्धान्त के सार के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। कहीं-कहीं उसे तत्त्वार्थाधिगम की भी सज्ञा दी गई है। दिगम्बर और श्वेताम्बर, दोनों सम्प्रदाय इसे समान रूप से सम्मान करते है, भले ही उनमे अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार दृष्टि निहित रही है। दिगम्बर परम्परा उन्हें आचार्य कुन्दकुन्द का शिष्य मानती है। अत: उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जा सकता है।

उमास्वामी के इस ग्रन्थ में दश अध्याय और 357 सूत्रों में तत्त्वार्थ का सुन्दर वर्णन हुआ है। दिगम्बर परम्परा में इस पर लिखी गई उपलब्ध टीकाओ में तीन टीकायें विशेष प्रसिद्ध हुई है - पूज्यपाद की तत्त्वार्थवृत्ति या सर्वार्थसिद्धि, भट्टाकलंक का तत्त्वार्थवार्तिक और आचार्य विद्यानन्द का तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक। इसी तरह श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी स्वोपज्ञ भाष्य, सिद्धसेनीया टीका और हरिभद्रवृत्ति नामक टीकाये लोकप्रिय हुई हैं।

तत्त्वार्थसूत्र का मूल आधार आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ रहे है। इसके छठे अध्याय में 27 सूत्र हैं जिनमें आस्रव तत्त्व का सांगोपांग विवेचन हुआ है। इससे पूर्व पचम अध्याय मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन षड् द्रव्यो का वर्णन हुआ है। इसका तात्पर्य है कि आस्रव तत्त्व का आधार यही षड् द्रव्य हैं। आधुनिक मनोविज्ञान का क्षेत्र भी यही आस्रव तत्त्व रहा है। इसलिए प्रस्तुत आलेख में आस्रव तत्त्व और मनोविज्ञान का संयुक्त अध्ययन करने का प्रयत्न किया जायेगा। यहाँ हमने प्रत्यक्ष-परोक्ष तथा संवर-निर्जरा के सन्दर्भ में मनोविज्ञान की चर्चा को छोड दिया है।

छठे अध्याय का सारांश -

जैनधर्म के अनुसार सारा ससार कार्माणवर्गणाओं से भरा हुआ है। मन, वचन और काय रूप योग-क्रिया ही आस्रव है। इसी योग-क्रिया से ही आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है और ज्ञानावरणादि कर्मो का आस्रव (आगमन) प्रारम्भ हो जाता है। जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आस्रव होता है वह भावास्रव है और ज्ञानावरणादि कर्मों के योग्य पुद्गलवर्गणा को द्रव्यास्रव कहा जाता है। भावकर्म ही द्रव्यकर्म का संग्राहक है और द्रव्यकर्म भावकर्म के लिए भूमिका तैयार करता रहता हैं। इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बना रहता है।

आस्रव के दो भेद हैं - 1. शुभ योग, जो पुण्य का कारण है और 2. अशुभ योग, जो पाप का कारण है। इन आस्रवों के कारणों में कषाय का विशेष हाथ होता है। कषाय के होने पर कर्म का बन्ध सांपरायिक कहलाता है और निष्कषाय

* तुकाराम चाल, सदर, नागपुर - 440001

अवस्था का कर्म-बन्ध ईर्यापथिक माना जाता है। संपराय का अर्थ है संसार जो कषायवाचक है और ईर्यापथ योगजन्य होता है। मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तक कषाय का उदय होने से कर्म गीले कपड़ों पर पड़ी धूलि की तरह चिपक जाते हैं। उनमें स्थितिबन्ध होता है। पर ईर्यापथिक कर्मबन्ध की स्थिति बहुत थोड़ी होती है। वे सूखी दीवाल पर पडी धूल के समान क्षणभर में झड़ जाते हैं। यह आस्रव उपशान्तमोह, क्षीणकषाय और सयोगकेवली (11-13 वें गुणस्थान) अवस्था में होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में भावास्रव के कारण पांच माने गये हैं - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनकी तर-तमता के आधार पर कर्मबन्ध होता है। कर्मबन्ध का आधार है जीव और अजीव। सरम्भ (सकल्प), समारम्भ, आरम्भ. ये तीन जीवाधिकरण हैं और निवर्तना, निक्षेप आदि अजीवाधिकरण में गिने जाते हैं।

इसके बाद इस अध्याय में आठों कर्मों का विशेष वर्णन किया गया है। इस सन्दर्भ में क्रोध, मान, माया, लोभ का विस्तृत वर्णन मिलता है जिसे लेश्या के माध्यम से समझा जा सकता है। शुभास्रव के कारणों के रूप में सम्यक्त्व का भी विवेचन हुआ है और दर्शनविशुद्धि आदि को तीर्थकरप्रकृति के आस्रव के रूप में गिनाया गया है।

दो प्रश्नों पर विचार -

इस सन्दर्भ में दो प्रश्नों पर सर्वप्रथम विचार कर लेना आवश्यक है - 1. क्या मिथ्यात्व अकिंचित्कर है ? और 2. पुण्य को आस्रव क्यों माना जाता है ? इसका संक्षिप्त विवेचन यह है -

1. क्या मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर है ? -

पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी ने 1978 में अपने प्रवचनों के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि मिथ्यात्व स्थिति और अनुभागबन्ध में अकिञ्चित्कर है। इस पर भ्रमवश बड़ा विवाद फैल गया। धवला (पु. 12/291/15) में यह स्पष्ट कहा गया है कि योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध होता है। मिथ्यात्व चारों प्रकार के बन्ध में कारण नहीं होता। वह संसार का मुख्य कारण अवश्य है पर अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय उसके साथ रहता है। द्वितीय गुणस्थान में मिथ्यात्व नहीं रहता। वहाँ से 12 वें गुणस्थान तक की संज्ञा 'एकदेशजिन' दी गई है। (प्रवचनसार, 1/240) मिथ्यात्व बन्ध का कारण है अवश्य पर वहाँ प्रकृति और प्रदेश बन्ध का बाहरी कारण योग है और अन्तरंग कारण कषाय है। तीव्र कषाय के कारण ही मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोडाकोडी मानी जाती है। मिथ्यात्व स्वय कुछ नहीं है।

सभी कर्म अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं। वे दूसरे कर्मों के कार्यक्षेत्र में संक्रमण नहीं करते। दर्शनमोह (मिथ्यात्व) चारित्रमोह के लिए अकिञ्चित्कर है। इसी तरह से सभी कर्म एक दूसरे के लिए अकिञ्चित्कर हैं। 25 प्रकृतियों के बन्ध का कारण भी अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय ही है। वे प्रथम तथा द्वितीय गुणस्थान से आगे नहीं बंधती। पर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन दर्शनमोहनीय को मिलाकर मोहनीय कर्म की 28 प्रकृतियों के उपशमन से अनन्तानुबन्धी कषायों (चारित्रमोहनीय) का उपशमन भी होता है। अर्थात् कषाय की ही प्रधानता है।

यह भी यहाँ उल्लेखनीय है कि समयसार (गाथा 109/169) में कर्मबन्ध के चार कारण ही दिये गये है - मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग। प्रमाद कषाय के अन्तर्गत ही था। पर उमास्वामी ने इसे पृथक्कर पांच कारणों

की शृंखला बना दी। इनमें ऋजुसूत्र नय की विवक्षा से योग एव कषाय ही कर्मबन्ध में कारण हैं, मिथ्यात्व नहीं। इस दृष्टि से मिथ्यात्व को अकिञ्चित्कर कहने में कोई बाधा नहीं है।

2. क्या पुण्य और पाप एक हैं, समान हैं ?

पुण्य का तात्पर्य है जो आत्मा को पवित्र करता है, मंगलकारी है। इसे हम शुभ परिणाम भी कह सकते हैं। जिनमें दया, भक्ति, बारह भावना, रत्नत्रय आदि भावों का समावेश है। इन भावों की आराधना करने वाला जीव अन्तरात्मा कहलाता है। इनसे आत्मा पवित्र होती है और वह परमात्मा पद की ओर बढ़ जाती है। इसलिए शुभभाव मोक्ष का कारण माना गया है। इसे शुभोपयोग और सरागचारित्र भी कहा जाता है। इससे पुण्यकर्म का बन्ध होता है और वहाँ संवर और निर्जरा भी होती है। (जयधवला, पु. 1 पृ. 6, प्रवचनसार, 1.45)। उमास्वामी ने भी यही कहा है - शुभ: पुण्यस्याशुभ: पापस्य (6.3)। अत: पुण्य कार्य मोक्ष में सहकारी कारण है। इसलिए वह हेय नहीं, अपितु उपादेय है।

यह बात सही है कि बहिरात्मा और अन्तरात्मा को स्व-परसमय माना गया है और परमात्मा को स्वसमय की संज्ञा दी गई है (रयणसार, 148, राजवार्तिक 2/10/11)। परन्तु इसे एकान्त पक्ष की दृष्टि से नहीं लिया जाना चाहिए। पुण्य और पाप यद्यपि पुद्गल द्रव्य हैं और जीव के परिणामों से उनका बन्ध होता है पर उनको एक ही तराजू पर नहीं तौला जा सकता है। पुण्य मोक्षमार्ग में सहकारी कारण है जबकि पाप उसमें बाधक है। यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि व्यवहारनय से पुण्य कथंचित् उपादेय हो सकता है पर निश्चयनय से तो पुण्य सर्वथा हेय है। क्योंकि निश्चयनय हेय-उपादेय रूप विकल्प से दूर है। पुण्य सांसारिक सुखो का कारण माना गया है और वह मोक्ष प्राप्ति में सहकारी कारण है।

समयसार के पुण्य-पाप अधिकार मे तथा गाथा 13 की टीका में जो भी कहा गया है वह एकत्वविभक्त आत्मा की दृष्टि से कहा गया है (गाथा 3-4), सर्वथा सत्य की दृष्टि से नही। इसी तरह गाथा 11 में व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है और 13 वीं गाथा की टीका में पुण्य-पाप को जीव का विकार कहा गया है। वह एकत्वविभक्त आत्मा की अपेक्षा ही सही है, सर्वथा नहीं। अत: पुण्य-पाप की उपादेयता सर्वत्र बतायी गई है। इतना अवश्य है कि द्रव्यानुयोग की अपेक्षा शुद्धोपयोग की उपादेयता और शुभोपयोग की गौणता अवश्य मानी गई है। श्रेण्यारोहण कर्ता की दृष्टि से पुण्य अनुपादेय हो जाता है पर अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयम अर्थात् चौथे से छठवें गुणस्थान की अपेक्षा नही। श्रावक एवं प्रमत्त के लिये पुण्यकार्य आवश्यक है। उन्हे मात्र शुद्ध निश्चयनय का उपदेश देय नही है। ऐसा उपदेश तो उन्हें घातक सिद्ध हो सकता है। भले ही अन्तत: मोक्षप्राप्ति में पुण्य के प्रति भी ममत्व त्याग करना पड़ता है।

आधुनिक मनोविज्ञान -

छठे अध्याय की विषय सामग्री जानने के बाद हम संक्षेप मे आधुनिक मनोविज्ञान को भी समझ लें। मनोविज्ञान के क्षेत्र में मन, आत्मा (ज्ञाता) और शरीर का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? मन आन्तरिक है या बाह्य व्यवहार से ही उसके अस्तित्व का पता चलता है ? पुनर्जन्म है या नहीं ? यदि नहीं है तो कर्म की क्या स्थिति है ? आदि जैसे प्रश्न सदैव उठते रहे हैं। इन प्रश्नों के उत्तर भारतीय और पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने अपने-अपने ढंग से दिये हैं।

पाश्चात्य मनोविज्ञान प्लेटो और अरस्तु से प्रारम्भ होता है। पर उसका सही रूप 17-18 वीं शती से सामने आया जब देकार्त, हाब्स, लॉक, ह्युम, बर्कले, कांट, जेम्स आदि ने उसे अच्छा विस्तार दिया। यहाँ तक आते-आते मनोविज्ञान

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के आसपास तक पहुँच गया। आज मनोविज्ञान का क्षेत्र काफी व्यापक हो गया है। उसे आज प्राचीन परिभाषा 'आत्मा का विज्ञान' (Science of Soul) कहकर व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। अब प्रयोग और निरीक्षण के आधार पर ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। अंग्रेजी में इसे Psychology कहा जाता है जो Psyche और Logas शब्दों से निःसृत हुआ है। Psyche का तात्पर्य है आत्मा और Logas का तात्पर्य है ज्ञान। अर्थात् जो आत्मा का विज्ञान है वही Psychology है। पर आत्मा का कोई रूप रंग न होने से उसका अध्ययन नहीं किया जा सकता। अत: उसे Science of Mind कहा जाने लगा।

आज का मनोविज्ञान पशुओं और मनुष्यों के बाह्य व्यवहार को भी सम्मिलित करता है। वह मन के अस्तित्व को ही नहीं मानता, बल्कि उसके स्थान पर स्मृति, विचार, साहचर्य आदि मानसिक वृत्तियों को भी स्वीकार करता है। इन वृत्तियो के अध्ययन के लिए अन्तर्दर्शन, निरीक्षण, प्रयोगात्मक, विकासात्मक आदि विधियों का उपयोग किया जाता है। इसके वैयक्तिक, सामाजिक, रचनात्मक, आपराधिक, शारीरिक आदि अनेक क्षेत्रों का विकास हुआ है। उसमें ईश्वर, आत्मा और भौतिक जगत् ये तीन विषय ही मुख्य रहे है। कर्मवाद और सृष्टिवाद की व्याख्या को भी यहाँ प्रमुखता दी गई है। अब इसे Science of Consciousness कहा जाने लगा।

आधुनिक मनोविज्ञान में प्रयोगिक मनोविज्ञान बडी तेजी से बढ़ा। बुंट (1979 A.D.) टिचनर, जेम्स, एंजिल आदि ने प्रयोगशालाएं स्थापित की और सवेदना, सकल्प आदि को विशेष स्थान दिया। फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद भी एक क्रान्तिकारी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त रहा है। इसके बाद ही आधुनिक मनोविज्ञान का द्रुतगति से विकास हुआ है। उसमें विभिन्न सम्प्रदायों का जन्म हुआ है - इन सम्प्रदायों में सरचनावाद, प्रकार्यवाद, व्यवहारवाद, गेस्टाल्डवाद, फ्राइडवाद विशेष प्रचलित हैं।

सरचनात्मक मनोविज्ञान के संस्थापक बुंट और टिचनर (1867-1927A.D) ने मन और शरीर में समानान्तर सम्बन्ध माना। उनके अनुसार मन की संरचना तीन मानसिक तत्त्वो के योग से हुई है - संवेदन, भावना और प्रतिमा। इससे चेतना के विभिन्न स्तरों का वर्णन होने लगा। अन्तर्निरीक्षण और आत्मप्रेक्षण का महत्त्व इसमें अधिक है। चेतन के साथ यहाँ अवचेतन मन का भी महत्त्व बढ़ गया। बाद में वाटसन ने व्यवहार और निरीक्षण पर बल दिया। इसका स्वरूप वस्तुनिष्ठ है। इसमें शरीर और मन को अभिन्न माना गया है। इसमें उद्दीपन और अनुकरण तथा पर्यावरण को महत्त्व दिया गया है। इसके बाद गेस्टोइल्ट सम्प्रदाय ने सामाजिक और बाल मनोविज्ञान के क्षेत्र में विशेष योगदान दिया। फिर फ्राइड ने अवचेतन मन को अपने अध्ययन का विषय बनाया। इसके बाद जेम्स ने मनोविज्ञान को चेतना का विज्ञान कहा। तदनुसार मन चेतना का प्रवाह है। चेतना ही आत्मा है। वह स्वय प्रकाशक और पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञाता है। अब दर्शन और मनोविज्ञान स्वतन्त्र विषय हो चुके हैं।

भारतीय मनोविज्ञान -

भारतीय मनोविज्ञान प्रारम्भ से ही वर्णनात्मक न होकर अनुभवात्मक रहा है। उसके विशेष अध्ययन का विषय यह रहा है कि मन की शक्ति को कैसे बढ़ाया जाये, शारीरिक कार्यों, भावों और आवेगों को कैसे संयमित किया जावे ? वह आत्मा की शाश्वतता तथा कर्म के कारण पुनर्जन्म रूप पर्याय परम्परा में भव-भ्रमण का विश्लेषण बड़ी स्पष्टता के साथ पहले से ही करता आया है।

आधुनिक मनोविज्ञान तथा प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं -

1. भारतीय मनोविज्ञान दर्शन परक है, जहाँ दर्शन का सम्बन्ध अध्यात्म से है पर आधुनिक मनोविज्ञान प्रायोगिकता के क्षेत्र में आगे बढ़ रहा है। उसे अध्यात्म से कोई विशेष प्रयोजन नहीं है।

2. भारतीय मनोविज्ञान में आत्मा को केन्द्रबिन्दु के रूप में देखा गया है। वहाँ विकारी भावों से मुक्त हो जाने पर निर्वाण प्राप्ति की बात कही गई है। पर आधुनिक मनोविज्ञान में सवेगों का स्थान है। पुनर्जन्म के सन्दर्भ में वहाँ मतभेद है। आत्मानुभूति का वहाँ कोई स्थान नहीं।

3. पश्चिमी मनोविज्ञान में अन्तर्दर्शनपद्धति (Intraspection) की प्रधानता है पर भारतीय मनोविज्ञान में सहजबोध (Intation) को मुख्य माना जाता है। आत्मनिरीक्षण परस्पर विरोधी होने मे अवैज्ञानिक माना जाने लगा।

4. प्रारम्भ में भारतीय मनोविज्ञान के समान पाश्चात्य मनोविज्ञान के लगभग सभी सम्प्रदायों में भी आत्मा एक केन्द्रीय तत्त्व के रूप में माना जाता था। पर बाद में उसके स्थान पर मन को स्वीकार किया गया और आत्मा को धार्मिक और दार्शनिक प्रत्यय कहा गया।

5. आधुनिक मनोविज्ञान मे चिकित्सात्मक विधि का प्रयोग फ्राइड आदि मनोवैज्ञानिको ने किया पर ऐसी विधि प्राचीन मनोविज्ञान के क्षेत्र मे नहीं मिलती।

6. आधुनिक मनोविज्ञान का क्षेत्र रचनात्मक कार्यवादी व्यवहारवादी, साहचर्य, मनोविश्लेषण, व्यक्तिवादी आदि रूपों में विस्तृत हो गया है जो प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान मे नही दिखाई देता।

जैनदर्शन में मन और कर्म -

जैनदर्शन के अनुसार मन स्कन्धात्मक है। उसे अणु प्रमाण नहीं माना जा सकता। अन्यथा सम्पूर्ण इन्द्रियों से अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकेगा। वह तो एक सूक्ष्म आभ्यन्तरिक इन्द्रिय है जो सभी इन्द्रियो के सभी विषयो को ग्रहण कर सकता है। सूक्ष्मता के कारण ही उसे अनिन्द्रिय भी कहा गया है। उसका कोई बाह्याकार भी नहीं है। मन के दो भेद हैं - द्रव्यमन, ये पौद्गलिक है और भावमन जो इन्द्रिय के समान लब्धि और उपयोगात्मक (ज्ञानस्वरूप) है।

जैनदर्शन में कर्म को पुद्गल माना गया है। आत्मा और पुद्गल का अनादिकालीन सम्बन्ध है। वह द्वैतवादी दर्शन है। उसके अनुसार जड़ और चेतन का संयोग संसार है और उनका वियोग मोक्ष है। चूंकि हर ससारी आत्मा कथञ्चित् मूर्त्त है इसलिए मूर्त का मूर्त पुद्गल कर्म के साथ संयोग सम्बन्ध अस्वाभाविक नही है। अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मादक द्रव्य अपना प्रभाव छोड़ते ही हैं। कर्म पुद्गल में आस्रव नाम की एक ऐसी ऊर्जा है जो सतत् प्रवाहित होती रहती है। यह आस्रव मन, वचन और काय रूप योग से होता है। योग से कर्म वर्गणायें आकर्षित होती हैं। और तदनुसार आत्म-परिणाम बन जाते हैं, जिन्हें लेश्या का अभिधान दिया जाता है। योग एक शरीर प्रवृत्ति है। शरीर के बिना योग हो नहीं सकता। इसलिए लेश्या शरीर नामकर्म के उदय का परिणाम माना जाता है। क्रिया-प्रतिक्रिया के चक्र में बना रागादि संस्कार ही कर्म है। कार्मण शरीर पर अंकित ये संस्कार ही पुनर्जन्म के कारण बनते हैं। संस्कार, धारणा, वृत्ति, आदत आदि समानार्थक शब्द

है। अत: कर्म पुद्गल रूप भी है और संस्कार रूप भी है। जीव और कर्म का एक-दूसरे के निमित्त से परिणमन हुआ करता है।

योग और लेश्या का इतना गहन सम्बन्ध होने पर भी दोनों भिन्न-भिन्न हैं। योग स्थूल है और लेश्या सूक्ष्म है। लेश्या आत्मा का विशिष्ट परिणाम है और योग वीर्यान्तराय के क्षय-क्षयोपशमजनित है। कषाय का क्षय 12 वें गुणस्थान में होता है और 13 वें गुणस्थान में मनोयोग और वचनयोग का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है। 14 वें गुणस्थान में शेष काययोग समाप्त हो जाने पर साधक अयोगी हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि लेश्या की प्रशस्तता और अप्रशस्तता मन के परिणामों पर निर्भर करती है।

मन और चित्त को साधारणत: समानार्थक माना जाता है पर वस्तुत: दोनों पृथक्-पृथक् हैं। मन तत्त्व का मनन करता है और चित्त या बुद्धि उसे ग्रहण करती है। चित्त से परे चेतन या आत्मा का अस्तित्व है। शरीर और मन पौद्गलिक हैं और चित्त अपौद्गलिक है। तत्त्व का ज्ञान मन से नहीं बल्कि कर्म से होता है तैजस और कार्माण सूक्ष्म शरीर हैं। इसके बाद स्थूल शरीर आत्मा है और फिर चित्त का निर्माण होता है। ज्ञान कर्म से चलता हुआ चित्त में पहुँचता है और फिर वह स्थूल शरीर और इन्द्रियों से होता हुआ अभिव्यक्त होता है। अत: चित्त को आत्मा की व्यापकता दी जा सकती है। स्वप्नावस्था में भी मन अपना कार्य रहता है इसलिए संसारी जीव सदैव कर्म का बन्ध करता रहता है। मनोविज्ञान में भी स्वप्नविज्ञान पर अच्छा कार्य हुआ है।

मूलप्रवृत्तियाँ और संज्ञाएँ -

जैनधर्म में मोहनीयकर्म को प्रबलतम शत्रु माना गया है। समस्त दु:खों का कारण वही है। मनोविज्ञान में जिसे मूलप्रवृत्ति और संवेग कहा जाता है उसी को जैनदर्शन 'संज्ञा' नाम से अभिहित करता है। स्थानांग की टीका में अभयदेवसूरि ने संज्ञा का अर्थ मनोविज्ञान भी किया है - संज्ञानं संज्ञा आभोग इत्यर्थ: मनोविज्ञानमित्यन्ये - पत्र 478। संज्ञा का अर्थ सर्वार्थसिद्धि में (2.24) तृष्णा दिया हुआ है जो एक प्रकार से मूलप्रवृत्ति ही है। धवला (2.1.1) में इसके चार भेद गिनाये गये हैं - आहार, भय, मैथुन और परिग्रह। स्थानांग (10.105) में दस और आचारांग निर्युक्ति (गाथा 39) में उसके चौदह प्रकारों का उल्लेख मिलता है।

मूलप्रवृत्तियों (***Instints***) के साथ मनोविज्ञान के क्षेत्र में संवेगों(Emotion) का भी उल्लेख आता है जिनकी उत्पत्ति बाह्य या आन्तरिक उत्तेजना से होती है। जैनदर्शन में इनके कारणों पर भी विचार किया गया है जो आधुनिक मनोविज्ञान में नहीं मिलता। तुलनात्मक दृष्टि से इन्हें हम यों देख सकते हैं - मेक्डूगल ने जिन चौदह मूलप्रवृत्तियों और उनके संवेगों का उल्लेख किया है उन्हें हम मोहनीय कर्म के विपाक और संवेगों के साथ इस प्रकार विचार कर सकते हैं -

मोहनीयकर्म के विपाक	मूलसंवेग	मूलप्रवृत्तियाँ	संवेग
1. भय	भय	पलायनवृत्ति	भय
2. क्रोध		क्रोध	संघर्षवृत्ति क्रोध
3. जुगुप्सा		जुगुप्सा	विकर्षणवृत्ति, जुगुप्साभाव
4. स्त्रीवेद			

5. पुरुषवेद		कामुकता	कामवृत्ति, कामुकता
6. नपुंसकवेद			
7. मान	उत्कर्षभावना	स्वाग्रहवृत्ति	उत्कर्षभावना
8. लोभ	अधिकारभावना	उपार्जनवृत्ति	स्वमित्वभावना
9. रति	उल्लसितभाव	हास्यवृत्ति	उल्लसितभाव
10.अरति		दु:खभाव	याचनावृत्ति दु:खभाव
11.		आहारअन्वेषणवृत्ति	भूख
12.		पित्रीयवृत्ति	वात्सल्य
13.		यूथवृत्ति	सामूहिकता
14.		आत्महीनता वृत्ति	हीनताभाव
			रचनावृत्ति (लोभ)

सृजनभावना

धवला मे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार सज्ञाओ का उल्लेख मिलता है। स्थानाग मे इनकी सख्या दस हो गई है - आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, ओघ (सामुदायिकता) और लोक (वैयक्तिक)। आचारांगनिर्युक्ति में सुख-दु:ख, मोह, विचिकित्सा और शोक सज्ञाये और जुड गई। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ पैदा होते हैं। ओघ और लोक सामुदायिकता पर आधारित है। प्रथम चार मूल सज्ञाओ की उत्पत्ति में निम्न कारणों का उल्लेख मिलता है (स्थानांग, 4: 579-82) -

संज्ञा	कारणता	फल
1. आहार	भूख, आहारदर्शन, आहारचिन्तन	तिर्यञ्च
2. भय	हीनता, भयानकदृश्य, भयचिन्तन	नरक
3. मैथुन	मांस-रक्त का उपचय, मैथुनचर्चा, मैथुनचिन्तन	मनुष्य
4. परिग्रह	आसक्ति, परिग्रहचर्चा, परिग्रह चिन्तन	देव

यहाँ 'मैथुन' संज्ञा फ्राइड की 'काम' सज्ञा है। उसने इसके लिए 'लिबिडो' शब्द का प्रयोग किया है। जिसका वास्तविक अर्थ है सुख की चाह। सभोग तो उसका एक भाग है। काम सज्ञा प्रत्येक प्राणी मे होती है। इसे हम वेद नोकषाय मोहनीय कर्म के अन्तर्गत रख सकते हैं। इन सभी संज्ञाओं के उद्दीपक और अनुप्रेरणात्मक कारण हुआ करते हैं जो वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार के होते हैं। इन्हें हम सवेग अथवा मनोदशा कह सकते है जिनकी उत्पत्ति चेतना के विभिन्न स्तरों पर होती है।

कामवृत्ति को जगाने में मूलकारण तो वेदमोहनीय कर्म है जो आन्तरिक है, उपादानकारण है, परन्तु बाह्य कारण भी निमित्तकारण है - कुछ शारीरिक कारण और कतिपय नैमित्तिक वातावरण। अशुभ सस्कार भी उसमें कारण होते हैं,

जो निमित्त मिलते ही प्रबल हो उठते हैं। संभूति मुनि, रथनेमि आदि के पौराणिक उदाहरण हमारे सामने हैं ही।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में जिसे काम कहा गया है, धर्मशास्त्र के क्षेत्र में वही कामना के नाम से जाना जाता है। दोनों ही मूल प्रवृत्ति हैं। दोनों के मूल में अतीत के संस्कार हैं, इच्छायें हैं। इच्छाओं को ही परिष्कृत करने के लिए धर्म का उपयोग किया जाता है तभी यह वीतराग और सर्वज्ञ बन पाता है। काम और इच्छा का परिष्कार करने वाला पारिणामिक भाव है चैतन्य का अनुभव है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने चेतन के तीन पक्ष माने हैं - ज्ञानचेतना, कर्मफलचेतना और कर्मचेतना। मनोविज्ञान की दृष्टि से इन्हें हम क्रमशः ज्ञानात्मक, भावात्मक और सकल्पात्मक कह सकते हैं। प्रथम दो चेतनायें कर्मबन्धन में कारणभूत नहीं होती पर तीसरी चेतना बन्धन का कारण बनती है। राग-द्वेष भावों का जन्म इसी कर्म चेतना से ही होता है। आचारांग का '**अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे**' (3.1.42) यह कथन चित्त की यथार्थता को अभिव्यक्त करता है जो मनोविज्ञान का प्रस्थापक बिन्दु है। यही चित्त कर्मचेतना को उत्पन्न करता है। उसमें कुछ प्रशस्त होते है और कुछ अप्रशस्त। वे सब सस्कार के पदचिह्न भी छोड़ जाते हैं, जिन्हें अचेतन कहा जाता है।

फ्राइड ने मन के तीन स्तरों की कल्पना की है - चेतन, अवचेतन और अचेतन। अचेतन मन दमित इच्छाओ का सग्रहालय है जो स्वप्न और मनोविकृतियों को जन्म देता है। राग-द्वेष रूप कषाय की पृष्ठभूमि में वे मनोविकृतियाँ पनपती रहती हैं। फ्रायड ने जिसे लिबिडो नाम दिया था, जैनदर्शन उसे ही कामना शब्द का प्रयोग कर उसे ससार का मूल कारण मानता है। यह कषाय मोहनीय का बीजतन्त्र है। इस दृष्टि से दोनों में समानता दिखाई देती है।

अचेतन मन के साथ ही सूक्ष्म शरीर रूप कर्म और सस्कार जुडे हुए हैं। यही संस्कार आनुवशिकता और जीन्स के सिद्धान्तों को समझने में सहयोगी बनते हैं।

कषाय से ग्रस्त व्यक्ति का व्यक्तित्व मूर्खता और मूढता से भरा रहता है। मूर्खता का अर्थ है, अज्ञानता और मूढता का अर्थ है मूर्च्छाग्रस्तता। ये दोनों कार्य क्रमशः ज्ञानावरण और दर्शनावरण के हैं। एक ज्ञान प्राप्ति में अवरोधक बनता है तो दूसरा आचरण का पालन नहीं करने देता। व्यक्तित्व के विकास के लिए दोनों तत्त्व अवरोधक बन जाते है। ज्ञान का विकास प्रज्ञा से, दर्शन से होता है और विविध प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

कषाय एक भावदशा है जिससे व्यक्तित्व की पहचान होती है। उसमें ज्ञान, अनुभूति और प्रयत्न का संयोग होता है। राग-द्वेष उसके मूल भाव हैं। उमास्वामी ने इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धता, ममता आदि को राग कहा और चित्त में रहने वाली घृणा की वासना को द्वेष कहा है। ये दोनो कषाय के कारण हैं, कर्मों के श्लेषक बन्धक हैं। क्रोधादि रूप कलुषता ही कषाय है जो आत्मा के स्वाभाविक रूप को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है।

कषाय की सघनता आदि की दृष्टि से 16 भेद हैं -

1. अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ।
2. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ।
3. प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ।

4. सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

इसमें 9 नोकषाय को मिलाकर उसके कुल 25 भेद हो जाते हैं - हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद। मनोविज्ञान की दृष्टि से इन्हें क्रमशः आवेग तथा उपावेग कह सकते हैं। क्रोध और मान द्वेषात्मक हैं तथा माया और लोभ रागात्मक हैं।

1. समवायांग में माया के 17 नाम दिये गये हैं जिनसे उसकी प्रकृति का पता चलता है - माया (कपटाचार), उपधि, निकृति, वलय (वक्रतापूर्ण वचन), गहन, नूम (निकृष्टकार्य करना), कल्क (हिंसा करना), दम्भ, कुरुक, (निंदित व्यवहार), जैह्म (कपट), किल्विषिक (भाटो के समान चेष्टाये), अनाचरण, गूहन, वचन, प्रतिकुंचनता और सातियोग (मिलावट)।

2. लोभ का अर्थ है संग्रह करने की वृत्ति। समवायाग मे उसके 14 पर्यायार्थक शब्द दिये हुए है - लोभ, इच्छा, मूर्च्छा, कांक्षा, गृद्धि, तृष्णा, भिध्या (विषयों का ध्यान), अभिध्या (चचलता), कामाशा (कामेच्छा), भोगाशा, जीविताशा, मरणाशा, नदि और राग।

3. क्रोध और मान द्वेषात्मक हैं। द्वेष मोह का ही भेद है। इसमें परिणाम वैरमूलक रहते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, रोष, दोष, परिवाद, मत्सर, असूया, वैर, प्रचण्डन उसके पर्यायवाची है।

समवायाग मे क्रोध के 10 पर्यायवाची दिये गये है - क्रोध, कोप, रोष, अक्षमा, दोष, सज्वलन, कलह, चाण्डिक्य, भण्डन और विवाद।

4. इसी तरह मान के 11 पर्यायवाची शब्द देकर उसकी व्याख्या की गई है - मान, मद, दर्प, स्तम्भ (अविनम्रता), आत्मोत्कर्ष, गर्व, पर-परिवाद, उत्कर्ष, अपकर्ष, उन्नाम (गुणी के सामने न झुकना) और पुर्नाम (यथोचित रूप से न झुकना)। इस मान के आठ भेद माने गये हैं - जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, बुद्धि, सौन्दर्य और अधिकार। ये क्रोधादि कषाय रूप आवेग बड़े शक्तिशाली हैं। उनकी शक्ति को प्रतीकात्मक ढग से व्यक्त किया गया है और उनका फल भी बताया गया है -

शक्तियों के दृष्टान्त

कषाय	क्रोध	मान	माया	लोभ	फल
1. अनन्तानुबन्धी	शिलारेखा	शैल	वेणुमूल	किरमजी का रग या दाग	नरक
2. अप्रत्याख्यान	पृथिवीरेखा	अस्थि	मेषशृग	चक्रमल	तिर्यञ्च
3. प्रत्याख्यान	धूलिरेखा	दारू-काष्ठ	गोमूत्र	कीचड	मनुष्य
4. संज्वलन	जलरेखा	वेत्र	खुरपा	हल्दी	देव

नय की दृष्टि से भी कषायों पर विवेचन हुआ है। नैगम और सग्रह की दृष्टि से राग-द्वेषात्मक अनुभूतियाँ होती हैं। क्योंकि वह अनर्थों के कारण हैं और माया, लोभ, हास्य, रति, स्त्री-पु-नपुसकवेद रागात्मक हैं क्योंकि वे प्रसन्नता के

कारण हैं। व्यवहारनय की दृष्टि से क्रोध, मान, माया, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और नपुंसकवेद, द्वेषात्मक हैं पर लोभ, स्त्री-पुं-वेद रागात्मक हैं। इसी तरह ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान और माया न द्वेष है और न पेज्ज तथा लोभ पेज्ज है। शब्दनय की अपेक्षा क्रोध, मान, माया और लोभ द्वेषात्मक हैं और लोभ को छोड़कर क्रोध, मान, माया पेज्ज नहीं हैं किन्तु लोभ कथंचित् पेज्ज हैं। इस तरह कषाय आत्मा की आवेगात्मक अनुभूतियाँ हैं।

लेश्या और आभामण्डल -

इन कषायों को अध्यवसाय अथवा लेश्या कहा जा सकता है। समयसार में बुद्धि, अध्यवसाय, व्यवसाय, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम को एकार्थक माना गया है। (गाथा 271) यह आस्रव है, कर्मबन्ध का मूल कारण है। हमारे चैतन्य के चारों ओर कषाय के वलय के रूप में कार्माण शरीर है। कर्मयुक्त आत्मतत्त्व इसी वलय से गुजरता है। अध्यवसाय की शुद्धता अशुद्धता कषाय की मन्दता और तीव्रता पर निर्भर रहती है। अचेतन मन संस्कारों से संवर्धित होता है और वे अध्यवसाय को प्रभावित करते हैं। अध्यवसाय से मन भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। अध्यवसाय की शुद्धता जीवन की यथार्थ शुद्धता है। गुणस्थान का सिद्धान्त इसी सिद्धान्त पर आधारित है। सातवें नरक में भी जीव को शुभ परिणामों के बल पर सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है। जातिस्मरण ज्ञान मे भी उत्तरोत्तर शुभ परिणामों की अनिवार्यता मानी गई है। अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान की उपलब्धि भी इसी विशुद्धता पर आधारित है।

कषाय और योग से व्यक्ति का आभामण्डल बनता है जो उसके विचार और चरित्र का दिग्दर्शक माना जाता है। भावों के अनुसार उसका रग बदलता रहता है। कृष्ण, नील, कापोत रग व्यक्ति की गर्हित प्रवृत्ति के सूचक है और तेज (पीत), पद्म, और शुक्ल लेश्याये सद्प्रवृत्ति को बताती है। ये रग सूक्ष्म शरीर से निकलने वाली भावात्मक किरणें हैं जो सूक्ष्म शरीर के चारों ओर अण्डाकृति में उभर जाती हैं। जैनदर्शन में इसे लेश्या कहा जाता है। साधारण तौर पर यह आभामण्डल दिखाई नहीं देता पर आधुनिक विज्ञान की मदद से वह देखा जाने लगा है। इस आभामण्डल से व्यक्तित्व की पहचान होती है। काला रंग प्रमाद, कषाय, क्रूरता का परिचायक है। नीले वर्ण में उसकी ईर्ष्या, माया, आसक्ति, हिंसक प्रवृत्ति देखी जा सकती है। कापोत रग में वक्रता, मात्सर्य और मिथ्यादृष्टि प्रतिबिम्बित होती है। रक्तवर्ण की प्रधानता में धार्मिकता, ऋजुता, पीतवर्ण में अल्पक्रोध, आत्मसयम, प्रशान्तचित्त और श्वेतवर्ण में जितेन्द्रियता, शुद्धाचरण और संयम पराकाष्ठा झांकती है। इन रगों के अनेक भेद-प्रभेद होते है और तदनुसार व्यक्तित्व को परखा जा सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान में इस क्षेत्र में अच्छा काम हुआ है।

व्यक्तित्व निर्माण और कर्मसिद्धान्त -

जैनदर्शन के अनुसार कार्माणशरीर को व्यक्तित्व निर्माण का मूल घटक माना जाता है। मनोविज्ञान में जिस वंशानुक्रम और वातावरण का उल्लेख आता है उसे जैनदर्शन में हम निमित्त-उपादान के रूप में देख सकते हैं। माता-पिता की अनुवंशिकता तो रहती ही है पर वातावरण और परिवेश को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार फलदायी बनाया जा सकता है। वातावरण और परिवेश निश्चित ही व्यक्तित्व के निर्माण में सहयोगी होते हैं। जीव में अनेक जन्मों के संस्कार एकत्रित होते हैं जो उसकी विलक्षणता के मूलकारण हैं।

जैन साहित्य में संस्थान और संहनन का वर्णन आता है नामकर्म के सन्दर्भ में। नामकर्म के अनुसार शरीर की संरचना होती है। संस्थान का तात्पर्य शरीर के आकार-प्रकार से है और संहनन उसकी अस्थिमयी ढांचा

से। मोक्षप्राप्ति में संस्थान बाधक नहीं है पर संहनन बाधक अवश्य है। वह आध्यात्मिक विकास का परिचायक है। प्रथम गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक सभी संहनन वाले मनुष्य विकास कर सकते हैं पर उसके आगे क्षपक श्रेणी में वज्रवृषभनाराच संहनन का होना आवश्यक है। संस्थान भी नामकर्म का फल है। वह भी शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार बनता है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में नाड़ीतन्त्र और ग्रन्थितन्त्र पर अच्छा काम हुआ है। मोहकर्म की प्रकृतियों के सन्दर्भ में उनका विश्लेषण किया जा सकता है। जेम्स, लांगे तथा मेक्डूनल ने संवेग सम्बन्धी जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं वे इन प्रकृतियों से काफी मिलते-जुलते हैं। फ्रायड की इदम और लिबिडो तथा मृत्युवृत्ति की तुलना भी इनसे की जा सकती है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में संस्कारों की प्रतिष्ठा सर्वविदित है। पुनर्जन्म के कारणों में संस्कारों का विशेष स्थान है। यह भी मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि सत्त्वों के स्वभाव, शक्ति, व्यक्तित्व एवं विचार माता-पिता के समान होते हैं। इसी प्रकार उसके आहार-प्रकार का भी प्रभाव उसके स्वभाव पर पड़ता है। वात-पित्त-कफ या सत्-रज-तम का विश्लेषण भी इसी सन्दर्भ में किया जा सकता है। जैनदर्शन में औदयिक अवस्था में अशुभ लेश्या होती है, मिथ्यात्व प्रबल होता है। इसलिये उसे छद्मस्थ कहा जाता है। अध्यवसायों की प्रशस्तता और शुभ लेश्याओं की प्रकर्षता से क्षायोपशमिक और क्षायिक व्यक्तित्व का विकास होता है। मनोविज्ञान में इसे आवेग नियन्त्रण की पद्धतियां कहा जाता है। जैनधर्म में उसे मार्गान्तरीकरण की संज्ञा दी गई है। उपशम, क्षय और क्षयोपशम इसी के अन्तर्गत आते हैं। इसे हम आध्यात्मिक व्यक्तित्व निर्माण की सीढ़ियाँ कह सकते हैं। उसकी सारी विकास यात्रा जैन मनोविज्ञान में अत्यन्त स्पष्ट रूप से चित्रित की गई है।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र का छठा अध्याय वस्तुत: जैन मनोविज्ञान है जो मन की सारी परतों को उघाड़ते हुए आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान की विचारधाराओं के समीप तक और किसी क्षेत्र में कई कदम आगे भी पहुँच जाता है। प्रारम्भ से ही जैनधर्म ने सिद्धान्त की अपेक्षा स्वानुभूति पर अधिक बल दिया है। कल्पना लोक मे विचरण करने का उसका स्वभाव नहीं रहा। व्यक्ति के गुणों को विकसित करने और उसकी शक्ति को शाश्वत शान्ति पाने की ओर खींचने का एक विशिष्ट गुण जैनाचार्यों में रहा है। उन्होंने मन को विशुद्ध करने के उपाय इस दिशा में निर्दिष्ट किये हैं। ध्यान इसका सर्वोत्तम साधन है। तत्त्व का अन्तर्निरीक्षण, उसकी प्रक्रिया, रूप, अर्थ और आवश्यकता से सम्बद्ध है। मन और शरीर तथा वस्तुतत्त्व की प्रकृति पर व्यक्ति जितना गहरा चिन्तन करेगा वह अध्यात्म की उतनी ही गहराई तक पहुँचता जायेगा। संसार से मोक्ष तक की यात्रा मन के विभिन्न आयामों पर ही आधारित है जिसे हम जैन मनोविज्ञान की संज्ञा दे सकते हैं।

कर्मास्रव के कारण : एक ऊहापोह

* डॉ. रतनचन्द्र जैन

तत्त्वार्थसूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्य ने 'कायवाङ्मनः कर्म योगः' (6/1) इस सूत्र में काय, वचन और मन की क्रिया के निमित्त से होने वाले आत्मप्रदेशों के परिस्पन्द संकोच-विकोच को योग कहा है।[1] उससे आत्मा ज्ञानावरणादि कर्म बनने योग्य पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण करता है। इसलिए कर्मों के आस्रव (आने) का कारण होने से योग को उपचार से आस्रव कहा गया है।[2] अर्थात् योग यथार्थतः आस्रव (कर्मस्कन्धों के आत्मा में प्रवेश) का हेतु है।

किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' (8/1) सूत्र में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच प्रत्ययों को भी आस्रव का हेतु बतलाया है। आस्रव के बिना बन्ध नहीं होता, इसलिए आस्रव के हेतुओं को भी बन्धहेतु कहा गया है। मिथ्यात्वादि आस्रव के हेतु हैं, यह पूज्यपाद स्वामी के निम्नलिखित वचन से स्पष्ट होता है - 'तत्र मिथ्यादर्शनप्राधान्येन यत्कर्म आस्रवति तन्निरोधाच्छेषे सासादनसम्यग्दृष्ट्यादौ तत्संवरो भवति' (स. सि. 9/1)।

अब प्रश्न उठता है कि 'योग' आस्रव का हेतु है या मिथ्यादर्शनादि ? इसका समाधान तत्त्वार्थवृत्तिकार श्रुतसागरसूरि ने इन शब्दों में किया है -

'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः इति य उक्त आस्रवः स सर्वोऽपि त्रिविधयोगेऽन्तर्भवतीति वेदितव्यम्' (तत्त्वार्थवृत्ति, 6/2)।

अर्थ : 'मिथ्यादर्शनादि' सूत्र में जिन मिथ्यादर्शन आदि को आस्रव का हेतु कहा गया है, वे सभी काययोग, वचनयोग और मनोयोग, इन तीन योगों में समाविष्ट हो जाते हैं।

अर्थात् मोहोदययुक्त जीवों में मिथ्यादर्शनादि से सम्पृक्त योग आस्रव का हेतु है और उपशान्तमोह एवं क्षीणमोह जीवों में मिथ्यादर्शनादि से रहित योग आस्रव का कारण है।

आचार्य जयसेन ने मिथ्यादर्शनादि परिणामों को अशुभोपयोग कहा है : 'मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगपञ्चप्रत्यय-रूपाशुभोपयोगेनाशुभो विज्ञेयः' (तात्पर्यवृत्ति, प्रवचनसार, गाथा 1/9)। इस अशुभोपयोग से युक्त योग भी अशुभोपयोग हो जाता है।

---

1. सर्वार्थसिद्धि, 6/1

2. यथा सरस्सलिलावाहिद्वारं तदास्रवकारणत्वाद् आस्रव इत्याख्यायते तथा योगप्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योग आस्रव इति व्यपदेशमर्हति। स. सि. 6/2

---

* ए/2, मानसरोवर शाहपुरा, भोपाल, (0755) 2424666

द्विविध उपयोग : ज्ञानात्मक, आचरणात्मक

उपयोग दो प्रकार का है : ज्ञानात्मक एवं आचरणात्मक अथवा अर्थग्रहणव्यापारात्मक एवं शुभाशुभशुद्धपरिणामात्मक। ब्रह्मदेवसूरि ने इनका प्ररूपण निम्नलिखित वाक्यों में किया है -

'किञ्च ज्ञानदर्शनोपयोगविवक्षायामुपयोगशब्देन विवक्षितार्थ-परिच्छित्तिलक्षणोऽर्थग्रहणव्यापारो गृह्यते। शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयविवक्षायां पुनरुपयोगशब्देन शुभाशुभशुद्धभावनैकरूपमनुष्ठानं ज्ञातव्यमिति' (बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका गाथा 6)।

अर्थ : जब 'उपयोग' शब्द से ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग अर्थ लिया जाय, तब उसका अर्थ होता है अर्थग्रहणव्यापार अर्थात् वस्तुविशेष को जानने की क्रिया। तथा जब वह शुभ, अशुभ और शुद्ध उपयोग के अर्थ में प्रयुक्त हो, तब उससे शुभभाव रूप परिणमन, अशुभभावरूप परिणमन और शुद्धभाव रूप परिणमन अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए।

अर्थग्रहण व्यापार रूप उपयोग केवली भगवान् में भी होता है, किन्तु शुभाशुभशुद्धपरिणामात्मक उपयोग छद्मस्थों में ही पाया जाता है। आचार्य जयसेन ने कहा है कि पहले से तीसरे गुणस्थान तक क्रमशः घटता हुआ अशुभोपयोग होता है, चौथे से छठे तक क्रमशः बढ़ता हुआ शुभोपयोग होता है, सातवें से बारहवें गुणस्थान तक क्रमशः बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग होता है तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में शुद्धोपयोग के घातिकर्म चतुष्टय-क्षयरूप फल की उपलब्धि होती है।[1]

शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणाम तथा शुभ, अशुभ और शुद्ध उपयोग समानार्थी हैं। यह आचार्य जयसेन के निम्नलिखित वचनों से ज्ञात होता है -

'किं च जीवस्यासंख्येयलोकमात्रपरिणामाः सिद्धान्ते मध्यमप्रतिपत्त्या मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानरूपेण कथिताः। अत्र प्राभृतशास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि संक्षेपेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण कथितानि' (तात्पर्यवृत्ति, प्रवचनसार, गाथा 1/9)।

अर्थ : जीव के असंख्यात लोकमात्र परिणाम होते हैं। सिद्धान्तग्रन्थों में मध्यमदृष्टि (स्थूलदृष्टि) से उन्हें मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों के रूप में वर्णित किया गया है। इस प्राभृतशास्त्र में वे ही गुणस्थान संक्षेप में शुभ, अशुभ और शुद्ध उपयोग के रूप में प्ररूपित किये गये हैं।

शुभाशुभोपयोग से योग का शुभाशुभत्व

शुभ और अशुभ उपयोग के निमित्त से योग शुभ और अशुभ होता है, जैसा कि पूज्यपादस्वामी ने कहा है -

'कथं योगस्य शुभाशुभत्वम् ? शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः। न पुनः शुभाशुभकर्मकारणत्वेन। यद्येवमुच्यते शुभयोग एव न स्यात्, शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात्।' (स. सि. 6/3)

---

1. मिथ्यात्व-सासादन-मिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः। तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः। तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्त-गुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः। तदनन्तरं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थः। - तात्पर्यवृत्ति, प्र. सा. गाथा 1/9

अर्थ : योग शुभ और अशुभ कैसे होता है ? शुभ परिणाम से उत्पन्न योग शुभ कहलाता है और अशुभ परिणाम से उत्पन्न योग अशुभ। शुभ-अशुभ कर्मों के बन्ध हेतु होने से शुभ-अशुभ नहीं कहलाते। ऐसा कहने पर शुभयोग का अस्तित्व ही नहीं होगा, क्योंकि शुभयोग भी ज्ञानावरणादि अशुभ कर्मों के बन्ध का कारण होता है।

यहाँ शुभाशुभ परिणाम का अर्थ शुभाशुभ उपयोग है। यह आचार्य अमितगति के निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है-

शुभाशुभोपयोगेन वासिता योगवृत्तयः ।

सामान्येन प्रजायन्ते दुरितास्रवहेतवः ॥ - योगसारप्राभृत 3/1

अर्थ : शुभ और अशुभ उपयोग से सम्पृक्त योगवृत्तियाँ सामान्यरूप से दुरितों (शुभाशुभकर्मों) के आस्रव का हेतु होती है।

ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का आस्रव शुभाशुभ योग से

तत्त्वार्थसूत्रकार ने केवल अर्थग्रहणव्यापारात्मक उपयोग का उल्लेख किया है, शुभाशुभशुद्धपरिणामात्मक उपयोग का नाम भी नही लिया। उन्होंने शुभ और अशुभ योग को ही ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों के आस्रव का हेतु बतलाया है। यह उनकी पातनिका टिप्पणियो से स्पष्ट हो जाता है। यथा -

'उक्त: सामान्येन कर्मास्रवभेद:। इदानीं कर्मविशेषास्रवभेदो वक्तव्य:। तस्मिन् वक्तव्ये आद्ययोर्ज्ञानदर्शनावरणयो-रास्रवभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह - तत्प्रदोशनिह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनवरणयो: ।' (स. सि. 6/10)

इस सूत्र मे सूत्रकार ने ज्ञान के विषय में प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात करने को ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के आस्रव का हेतु कहा है।

स्वय मे और दूसरो में उत्पन्न किये गये दु:ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन असातावेदनीय के आस्रव हेतु तथा प्राणियों पर अनुकम्पा, व्रतियों पर अनुकम्पा, दान, सरागसयम, क्षान्ति (क्षमा) और शौच (निर्लोभ) के भाव सातावेदनीय के आस्रव हेतु बतलाये गये हैं। (त.सू., 6/11-12)

केवली, श्रुत, सघ, धर्म और देवों का अवर्णवाद (मिथ्यादोषारोपण) दर्शनमोहनीय के आस्रव के कारण हैं (त. सू., 6/13)। कषायोदयजन्य तीव्र आत्मपरिणाम से चारित्रमोहनीय कर्म आस्रवित होता है। बहु आरम्भ और बहुपरिग्रह नरकायु का, माया तिर्यंचायु का, अल्प आरम्भ और अल्पपरिग्रह मनुष्यायु का, स्वाभाविक मृदुता मनुष्यायु और देवायु का तथा शीलव्रतरहितता चारों आयुओ का आस्रव कराती है।(त.सू., 6/14-19)

सरागसयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप देवायु के आस्रवहेतु हैं। सम्यक्त्व भी देवायु के आस्रव का कारण है। (त. सू. 6/20-21) मनोयोग, वचनयोग और काययोग की कुटिलता से अशुभनामकर्म का तथा उनकी सरलता से शुभनामकर्म का आस्रव होता है। (त.सू. 6/22-23)

दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों का अतिचार रहित पालन, सतत् ज्ञानोपयोग, सततसवेग, यथाशक्तित्याग और तप करना, साधुसमाधि, वैयावृत्य करना, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकों का नियम से पालन, मोक्षमार्ग की प्रभावना और प्रवचनवात्सल्य, ये सोलह तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव के हेतु हैं। (त.सू., 6/24)

परनिन्दा और आत्मप्रशंसा तथा दूसरों के विद्यमान गुणों का आच्छादन और अविद्यमान गुणों का उद्‌भावन नीचगोत्र के आस्रवहेतु हैं तथा ऐसा न करना एवं नम्रवृत्ति और अनुत्सेकभाव (अभिमानहीनता) उच्चगोत्र का आस्रव कराते हैं। दूसरों के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न डालने से अन्तरायकर्म का आस्रव होता है। (त. सू., 6/25-27)

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में इन शुभाशुभ योगप्रवृत्तियों को ज्ञानावरणादि आठ कर्मों ओर अघातिकर्मों की शुभाशुभ प्रकृतियों के आस्रव का हेतु प्ररूपित किया गया है।

आठों कर्मों का आस्रव शुभाशुभ उपयोग से

प्रवचनसार आदि ग्रन्थों में शुभाशुभ उपयोगों को इन आठ कर्मों के आस्रव का कारण बतलाया गया है। यथा -

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ प्र. सा. 2/95

अर्थ : जब आत्मा रागद्वेष युक्त होकर शुभ (शुभोपयोग) या अशुभ (अशुभोपयोग) में परिणत होता है, तब उसमें ज्ञानावरणादि के रूप में कर्मरज प्रविष्ट होती है।

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥ प्र.सा. 2/64

अर्थ : यदि उपयोग शुभ है, तो जीव के पुण्य का संचय होता है, यदि अशुभ है, तो पाप का सचय होता है। इन दोनों प्रकार के उपयोगों के अभाव में अर्थात् शुद्धोपयोग के सद्‌भाव में पाप और पुण्य दोनों का संचय नहीं होता।

ज्ञानावरणादि कर्म पापकर्म हैं और सातावेदनीय, शुभायु, शुभनाम एव शुभगोत्र पुण्यकर्म। (त. सू. 8/25-27) अतः उक्त गाथा में शुभ और अशुभ उपयोगों से आठों कर्मों का आस्रव बतलाया गया है।

शुभाशुभ योग और उपयोग में कथंचित् अभेद

यतः आत्मा की शुभाशुभ उपयोगरूप परिणति मन, वचन, काय के माध्यम से ही होती है तथा मन, वचन, काय की प्रवृत्ति शुभाशुभ उपयोग के प्रभाव से ही शुभाशुभ बनती है, अतः योग में शुभाशुभ उपयोग। इसलिए शुभाशुभ उपयोगों से कर्मों का आस्रव होता है अथवा शुभाशुभ योग कर्मास्रव के हेतु हैं, इन दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है -

सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥ बारसाणुवेक्खा 13

अर्थ : शुभयोग की प्रवृत्ति अशुभयोग का निरोध करती है और शुभयोग का निरोध शुद्धोपयोग से होता है।

इस गाथा में कुन्दकुन्द ने शुभाशुभयोग और शुभाशुभ उपयोग को समानार्थी के रूप में प्रयुक्त किया है, क्योंकि शुद्धोपयोग से शुभोपयोग का निरोध होने पर ही शुभयोग का निरोध संभव है।

ब्रह्मदेवसूरि ने भी दोनों का अभेदरूप से उल्लेख किया है। यथा -

'मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यन्तमुपर्युपरि मन्दत्वात्तारतम्येन तावदशुद्धनिश्चयो वर्तते। तस्य मध्ये पुनर्गुणस्थानभेदेन शुभाशुभ-शुद्धानुष्ठानरूपयोगत्रय-व्यापारस्तिष्ठति। तदुच्यते - मिथ्यादृष्टि-सासादनमिश्रगुणस्थानेषूपर्युपरिमन्दत्वेनाशुभोपयोगो वर्तते। ततोऽप्यसंयतसम्यग्दृष्टिश्रावक-प्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोग-साधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते। तदनन्तरमप्रमत्तादि-क्षीणकषायपर्यन्तजघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्धनय-रूपशुद्धोपयोगो वर्तते।' (बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका गाथा 34)

यहाँ ब्रह्मदेवसूरि ने शुभ, अशुभ और शुद्ध योगत्रयव्यापार को ही शुभ, अशुभ और शुद्ध उपयोग के रूप में वर्णित किया है। इस तरह आचार्यों ने दोनों में कथंचित् अभेद स्वीकार किया है।

मिथ्यात्वादि पाँच प्रत्यय आस्रव के हेतु

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय इन चार प्रत्ययों से योग शुभ और अशुभ बनता है। ये शुभाशुभ उपयोग के ही विभिन्न रूप हैं। (ता. वृ. प्र. सा. गाथा 1/9) अतः मूलतः ये ही आठ कर्मों के आस्रव हेतु हैं। धवला में निम्नलिखित गाथा उद्धृत की गयी है -

मिच्छत्ताविरदी वि य कसायजोगा य आसवा होंति।
दंसण-विरमण-णिग्गह-णिरोहया संवरो होंति॥ धवला, पु. 7/9

अर्थ : मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये कर्मों के आस्रवहेतु हैं तथा सम्यक्त्व, संयम, अकषाय और अयोग सवर के हेतु हैं। यहाँ प्रमाद को कषाय में अन्तर्भूत कर लिया गया है।[1]

मिथ्यात्वादि के निमित्त से जिन-जिन प्रकृतियों का आस्रव होता है, उनका वर्णन 'षट्खण्डागम' और 'सर्वार्थसिद्धि' में किया गया है। वे इस प्रकार हैं -

मिथ्यात्वोदय की विशेषता से निम्नलिखित सोलह प्रकृतियो का आस्रव होता है : मिथ्यात्व, नपुसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, हुण्डकसस्थान, असम्प्राप्तासृपाटिकासहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारणशरीर। (ष. ख. पु. 8/42-53, स. सि. 9/1)

अनन्तानुबन्धी कषायजनित असयम की विशेषता से ये पच्चीस प्रकृतियाँ आस्रवित होती हैं : निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी-क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यचायु, तिर्यचगति, मध्य के चार संस्थान, मध्य के चार संहनन, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीचगोत्र। (ष.खं. पु. 8/300, स. सि. 9/1)

अप्रत्याख्यानावरणकषायजनित असंयम की विशेषता से आस्रव को प्राप्त होने वाली दश प्रकृतियाँ निम्नलिखित

1. को पमादो णाम ? चदुसंजलण-णवणोकसायाणं तिव्वोदओ। - धवला, पु. 7/11

हैं : अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिकशरीर, औदारिकअंगोपांग, वज्रर्षभनाराचसंहनन और मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी। (ष.खं. पु. 8/29-30, स. सि. 9/1)

प्रत्याख्यानावरणकषायोद्भूत असंयम की विशेषता से प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियों का आस्रव होता है। (ष.खं. पु. 8/19-20, स. सि. 9/1)

प्रमाद की विशेषता से असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ, अयश:कीर्ति ये छह प्रकृतियाँ आस्रवित होती हैं। (ष.खं. पु. 8/13-14, स. सि. 9/1) देवायु का आस्रव प्रमाद तथा प्रमादनिकटवर्ती अप्रमाद (अप्रमत्तसंयम) से होता है। (ष.खं. पु. 8/31-32, स. सि. 9/1)

प्रमादादिरहित संज्वलनकषाय तीव्र, मध्यम और जघन्यरूप होता है। तीव्रसंज्वलन के उदय में निद्रा, प्रचला, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियिकशरीर, आहारकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियिकशरीरांगोपांग, आहारकशरीरांगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण, तीर्थंकर, हास्य, रति, भय और जुगुप्सा, ये छत्तीस प्रकृतियाँ आस्रव को प्राप्त होती है।(ष.ख. पु. 8/33-38, स. सि. 9/1)

प्रमादादिरहित मध्यमसंज्वलनकषाय की विशेषता से पुरुषवेद, सज्वलन क्रोध, मान, माया एवं लोभ इन पाँच प्रकृतियों का आस्रव होता है। (ष.खं. पु. 8/21-26, स. सि. 9/1)

जघन्य (मन्द) संज्वलनकषाय की विशेषत से पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यश:कीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय, ये सोलह प्रकृतियाँ आस्रव को प्राप्त होती हैं। (ष.ख. पु. 8, स. सि. 9/1) योग के निमित्त से केवल सातावेदनीय का आस्रव होता है। (ष.खं. पु. 8, स. सि. 9/1)

इस प्रकार आगम मे कहीं शुभाशुभ योग को इन एक सौ बीस कर्म प्रकृतियों के आस्रव का हेतु कहा गया है, कहीं शुभाशुभ उपयोग को और कहीं मिथ्यात्वादि पाँच प्रत्ययों को। ये अपेक्षाभेद से किये गये निरूपण हैं। इनका अभिप्राय एक ही है।

तत्त्वार्थ सूत्र के आधार पर पुण्य - पाप की मीमांसा

* पं. शिवचरनलाल जैन

जयत्यशेषतत्त्वार्थप्रकाशिप्रथितश्रियः ।
मोहध्वान्तौघनिर्भेदिज्ञानज्योतिर्जिनेशिनः ॥ -तत्त्वार्थसार

''श्री जिनेन्द्र भगवान की प्रसिद्ध वैभवयुक्त सपूर्ण पदार्थों को प्रकाशित एवं मोहान्धकार के समूह को नष्ट करनेवाली ज्ञानरूपी ज्योति विजयी हो।''

तत्त्वार्थ सूत्र अपरनाम मोक्षशास्त्र जैन धर्म की सभी सप्रदाय मान्य सर्वोत्कृष्ट कृति है। सस्कृत भाषा एवं अत्यंत सारगर्भित सूत्र शैली का यह वर्त्तमान में उपलब्ध सर्वप्रथम ग्रथ है। इसमें जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो का निरूपण किया गया है, अत: इसका तत्त्वार्थ सूत्र नाम सार्थक है। इसमें संसारी दु:ख-संतप्त प्राणी के दु:खनिवृत्ति तथा वास्तविक अनाकुलतारूप सुख प्राप्ति अर्थात् मोक्ष एवं मोक्षोपाय की ही चर्चा है, अत: इसकी द्वितीय 'मोक्षशास्त्र' अन्वर्थ सज्ञा है। इसके रचियता श्री उमास्वामी (गृद्धपिच्छ) आचार्य ने, जो आचार्य कुदकुंद के पट्टशिष्य थे, अब से लगभग 2000 वर्ष पूर्व इस भारत भूमि को सुशोभित किया था। उन्होने इस 'गागर में सागर' के समान ग्रथ में सर्वार्थसिद्धि-मार्ग, मोक्षोपाय रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) को मात्र 357 सूत्रों में गुम्फित कर लोकहित सपादन किया था। यह तत्त्वार्थ सूत्र रूप महाप्रकाश अद्यावधि भव्यजीवों का कण्ठहार बना हुआ है।

आ. कुदकुंद ने समयसार में सात तत्त्वों में पुण्य-पाप को सम्मिलित कर नव तत्त्व या नव पदार्थ प्ररूपित किये हैं। अभेद विवक्षा से पुण्य-पाप को आस्रव तत्त्व मे गर्भित कर प्राय: मनीषीजनों ने सात तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। मैं इसके साथ ही विशेष रूप से अध्येताओं का ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा कि मोक्ष से अतिरिक्त पुण्य-पाप का समावेश तो छहों तत्त्वों में ही है। छहों दो-दो प्रकार के हैं। छहो तत्त्वों में पुण्य-पाप मीमांसा निम्न रूप में दृष्टव्य है-

1. जीव : पुण्य जीव - रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में अवस्थित जीव या रत्नत्रय के सम्मुख जीव। पुण्य प्रकृतियों से प्रभावित तथा पाप प्रकृतियों पर विजय प्राप्ति में सलग्न जीव।

पाप जीव - मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र मं प्रवृत्त, विषय-कषाय में रत पापमग्न जीव। पापप्रकृतियों से विशेष प्रभावित जीव। (त.सू. /6/7, अधिकरणं जीवाजीवा:)

2. अजीव : पुण्य अजीव - नो आगम द्रव्य रूप, रत्नत्रय से पावन ज्ञायक शरीर, पूजादि के मंगल द्रव्य, जिनेन्द्र

* सीताराम मार्केट, मैनपुरी (उ.प्र.) फोन :- २४०९८० (प्रति.) २३६१५२ (निवास)

की समवसरण रूप अजीव द्रव्य, अजीव शब्द रूप जिनवाणी, शुचि, ज्ञान, ज्ञान, संयम, उपकरण आदि तथा ऐसे पवित्र पुद्गलद्रव्य जो जीव के पुण्यमार्ग में सहायक हैं तथा तीर्थङ्कर व अन्य पुण्य कर्म प्रकृतियाँ आदि।

पाप अजीव - पुद्गल द्रव्यकर्म की पाप प्रकृतियाँ, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापोकरण। अंधकार व अपशकुन द्रव्य।

3. आस्रव : पुण्यास्रव - अ. पूजा, भक्ति, व्रत, संयम, मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ आदि भावाश्रव, जीवास्रव। शुभभाव।

ब. शुभ तीर्थङ्कर, मनुष्य गति, देवायु आदि पुण्य प्रकृतियों का आश्रव द्रव्याश्रव। शुभयोग से होने वाला आश्रव।

पापास्रव - अ. हिंसा आदि पंच पाप भाव, सप्त व्यसन, मिथ्यात्व, अविरति, तीव्रकषायरूप संक्लेश परिणाम, अशुभ योग व अशुभ भाव आदि पाप-भावाश्रव।

ब. घातिया कर्मों की प्रकृतियाँ, नीच गोत्र, सातावेदनीय, नरकायु आदि पाप प्रकृतियों का आश्रव, पाप द्रव्याश्रव।

4. बंध : पुण्यबंध - जीव के जिन भावों से पुण्य प्रकृतियों का बध होता है वे भावबध तथा सातावेदनीय आदि पुण्यप्रकृतियों का आत्मप्रदेशों के साथ अन्योन्यप्रवेशणरूप द्रव्य बध।

पाप बंध - असातावेदनीय आदि पाप प्रकृतियों के बध के योग्य जीव परिणामरूप भावबध, नरकायु, असाता आदि पाप प्रकृतियों का जीव प्रदेशों से नीर-क्षीरवत् बंध।

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 8 में उल्लिखित है - "**सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्य** ||25|| **अतोऽन्यत्पाप** ||26||

5. संवर : पाप संवर - पाप कर्म के सवर के कारण जीव भाव, भाव सवर तथा पाप प्रकृतियो का आश्रव निरोध यह अभीष्ट है।

पुण्य संवर - पुण्य कर्म प्रकृतियों के आश्रव निरोध के कारणरूप जीव के पाप परिणाम पुण्य भावसंवर कहलाते हैं। इनके द्वारा पुण्य प्रकृतियों का निरोध होता है, वह पुण्य द्रव्य सवर कहलाता है। सविकल्प अवस्था की दृष्टि से यह हेय है।

6. निर्जरा : पाप निर्जरा - पाप कर्मो की निर्जरा रूप द्रव्य निर्जरा। कारणरूप पाप परिणामो की हानि पाप भाव निर्जरा। यह शुभोपयोग से होती है।

पुण्य निर्जरा - पुण्य कर्मो की निर्जरा के कारण भाव निर्जरा शुद्धोपयोग, पुण्य कर्म प्रकृतियो की स्थिति - अनुभाग हानि पुण्यकर्म निर्जरा।

7. मोक्ष : पुण्य पाप से रहित है। यह रत्नत्रय का फल है जीवन-मुक्त या सिद्ध परमात्मा शुद्ध, परसयोग से रहित हैं, अतः पवित्र हैं। अतः उन्हें पुण्य सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। इसी कारण से सहस्रनाम स्तोत्र में इन्हे पुण्य से संबोधित किया गया है।

तत्त्वार्थ सूत्र के छठे, सातवे, आठवे और नवे अधिकार में उपरोक्त विवेचन को हम दृष्टिगत कर सकते हैं। वहाँ जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सवर, निर्जरा इन छह तत्त्वों का पुण्य और पाप के अनेक रूपों में विवेचन किया गया है, वहाँ दृष्टव्य है।

यहाँ पुण्य-पाप के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं -

पुण्य : ''पुनात्यात्मान पूयतेऽनेन वा इति पुण्यं अथवा येनात्मा पवित्रीक्रियते तत्पुण्यं ।''

अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है। चूंकि आत्मा को पवित्र, शुद्ध, मुक्त करना अभीष्ट है, अतः पुण्य उपाय है, अतः वह उपादेय है। मंजिल हेतु मार्ग उपादेय ही है, भले ही मंजिल की प्राप्ति होने पर मार्ग छूटता है, उसका अस्तित्वमंजिल में नहीं है। पुण्य को मंगल और शुभ भी कहते हैं। पुण्य परिणामों को विशुद्ध परिणाम भी कहा है।

पाप :- ''यद् पतति तद् पापं''

अर्थात् जो पतन कराता है वह पाप है।

''पाति रक्षति आत्मानं शुभाद् इति पापं''

अर्थात् जो शुभ से बचाता है, दूर रखता है, वह पाप है। यह सर्वथा हेय है। यह तो उपाय या मार्ग ही नहीं है, इससे मोक्षरूपी मंजिल नहीं मिल सकती। इसे संक्लेश, अशुभ, अमंगल या अहित भी कहते हैं।

पुण्य के पर्यायवाची :- पुण्य, सुकृत, ऊ रधवदन, भाग्य, बहिर्मुख, धर्म।

जैसे सामान्य पुद्गल की दृष्टि से तो दूध और विष दोनों पुद्गल हैं। पाप और पुण्य की एकता उसी प्रकार द्रव्य कर्म बंध सामान्य एवं कर्मज भाव सामान्य की दृष्टि से अध्यात्म ग्रंथों में पाप और पुण्य की समानता का निरूपण आचार्यों ने किया है। यथा -

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
तह किध होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ।।
सोवण्णियंपि णियलं बंधदि कालायसं जहेव पुरिसाणं।
एवं बंधदि जीवं सुहासुहं च कदंकम्म ।। (समयसार)

तुम अशुभ कर्म को कुशील और शुभ कर्म को सुशील जानते हो, किंतु शुभ कर्म सुशील कैसे हो सकता है, जो जीव को संसार में प्रवेश कराता है। जैसे लोहे की बेड़ी के समान सोने की बेड़ी भी पुरुष को बांधती है। उसी प्रकार शुभ और अशुभ किये हुये कर्म जीव को बाँधते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि यह शुद्ध नय, निश्चयनय कथन शुद्धोपयोग, वीतराग अवस्था अथवा निर्विकल्प ध्यान, निश्चय-अभेद रत्नत्रय की अपेक्षा है तथा इसका पात्र वीतराग चर्या का धारी मुनि है। यह समयसार में अनेक स्थलों से ज्ञात होता है। दृष्टव्य है -

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभाव दरिसीहिं ।
ववहार देसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ।। समयप्राभृत/12

जो परमभावदर्शी हैं (सातिशय अप्रमत्त से ऊ पर) उनको शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला शुद्धनय ज्ञातव्य है, किंतु अपरम भाव में स्थित (गृहस्थ की अपेक्षा पंचम गुणस्थान तक तथा मुनि की अपेक्षा छठे व सातवें स्वस्थान अप्रमत्त में) हैं, वे व्यवहार नय के द्वारा उपदेश के पात्र हैं।

वर्त्तमान में तो मोक्षमार्गी सभी गृहस्थ अथवा मुनि सभी अपरमभाव में स्थित हैं। श्रेणी आरोहण नहीं है। अतः सभी व्यवहार नय के द्वारा उपदेश के पात्र हैं। निश्चय नय के विषय की श्रद्धा के साथ व्यवहार नय का प्रयोग ही करने के पात्र हैं।

पुण्य-पाप में अंतर : तत्त्वार्थ सूत्र में संसारी अधःस्थानपतित जीव को उठाकर विभिन्न श्रेणियों के अनुसार मोक्षमार्ग में लगाने का उपदेश है। जब सात तत्त्व ही व्यवहार नय का विषय हैं, अतः व्यवहार नय की विशिष्ट प्रधानता को लिये हुये यह महाग्रंथ है। इसमें पाप और पुण्य के स्वरूप में स्पष्ट अतर दिखता है। इनमें परस्पर विरोधी भाव दृष्टिगत होता है। जैसे जिसको अमृत की पाप्ति नहीं हुई, उसके लिये विष त्याज्य है, दूध उपादेय है। उसी प्रकार शुद्धोपयोग की प्राप्ति के अभाव में अशुभ (पाप) हेय है, शुभ (पुण्य) उपादेय है। वर्त्तमान काल में तो यह ही शरण है। प्रसिद्ध टीकाकार श्री जयचंद छाबड़ा के शब्दों में व्यवहारी जीवों को व्यवहार ही शरण है। प्रसिद्ध ही है, पच परमेष्ठी शरण हैं, यह पराश्रित भाव ही हैं, जो उपादेय हैं और व्यवहार नय का विषय ही हैं।

यहाँ तत्त्वार्थ सूत्र कतिपय स्थलों से पुण्य और पाप का अतर स्पष्ट किया जाता है। किसी भी जीवादिक तत्त्वों की दृष्टि से दृष्टव्य है -

1. **शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य** ।। 6/3।।

- आस्रव दो प्रकार का है (एक प्रकार या समान नहीं)। शुभास्रव और अशुभास्रव। शुभ योग से अर्थात् पुण्य (मन-वचन-काय के द्वारा) कर्मों से शुभाश्रव होता है और अशुभ योग अर्थात् पापकर्मों से अशुभ या पापास्रव होता है। पूजा, अचौर्य, ब्रह्मचर्यादि शुभ काययोग हैं। सत्य, हित, मित, प्रिय वचनादि शुभ वचन योग है। अर्हत आदि मे भक्तिभाव, तप में रुचि, शास्त्र की विनय आदि शुभ मनोयोग हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन आदि अशुभ काय योग है। असत्य, अप्रिय, अहित, कर्कश, आगमविरुद्ध भाषण आदि अशुभ वचन योग है। हिंसा भाव, ईर्ष्या, निंदा आदि अशुभ मनोयोग हैं। शुभ परिणामों से उत्पन्न मन-वचन-काय की क्रिया को शुभयोग और अशुभपरिणामो से उत्पन्न योग को अशुभ योग कहते हैं।

उपरोक्त से पाप और पुण्य का अतर, विरोधीभाव स्पष्ट नजर आता है। क्या असत्य और सत्य को समान माना जा सकता है, कभी नहीं।

2. **सदसद्वेद्ये** ।।8/8।।

वेदनीय कर्म दो प्रकार का है- 1. साता और 2. असाता। जिसके उदय से सुख शांति के साधन प्राप्त हो वह साता और जिसके उदय से दुःख, शोक के साधन प्राप्त हों, वह असाता वेदनीय है।

इनके आश्रव के कारणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है -

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ।।6/11।।

निज तथा पर दोनों के संबंध में किए जाने वाला दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दत (रुदन), वध, और परिदेवन (दया का उत्पादक रुदन), असाता वेदनीय के आस्रव के कारण हैं।

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ।।6/12।।

समस्त प्राणियों के प्रति दयाभाव, व्रती अनुकंपा, दान, सरागसंयम, कषायों का शमन और संतोष (लोभ-

त्याग), ये साता वेदनीय के आस्रव हैं।

यहाँ स्पष्ट है कि साता-असाता दोनों के आस्रव के कारण विरोधी हैं। अत: दोनों के कार्य भी विरुद्ध हैं। अत: दोनों में स्पष्ट अंतर है। एक दिन है तो दूसरा रात्रि।

3. **बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः** ।।6/15।।

बहुत आरंभ और परिग्रह से नरकायु (पाप) का आश्रव होता है।

अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य ।।6/17।।

थोड़ा आरंभ और परिग्रह रखने से मनुष्यायु (पुण्य) का आस्रव होता है।

4. **योगवक्रता विसंवादनंचाशुभस्य नाम्नः** ।।6/22।।

मनोयोग, वचनयोग, काययोग की कुटिलता और श्रेयोमार्ग की निंदा करके बुरे मार्ग पर चलने को कहना, जैसे सम्यक्चारित्र और क्रियाओं में प्रवृत्ति करने वालों से कहना कि तुम ऐसा मत करो और ऐसा करो आदि विसंवादन से अशुभ नाम कर्म का आस्रव होता है।

तद्विपरीतं शुभस्य ।।6/23।।

योगों की सरलता और अविसंवादन से शुभ नाम कर्म का आस्रव होता है।

5. **हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्** ।।7/1।।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापों से विरक्त होना व्रत है। यहाँ अंतर स्पष्ट है कि पाँच पापों से उल्टा व्रत (पुण्य) है, यह चारित्र है, मोक्षमार्ग है, भले ही इससे शुभास्रव होता है। पापों से तो जीव संसार दु:खों में डूबता ही है।

6. **तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च** ।।7/3।।

इन पाँच व्रतों की स्थिरता हेतु पाँच-पाँच भावनायें हैं।

इससे प्रकट है कि इन व्रत रूप पुण्य को उपादेय बताया गया है। कहीं भी पापों को स्थिर करने हेतु उपाय उपदिष्ट नहीं किया गया है।

7. **हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् । दुःखमेव वा** ।।7/9,10।।

इन पाँच पापों से इस लोक में और परलोक में भय, नाश और निंदा, दु:ख प्राप्त होता है। ये दु:ख रूप ही हैं, साक्षात् दु:ख ही हैं।

8. **सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् । अतोऽन्यत्पापम्** ।।8/25-6।।

साता वेदनीय शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं। इनसे अन्य पाप प्रकृतियाँ हैं।

यहाँ पाप और पुण्य के स्वरूप में स्पष्ट अंतर सिद्ध होता है। पुण्य से पाप अन्य है एक नहीं।

उपरोक्त उदाहरणों से तत्त्वार्थ सूत्र में पुण्य-पाप की स्वरूप विषयक परस्पर विरोधी मीमांसा है।

यदा तदा सर्वत्र एकांत निश्चयाभासी जनों द्वारा अपने समर्थन में कहा जाता है कि व्रतों को तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वामी ने सातवें आस्रवाधिकार में लिया है, अत: जो आस्रव और बंध के कारण हों, वे न तो उपादेय हैं, न धर्म

ही है। मात्र पुण्य है। उपर्युक्त के विषय में हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आचार्य उमास्वामी ने उन्हें नवें संवराधिकार में भी लिया है। उनसे संवर-निर्जरा भी होती है।

अध्याय 9 सूत्र नं. 2

सगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः ॥9/2॥

गुप्ति, समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय और पाँच प्रकार चारित्र से संवर होता है।

पाठकों को ज्ञातव्य है कि यहाँ उपरोक्त संवर के कारणों के अंतर्गत संयम, व्रत, तप आदि उपरोक्त सम्मिलित हैं, जो पुण्य रूप हैं, जिनसे पुण्यास्रव होता है, उनसे संवर और निर्जरा भी होती है। न्याय के जानकारों को विदित है कि एक कारण से अनेकों कार्य होते हैं तथा अनेकों कारणों से एक कार्य होता है। अन्याय अर्थात् न्याय को ताक पर रख कर तो निर्णय होता ही नहीं है। एक ही अग्नि से प्रकाश, ताप, लोकस्थित और नाश अनेको कार्य होते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र के आधार पर पुण्य पाप विषयक मीमासा से निम्न निष्कर्ष ग्रहणीय हैं -

पाप अधर्म है, हेय है। पुण्य धर्म है, उपादेय है। पुण्य रूप धर्म को व्यवहार मोक्षमार्ग रूप में वास्तविक मोक्षमार्ग रूप में स्वीकृत किया गया है। अशुभोपयोग को छोड़कर शुभोपयोग में प्रवर्तन करना चाहिये तथा इसके द्वारा शुद्धोपयोग का लक्ष्य रखना चाहिये। शुद्धोपयोग मुनिदशा में ही सभव हो सकता है, सभी मुनियो को भी नही। गृहस्थ तो मात्र शुभोपयोग का पात्र है। शास्त्रों में पुण्य का उपदेश सर्वत्र है। पुण्य और पाप मे महान अंतर है। दोनों का स्वरूप ही विरुद्ध है। किसी भी नय का प्रयोग सर्वत्र सर्वदा नहीं किया जा सकता। दोनों का उपयोग गौण-मुख्य रूप से संभव है। पुण्य रूप व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है, निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है। व्यवहार के बिना तीन काल मे कभी निश्चय की सिद्धि नही। शुभोपयोग शुद्धोपयोग का साधक है। अरहंतादिक के प्रति भक्ति आदि विशुद्ध, शुभ, पुण्य परिणाम है, उससे पुण्यास्रव के साथ-साथ पाप की संवर-निर्जरा होती है। पूर्व में संचित पाप का संक्रमण पुण्य में हो जाता है, पाप कर्म की स्थिति अनुभाग घट जाते हैं, यह शुभ परिणाम शुद्ध परिणाम का कारण हैं, समस्त कषाय मिटाने का साधन है। वीतराग विज्ञान का कारण है। व्रतादिक पुण्य मात्र जड़ की क्रिया नहीं, चेतन का परिणाम है। पुण्य परंपरा-मोक्षमार्ग है। उपादेय मानकर इस परंपरा मोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिये, हेय मानकर नहीं। पुण्य को छोडना नहीं पडता, वह मोक्ष प्राप्ति होने पर स्वयं छूट जाता है। पाप छोड़ने के लिये प्रतिक्रमण आदि का आगम में विधान है, पुण्य छोडने को कहीं भी प्रतिक्रमण प्रतिज्ञा नहीं करनी पडती। वर्तमान पंचम काल में पाप की ही बहुलता है। पुण्य तो अत्यल्प है। अत: पाप त्याग का उपदेश है, जिसका अस्तित्व प्रचुर है।

तत्त्वार्थ सूत्र की उक्त मीमांसा के समर्थन में कुछ अन्य आगमोल्लेख प्रस्तुत हैं -

1. **पुण्णफला अरहंता** -(प्रवचनसार)

अरहंत भगवान पुण्य रूपी कल्पवृक्ष के फल हैं।

2. पुण्यं कुरुष्वकृतपुण्यमनीदृशोऽपि,
नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै। - आत्मानुशासन

यहाँ पुण्य करने का उपदेश है, उपादेय है, पुण्य अपने आप नहीं हो जाता। इससे स्पष्ट है कि जीव ने अनंत बार पुण्य भाव या पुण्य कर्म नहीं किया।

3. सम्माइट्ठी पुण्णं न होइ संसार कारणं णियमा ।
मोक्खस्स होई हेउ जइ वि णियाणं ण करेइ ।। - भावसंग्रह

सम्यग्दृष्टि का पुण्य संसार कारण नहीं है, वह सर्वथा बंध का कारण नहीं है, वह मोक्ष का कारण है। हाँ निदान (सांसारिक भोगाकांक्षा) नहीं करना चाहिये ।

4. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम् ।
संसार दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।। - रत्नकरण्डक श्रावकाचार

आचार्य समंतभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में व्यवहार रत्नत्रय यानी व्रतादिक पुण्य रूप रत्नत्रय का वर्णन किया है, उसे समीचीन धर्म कहा है । वह जीवों का कर्मनाश करके दु:खों से निकाल कर उत्तम सुख में धारण कराता है ।

5. हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः ।
हेतुशुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे ।।

कारण-कार्य की विशेषता से पुण्य और पाप में अंतर है । पुण्य के कारण शुभ भाव हैं, पाप के कारण अशुभ भाव हैं । तथा पुण्य का फल सुख, पाप का कार्य दु:ख है ।

6. अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ।। - समाधिशतक

अव्रतों (पापों) को त्यागकर व्रतों (पुण्य) में निष्ठावान होकर रहे तथा परमपद प्राप्त होने पर व्रतों को भी छोड़ देवें, अर्थात् जब छोड़ने का सकल्प ही वहाँ नहीं है तो पुण्य तो अपने आप छूट जाता है, छोड़ना नहीं पड़ता ।

7. सुहजोगस्स पवित्ति संवरणं कुणदि असुहजोगस्स ।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ।। - बारसाणुपेक्खा

शुभयोग की प्रवृत्ति अशुभयोग से आने वाले कर्मों का संवर करती है तथा शुभयोग से आने वाले कर्मों का निरोध शुद्धोपयोग से होता है । स्पष्ट है कि शुद्धोपयोग से पाप का संवर नहीं होता, उसके लिये तो पुण्य चाहिये ।

8. वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वतनारकम् ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ।। - इष्टोपदेश:

व्रतों के द्वारा देवपद पाना श्रेष्ठ है, अव्रतों (पापों) से नरक पाना ठीक नहीं । छाया और धूप में बैठे व्यक्तियों के परिणामों में महान् अंतर है ।

9. भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं ।
असुहं अट्टरउद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं ।। - भावपाहुड

भाव तीन प्रकार का है - 1. शुभ, 2. अशुभ, 3. शुद्ध । उनमें आर्त्त, रौद्र ध्यान अशुभ हैं, शुभ रूप धर्मध्यान है । यहाँ स्पष्ट रूप से शुभ, पुण्यभाव को धर्मध्यान एवं धर्मरूप ही कहा गया है ।

उपरोक्त उदाहरणों के समर्थन में तत्त्वार्थ सूत्र की यह स्पष्ट अवधारणा है कि पाप त्याज्य हैं, पुण्य उपादेय है । पुण्य-पाप की मीमांसा चाहे जिस रूप में तथा चाहे जितनी की जाय परंतु सिद्धि तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान तथा क्रिया से ही होगी । भावों एवं कर्मों की पुण्यता पवित्रता तो सर्वत्र इष्ट ही है । हाँ पुण्य का फल न चाहकर पुण्य सर्वदा करना चाहिये, जब तक करनी का प्रसंग है ।

तत्त्वार्थसूत्र का समाजशास्त्रीय अध्ययन

* डॉ. नीलम जैन

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी तत्त्वचिन्तक मनीषियों में अपना श्रेष्ठ, धुरीय एवं कीर्तनीय स्थान रखते हैं। तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शन की सूत्रात्मक प्रस्तुति मात्र नहीं अपितु जीवन संभारने एवं सामाजिक समरसता की मास्टर की है। मानव सामर्थ्य के अद्भुत ज्ञाता आचार्य उमास्वामी संघर्ष एवं पुरुषार्थ का मार्ग सुझाते हुए व्यष्टि से समष्टि का ऐसे राजमार्ग का उद्घोष करते हैं जहाँ जीवन जीवन्त और समाज प्रभावान होकर सद्गुणों का ऐसा इन्द्रधनुष बिखरते हैं जहाँ सबल-दुर्बल, धनी-निर्धन, गुरु-लघु, युवा-वृद्ध, महिला-पुरुष सभी परस्पर उपकारी बन समाज एवं श्रद्धास्पद आचरण संहिता का वहन करते हैं । इस कृति की प्रभविष्णुता अद्भुत और अनुपम है। आचार्य प्रवर की जीवन-दृष्टि संतुलित और समन्वय प्रधान होने के कारण इसमें ऐसी विचार-मणियां हैं जो समाज को मर्यादित और अनुशासित रखती हैं।

वर्तमान में जब समान में सर्वत्र मूल्यों का क्षरण है, भौतिकता की सर्वग्रासिनी ज्वाला धधक और झुलसा रही है। शोषण, उत्पीड़न, हिंसा और द्वेष का क्रीड़ा सामाजिक समरसता को चाट रहा है, 'जिओ और जीने दो' का स्थान 'मरो और मारो' ने ले लिया है। प्रतिमूल्यों की संस्कृति उग्रतर गति से विभीषिका फैला रही है, जिस हृदय के स्तर पर भावना की निर्मल भागीरथी का प्रवाह है वहाँ उन्माद का बारूद उड़ेला जा रहा है।

आचार्य प्रवर श्री उमास्वामी जी सामाजिक और वैयक्तिक हित-साधना को एक-दूसरे से अविभाज्य मानते हैं। सामाजिक एकता, सामाजिक सुव्यवस्था एवं समुन्नति व्यक्ति का विशद व्यक्तित्व है जिसकी छत्रछाया में वह उन्नति कर सकता है, आत्मतृप्ति पा सकता है। समाज व्यक्ति की सीमा का सापेक्ष निःसीम है। वह बूँदों की सम्मिलित शक्ति का समुद्र है, जिसमें मिलकर प्रत्येक बूँद एकत्रित ऐश्वर्य का उपभोग कर सकती है।

आज के व्यापक विस्तृत सामाजिक परिवेश भूमि में जो निर्माण-विध्वंस, जय-पराजय, वेदना, पाशविकता, उठा-पटक, के सुनहले विषैले अंकुर उग आए हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार ने अपनी तीक्ष्ण कालजयी चेतना से इन सबके निराकरण के सम्यक् उपाय बताए हैं। उनके आधार पर यदि हम समाज का निर्माण करें तो जीवन चेतना शिखर का प्रकाश मानसिक उपत्यकाओं की छाया को धूमिल कर हृदय सरोवर में ज्ञान-पद्म का अंकुरण कर स्वस्थ सभ्य एवं धर्मनिष्ठ समाज की संस्थापना करेगा।

समाज के सुस्थिर ताने बाने में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे गुणों के रंग-बिरंगे फूलों का बुनना अनिवार्य है।

आचार्य उमास्वामी का यह सूत्र कितना प्रासंगिक है -

---

* 273 / 1 / 1 आदर्शनगर, न्यू रेलवे रोड, गुड़गाँव, 122 002, 9810809727

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।[1]

असावधान होते ही हम हिंसक हो जाते हैं। 'सावधानी हटी, दुर्घटना घटी' हिंसा केवल मनुष्य के प्रति ही नहीं होती, अपितु वह वह आगतिक घटना है जिसका विस्तार प्रत्येक प्राणी तक प्रसारित होता है। अहिंसा से अनुप्राणित व्यक्ति व्यक्ति की आँखों से बूँद-बूँद आँसू पौंछ देने की सार्थकता प्राप्त करता है। संकीर्ण से विराट्, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्व में मानव मंगल की स्थापना का मंगलाचरण सूत्रकार वर्णित अहिंसा से है जो बन्ध, वध, छेदन, अतिभारारोपण, अन्नपान के निरोध युक्त दूषण से मुक्त है तथा वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति तथा आलोकितपानभोजन से भावित है। आज जब हम वर्तमान परिवेश या परिस्थिति पर विचार करते हैं तो प्रतीत होता है कि जीवन में निरन्तर अवमूल्यित होती जा रही अहिंसा का ही दुष्परिणाम है कि आज वार्ताएं तो निःशस्त्रीकरण की होती है पर तैयारी युद्ध की होती है ऐसे संवेदनशील क्षणों में अहिंसा ही अवरोधक का कार्य कर सकती है।

प्रमत्त-व्यपरोपण हिंसा में सम्पूर्ण आचरण संहिता का विधान है एक अप्रमत्त ही एक-एक पल दीपक की लौ की तहर जीता है उसे ज्ञात है मेरे खानपान, रहन-सहन और दैनिक उपयोग की हिंसा से पूरे समाज का ढाचा चरमराता है। मेरे चमड़े की वस्तुओ के त्याग से, घरो में कीटनाशकों के प्रयोग, अशुद्ध भोजन शैली से भले ही समाज में आमूलचूल परिवर्तन न हो पर हिंसा के प्रत्यक्ष समर्थकों का मनोबल तो टूटता है। अप्रमत्त व्यक्ति ही समाज को उठाते हैं और त्याग की महिमा को वृद्धिगत कर सस्कारशील समाज की स्थापना में अप्रतिम योगदान देते हैं।

समाज मे सत्य और विश्वास की स्थापना का सुन्दर सूत्र सूत्रकार देते हैं - '**असदभिधानमनृतम्**'[2] तथा सूत्र की व्याख्या करने वाला सूत्र '**मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ।**'[3] और इस सत्य को सुरक्षित रखने के लिए पॉच भावनाएँ हैं - **क्रोधलोभ-भीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ।**[4]

सूत्रकार ने सत्य और उसके अतीचारों, भावनाओ का पूरा चिट्ठा खोला है - लोभ के वश रिश्वत लेकर, क्रोध और भय के वश प्रतिशोध और प्रलोभनों से कितने ही गवाह न्यायालयों में निरपराधी को कारावास और अपराधी को खुली छूट दिला देते हैं। इसी के कारण आज समाज में अपराधी खुल्लमखुल्ला घूम रहे हैं। प्रतिदिन झूठे लेख लिखना, जाली हस्ताक्षरों से बैंक से रुपया उड़ाना, दूसरों की धरोहर हड़प लेना, सामान्य हो गया है।

आचार्य उमास्वामी वर्गोदय के विरुद्ध और सर्वोदय के पक्ष में हैं। सामाजिक और श्रेयोन्नति के लिए उन्होंने अचौर्य को व्रत की संज्ञा दी। चोरी के रूप स्वरूप मे वह प्रकाश है जो **तमसो मा ज्योतिर्गमय** को सटीक बनाता है, लोकचेतना को जगाता है -

अदत्तादानं स्तेयम्[5] बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना स्तेय अर्थात् चोरी है। शून्यागारवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये अचौर्य की भावनाएँ तथा स्तेनप्रयोग, आहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम,

१. तत्त्वार्थसूत्र, 7/13.
२. वही, 7/14.
३. वही, 7/26.
४. वही, 7/5.
५. वही, 7/15.

हीनाधिकमानोन्मान, प्रतिरूपकव्यवहार ये अचौर्यव्रत की पाँच सावधानियाँ हैं। इनके परिप्रेक्ष्य में आकलन करें तो सर्वत्र समाज में चौर्यराज दिखलाई पड़ता है।

चोरी का धन मानसिक शान्ति को छीनकर पीड़ा के पहाड़ खड़ा करता है। उमास्वामी जी इसीलिए इन्हें पाप कहते हैं जो मन ही मन पीड़ित करे वे पाप ही तो हैं। चोरी की भावना ईर्ष्या प्रपंच, कुटिल चिन्तना की माया की छाया में ऋजुता सिर धुनती है, कलह पलती है मिलावट अट्टहास करती है व्यक्ति तौल में भी मारा जाता है और मोल में भी। दूसरों की लाश की छाती पर पैर रखकर आगे बढ़ने के मायावी दृश्यों की भरमार समाज में हर स्तर पर विद्यमान है। विकास के अर्थ को हड़पकर अव्यवस्था का जंगल उग रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक तस्करी से निपटने के लिए ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यक्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पांच अतिचार तथा आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप नामक दिशविरति के पांच अतिचार परिहरणीय है। आजकल भी तस्करी के रूप में उपर्युक्त दोषों को देखा जा सकता है।

स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों की व्याख्या के अभाव में समाज-शास्त्र अपूर्ण है। तत्त्वार्थसूत्र में इस विषय पर भी पर्याप्त सामग्री सुलभ है। आचार्य श्री की दृष्टि इन सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में संतुलित एवं विवेकयुक्त है। एक सूत्र दिया है - **मैथुनमब्रह्म**[1] स्त्री और पुरुष का जोड़ा मिथुन कहलाता है और रागपरिणाम से युक्त होकर इनके द्वारा की गई स्पर्शन आदि क्रिया मैथुन है। परविवाहकरण, इत्वरिकापरिगृहीतागमन, इत्वरिकाअपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ये पाँच अतिचार हैं। इन पाँचों के प्रति पूर्ण सावधान रहने से ही ब्रह्मचर्य की साधना संभव है।

आचार्य श्री ने नर और नारी के लिए पृथक् मानदण्ड निर्धारित नहीं किए संभवत: उनको ज्ञात था कि भविष्य में ऐसा भी समय आएगा जब नारी भी नर के भोगवादी कदमों पर चलेगी और समाज वर्जनाहीन एवं भोगवादी हो जाएगी। स्त्रीरागकथाश्रवण, तन्मनोहरांगनिरीक्षण, पूर्णरतानुस्मरण, वृष्येष्टरस तथा स्वशरीरसंस्कार[2] इन सभी के त्याग से पोषित ब्रह्मचर्य की कितनी परिपालनना समाज में हो रही है, युवा पीढ़ी की गति और मति कितनी अश्लील हो चुकी। रात दिन श्रृंगारप्रसाधन गृह के बढ़ते कदम और उनमें चलते देहव्यापार के अड्डे सब अपनी कहानी स्वय कह रहे हैं। अनजाने युवक-युवती के देहसम्बन्धों की छोड़े, पिता-पुत्री, चाचा-भतीजी, मामा-भानजी, माँ-बेटे कौनसा सम्बन्ध ऐसा नहीं समाचार पत्रों में जिसका कच्चा चिट्ठा बयान न हुआ है।

जिस नारी के गर्भ का शोधन देवियाँ करती रहीं, तीर्थंकर सिद्ध केवली जिसके गर्भ में शोभित हुए। जिसके अंक में खेलने वाले नरपुंगवों ने सिद्धालयों की ऊँचाई का स्पर्श किया आज वहाँ अवैध भ्रूण कूड़े के ढेरों पर पड़े सिसकते हैं। गर्भ में ही कत्लखाना और श्मशान बने हुए तब समाज में कैसे आएगें राम सीता।

आचार्य द्वारा कथित तन्मनोहरांगनिरीक्षण की अवेहलना ही तो सौन्दर्य प्रतियोगिताओं का आमन्त्रण है, देह का ऐसा खुला प्रदर्शन युवतियों को पथभ्रष्ट न करेगा क्या ? स्वशरीरसंस्कार के हजारों फार्मूले बताने वाली पत्र-पत्रिकाओं की भीड़ पर युवक-युवती क्या विवाहित युगल भौरों की तरह चिपके रहते हैं। उन्मुक्त आचरण ने वैवाहिक संस्थाओं की चिन्दी-चिन्दी उड़ा दी। विवाहपूर्व प्रेम पुन: प्रेमविवाह यह निषिद्ध सम्पर्क का ही तो परिणाम है। आचार्य श्री के

१. तत्त्वार्थसूत्र, 7/16.

२. वही, 7/7.

इत्वरिकापरिगृहीता और इत्वरिका-अपरिगृहीता ये दो शब्द सम्पूर्ण समाज के प्रतिबिम्ब हैं। ब्रह्मचर्यव्रत की अतिचारों और भावनाओं सहित व्याख्या में वर्तमान समाज की सारी बदहाली विद्यमान है। एड्स जैसी बीमारी का बढ़ता शिकंजा और अनंगक्रीड़ा का वृद्धिगत मामले भी मानसिकता को परिवर्तित नहीं कर पा रहे हैं। इसके लिए आचार्य उमास्वामी के ब्रह्मचर्य से सन्दर्भित सूत्रों को जीवन से सह सम्बन्धित करना होगा।

आज समाज में धन कमाओं की लूट-खसूट जैसे भी बने धन का अम्बार लगाओ की चतुर्दिक् धूम मची है। जिसने सामाजिकता को दुर्बल बनाया है। अर्थ की महिमा असंदिग्ध है उसका संचय किया जाना चाहिए, किन्तु **अर्थस्य पुरुषो दासः** की जगह पर **अर्थस्य पुरुषः स्वामी** के भाव को चरितार्थ करना ही श्रेयस्कर है। धनार्जन के साथ आचार्य भी विसर्जन की कला भी सिखाते और समझाते हैं - **अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य**[1] एव **बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः**[2] मनुष्यता को इहलोक और परलोक में अल्पपरिग्रह ही सुरक्षित रख सकता है। अत्यधिक आरम्भ और परिग्रह नरक का ही आमन्त्रण और काँटों की शय्या है। धर्म का अनुशासन तोड़कर धन संचित करना अनर्थों का ही जन्मदाता सिद्ध होता है। धन की अधिकता यदि हो जाए तो समाज में कल्याणकार्य और परोपकार करना ही अभीष्ट है। **अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं**[3] के भाव से ही भौतिकवादी समाज में अध्यात्म का दीप जलता रह सकता है। अनुग्रहपूर्वक दान ही धन सम्बन्धी लोलुपता एवं तज्जन्य दूषित मनोवृत्ति पर पहरूए का कार्य करता है। समाज में दान भी आज कलह और विवाद का विषय बन गया है। दान को सामाजिक प्रतिष्ठा का स्थान मिल जाने से अब अधिसख्य लोगों का भाव ऐसा देखा जाता है कि येन केन प्रकारेण धन सचय करते हैं और फिर उदारता का स्वाग करने के लिए उसमें से कुछ अश अपने अहम् सपोषणार्थ प्रतिष्ठावर्द्धक कार्यों में दे देते हैं। यह स्वकल्याण का उचित मार्ग नहीं है। सूत्रकार की दान की परिभाषा की जड़ें बहुत गहरी हैं। वह प्राणीमात्र का कल्याण किसी की कृपा पर नहीं स्वीकारता परदुःखकातरता गुण है। समाजसेवा उत्तम भाव है पर जो दान त्याग को प्रतिष्ठित करें सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करे उसी से समाज का हित भी होता है और प्रभावोत्पादक और प्रेरणाप्रद भी। जैसे कहा है -

पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ो दाम।
दोनों हाथ उलीचिए यही सयानो काम॥

हम सामाजिक प्राणी है। हम अपने न्यायोचित धन का उपयोग समाज के उत्कर्ष के लिए करे। गरीब भाईयों की आर्थिक मदद करें। अनाथ विधवाओं के लिए समुचित व्यवस्थाएँ उपलब्ध कराएँ। विद्यालय, चिकित्सालय खुलवाएँ, धर्म के प्रचार-प्रसार व रक्षण हेतु शास्त्र प्रकाशन, तीर्थ संरक्षण, जीर्णोद्धार एव आवश्यक जिनमन्दिर निर्माण में धन का उपयोग करें। सूत्रकार ने **विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः**[4] में यही स्पष्ट किया है कि दान पात्र, द्रव्य, दाता, विधि इन सबकी श्रेष्ठता से श्रेष्ठ बन जाता है। अतः मात्र नाम, असूया और पात्र-अपात्र के निरीक्षण-परीक्षण बिना प्रदत्तदान सार्थक नहीं है।

जिस प्रकार सागर अपने जल को मर्यादित रखता है उसी प्रकार धर्म के महासागर में अर्थ का जल अनुग्रह पूर्वक

१. तत्त्वार्थसूत्र, 7/17.
२. वही, 7/15.
३. वही, 7/38.
४. वही, 7/39.

दान देते रहने से मूल्यों के तट नहीं तोड़ता। न ही समाज में असन्तोष की दावाग्नि बढ़ती है और न ही समाज शोषक-शोषित, धनी-निर्धन सदृश वर्ग भेद की दीवारों में बंटता है। धन के प्रति मूर्च्छाभाव की अल्पता से अहंकार आकाश नहीं नापता। समाज में जन-कल्याण की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। सूत्रकार **मूर्च्छा परिग्रहः**[१] कहते हैं। धन होना इतना दुःखदायी नहीं जितना धन के प्रति मूर्च्छा, मोह, अत्यधिक आसक्ति या लगाव। मूर्च्छा का भाव समाप्त होते ही ऊँच-नीच के विभेद की दीवार ढह जाती है, तब एकत्वमयी सात्त्विक शान्ति का प्रसार होता है। यही भूमि है अहिंसा की। जब कोई गैर नहीं, पराया नहीं, तो हिंसा किसकी, सूत्रकार ने इस सत्य को पहचाना और धन के स्वेच्छया विकेन्द्रीकरण को अहिंसा की धरायीपुष्टि एवं आतंकवाद के निराकरण में भी महत्त्वपूर्ण कारण समझा। सच तो यह है लोभ (मूर्च्छा) ही सब पापों का जनक है।

परिग्रह की बढ़ती लिप्सा, ऊँचे जीवनाचार मे सम्बन्धित भ्रामक धारणाओं तथा सुख समृद्धि की अनुपातहीन कामनाओं ने सामाजिक वृत्ति और प्रवृत्ति को इस सीमा तक दूषित कर दिया है कि सभी परम्परागत सामाजिक मूल्य चरमरा गए हैं। टूटते रिश्ते, चरमराता दाम्पत्य, दहेजदानव के कारण बढ़ रहे देहदहन, हीनता से बढ़ते मानसिक अवसाद और आत्महत्याएँ परित्यक्त पत्नियाँ, तलाक सब परिग्रह के प्रति लिप्सा का ही परिणाम है। सारे नाजुक, भावुक एवं आत्मीय सम्बन्ध इन दिनों दौलत सम्पत्ति के आधार पर ही विकसित हो रहे हैं। फलतः सम्बन्ध समर्पण एवं आत्मीयता के रस से पल्लवित न होकर कलह और तनाव के कीटाणु से बीमार हो दम तोड़ रहे हैं। **अभिवानशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविनः** के समाज में वृद्ध अब बोझ समझकर वृद्धाश्रमों में धकेले जा रहे हैं।

मायाचारी से धन अर्जित करना, कुटिलता से स्वार्थसिद्धि आचार्य तिर्यचगति की परिणति मानते हैं **माया तिर्यग्योनस्य**[२] कहकर सावधान करते हैं। आचार्य उमास्वामी पाँच अणुव्रत(अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) तीन गुणव्रत(दिग्विरतिव्रत, देशविरतिव्रत, अनर्थदण्डविरति) चार शिक्षाव्रत (सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रत, अतिथिसंविभागव्रत) ये 12 व्रत समाज के सुष्ठु स्वरूप की नींव हैं। इन व्रतों से वैयक्तिक जीवन ही आभामय नहीं होता अपितु इनकी चमक से पूरा समाज प्रभावित होता है। गुणव्रत अणुव्रतों का विकास है। दिग्व्रत तृष्णा में कमी लाता है। सन्तोष की ओर प्रवृत्त करता है। रातदिन स्विस बैंकों में खाते खोलने के साथ-साथ अन्यान्य विकृतियों से बचा जा सकता है। देशव्रत इच्छाओं को रोकने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। अनर्थदण्डव्रत तो है अनर्थ से उत्पन्न दण्ड से बचाने वाला। रात दिन व्यर्थ ही अनर्थ के चक्रव्यूह में फंसे रहते हैं।

हिंसादान का तो क्या कहें, अस्त्र-शस्त्रादि हिंसक उपकरण यदि खुल्लमखुल्ला अवैध तरीकों से बाजार में न आए तो शायद इतने अपराध भी न हों। अधिकांश हत्याएँ बिना लाइसैंस के हथियारों से होती हैं।

चारों शिक्षाव्रत तो इस क्रम में ऐसी भागवतशक्ति है जो आचरण को निर्मल रखते हैं, समाज के धन-मन और तन को निर्मल रखते हैं। वस्तुतः ये वे तार हैं जो मानव के अन्तःकरण रूपी विद्युतगृह से जुड़कर समाज को रोशन रखते हैं।

सामायिक करने वाला व्यक्ति एकान्त में बैठ निष्पक्षता और विवेक की आँख से अन्तर्मन की किताब अवश्य

१. तत्त्वार्थसूत्र, 7/17

२. तत्त्वार्थसूत्र, 6/17.

पड़ता है। संसार की एवं जीवन की नश्वरता से भयभीत न भोगों में रमता है और न भोग आपूर्ति के लिए कुत्सित मार्ग चुनता है। ऐसे ही सज्जन मानवरत्नों से समाज सुशोभित और निरापद होता है।

प्रोषध की अनुपालना राष्ट्रधर्म है। हमारा प्रोषध किसी अन्य को अन्न का अभाव नहीं रहने देता। स्वाद की लोलुपता से होने वाले अनेक पापों से बचाव होता है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत व्यक्तिगत निराकुलता एवं सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से उपयोगी है। भोगोपभोग सामग्री के भण्डारण की दुष्प्रवृत्ति घरों में इतनी भर गई है कि वस्त्रों के संग्रह की कोई सीमा ही नहीं। मेचिंग के युग में नख से शिख तक की प्रदर्शन सामग्री का अन्त ही नहीं। प्रतिस्पर्धा की उत्पत्ति ने समाज की दशा और दिशा को विकृत कर डाला।

आचार्य श्री की विलक्षण सामाजिक दृष्टि प्रणम्य है। वास्तविकता यह भी है व्यक्ति समाज की ईकाई है व्यक्ति के सद्गुणी, अनुशासित, संस्कारित, नीतिपरायण होने से समाज भी तदनुरूप होता है। आचार्य ने इसीलिए इन व्रतों को शील कहा है। ये शील (स्वभाव) के अग बनने चाहिए। तत्त्वार्थभाष्य के उल्लेखानुसार श्रावक के शील और उत्तरगुण एकार्थक हैं। सूत्रकार गुणव्रत और शिक्षाव्रत को शील संज्ञा देते हैं।

प्राय: हम हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील को तो पाप की श्रेणी में रख लेते हैं परन्तु परिग्रह को पुण्य की चेरी समझकर उसके वर्चस्व की वृद्धि में हेय-उपादेय, नीति-अनीति, कुटिलता-वक्रता किसी का भी ध्यान नहीं रखते। इसी प्रवृत्ति पर सूत्रकार ने अकुश लगाकर परिग्रह का परिमाण करने का सुझाव दिया है और अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह का भाव होना, जीवन में विनय भद्रता होना मनुष्यत्व का सूचक माना है -

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य।[1]

नीतिकार भी कहते हैं -

अनीति से नशत है, धन यौवन और वंश।
तीनों घर ताले लगे, रावण कौरव कंस॥

वर्तमान में न जाने कितने घोटाले करने वालों के कच्चे चिट्ठे उनके विनाश के कारण बने। समाज में ऐसे धन के आगमन से ऐसी प्रवृत्ति के मनुष्यों से भय का वातावरण रहता है। दिन दहाड़े लूटने वालों, अपहरण करने वालों ने रातों की क्या दिन की चैन नष्ट कर दी। परिग्रह के माध्यम क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास, कुप्य का प्रमाण करने वाले समाज में भला कहीं भूमाफिया, अण्डरवर्ल्ड के सरगना, उत्पन्न हो सकते हैं ?

तत्त्वार्थसूत्रकार के व्रत की परिभाषा पूर्णत: वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक तथा समाज के लिए हितकर एवं प्रेरक है। उमास्वामी जी हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह से निवृत्त होना व्रत कहते हैं। यहाँ व्रत मात्र शारीरिक कष्ट अथवा गृहत्याग नहीं है अपितु असत्प्रवृत्तियों से निवृत्ति ही व्रत है। व्रत का उद्देश्य मानव को श्रेष्ठता की ओर अग्रसर करना ही तो है और कुत्सित प्रवृत्तियों से निवृत्ति के अभाव में ऐसा हो नहीं सकता। अत: आत्मोन्नति हेतु इसी प्रकार के व्रत ही करणीय एवं मननीय हैं।

१. तत्त्वार्थसूत्र, 6/16.
१. वही, 6/17.

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता[1] जीवन और मृत्यु दोनों के प्रति समभाव उत्पन्न करने वाला तथा जीवन से मृत्यु तक की यात्रा का सुखद बनाने वाला सूत्र है।

आज समाज में आत्महत्या का ऐसा घिनौना दुष्कृत्य फैलता जा रहा है। तनिक अहं को ठेस लगी, तब आत्म-हत्या। तनिक सी विपरीतता, असफलता में आत्महत्या - इसी दूषित प्रवृत्ति से समाज कर्महीन, पौरुषहीन संघर्षविहीन बनता है। इसके विपरीत यह सूत्र वीरता से जीना सिखाता है। मृत्युंजयी बनता है तथा मृत्यु को सहर्ष स्वीकारने की प्रेरणा देता है। इस सूत्र से ज्ञात होता है कि मृत्यु का समय निकट जानकर दुर्ध्यान और असत्प्रवृत्तियों तथा दुर्भावनाओं से परे रहने वाला व्यक्ति अपना इहलोक भी सार्थक करता है। ऐसे वीर सजग नरपुंगव की मृत्यु वन्दनीय होती है तथा परलोक में भी वह सद्‌गति प्राप्त करता है।

आचार्य श्री की सामाजिक अभिव्यक्ति का इससे सुन्दर साक्ष्य और क्या होगा कि आचार्य थी ने मोह से मोक्ष तक की यात्रा के प्रत्येक स्पीडब्रेकर, दुर्घटना स्थल और समस्त यातायात संकेतों को ही नहीं बताया अपितु यह भी ध्यान रखा कोई भी यात्रा बिना धन के सम्पन्न नहीं होती है - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी तीन रत्न उन्होंने इस सांसारिक सामाजिक प्राणी के हाथ में सबसे पहले थमा दिए।

इसके साथ-साथ **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**[2] ईश्वरवाद की अवधारणा का नकार कर्मो की सत्ता की प्रतिष्ठापना करने वाला महामन्त्र और जैनागम का सारसूत्र है। सामाजिक न्याय की इसमे उपयुक्त व्याख्या और क्या होगी दीन-दरिद्र, निकृष्ट, उत्कृष्ट, धनी, बुद्धिमान-मूर्ख यह सब भाग्याधीन नहीं है। यह दोष प्राणी के अपने कर्म का है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं समानता के पक्षधर आचार्य उमास्वामी प्रत्येक प्राणी में उत्कृष्टता और निकृष्टता की क्षमता देखते हैं और उसकी इस अवस्था का भी कारक प्राणी स्वयं है। सद्‌कर्म करने की प्रेरणा इस सूत्र से प्राप्त होती है। सामाजिक समता और न्याय का द्योतक है यह सूत्र -

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य[3] इसी की विशद व्याख्या है काय, वचन और मन की क्रिया योग है[4] और वही आस्रव है।[5]

शुभयोग से पुण्य का बन्ध होता है और अशुभयोग से पाप का बन्ध होता है। धन, रूप, बुद्धि, प्रतिष्ठा, शुभसंयोग आदि सभी अच्छे कार्य जो पुण्य में सहायक होते हैं, उन्हीं से सुख-समृद्धि प्राप्त होती है। इसके विपरीत कार्यों से दु:ख-दरिद्रता आदि दु:खदायी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। अत: अपनी सर्वप्रकार की अवस्था को अपने ही कर्मो का फल जानने वाला व्यक्ति अपने उत्कर्ष हेतु कभी भी निकृष्ट कार्यों का अवलम्बन नहीं लेता।

इच्छानिरोधस्तपः सत्यत: इस सूत्र को सौ-सौ बार प्रणाम करने को मन करता है। धर्म का चोला पहनकर अधर्म करने वालों के मंसूबों को नष्टकर समाज को सही एवं वैज्ञानिक परिभाषा का पाठ यह छोटा-सा अर्थगाम्भीर्य युक्त सूत्र देता है। समाज में सद्‌गुणों के सिंचन में यह सूत्र महत्त्वपूर्ण जलधार है। आज अन्तहीन इच्छाओं ने ही सद्‌भावना की हरी-भरी बगिया उजाड़ी है। इच्छा आकाश की भांति अनन्त है। लालसाओं पर नियन्त्रण करने से व्यष्टिगत और समष्टिगत

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, 7/22.
२. वही, 5/30.
३. वही, 6/3.
४. वही, 6/1.
५. वही, 6/2.

शान्ति आती है। व्यक्ति की आक्रामक आकांक्षाएं और अकूत सम्पत्ति को एकत्र करने की अभिलाषा उसे पतन की ओर ढकेलती है। जब दमित इच्छाएं अधिक बलवती हो जाती हैं तो चोरी के उपक्रम को जन्म देती हैं।

इच्छाओं के ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ की जड़ और शाखा सहित उखाड़ फेंके बिना मानव विकास-पथ पर संचरणशील नहीं हो सकता। इच्छाओं पर नियन्त्रण की समस्त शिराओं को सन्तोष से सींचकर ही **वसुधैव कुटुम्बकम्** एवं भ्रातृत्व के फूल खिलते हैं।

परस्परोपग्रहो जीवानाम्[1] में एक ऐसी समग्रता है। मानव को प्राणीमात्र से सहृदयता पूर्वक जोड़ती है। यह ऐसा महामन्त्र है जो हाहाकारी दुरन्त समस्याओं का अन्त करने में समर्थ है। यह ऐसी संजीवनी है यदि इसका प्रयोग किया जाय तो मत-मतान्तरों से उत्पन्न कलह स्वत: शान्त हो जाएगें। प्रत्येक प्राणी का एक-दूसरे पर उपकार है। परस्पर सहायक होना यह जीवों का उपकार है। मनुष्य वह एक सामाजिक प्राणी है उसके विकास में हजारों हजार परिस्थितियों को योगदान होता है। परस्पर उपकार ही वह धुरी है जो जीवन के रथ को गतिमान रखती है। परस्परता का धर्म शाश्वत है। परस्परता में केवल जीव ही नहीं आते सम्पूर्ण चर-अचर सृष्टि का समावेश होता है। यह वह निर्मल और पवित्र भाव केन्द्र है जिसमें प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में व्यक्ति निर्भय और निरापद रह सकता है। एक-दूसरे का पूरक बनकर ही व्यक्ति और समाज शान्ति सम्पन्न बनता है। परस्पर उपकार की भावना से कार्य करने और उसकी महत्ता समझने से एक दिव्य सन्तोष और सुख मिलता है। शरीर में स्फूर्ति, वाणी में निश्चयात्मक भावना और स्पष्टता समा जाती है। इस सामाजिक चेतना से प्रेरित कार्यों में छोटे-बड़े का भेद नहीं होता अल्प-अधिक की तुलना भी नहीं होती। परस्परोपग्रह ही समाज में सुख शान्ति की बगिया खिलाकर रहने योग्य बनाता है। वैयक्तिकता और सामाजिकता के तटों के मध्य इसी सिद्धान्त सेतु पर ही निरापद एवं सापेक्षतापूर्ण विचरण किया जा सकता है। सहअस्तित्व का यह भाव ही आदमी को आदमी से जोड़ता है।

आधुनिक समाज में सबसे अधिक किसी शब्द को भुनाया जा रहा है जिसके आधार पर राजनैतिक कुर्सियों पर आपाधापी हो रही है वह है दलित (नीच) और उच्च शब्द। तत्त्वार्थसूत्रकार का एक सूत्र ही समस्त भ्रामक और अविवेकपूर्ण धारणा को तोड देता है। वे स्पष्ट कहते हैं कि उच्चता और नीचता जन्माधारित नहीं भावना और कर्म आधारित है।

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।[2]

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।[3]

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का उच्छादन और असद्गुणों का उद्भावन ये नीचगोत्र कर्म के आस्रव हैं।

इनका विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा आदि तथा नम्रवृत्ति और निरभिमानिता ये उच्चगोत्र कर्म के आस्रव हैं।

स्पष्ट और वैज्ञानिक विवेचन है ऊँच नीच का। मनुष्य ऊँच-नीच नहीं होते हैं उनकी प्रवृत्ति / वृत्ति नीच या ऊँच होती है। दूसरों के सद्गुणों का अपलाप करना दुर्गुणों का पिटारा बताना स्वयं पर गर्व करते रहना, दूसरों की अवज्ञा और अपवाद करना, किसी के गुणोत्कर्ष को नहीं समझना, सदैव दुरालोचना करना, दूसरों के श्रम पर जीना, दूसरे के यश का

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, 6/21.

२. वही, 6/25.

३. वही, 6/26.

अपहरण करना, दूसरों के शोध की कृति को अपनी बताकर प्रशंसा कराना, नीचता के द्योतक हैं। ऐसे कर्म करने वाले सभी मनुष्य आज भी नीच हैं और मरणोपरान्त भी नीच हैं। नीचता दुर्गुण का प्रतिबिम्ब है और इसके विपरीत भाव उच्चता के सूचक हैं, ऐसा नीच आचरण करने वाले यदि स्वयं पर उच्चता का गर्व करते हैं, तो करें, वास्तविकता तो विपरीत ही है।

आज वर्णभेद की इस ज्वाला ने राजनीति का घृत ग्रहण कर समाज को विषाक्त कर डाला। जोड़-तोड़ छींटाकशी से **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना को आघात पहुँचा है। ऐसे युक्तिसंगत सूत्र पुरुषार्थ और सन्मार्ग की विभूति प्रदान करते हैं तथा दूसरे के तिल प्रमाण गुणों को गिरिप्रमाण देखने की दृष्टि देते हैं तथा समाज को संकुचित परिधियों से निकालकर विशालता के शिखरों पर विचरण कराते हैं।

सामाजिक जीवन आज प्राकृतिक और असहज होता जा रहा है। प्रदूषण न केवल पर्यावरण में अपितु विचारों के सूक्ष्मलोक में पहुँच गया है। नगरीकरण, औद्योगीकरण, यातायात के आधुनिक यन्त्र साधन, तेज ध्वनि, धुआँ, अणुशक्ति का प्रयोग, दूषित वायु, दूषित जल, दूषित खाद्य पदार्थ, पृथ्वी की निरन्तर खुदाई, वनों का काटा जाना, रेडियोधर्मी, जैविक रसायनिक कचरा, मांसाहार की बढ़ती प्रवृत्ति, पारस्परिक वैमनस्य, अर्थलोलुपता ने समाज को रुग्ण बनाया है।

समाज में श्रम और पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। पुरुषार्थ से धरती का सौन्दर्य खिलता है। समृद्ध समाज बनता है **तपसा निर्जरा च**[1] यह सूत्र पुरुषार्थ का मस्तकाभिषेक और कृतित्व की नीराजना है। तप बन्धन व आवरण मुक्त करता है। पुरुषार्थ की तपस्या विघ्न-बाधा लाने वाले तत्त्वों (कर्मों) का अस्तित्व समाप्त कर जीवन को उत्कर्षकारी तत्त्वों में वृद्धि करती है। ऐसा ही पुरुषार्थ मानव समाज को निठल्ला, आलसी, कर्महीन, भाग्यवादी बनने से रोककर उसे कुन्दन बनाता है। ऐसा ही पुरुषार्थ मनुष्यता के ललाट पर रोली कुंकुम का तिलक करता है जो ऐसे पुरुषार्थ से चिंगारी निकलती है वह सदैव प्रकाश बनती है। साहस को समृद्ध करती है। आत्मविश्वास को बढ़ाती है और प्रगति के नये द्वार खोलती है। तप करने वाला समाज ही अपने मध्य नरपुंगव महामना उत्पन्न कर आदरणीय बनता है। श्रम और साधना उत्कर्ष के मूल हैं। श्रम हमारी एक-एक सांस को सार्थक बना देता है। श्रम ही वह पारस पत्थर है जो लोहे को सोना बना देता है। जिन्होंने यह सूत्र दिया वे आचार्य स्वयं ही उस श्रमण संस्कृति के भास्वर नक्षत्र हैं जो श्रमाधारित हैं। **दैवं पौरुषेण निवर्तये** आदरास्पद शक्तिमान पुरुष दैव की उपासना नहीं करते। समाज व समस्त मानव मात्र के लिए यह प्रेरक निर्देश है।

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहाः[2] पुरुषार्थी का आत्मबल व आत्मतेज विकसित करता है। पुरुषार्थी को प्रेरणा देता है कष्ट सहने की। परीषह (कष्ट) सहने वाले अपने मार्ग से च्युत नहीं होते, अपितु ऐसा राजमार्ग बनाते हैं जो अन्य जनों के लिए इतिहास बनता है।

आचार्य श्री ने प्राणी-चेतना के क्षीरसागर को मथकर उसके अन्तस्तल में छिपे रत्नों को पहचाना है और मौलिक अनुभूतियों के नवीन रत्नों को भी बाहर निकालकर समाज के धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों के आवर्तों से समाजोपयोगी सिद्धान्तों को उबारकर मानव के मन:क्षितिज में आध्यात्मिक शिखरों के सौन्दर्य को इस प्रकार चित्रित किया है कि युग-युग में मानव समाज विकासपक्ष की बाधाओं तथा व्यवधानों को हटाने, मानस-ग्रन्थियों को सुलझाने एवं जीवनोन्नयन में सफल हो सकेगी।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, 9/3.
१. वही, 9/8.

सल्लेखना : समाधि
भारतीय दण्ड विधान के परिप्रेक्ष्य में

* अनूपचन्द्र जैन एडवोकेट

सल्लेखना का अर्थ - सल्लेखना (सत् + लेखना) अर्थात् काया और कषायों को अच्छी तरह से कृश करना सल्लेखना है। इसे समाधिमरण भी कहते है। मृत्यु के सन्निकट होने पर सभी प्रकार के विषाद को छोड़कर समतापूर्वक देहत्याग करना ही समाधिमरण या सल्लेखना है। जैन साधक मानव-शरीर को अपनी साधना का साधन मानते हुए, जीवन पर्यन्त उसका अपेक्षित रक्षण करता है, किन्तु अत्यन्त बुढ़ापा, इन्द्रियों की शिथिलता, अत्यधिक दुर्बलता अथवा मरण के अन्य कोई कारण उपस्थित होने पर जब शरीर उसके सयम में साधक न होकर बाधक दिखने लगता है, तब उसे अपना शरीर अपने लिए ही भारभूत सा प्रतीत होने लगता है। ऐसी स्थिति में वह सोचता है कि यह शरीर तो मैं कई बार प्राप्त कर चुका हूँ, इसके विनष्ट होने पर भी यह पुन: मिल सकता है। शरीर के छूट जाने पर मेरा कुछ भी नष्ट नहीं होगा, किन्तु जो व्रत, संयम और धर्म मैंने धारण किये हैं, ये मेरे जीवन की अमूल्य निधि है। बड़ी दुर्लभता से इन्हें मैंने प्राप्त किया है। इनकी मुझे सुरक्षा करनी चाहिए। इन पर किसी प्रकार की आंच न आये, ऐसे प्रयास मुझे करने चाहिए, ताकि मुझे बार-बार शरीर धारण न करना पड़े और मै अपने अभीष्ट सुख को प्राप्त कर सकूँ। यह सोचकर वह बिना किसी विषाद के प्रसन्नता पूर्वक आत्मचिन्तन के साथ आहार आदि का क्रमश: परित्याग कर देहोत्सर्ग करने को उत्सुक होता है, इसी का नाम सल्लेखना है।

सल्लेखना का महत्त्व - सल्लेखना को साधना की अन्तिम क्रिया कहा गया है। अन्तिम क्रिया यानी मृत्यु के समय की क्रिया, इसे सुधारना अर्थात् काय और कषाय को कृश करके सन्यास धारण करना, यही जीवन भर के तप का फल हैं। जिस प्रकार वर्ष भर विद्यालय में जाकर अध्ययन करने वाला विद्यार्थी यदि परीक्षा में नहीं बैठता तो उसकी वर्ष भर की पढ़ाई निरर्थक हो जाती है, उसी प्रकार जीवन भर साधना करते रहने के उपरान्त भी यदि सल्लेखनापूर्वक मरण नहीं हो पाता है तो साधना का वास्तविक फल नहीं मिल पाता। इसलिये प्रत्येक साधक को सल्लेखना अवश्य करनी चाहिए। मुनि और श्रावक दोनों के लिये सल्लेखना अनिवार्य है। यथाशक्ति इसके लिये प्रयास भी करना चाहिए। जिस प्रकार युद्ध का अभ्यासी पुरुष रणांगण में सफलता प्राप्त करता है उसी प्रकार पूर्व में किए गए अभ्यास के बल पर ही सल्लेखना प्राप्त होती है। अत: जब तक इस भय का अभाव नहीं होता, तब तक हमें प्रतिसमय सफलतापूर्वक मरण हो, इस प्रकार का भाव और पुरुषार्थ करना चाहिए। वस्तुत: सल्लेखना के बिना साधना अधूरी है। जिस प्रकार मन्दिर के निर्माण के बाद जब तक उस पर कलशारोहण नहीं होता, तब तक वह शोभास्पद नहीं लगता, उसी प्रकार जीवन भर की साधना, सल्लेखना

* फिरोजाबाद

के बिना अधूरी रह जाती है। सल्लेखना साधना के मण्डप पर किया जाने वाला कलशारोहण है। ग्रन्थराज श्री तत्त्वार्थसूत्र जी के अध्याय सात में इसका विवेचन किया गया है।

मरण के भेद - मरणं द्वित्रिचतुःपञ्चविधं वा ॥ 36 ॥ पञ्चातिचारा ॥ 37 ॥

अर्थात् मरण दो, तीन, चार अथवा पांच प्रकार का है ॥ 36 ॥

मरण के दो प्रकार - नित्यमरण और तद्भवमरण के भेद से मरण दो प्रकार का है। प्रतिसमय आयु आदि प्राणों का क्षीण होते रहना, नित्यमरण है। इसे आवीचिमरण भी कहते हैं। आयु के पूर्ण होने पर होने वाला मरण तद्भवमरण कहलाता है।

मरण के तीन प्रकार - भक्त-प्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण और प्रायोपगमनमरण ये मरण के तीन भेद हैं। स्व-पर की वैयावृत्तिपूर्वक होने वाली सल्लेखना अथवा समाधिमरण को भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं। इसमें आहार आदि का क्रमशः त्याग करते हुए शरीर और कषायों को कृश किया जाता है। जिस सल्लेखना में पर की वैयावृत्ति स्वीकार नहीं होती उसकी इंगिनीमरण संज्ञा है। इस विधि से सल्लेखना धारण करने वाले साधक दूसरों की कोई भी सेवा स्वीकार नहीं करते। अपने और पर के उपकार की अपेक्षा से रहित सल्लेखना को प्रायोपगमनमरण कहते हैं। इस विधि से समाधिमरण करने वाले साधक दूसरों की सेवा तो स्वीकारते ही नहीं, स्वयं भी किसी प्रकार का उपचार/प्रतीकार नहीं करते। वे सल्लेखना धारण करते समय जिस स्थिति या मुद्रा में रहते हैं, अन्त तक वैसे ही रहते हैं, अपने हाथ-पैर तक नहीं हिलाते। वे सभी प्रकार के परीषहों और उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करते हैं। उत्तमसंहननधारी मुनिराज ही इस विधि से सल्लेखना धारण करते हैं।

मरण के चार भेद - सम्यक्त्वमरण, समाधिमरण, पंडितमरण और वीरमरण, ये मरण के चार भेद हैं। सम्यक्त्व के छूटे बिना होने वाले मरण सम्यक्त्वमरण हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के साथ होने वाले मरण को समाधि मरण कहते हैं, भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण अथवा प्रायोपगमन विधि से होने वाला मरण पंडितमरण कहलाता है। धैर्य और उत्साह के साथ भेद विज्ञान पूर्वक होने वाले मरण की वीरमरण संज्ञा है।

मरण के पांच प्रकार - बाल-बालमरण, बालमरण, बालपण्डितमरण, पण्डितमरण, पण्डितपण्डितमरण मरण के ये पांच प्रकार हैं।

मिथ्यादृष्टि जीवों का मरण बालबालमरण है। असंयत सम्यग्दृष्टि का मरण बालमरण कहलाता है। देशव्रती श्रावक के मरण को बालपण्डितमरण कहते हैं। चारों आराधनाओं से युक्त निर्ग्रन्थ मुनियों के मरण का नाम पण्डितमरण है तथा केवलज्ञानी भगवान की निर्वाणोपलब्धि पण्डित-पण्डितमरण कहलाती है।

समाधि : सामान्य लक्षण -

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्तं वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥ 122 ॥

संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥ 123 ॥

अर्थ : वचनोच्चार की क्रिया परित्याग कर वीतरागभाव से जो आत्मा को ध्याता है, उसे समाधि कहते हैं ॥ 122॥

संयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है, उसे परम समाधि कहते हैं ॥ 123 ॥

सयल-वियप्पहं जो विलउ परमसमाहि भणंति ।
तेण सुहासुहभावणा मुणि सयलवि मेल्लंति ॥ प.प्र.2/190

अर्थ : जो समस्त विकल्पों का नाश होना, वही परम समाधि है, इसी से मुनिराज समस्त शुभाशुभ विकल्पों को छोड़ देते हैं ॥ 190 ॥

युजे समाधिवचनस्य योगसमाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम् । - रा. वा. 6/9/12/505/27

अर्थ : योग का अर्थ ध्यान और समाधि भी होता है।

समेको भावे वर्तते तथा च प्रयोग

संगततैलं संगतघृतमित्यर्थं एकीभूतं तैलं एकीभूतं घृतमित्यर्थः । समाधानं मनसः एकाग्रताकरणं शुभोपयोगशुद्धे वा । - भग. आरा. वि. 67/194

अर्थ : मन को एकाग्र करना, सम शब्द का अर्थ एकरूप करना ऐसा है जैसे घृत संगत हुआ, तैल संगत हुआ इत्यादि। मन को शुभोपयोग में अथवा शुद्धोपयोग में एकाग्र करना यह समाधि शब्द का अर्थ समझना।

यत्सम्यक्परिणामेषु चित्तस्याधानमनसा ।
स समाधिरिति ज्ञेयस्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम् ॥ - म.पु. 21/226

अर्थ : उत्तम परिणामों में जो चित्त का स्थिर रखना है वही यथार्थ में समाधि या समाधान है अथवा पंचपरमेष्ठियों के स्मरण को समाधि कहते हैं।

सामय, स्वास्थ्य, समाधि, योगनिरोध और शुद्धोपयोग ये समाधि के एकार्थवाची नाम हैं।

ध्येय और ध्याता का एकीकरण रूप समरसी भाव ही समाधि है।

बहिरन्तर्जल्पत्यागलक्षणः योगः स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणं समाधिः । - स्या. म. 17/229

अर्थ : बहिः और अन्तर्जल्प के त्याग स्वरूप योग है और स्वरूप में चित्त का निरोध करना समाधि है।

जैनधर्म में समाधिमरण का बड़ा महत्त्व है और इसे एक परमावश्यक अनुष्ठान माना गया है। जैनाचार्यों का कहना है कि समाधिमरण के द्वारा ही जन्म सफल हो सकता है। यह केवल मुनियों के लिये नहीं वरन् गृहस्थों के लिए भी आवश्यक है। आचार्य प्रवर स्वामी समन्तभद्र इसे तप का, एक फल मानते हैं। समाधिमरण के लिये कोई तीर्थक्षेत्र या पुण्यभूमि उत्तम स्थान है। विधिपूर्वक समाधि-साधन के लिए शास्त्रज्ञ प्रभावशाली आचार्य का होना भी जरूरी है। इन्हें नियपिकाचार्य कहा जाता है। सल्लेखना की प्रतिज्ञा ले लेने पर पूर्व के संस्कारों के कारण क्षपक का पुनः पुनः विचलित होना संभव है।

मध्ये मध्ये हि चापल्यमामोहादपि योगिनाम् ।

बड़े-बड़े योगियों को भी कषायों के तीव्र उदय से मन में अत्यन्त चंचलता होती है, फिर साधारण पुरुषों की क्या बात है। चित्त की अस्थिरता और दुर्बलता नष्ट करने के लिए और धर्म में स्थिर रहने के लिए योग्य गुरु का सानिध्य आवश्यक है।

विधिपूर्वक एकाग्रचित्त से धारण की हुई सल्लेखना का प्रत्यक्ष फल कषायों की मन्दता और परोक्ष फल पंचमगति अर्थात् मोक्ष है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं -

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।
निष्पिबति पीतधर्मा सर्वै दुःखैरनालीढ ॥ र. श्रा. 130

अर्थात् समाधिमरण धारण कर जिन्होंने धर्मामृत पान करते हुए, आत्मा को पवित्र किया है वे स्वर्ग में अनुपम अभ्युदय के स्वामी बनकर अन्त में सम्पूर्ण दुःखों से रहित हो - जिसका कभी विनाश (अन्त) नहीं ऐसे अत्यन्त दुर्लभ मुक्ति स्वरूप सुखसागर के पान में निमग्न हो जाते हैं अर्थात् समाधिमरण द्वारा अर्जित धर्म के प्रसाद से स्वर्ग के साथ अन्त में अनुक्रम से मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।

अतः प्रत्येक विचारशील गृहस्थ को जैनधर्म के अनुसार समाधिमरण की विधि और उसकी महत्ता पर विचार कर पुण्यलाभ उठाना चाहिए।

सल्लेखना आत्मघात नहीं - देहत्याग की इस प्रक्रिया को नहीं समझ पाने के कारण कुछ लोग इसे आत्मघात कहते हैं, परन्तु सल्लेखना आत्मघात नहीं है। जैनधर्म में आत्मघात को पाप-हिंसा एवं आत्मा को अहितकारी कहा गया है। यह ठीक है कि आत्मघात और सल्लेखना, दोनों में प्राणों का विमोचन होता है, पर दोनों की मनोवृत्ति में महान् अन्तर है। आत्मघात जीवन के प्रति अत्यधिक निराशा एवं तीव्र मानसिक असन्तुलन की स्थिति में किया जाता है, जबकि सल्लेखना परम उत्साह से समभाव धारण करके की जाती है। आत्मघात कषायों से प्रेरित होकर किया जाता है, तो सल्लेखना का मूलाधार समता है। आत्मघाती को आत्मा की अविनश्वरता का भान नहीं होता, वह तो जीवन के बुझ जाने की तरह शरीर के विनाश को ही जीवन की मुक्ति समझता है, जबकि सल्लेखना का प्रमुख आधार आत्मा की अमरता को समझकर अपनी परलोक यात्रा को सुधारना है। सल्लेखना जीवन के अन्त समय में शरीर की अत्यधिक निर्बलता, अनुपयुक्तता, भारभूतता अथवा मरण के समय के किसी अन्य कारण के आने पर मृत्यु को अपरिहार्य मानकर की जाती है, जबकि आत्मघात जीवन के किसी भी क्षण किया जा सकता है। आत्मघाती परिणामों में दीनता, भीति और उदासी पायी जाती है, तो सल्लेखना में परम उत्साह, निर्भीकता और वीरता का सद्भाव पाया जाता है। आत्मघात विकृत चित्तवृत्ति का परिणाम है तो सल्लेखना निर्विकार मानसिकता का फल है। आत्मघात में जहाँ मरने का लक्ष्य है, तो सल्लेखना का ध्येय मरण के योग्य परिस्थिति निर्मित होने पर अनेक सद्गुणों की रक्षा और अपने जीवन के निर्माण का है। एक का लक्ष्य अपने जीवन को बिगाड़ना, तो दूसरे का लक्ष्य जीवन को संवारना है।

आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में एक उदाहरण से इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि किसी गृहस्थ के घर में बहुमूल्य वस्तु रखी हो और कदाचित् भीषण अग्नि से घर जलने लगे, तो वह उसे येन-केन-प्रकारेण बुझाने का प्रयास करता है। पर हरसम्भव प्रयास के बाद भी, यदि आग बेकाबू होकर बढ़ती ही जाती है, तो उस विषम परिस्थिति में वह चतुर व्यक्ति अपने मकान का ममत्व छोड़कर बहुमूल्य वस्तुओं को बचाने में लग जाता है। उस गृहस्थ को मकान का विध्वंसक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने अपने ओर से रक्षा करने की पूरी कोशिश की, किन्तु जब

रक्षा असम्भव हो गयी तो एक कुशल व्यक्ति के नाते बहुमूल्य वस्तुओं का संरक्षण करना ही उसका कर्तव्य बनता है। इसी प्रकार रोगादिकों से आक्रान्त होने पर एकदम से सल्लेखना नहीं ली जाती। साधक तो शरीर को अपनी साधना का विशेष साधन समझ यथासम्भव रोगादिकों का योग्य उपचार/प्रतीकार करता है, किन्तु पूरी कोशिश करने पर भी जब रोग असाध्य दिखता है और निःप्रतीकार प्रतीत होता है, तब उस विषम परिस्थिति में मृत्यु को अवश्यम्भावी जानकर अपने व्रतों की रक्षा में उद्यत होता हुआ, अपने संयम की रक्षा के लिए समभावपूर्वक मृत्युराज के स्वागत में तत्पर हो जाता है।

सल्लेखना को आत्मघात नहीं कहा जा सकता। यह तो देहोत्सर्ग की तर्कसंगत और वैज्ञानिक पद्धति है, जिससे अमरत्व की उपलब्धि होती है।

आचार्य शान्तिसागर : संयम से समाधि -

निर्विकल्प समाधि तथा सविकल्प समाधि,
इस प्रकार समाधि दो प्रकार की कही है।
गृहस्थ या - कपड़ों में रहने वाले - सविकल्प समाधि करेंगे।
मुनि बिना निर्विकलप समाधि सम्भव नहीं।
और वस्त्र छोड़े बिना मुनि पद होता नहीं।
भाइयो ! डरो मत ! मुनि पद धारण करो।
यथार्थ संयम हुए बिना निर्विकल्प समाधि नहीं होती।
निर्विकल्प समाधि होने पर भी सम्यक्त्व होता है,
ऐसा कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार में कहा है -
आत्मानुभव के बिना सम्यक्त्व नहीं होता।
व्यवहार सम्यक्त्व को उपचार कहा है,
यह यथार्थ सम्यक्त्व नहीं है।
वह तो केवल साधन है।
जैसे फल के लिए फूल कारणभूत है,
उसी प्रकार व्यवहार व्यवहारसम्यक्त्व कहलाता है।
यह यथार्थ सम्यक्त्व नहीं है।
यथार्थ सम्यक्त्व कब होता है ?
निर्विकल्प समाधि के होने पर होता है।
निर्विकल्प समाधि कब होती है ?
वह मुनि पद धारण करने पर होती है।
निर्विकल्प समाधि का प्रारम्भ कब होता है ?
सातवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है

और वह बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है।

तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होता है, ऐसा नियम है।

ऐसा शास्त्रों में लिखा है, इसलिए -

डरो मत ! डरो मत ! संयम धारण करो।

यह तो आपका कल्याण करने वाला है।

इसके सिवाय कल्याण नहीं हो सकता है।

संयम के बिना कल्याण नहीं होता।

आत्म-चिन्तन के बिना कल्याण नहीं होता।

सल्लेखना और भारतीय दण्डविधान : भारतीय दण्डविधान की धारा 306 के अनुसार यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करने का प्रयास करे तो जो कोई ऐसी आत्महत्या का दुष्प्रेरण करेगा, वह दोनों में से, किसी भांति के (सश्रम या साधारण) कारावास से, जिसकी अवधि दस वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।

धारा 309 आत्महत्या करने का प्रयत्न, जो कोई आत्महत्या करने का प्रयत्न करेगा या उस अपराध के करने के लिए कार्य करेगा, वह सादा कारावास से, जिसकी अवधि एक वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से, दण्डित किया जायेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ आत्महत्या के लिये दुष्प्रेरित करने वाले को दस वर्ष तक की सजा और जुर्माने का दण्ड दिया जा सकता है वहीं जो व्यक्ति आत्महत्या का प्रयास करता है उसे एक वर्ष की सजा या जुर्माने या दोनों से दण्डित किया जा सकता है।

यह पहला अपराध है जहाँ भारतीय दण्डविधान में अपराध करने के पश्चात् अभियुक्त को सजा नहीं मिलती, क्योंकि आत्महत्या के पश्चात् अभियुक्त का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, किन्तु आत्महत्या के लिए दुष्प्रेरित करने वाले को अपराध पूर्ण होने के बाद भी सजा मिल सकती है।

माननीय उच्चतम न्यायालय ने पी. रथीनाम बनाम भारत सरकार एवं अन्य के प्रकरण में न्यायमूर्ति आर. एम. सहाय एवं न्यायमूर्ति बी. एल. हंसारिया की दो सदस्यीय खण्डपीठ ने भारतीय दण्डसंहिता की धारा 309 को भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 के परिप्रेक्ष्य में मौलिक अधिकारों का हनन घोषित किया था। और दिनाँक 26 अप्रैल 1994 को दिए गए निर्णय में धारा 309 आई. पी. सी. को संविधान के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन मानते हुए अवैध घोषित कर दिया था साथ ही यह भी अवधारित किया था कि इस धारा को भारतीय दण्डविधान से हटा देना चाहिए।

खण्डपीठ ने इस निर्णय के प्रारम्भ में महात्मा गांधी को उद्धृत करते हुए कहा कि - "गांधी जी ने एक बार कहा था कि मृत्यु हमारी दोस्त है, दोस्त का विश्वास करें, यह हमें आतंक और भय से मुक्ति देती है मैं नहीं चाहता कि मैं असहाय और लकवे जैसी स्थिति में एक पराजित व्यक्ति की तरह चिल्लाता हुआ मरूं।" इसी निर्णय में अंग्रेजी कवि विलियम एनवेट हैनले की यह पंक्ति भी दी गई है कि - 'मैं स्वयं का मालिक हूँ और अपनी आत्मा का कप्तान।'

इस खण्डपीठ ने संविधान के अनुच्छेद 21 की व्यापक समीक्षा करते हुए और उसके साथ अनुच्छेद 14 की भी

समीक्षा करते हुए यह कहा था कि भारतीय संविधान का अनुच्छेद 21 जहाँ व्यक्ति को जीवित रहने का मौलिक अधिकार देता है वहीं यह अनुच्छेद उसे मरने का भी अधिकार देता है। यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार से पीड़ित है और वह आत्महत्या का प्रयास करता है तो उसे दण्डित नहीं किया जाना चाहिए। इस निर्णय के अनुसार आत्महत्या का प्रयास किसी धर्म, नैतिकता या सार्वजनिक नीति का विरोधी भी नहीं है। इस निर्णय में विधि आयोग द्वारा दी गई रिपोर्ट संख्या 42/1971 जिस के अनुसार आत्महत्या के प्रयास को अनौचित्यपूर्ण माना गया और धारा 309 को निरस्त करने का सुझाव दिया गया। किन्तु संसद की विभिन्न तकनीकि कारणों से वह विधि का रूप नहीं ले सका, लगभग 20 पृष्ठों के निर्णय में उपर्युक्त न्यायमूर्तियों ने यह अवधारित किया कि धारा 309 भारतीय दण्डसंहिता के अनुच्छेद 21 में दिये गए मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करती है और इसीलिये उसे हटाया जाना चाहिए।

इस निर्णय से किसी भी कारण से की गई आत्महत्या के प्रयास को दण्डनीय नहीं माना गया किन्तु यह निर्णय बहुत दिनों तक प्रभावी नहीं रह सका। इससे पहले कि निर्णय को लेकर भारतीय संसद कानून मे कोई परिवर्तन या सशोधन करती माननीय उच्चतम न्यायालय की पांच सदस्यीय खण्डपीठ जिसमें न्यायमूर्ति श्री जे. एस. वर्मा, श्री जी. एन. रे, श्री एस. पी. सिह, श्री फैजुद्दीन एवं श्री जी. टी. नानावटी थे ने श्रीमती ज्ञानकोर बनाम स्टेट आफ पजाब एव अन्य अपीलों में एक साथ दिनांक 21-3-96 को दिये गए निर्णय में 1994 के निर्णय को पलट दिया। और उन्होंने इस निर्णय में यह अवधारित किया कि भारतीय संविधान का अनुच्छेद 21 जीने का अधिकार किसी भी रूप में मरने के अधिकार को शामिल नहीं करता। जीवन समाप्ति जीवन का संरक्षण नहीं कही जा सकती। इसीलिये भारतीय दण्डविधान की धारा 309 जिसमें आत्महत्या के प्रयास को दण्डनीय ठहराया गया है को किसी भी प्रकार से भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 का उल्लंघन नहीं करती और अवैध न होकर वैध है। लगभग दस पृष्ठों में दिए गए निर्णय में न्यायालय ने धारा 306 और 309 को वैध ठहराया और सन् 1994 में माननीय उच्चतम न्यायालय तथा 1987 में बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों को पलट दिया। इस प्रकार वैधानिक रूप से आत्महत्या का प्रयास या उसके लिये किया जाने वाला दुष्प्रेरण अपराध की श्रेणी में आता है और वह भारतीय दण्डविधान के अन्तर्गत दण्डनीय है, किन्तु सल्लेखना पूर्वक किया गया समाधिमरण आत्महत्या के प्रयास या आत्महत्या नहीं कही जा सकती। किसी विद्वान् कवि ने शायद ऐसी मृत्यु के लिए ही लिखा था -

निर्भय स्वागत करो मृत्यु का,
मृत्यु एक विश्राम स्थल है।

बैरिस्टर चम्पतराय जैन ने ऐसे समाधिमरण को मृत्यु महोत्सव कहा था। जैन समाज में आचार्यप्रवर शान्तिसागर जी महाराज, पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी की सल्लेखनाएँ और समाधि इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ बन चुके हैं। हमारे नगर फिरोजाबाद में भी वर्ष 1979 में आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज की दांई जांघ पर फोड़ा था किन्तु अन्त तक चैतन्य रहते हुए आत्म साधना की और समाधि प्राप्त की उसके उपरान्त जैन और जैनेतर लोगों की हजारों की उपस्थिति ने मृत्यु महोत्सव मना कर उनका अन्तिम संस्कार किया। सन्त विनोबा भावे ने भी अपने जीवन की अन्तिम सांसे वस्त्र पहने सल्लेखना पूर्वक समाप्त की थी। राष्ट्र सन्त आचार्य विद्यानन्द जी ने भी बड़ौत में नियम सल्लेखना ली है। जिसकी अवधि 12 वर्ष की होती है। निष्कर्ष में यही कहा जा सकता है कि सल्लेखना द्वारा किया गया समाधिमरण न तो आत्महत्या है और न आत्महत्या का प्रयास।

सन्दर्भसूची

1. जैनतत्त्वविद्या - मुनिश्री प्रमाणसागर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
2. वात्सल्य रत्नाकर - सल्लेखना आत्महत्या नहीं - अलमस्त निर्मलचन्द जैन
3. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग 4 भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
4. आचार्य शान्तिसागर जी का अन्तिम उपदेश - जैन गजट, 10 जून 2004
5. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 7
6. भारतीय संविधान अनुच्छेद 14 और 21
7. भारतीय दण्डविधान, धारा 306-9
8. क्रिमिनल लॉ जनरल, 1987 पृ. 743
9. क्रिमिनल लॉ जनरल, 1996 पृ. 1660
10. इलाहाबाद क्रिमिनल केसेज 1994, सप्लीमेन्ट पृ. 73
11. अमर उजाला, आगरा, अगस्त 2004
12. English Verseni of S. 306 P. A-14
13. English Verseni of S. 309 P. A-15

अटैची नहीं अटैचमेन्ट चाहिये

पूज्यमुनि श्री प्रमाणसागर जी महाराज का दिनाँक २-१२-०४ को विहार हुआ। बड़ी संख्या में उनके साथ लोग चल रहे थे। अभी १-२ किलोमीटर ही गये थे कि श्री सनत जैन (अवन्तिका) ने सिं. जयकुमार जी से पूँछा - 'बड़े भैया आपकी अटैची कहाँ हैं?' सिं. जयकुमार उत्तर देते कि इसके पूर्व महाराज श्री बोल पड़े - 'अटैची की क्या जरूरत है? अटैचमेन्ट होना चाहिये, सारी व्यवस्थायें स्वयं बन जाती हैं।'

तत्त्वार्थसूत्र और जीवन-मूल्य

* डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती'

आचार्य उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थसूत्र एक ऐसी कालजयी कृति है, जिसमें समाज, राष्ट्र एवं विश्व का हित निहित है। यह मार्ग बताती है, उस पर चलना सिखाती है और लक्ष्य तक पहुँचाती है। प्राय: कृतियों में यह कम ही देखने को मिलता है। 'सूत्र' के विषय में कहा गया है कि -

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्गूढनिर्णयम् ।
निर्दोषहेतुमत्तत्त्वं, सूत्रमित्युच्यते बुधैः ॥

अर्थात् जिसमें अल्प अक्षर हों, जो असंदिग्ध हो, जिसमें सार अर्थात् निचोड़ भर दिया गया हो, जिसमें रहस्य भरा हो, जो निर्दोष हो, सयुक्तिक हो और तथ्यभूत हो, उसे सूत्र कहते हैं। इस प्रकार यह तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ अपने सूत्र स्वभाव के कारण भी जीवन के लिए उपयोगी है, क्योंकि असंदिग्ध, सारभूत, रहस्यमय, निर्दोष, सयुक्तिक, तथ्यभूत जीवन ही तो सब जीना चाहते हैं अब यह अलग बात है कि वे ऐसा जीवन जी पायें या नहीं; क्योंकि पूर्वकृत कर्मों के परिणाम और परिस्थितियों की अनुकूलता प्रतिकूलता भी इसमें सहायक और निमित्त बनती है।

जीवनमूल्यों पर विचार करें, इसके पूर्व यह जानना जरुरी है कि "जीवनमूल्य" किसे कहते हैं?

भारतीय संस्कृति में मनुष्य को अहम् स्थान प्राप्त है ताकि वह प्राणी मात्र के हितों का अनुरक्षण कर सके। मनुष्य में जिज्ञासा भी है और जिजीविषा भी, जागृति भी है और जीवन जीने की कला का ज्ञान करने की क्षमता भी। जब वह स्वार्थ के वशीभूत होता है तब भी उनके मन में परिवार एवं समाज के पोषण का भाव उद्दीप्त रहता है। यही उसका विवेक है जिसने उसे सही मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित किया, उसके जीवन को मूल्यवान् बनाया। मनुष्य मूलत: नैतिकप्राणी है क्योंकि वह स्वयं का विकास चाहता है। वह दूसरों के विकास को अवरुद्ध नहीं करता क्योंकि वह सामाजिक कहलाना पसन्द करता है। वह विचारशील प्राणी है अत: स्वयं की और दूसरों को जीवन जीने के लिए 'मूल्य' निर्धारित करता है। मनुष्य को गरिमा मूल्यों से प्राप्त होती है, उन मूल्यों से जिनके लिए वह संघर्ष करता है, जिनके लिए वह जीता है।

जिसका कुछ 'मूल' हो उसे मूल्य कहते हैं। 'मूल' अर्थात् जड़ अर्थात् जिसका अस्तित्व है वह मूल्य है। भारतीय परम्परा में 'मूल्य' के समानार्थी 'मान', 'मानदण्ड', 'प्रतिमान', 'मान्यताएँ' आदि शब्द प्रचलित हैं। आज 'मूल्य' को अंग्रेजी के Value (वेल्यू) के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जिसे वैश्विक स्वीकृति प्राप्त है। Value शब्द लेटिन भाषा के Valere (वलेरे) से बना है जिसका अर्थ अच्छा, सुन्दर होता है। इसे To be strong अर्थात् ताकतवर होने के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है। ओल्ड फ्रेंच भाषा में इसके लिए Valoir (वल्वॉर) शब्द मिलता है जिससे 'वेल्यू' Value बना। यह Vaoir शब्द Worth अर्थ अर्थात् लायक योग्य के अर्थ का सूचक है। यहाँ प्रश्न उठता है कि आदमी की Value वेल्यू, मूल्य

* एल-65, न्यू इन्दिरानगर, ए, बुरहानपुर

किससे है ? तो उत्तर होगा कि उसकी समाज में स्वीकार्यता कितनी है ? समाज में स्वीकार्यता के लिए देखा जायेगा कि वह कितना योग्य है ? और यह योग्यता व्यक्ति की गुणात्मकता से आती है। आदमी अपनी 'वेल्यू' बढ़ाना चाहता है क्योंकि वह ताकतवर होना चाहता है। अंग्रेजी "वेल्यू' नियंत्रित नहीं करता किन्तु भारतीय 'मूल्य' नियंत्रित करता है।

भारतीय संस्कृति में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को मूल्य के रूप में आद्य उद्घोष माना जा सकता है। मूल्य वैयक्तिक न होकर बृहत्तर सामाजिक सन्दर्भों को अपने में समाये रहते हैं। मूल्य प्रेरक तो होते ही हैं, साथ ही इच्छित गुणात्मक विकास को भी लक्ष्य बनाते हैं। 'प्लेटो' के अनुसार 'मूल्य' में 'सर्वोच्च शुभ' का विधान होता है। कुछ लोग मूल्यों को परिस्थितिजन्य मानते हैं किन्तु ऐसे मूल्य दीर्घकालीन ऊँचाईयों का स्पर्श नहीं कर पाते। मूल्य तो शुभ, श्रेष्ठ, सर्वोत्तम एवं शुचिता के मानक होते हैं। मूल्य मात्र आचार-नियमों से सम्बन्धित नहीं हैं वे तो सस्कृतिनिष्ठ होते हैं।

भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ को पुनीत लक्ष्य माना गया है जिसका महत्त्वपूर्ण तत्त्व धर्म है। श्रीदेवीप्रसाद गुप्त के अनुसार - ''हमारे महाकाव्यों का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अर्थात् चतुर्वर्ग फलप्राप्ति माना गया है। इसमें प्रतिपादित शाश्वत जीवनमूल्य भोग, योग और कर्म हैं।''[१] डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने पुरुषार्थ को जीवनमूल्य माना है। वे भारतीय संस्कृति के योग्यतम अनुसन्धाता थे। उनकी दृष्टि में ''अपना अस्तित्व बनाये रखना, आत्मा की निर्मलता को बनाये रखना ही जीवन का लक्ष्य है। मानव केवल भौतिक सम्पत्ति और ज्ञानार्जन से ही सन्तुष्ट नहीं रह सकता। उसका ध्येय है आत्म-साक्षात्कार करना।''[२]

धर्म के विषय में भारतीय धारणा '**धर्मो रक्षति रक्षितः**' की है अर्थात् जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है।

'मानविकी पारिभाषिक कोश' के अनुसार - ''साहित्यकार अपनी कृति में जिन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करता है अथवा जिन मन:स्थितियों को व्यंजित करता है वे साधारण जीवन की अनुभूतियों एवं मन:स्थितियों से श्रेष्ठ एवं अधिक मूल्यवान् हैं, वही श्रेष्ठ अनुभूतियों को मूल्यों के रूप में ग्रहण किया जाता है।''[३]

नील जे. स्मेलसर के अनुसार - 'मूल्य ऐसी वांछनीय साध्य स्थितियाँ हैं जो मानवीय व्यवहार के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करती हैं अथवा वे तर्कसंगत साध्यों के ऐसे सर्वाधिक व्यापक विवरण हैं जो सामाजिक क्रियाकलापों का मार्गदर्शन करते हैं।'[४]

डॉ. कुमार विमल के अनुसार - 'मूल्य का अर्थ है जीवनदृष्टि या स्थापित वैचारिक इकाई, जिसे हम सक्रिय 'नॉर्म' भी कह सकते हैं।'[५]

डॉ. देवराज ने कहा है कि - ''मूल्य किसे कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर इस दूसरे प्रश्न के उत्तर से सम्बन्धित है कि मनुष्य किन चीजों को मूल्यवान् समझते हैं। अन्ततः मूल्यवान वस्तु वह है जिसकी मनुष्य कामना करता है।''

---

१. हिन्दी महाकाव्य : सिद्धान्त और मूल्यांकन, देवीप्रसाद गुप्त, पृ. 23

२. पूर्व-पश्चिम - भारतीय जीवन : डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, पृ. 9

३. मानविकी पारिभाषिक कोश : सम्पा. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 267

४. नील जे स्मेलसर। वही

५. कुमार विमल 'आलोचना' (त्रैमासिक) अक्टूबर-दिसम्बर, अंक 67, पृ. 64

समाजशास्त्रीय दुर्खीम के अनुसार - "व्यक्ति की अपेक्षा समाज ही मूल्यों का सर्वप्रथम निर्माता, अन्तिम मानदण्ड और अन्तिम उद्देश्य है।"[१]

उक्त परिभाषाओं के सन्दर्भ से जोड़कर देखें तो 'मूल्य' को हम मानवीय व्यवहार को नियन्त्रित करने वाले, मनुष्य को श्रेष्ठ, श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम बनाने वाले कारक या मानक मान सकते हैं, जिसका लक्ष्य समाजोन्मुख बनाकर व्यक्ति के विकास को पूर्णता प्रदान करना, मार्गदर्शन करना होता है। मूल्य हमेशा सामाजिक सन्दर्भों से जुड़े होते हैं तथा समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं। यहाँ तक कि यदि व्यक्ति विशेष के मूल्य समाजोपयोगी हों तो वे भी समाज द्वारा स्वीकार कर लिये जाते हैं।

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी ने जीवनमूल्य विषयक अपने विचारों में कहा है - "मूल्य क्या हैं ? जो जीवन के मूलभूत तत्त्व हैं, उन्हीं का नाम मूल्य है। जो जीवन को बनाने या सँवारने वाले मौलिक तत्त्व हैं उन्हीं का नाम मूल्य है। जहाँ मौलिकता समाप्त हो जाती है, वहाँ विजातीय तत्त्वों को खुलकर खेलने का मौका मिल जाता है। सरलता, सहनशीलता, कोमलता, अभय, सत्य, करुणा, धृति, प्रामाणिकता, संतुलन आदि ऐसे गुण हैं जिनको जीवनमूल्यों के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है।"[२]

डॉ. धर्मवीर भारती के अनुसार - "मनुष्य अपने में स्वतः सार्थक और मूल्यवान् है - वह आन्तरिक शक्तियों से सम्पन्न, चेतनस्तर पर अपनी नियति के निर्माण के लिए स्वतः निर्णय लेने वाला प्राणी है।"[३]

साहित्य में हित का भाव विद्यमान रहता है इसीलिए वह साहित्य है। मानव जीवन साहित्य का मूल विषय है जिसे सार्थक वक्तव्यों से सजाया जाता है। साहित्य की सार्थकता ही जीवनमूल्यों में निहित होती है। ये वे मूल्य हैं जो मानव जीवन के यथार्थ से अवगत कराकर उसे आदर्श स्थिति तक ले जाते हैं। डॉ. शम्भूनाथसिंह के अनुसार - "साहित्य में जीवनमूल्य ऊपर से आरोपित नहीं होते, बल्कि वे साहित्यकार के अनुभूत सत्य होते हैं जो उनकी आत्मोपलब्धि की प्रक्रिया में रूपायित होकर अपनी सुन्दरता, उदात्तता और महत्ता के कारण समाज द्वारा जीवन मूल्यों के रूप में स्वीकृत किये जाते हैं।"[४]

ये जीवनमूल्य मनुष्य को प्रभावित एवं नियन्त्रित करते हैं। मनुष्य को शोषण से बचाते हैं, स्वच्छन्द जीवन पर विराम लगाते हैं और यह आभास दिलाते रहते हैं कि तुम एक श्रेष्ठ मनुष्य बनो, अपनी श्रेष्ठता को निखारो। इन जीवन मूल्यों के मूल में यह भावना है कि "नहि मानुषात् कश्चित् महत्तरं विद्यते" अर्थात् मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। ये जीवन मूल्य सुख एवं शान्ति विधायक होते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता आचार्य उमास्वामी अपनी साधना एव प्रखर विद्वत्ता के लिए विख्यात हैं। वे मूल्यवान् जीवन जीते हुए सन्तत्व की कोटि में पहुँचे, यह उनके रचनाकर्म से स्पष्ट है। जिस तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ की रचना उन्होंने भव्य जीवों के कल्याण की कामना से अनुग्रहपूर्वक की हो उनका स्वयं का जीवन तो मूल्यवान होगा ही। यद्यपि 'तत्त्वार्थसूत्र' सिद्धान्तग्रन्थ है, किन्तु इसमें जीवनमूल्यों का समावेश भी प्रसंगवशात् आया है उन्हीं को प्रस्तुत करना हमारा अभिप्रेत

---

१. सौन्दर्यमूल्य और मूल्यांकन, पृ. 7

२. अणुव्रत (मासिक), वर्ष 46, अंक 10, पृ. 2

३. मानवमूल्य और साहित्य : डॉ. धर्मवीर भारती, भूमिका -1, पृ. 10

४.

है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में एकसूत्र आया है - "**आर्या म्लेच्छाश्च**"[1] जो दो प्रकार के मनुष्यों की कोटि बताता है एक आर्य और दूसरे म्लेच्छ। जो अपने गुण-कर्म से श्रेष्ठ हैं वे आर्य हैं और जो गुण कर्म से हीन आचरण वाले हैं वे म्लेच्छ हैं। यही आर्य जीवन ही जीवनमूल्यों से समन्वित जीवन माना जा सकता है। ऐसा प्रशस्त आचरण ही पुण्यकर्म है और अप्रशस्त आचरण से पाप का आस्रव होता है - "**शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य**"[2]। तत्त्वार्थसूत्र में आगत प्रमुख जीवन मूल्य इस प्रकार हैं -

परस्परोपग्रह –

"तत्त्वार्थसूत्र" के अनुसार - "**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**"[3] अर्थात् जीव परस्पर उपकार करते हैं। यद्यपि यह जीवद्रव्य के प्रसंग में है, किन्तु भट्ट अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थवार्तिक' मे लिखा है कि "परस्पर शब्द कर्म व्यतिहार अर्थात् क्रिया के आदान-प्रदान को कहता है। स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य आदि रूप से व्यवहार परस्परोपग्रह है। स्वामी रुपया देकर तथा सेवक हितप्रतिपादन और अहितप्रतिषेध के द्वारा परस्पर उपकार करते हैं। गुरु उभयलोक का हितकारी मार्ग दिखाकर तथा आचरण कराके और शिष्य गुरु की अनुकूलवृत्ति से परस्पर के उपकार मे प्रवृत्त होते है।[4] स्वोपकार और परोपकार को अनुग्रह कहते हैं। पुण्य का सचय स्वोपकार है और पात्र की सम्यग्ज्ञान आदि की वृद्धि परोपकार है।"[5]

जिनके मन में परस्पर अनुग्रह की भावना नही है वे '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की भावना से कोसो दूर है। 'हितोपदेश' मे आया है कि -

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥[6]

अर्थात् यह मेरा है, यह उसका है, ऐसा सकीर्ण दृष्टिकोण वाले लोग सोचते है। उदारचरित वालो के लिए तो पूरा विश्व ही एक परिवार है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने इस वैश्विक जीवनमूल्य के प्रति बदलते सोच एवं व्यवहार को इस रूप में वर्णित किया है -

'वसुधैव कुटुम्बकम्'
इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन-द्रव्य
धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।[7]

१. तत्त्वार्थसूत्र : आचार्य उमास्वामी, 3/36
२. तत्त्वार्थसूत्र, 6/3
३. वही, 5/21
४. तत्त्वार्थवार्तिक, 5/21/1-2
५. वही, 7/38/1
६. हितोपदेश,
७. मूकमाटी, आचार्य विद्यासागर, पृ. 82

अर्थ की इस लिप्सा ने हमारा पतन निर्लज्जता की सीमा तक कर दिया है -

'यह कटु सत्य है कि
अर्थ की आँखें
परमार्थ को देख नहीं सकतीं
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को
निर्लज्ज बनाया है।'[१]

पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि - 'कोई भी राष्ट्र महान् नहीं हो सकता है, जिसके लोग विचार या कार्य के संकीर्ण हों।' यह वास्तविकता है, कि 'परस्परोपग्रह' के बिना जीवन निर्वाह नहीं हो सकता, भले ही उपकृत होने वाले इसे स्वीकार न करें। स्वार्थी का संसार नहीं होता, वह तो उसके विनाश का ही कृत्य है। 'कामायनी' में श्री जयशंकरप्रसाद कहते हैं कि -

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा,
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा ॥[२]

परनिन्दा नहीं, आत्मप्रशंसा नहीं -

तत्त्वार्थसूत्र में नीचगोत्र के आस्रव के कारणों में बताया है कि "**परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य**"[३] अर्थात् दूसरे की निंदा और अपनी प्रशंसा, दूसरे के विद्यमान गुणों को ढँकना और अपने अविद्यमान गुणों का प्रकाश करना नीचगोत्र कर्म आस्रव के कारण हैं। उच्च व्यक्तित्व बनाने के लिए लघुता आना आवश्यक है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते थे कि - "मैं जिसकी प्रशंसा नहीं कर सकता उसकी निंदा करने में मुझे लाज आती है।" अतः पर निंदा और आत्मप्रशंसा से बचना चाहिए और यदि कोई हमारी निंदा करता हो तो हमें उसका उपकार मानना चाहिए कि वह हमें सजग रख रहा है। निंदक को तो निकट रखने की बात की गयी है -

निंदक नियरे राखिए आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना निर्मल करे सुभाय ॥

उच्च गोत्र पाने के लिए दूसरे की प्रशंसा, अपनी निंदा करना, दूसरे के अच्छे गुणों को प्रकट करना और असमीचीन गुणों को ढँकना, अपने समीचीन गुणों को भी प्रकट न करना माना है।[४] प्रकारान्तर से विनय और दुर्भावहीनता जीवन के हित के लिए आवश्यक है।

मैत्री -

सम्यग्दर्शन की 4 भावनायें मानी गयी हैं। तत्त्वार्थसूत्र में व्रत की रक्षा के लिए इन्हें जरूरी माना है - "**मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्व-गुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु**"[५] अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव,

---

१. मूकमाटी, पृ. 192
२. कामायनी, जयशंकरप्रसाद, पृ. 82
३. तत्त्वार्थसूत्र, 6/25
४. वही, 6/26
५. वही, 7/11

अधिकगुणा वालों के प्रति प्रमोद (हर्ष, प्रसन्नता), दुःखी जीवों के प्रति करुणा और हठग्राही, दुराग्रही, पापी जनों के प्रति माध्यस्थभाव रखना चाहिए। आचार्य अमितगति ने भी लिखा है -

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव ! ॥[1]

'सर्वार्थसिद्धि' में पूज्यपाद स्वामी ने '**परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री**'[2] लिखकर दूसरों को दुःख न हो - ऐसी अभिलाषा रखने को मैत्री माना है। भट्ट अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदन, हर प्रकार से दूसरे को दुःख न होने देने की अभिलाषा को मैत्री कहा है।[3]

मैत्री भाव सह अस्तित्व का सूचक है। संसार में ऐसा कौन प्राणी है जो जीना नहीं चाहता हो, तब हम क्यों न छोटे-बड़े का भेद भुलाकर मित्रता के अटूट बन्धन में बँधते हुए स्व-परहित की कामना करें। हरिवंशराय बच्चन ने ठीक ही लिखा है -

सरोपा आपका किसी से छोटा भी हो सकता है।
इन्सान आपका किसी से भी छोटा नहीं ॥[4]

हर समाज की माँग रहती है कि सब समान हों, जो विधि के विधानानुसार भले ही संभव नहीं हो, किन्तु मैत्री इसे संभव बना सकती है।

प्रमोद -

गुणीजनों को देखकर चित्त का प्रसन्न होना प्रमोदभाव है। मुख की प्रसन्नता, नेत्र का आह्लाद, रोमाञ्च, स्तुति, सद्गुणकीर्तन आदि के द्वारा प्रकट होने वाली अन्तरंग की भक्ति और राग प्रमोद है।[5] व्यक्ति को सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्राधिक गुणी जनों की वन्दना, स्तुति, सेवा आदि के द्वारा प्रमोद भावना भानी चाहिए।[6]

करुणा -

''**दीनानुग्रहभावः कारुण्यम्**'' अर्थात् दीनों पर दयाभाव रखना कारुण्य है। शरीर और मानस दुःखों से पीडित दीन प्राणियों पर अनुग्रह रूप भाव कारुण्य है।[7] मोहाभिभूत कुमति, कुश्रुत और विभंगज्ञानयुक्त विषय तृष्णा से जलने वाले हिताहित में विपरीत प्रवृत्ति करने वाले, विविध दुःखों से पीडित दीन, अनाथ, कृपण, बाल-वृद्ध आदि क्लिश्यमान जीवों में करुणाभाव रखना चाहिए।[8]

---

१. आचार्य अमितगति,
२. सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद, 7/11/683
३. तत्त्वार्थवार्तिक, 7/11/1
४. बच्चन रचनावली, (कटती प्रतिमाओं की आवाज) 3/237
५. तत्त्वार्थवार्तिक, 7/11/1-4
६. वही, 7/11/5-7
७. वही, 7/11/3
८. वही, 7/11/5-8

माध्यस्थ -

"**रागद्वेषपूर्वक पक्षपाताभावो माध्यस्थम्**"[१] अर्थात् रागद्वेषपूर्वक पक्षपात न करना माध्यस्थ है। रागद्वेषपूर्वक किसी एक पक्ष में न पड़ने के भाव को माध्यस्थ या तटस्थ भाव कहते हैं।[२] ग्रहण, धारण, विज्ञान और ऊहापोह से रहित महामोहाभिभूत विपरीत दृष्टि और विरुद्धवृत्ति वाले प्राणियों में माध्यस्थ की भावना रखनी चाहिए।[३]

पुरुषार्थचतुष्टय -

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। तत्त्वार्थसूत्र में यद्यपि इन चारों के विषय में एक साथ पुरुषार्थ रूप कोई सूत्र नहीं आया है। किन्तु प्रथम अध्याय के सूत्र 1 में - '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**'[४] कहकर चारित्र और मोक्ष का उल्लेख मिल जाता है जो धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ को व्यंजित करते हैं। '**चारित्तं खलु धम्मो**'[५] ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा ही है। तत्त्वार्थसूत्र के दशवे अध्याय में '**बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः**'[६] में मोक्ष को परिभाषित किया है। अर्थ पुरुषार्थ को हम तत्त्वार्थसूत्र के सप्तम अध्याय के एक सूत्र में आगत परिग्रह शब्द और '**अदत्तादानं स्तेयम्**'[७] अर्थात् बिना दी गई वस्तु का ग्रहण करना चोरी है तथा अचौर्याणुव्रत के अतिचार बताने वाले सूत्र '**स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः**'[८] अर्थात् स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार (मिलावट) के माध्यम से बताया है कि अर्थ पुरुषार्थी के लिए यह कर्म वर्ज्य है। काम पुरुषार्थ तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय 7 के अट्ठाइसवें सूत्र से ज्ञात होता है जिसके माध्यम से बताया है कि कामपुरुषार्थी को एकदेश ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए उसके अतीचारों से बचना चाहिए। ये अतिचार हैं - '**परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीता-गमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः**।'[९] अर्थात् परविवाहकरण (दूसरे के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना, कराना), अपरिगृहीत इत्वरिकागमन (पति रहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहाँ आना-जाना), परिगृहीतइत्वरिकागमन (पतिसहित व्यभिचारिणी स्त्रियो के पास आना-जाना), अनंगक्रीड़ा (कामसेवन के लिए निश्चित अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से कामसेवन करना), कामतीव्राभिनिवेश (कामसेवन की तीव्र लालसा रखना)। काम पुरुषार्थी को इन दोषों से बचना चाहिए।

मानव होने का मतलब मात्र जीना नहीं है क्योंकि जी तो पशु-पक्षी भी लेते हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुन पशु और मनुष्यों में समान हैं किन्तु विवेक सम्मत आचरण तो मनुष्य ही कर सकता है अतः उसके जीवन का लक्ष्य सुनिश्चित होना ही चाहिए। धर्म से नियंत्रित जीवन में ही मानवीयता के दर्शन हो सकते हैं।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, 7/11/683
२. तत्त्वार्थवार्तिक 7/11/1-4
३. वही, 7/11/5-7
४. तत्त्वार्थसूत्र, 1/1
५. आचार्य कुन्दकुन्द : प्रवचनसार गाथा 7
६. तत्त्वार्थसूत्र, 10/2
७. वही, 7/15
८. वही, 7/27
९. वही, 7/28

अनर्थदण्डविरति [1] -

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी का दृष्टिकोण एवं लक्ष्य स्पष्ट है वे प्रत्येक मानव को व्रताचरण का पालन करवाते हुए मोक्ष तक ले जाना चाहते हैं। उन्हें मानव की स्वतन्त्रता तो प्रिय है किन्तु स्वच्छन्दता नितान्त अस्वीकार्य है। वे मनुष्यों को अनर्थदण्ड से विरत करना चाहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय के 21 वें सूत्र में वे अनर्थदण्डविरति को अणुव्रत पालन में सहायक बताते हैं। जिससे अपना कुछ लाभ या प्रयोजन तो सिद्ध न हो और व्यर्थ ही पाप का संचय होता हो, ऐसे विचार एव कार्य को अनर्थदण्ड कहते हैं। इसके पाँच भेद है -

1. अपध्यान - दूसरों का बुरा विचारना।
2. पापोपदेश - दूसरों को पाप कार्य करने का उपदेश देना।
3. प्रमादचर्या - बिना प्रयोजन यत्र-तत्र घूमना, पृथ्वी खोदना, पानी फैलाना, घास, तिनके आदि तोड़ना।
4. हिंसादान - तलवार, बन्दूक, भाला आदि हिंसक उपकरणों का देना।
5. दुःश्रुति - हिंसा और राग आदि बढ़ाने वाली कथाओ का सुनना, पढ़ना, देखना आदि।

इन सबसे पाप होता है अत: जीवन में जिससे पाप न हो, किसी को दु:ख न पहुँचे, ऐसे विचारशील मनुष्य को इन अनर्थदण्डों से विरत रहना चाहिए।

आचार्य उमास्वामी ने अनर्थदण्डव्रत के अतिचार - "**कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोग-परिभोगानर्थक्यानि**"[2] के माध्यम से राग की अधिकता होने से हास्य के साथ अशिष्ट वचन बोलना (कन्दर्प), हास्य और अशिष्ट वचन के साथ शरीर से भी कुचेष्टा करना (कौत्कुच्य), धृष्टतापूर्वक बहुत बकवास करना (मौखर्य), बिना विचारे अधिक प्रवृत्ति करना (असमीक्ष्याधिकरण), जितने उपभोग और परिभोग मे अपना काम चल सकता है, उससे अधिक सग्रह करना (उपभोगपरिभोगनार्थक्य) को प्रकारान्तर से त्याग की प्रेरणा दी है। इनका उल्लघन करने वालों के लिए महाभारत का उदाहरण पर्याप्त है जहाँ कटुवचन के कारण इतनी बड़ी हिंसा हुई। हम पत्र-पत्रिकाओं में प्रतिदिन ऐसे उदाहरण पढ़ते है जिनमे हँसी-मजाक, अशिष्ट व्यवहार आदि के कारण व्यक्तियो को अपने प्राणो से हाथ धोने पड़ते हैं। अत: सद्‌गृहस्थ के लिए अनर्थदण्डों से बचना चाहिए।

अहिंसा -

अहिंसा धर्म का प्राण तत्त्व है जिस पर विश्वास के फलस्वरूप यह ससार सुरक्षित है। जहाँ जैनदर्शन एव आचार-व्यवस्था प्राणी मात्र के रक्षण पर बल देती है वहीं अन्य धर्म मानव सरक्षण पर अधिक बल देते हैं यहाँ तक कि मानवीय हितों के आगे वे अन्य प्राणियो की भी बलि ले लेते है। महाभारत मे आया है कि धर्म तो वही है जो अहिंसा से युक्त है -

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्याद् हिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

अर्थात् अहिंसा के लिये ही प्राणियों को धर्म का प्रवचन किया है जो अहिंसा से युक्त है वही निश्चय से धर्म है।

1. तत्त्वार्थसूत्र, 7/21
2. वही, 7/32

विधि और नैतिकता; दोनों यद्यपि एक नहीं हैं फिर भी नैतिकता से एकदम प्रतिपादित होना अथवा [illegible] को उद्भूत करना होगा। अपने जीवन का परिरक्षण सामान्य शब्दों में एक कर्तव्य है, परन्तु इसका बलिदान एक उच्चतम उच्च कर्तव्य है। युद्ध एक ऐसा दृष्टान्त है जिसमें जीवित रहना नहीं, वरन् जीवन का बलिदान कर्तव्य माना जाता है।[1]

इस निर्णय से अहिंसा के जैनधर्म सम्मत पक्ष की पुष्टि होती है। आचार्य उमास्वामी तो स्वयं अहिंसा महाव्रत के पालक थे अतः उन्होंने हिंसा से विरति अर्थात् अहिंसा को व्रत माना।[2] यदि जीवन से अहिंसा चली जाये तो माँ अपने बच्चे को दूध क्यों पिलाये, पिता पालन क्यों करे ?

गार्हस्थिक हिंसा प्रमुख रूप से चार प्रकार की मानी गयी है - 1. आरम्भीहिंसा, 2. उद्योगीहिंसा, 3. विरोधीहिंसा और 4. संकल्पीहिंसा। जिसमें से यह अपेक्षा की जाती है कि कम से कम वह संकल्पी हिंसा का तो त्याग करे ही।

सत्यवादिता -

आचार्य उमास्वामी के अनुसार - **'असदभिधानमनृतम्'**[3] अर्थात् प्रमाद के योग से जीवों को दुःखदायक अथवा मिथ्यारूप वचन बोलना असत्य है और इससे विरति होना सत्यव्रत है।[4] सभी गुणसम्पदायें सत्य वक्ता में प्रतिष्ठित होती हैं। झूठे का बन्धुजन भी तिरस्कार करते हैं। उसके कोई मित्र नहीं होता। जिह्वाच्छेदन, सर्वस्वहरण आदि दण्ड उसे भुगतने पड़ते हैं।[5] जो वचन पीडाकारी हैं वे भले ही सत्य हों, किन्तु असत्य ही हैं।[6] मिथ्याभाषी का कोई विश्वास नहीं करता .... जिनके सम्बन्ध में झूठ बोलता है वे भी उसके वैरी हो जाते हैं इसलिए उससे भी अनेक आपत्तियाँ हैं अतः असत्य बोलने से विरक्ति होना ही कल्याणकारी है।[7] नीति भी है -

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता ॥

अचौर्य -

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार **'अदत्तादानं स्तेयम्'**[8] अर्थात् बिना दी हुई वस्तु लेना चोरी है तथा इससे विरति अचौर्य है।[9] अचौर्य को जीवन मूल्य के रूप में अपनाने वाला चोर को चोरी करने की प्रेरणा नहीं देता, न प्रेरणा करवाता है, न चौर कर्म या चोर की सराहना करता है, किसी चोर से चोरी का माल नहीं खरीदता, राज्य के नियमों के विरुद्ध कर आदि की चोरी नहीं करता, तौलने या नापने के मान (बाँट), तराजू आदि कम-अधिक नहीं रखता, अधिक मूल्य वाली वस्तु में कम मूल्य वाली वस्तुएँ मिलाकर नहीं देता (बेचता)। इस प्रकार वह अचौर्यभाव को एक व्रत के रूप में अपनाता है।

परिग्रहपरिमाण -

परिग्रहपरिमाण भी जीवनमूल्य ही है किन्तु जबसे पुण्यफल के रूप में परिग्रह को मान्यता मिली है तब से लोग

१. भारतीय दण्डसंहिता : मुरलीधर चतुर्वेदी, अध्याय 4, पृ. 140-141
२. तत्त्वार्थसूत्र, 7/1
३. वही, 7/14
४. वही, 7/1
५. तत्त्वार्थवार्तिक, 9/6/27
६. वही, 7/14/5
७. वही, 7/9/2
८. तत्त्वार्थसूत्र, 7/15

अधिकाधिक धनादिक के संचय में ही सुख मानने लगे हैं। आचार्य उमास्वामी ने "**मूर्च्छा परिग्रहः**"[1] अर्थात् किसी भी परवस्तु में ममत्वभाव को परिग्रह माना है और इससे विरति को व्रत[2] कहा है। सद्गृहस्थ को सुखी जीवन के लिए अपने क्षेत्र, वास्तु, चाँदी, स्वर्ण, धन, धान्य, दासी, दास आदि का परिमाण निश्चित कर लेना चाहिए। जब परिग्रह का संचय एक ही जगह हो जाता है तो समाज में विषमता बढ़ती है, मारकाट की स्थिति बन जाती है अतः परिग्रह परिमाण ही उचित है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में आचार्य अमृतचन्द्र ने धनादिक को बाह्य प्राण मानते हुए कहा है कि यदि कोई उसका हरण करता है तो वह हिंसा है -

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम् ।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥[3]

अर्थात् जितने भी धन-धान्य आदि पदार्थ हैं ये पुरुषों के बाह्य प्राण हैं जो पुरुष जिसके धन-धान्य आदि पदार्थों को हरण करता है वह उसके प्राणों का नाश करता है, इससे हिंसा है।

अतः परिग्रह का परिमाण करते हुए अन्य के परिग्रह को हड़पने का भी विचार नहीं करना चाहिए ताकि अतिपरिग्रह से भी बचें और चोरी का भी दोष न लगे।

स्वदारसन्तोष -

मैथुन को कुशील कहते हैं - '**मैथुनमब्रह्म**'[4] और इससे बचना ब्रह्मचर्यव्रत है।[5] गृहस्थ पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का पालन तो नहीं कर सकता है अतः उसे स्वदारसन्तोष व्रत का पालन करना चाहिए। विवाह संस्था का जन्म इसीलिए हुआ कि वह काम सम्बन्धी मैथुन को वैधानिक स्थिति तथा समाज में मर्यादापूर्ण आचरण बना सके। यदि कोई अपनी विवाहित स्त्री या पुरुष के अतिरिक्त किसी अन्य से काम-सम्बन्ध रखता है तो उसे व्यभिचार कहा जाता है। जिसे न समाज आदर देता है और न कानून, अतः इससे बचना चाहिए। अधिक स्त्रियों या पुरुषों से परस्पर कामसम्बन्ध 'एड्स' जैसी भयंकर बीमारी का कारण बनते हैं अतः स्वदारसन्तोष भाव को अपनाना चाहिए। विवाह के पूर्व ही वर-कन्या से स्वदारसन्तोष और सम्पत्तिसन्तोष व्रत दिलाया जाता है।

दान -

आचार्य उमास्वामी के अनुसार - '**अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्**'[6] अर्थात् पर के अनुग्रह (उपकार) के लिए अपनी वस्तु का देना दान है। दान चार प्रकार का माना गया है - औषधिदान, ज्ञानदान, आहारदान और अभयदान। इन चारों दानों के देने से एक ओर जहाँ परिग्रह से मोह छूटता है वहीं दूसरों को जीवनयापन में मदद मिलती है। अतः दान से स्व और पर दोनों का उपकार होता है।

दान की भावना से ही अतिथिसत्कार या अतिथिसंविभाग[7] की स्थिति बन पाती है। जिनके घरों में अतिथियों का आदर-सत्कार नहीं किया जाता वे घर श्मशान के समान कहे गये हैं।

१. तत्त्वार्थसूत्र, 7/1
२. वही, 7/17
३. वही, 7/1
४. पुरुषार्थसिद्धयुपाय : आचार्य अमृतचन्द्र, 103
५. तत्त्वार्थसूत्र, 7/16
६. वही, 7/1
७. वही, 7/38

उक्त जीवनमूल्यों के मूल में वैयक्तिक सुख की प्राप्ति कराना है, ऐसे वैयक्तिक सुखों को जिन्हें समाज और राज्य (विधि) द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। जिनके मूल में समष्टि का सुख निहित नहीं है वे वैयक्तिक मूल्य कभी जीवन मूल्य नहीं बन सकते। जिनका जीवन और व्यवहार समाज द्वारा मान्य नहीं होता है वे समाज में उपेक्षा, तिरस्कार पाते हैं और यह स्थिति पतन की पराकाष्ठा है। किसी ने लिखा है कि -

खुद का खुद की नजर में गिर जाना सबसे बड़ा पतन है।
मर कर तो सभी मरते हैं पर यह तो जीवित मरण है॥

आज का मानव का लक्ष्य मात्र जीना हो गया है और परिणाम सामने है कि वह जो नही पा रहा है बल्कि उसकी मौत भी ब्लडप्रेशर, मधुमेह, ब्रेनहैमरेज, हार्डअटेक, एड्स, कैंसर आदि के बीच होने लगी है, जिनका उद्देश्य था खाओ-पीओ, मौज करो और रहो होटलों में, मरो अस्पतालों में। आज यह मजाक में कहा गया कथन जिन्दगी की हकीकत बन गया है। ऐसा इसलिए हुआ कि हमने सब कलायें सीखी किन्तु जीने की कला नहीं सीखी। जीने की कला तो यह है कि हम इस प्रकार जीवन जियें कि मृत्यु के समय कष्ट न हो। आचार्य उमास्वामी जीने की कला को जानते थे इसलिए उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के माध्यम से प्रेरणा दी कि ऐसे कार्य करो जिससे पाप से बच सको। यदि पाप से बचे तो कानून से भी रक्षा होगी और समाज में भी प्रतिष्ठा मिलेगी, तुम्हारा आत्मगौरव बढ़ेगा और मरण के समय भी कष्ट नहीं होगा। मेरा तो मानना है कि आचार्य उमास्वामी ने जो सबसे बड़ा जीवनमूल्य दिया (बताया) वह है - **''मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता''**[1] अर्थात् मरण के समय प्रीतिपूर्वक सल्लेखना ग्रहण करना चाहिए। सन्देश स्पष्ट है कि जियो तो ऐसे जियो कि शान्ति से मर सको और इसके लिए सबसे बडा मूलमंत्र है कि **जियो और जीने दो**।

हमारी प्रवृत्तियाँ त्यागोन्मुख रहे तो जीवन भी तनावरहित रहेगा।

औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ॥

हम सब ऋणी है आचार्य उमास्वामी के जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के रूप मे हमे एक ग्रन्थ ही नहीं दिया बल्कि ग्रन्थि विमोचन का सम्यक् मार्ग भी बताया। आज हम उनकी बातो (सूत्रों) पर विश्वास कर पा रहे हैं तो मात्र इसलिए क्योंकि उनका जीवन जीवनमूल्यो से बँधा था। हम सब भी जीवनमूल्यो को अपने जीवन मे प्रतिष्ठित करें ताकि हमारा जीवन भी मूल्यवान बन सके और हम कह सके कि हमारा भी कुछ मूल्य है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, 7/21
१. तत्त्वार्थसूत्र, 7/22

पर्यावरण संरक्षण में जैन सिद्धान्तों की भूमिका

* सुरेश जैन, आई. ए. एस.

पर्यावरण संरक्षण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर किया जा रहे अनेक सफल प्रयत्नों के बावजूद भी हमारी पृथ्वी का पर्यावरण असंतुलित और वातावरण प्रदूषित हो रहा है। पर्यावरण संरक्षण में धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का अत्यधिक योगदान है, अतः वैज्ञानिक कृत्यों के साथ-साथ आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आधार पर पर्यावरण संबंधी सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार एवं विवेकपूर्ण प्राचीन मान्यताओं को पुनर्जीवित करना आवश्यक है।

जैनधर्म ने पर्यावरण को अत्यधिक महत्त्व दिया है। प्रथम जैन तीर्थकर भगवान ऋषभदेव ने प्राचीन भारत में पर्यावरण संरक्षण और जैविक संतुलन बनाए रखने के लिए सशक्त सिद्धान्तों की स्थापना की थी, जो आज भी उपयोगी और प्रभावी है। हमें जैन परम्पराओं में निहित मूलभूत पर्यावरण प्रतिमानों को प्रचलित करना चाहिए। जैनधर्म हमें इस पृथ्वी के छोटे से छोटे प्राणी, वनस्पति और यहाँ तक कि सूक्ष्म जीवाणुओं (माइक्रोब्स) की रक्षा और सम्मान करने की प्रेरणा देता है, जो पर्यावरण संरक्षण के लिए अत्यन्त उपयोगी है। जैनधर्म समाज के प्रत्येक व्यक्ति को यह महत्त्वपूर्ण उपदेश देता है कि वह सम्पूर्ण मानव जाति एवं सृष्टि के समस्त जीवों की दीर्घायु की मंगलकामना प्रतिदिन नियमित रूप से करे। वह परमपिता परमात्मा की साक्षी में यह भावना भाये कि वर्षा समय पर और पर्याप्त हो, बाढ़ या सूखा न हो, कोई महामारी न फैले एवं समस्त प्रशासनिक अधिकारीगण अपने कर्त्तव्यों का पालन सच्चाई एवं ईमानदारी से करें।

जैनधर्माचार्यों ने कहा है कि प्रत्येक उत्तरदायी जैन परिवार निम्नांकित नियमों का कठोरता पूर्वक और नियमित रूप से पालन करे -

1. कोई भी अपने गन्दे वस्त्र किसी भी प्रवाहित पानी में न धोये ताकि उसमें रहने वाले सूक्ष्म जीवों की सुरक्षा हो सके।
2. कोई भी बगैर छना / अशुद्ध जल न पिये ताकि शरीर रोगमुक्त रह सके और आसपास का वातावरण दूषित होने से बच जाए। संसार के वैज्ञानिक मानते हैं कि जैनधर्म में जो पानी छानने की प्रथा प्रचलित है वह उनके स्वस्थ शरीर के लिए उपयोगी है। यह प्रथा श्रेष्ठ स्वास्थ्य एवं आधुनिक सभ्यता की प्रतीक है।
3. किसी भी जल स्रोत से पानी निकालने के पश्चात् शेष बचे बगैर छने पानी (जीवानी) को उसी जलस्रोत तक पहुँचा दिया जाय ताकि सूक्ष्म जीवाणु अपने प्राकृतिक जैविक संतुलन को बनाए रखकर शान्तिपूर्वक जीवित रह सकें।
4. कोई भी जल की एक बूंद व्यर्थ नष्ट न करे, पेड़-पौधों से व्यर्थ ही फूल या पत्ते न तोड़े, विद्युत या किसी भी ऊर्जा की एक यूनिट भी व्यर्थ व्यय न होने दें।

इस तरह जैनधर्म ने पर्यावरण के मूल घटक, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के दुरुपयोग, अत्यधिक

* 30, निशात कालोनी, भोपाल, (0755) 2555533

उपयोग या नष्ट करने से सम्बन्धित सामाजिक एवं धार्मिक नियम स्थापित किये हैं, जिससे प्रकृति के इन उपहारों का आदर हो सके और पर्यावरण प्रदूषित न हों।

जैनसाधु अपने जीवन में इको-जैनिज्म एवं एप्लाइड जैनिज्म के सिद्धान्तों का समावेश एवं अभिव्यक्तिकरण करते हैं। वे अपने साथ सिर्फ काष्ठ निर्मित कमण्डलु और मोरपंख से बनी पिच्छी रखते हैं। ये दोनों उपकरण पर्यावरण संरक्षण एवं आत्मोन्नति के प्रतीक हैं। ये ऐसी सामग्री से निर्मित हैं, जो स्वयमेव जीवों के द्वारा छोड़ी गई है। साधुजन कमण्डलु के जल का दैनिक आवश्यकता हेतु बड़ी मितव्ययता से उपयोग करते हैं। दैनिक क्रियाओं के दौरान पिच्छी के द्वारा वे सूक्ष्म जीवों की प्राणरक्षा का प्रयास करते हैं। इस तरह मितव्ययता और प्राणी रक्षा का संदेश उनके जीवन से अनायास ही प्रचारित होता रहता है।

जैन मुनि पर्यावरण के श्रेष्ठ संरक्षक हैं। वे हमेशा शिक्षा देते हैं कि हमें स्वच्छ पर्यावरण में रहना चाहिए, छना हुआ एव स्वस्थ्यवर्द्धक जल ग्रहण करना चाहिए, प्रदूषण मुक्त वायु का सेवन करना चाहिए, प्राकृतिक, स्वच्छ, शक्तिवर्द्धक एवं सात्त्विक भोजन लेना चाहिए। सशोधित आहार, तुरताहार या बासी भोजन, बिस्कुट ब्रेड डिब्बा बंद एवं संरक्षित भोज्य सामग्री प्रयोग नहीं करने की सलाह भी वे देते हैं। वे विविध रसायनों से संरक्षित करके दूर-दूर से आने वाले फलों की अपेक्षा स्थानीय ताजे एवं सस्ते फल एवं सब्जियों को ग्रहण करने के पक्षधर हैं। यदि हम इन शिक्षाओं एवं निर्देशों का नियमपूर्वक अनुसरण करें तो चिकित्सकों एव औषधियों का प्रयोग सीमित हो सकता है। हम स्वयं अपेक्षाकृत ज्यादा स्वस्थ रहकर पर्यावरण को भी स्वस्थ बना सकते हैं।

प्राकृतिक संरक्षण में जैन सस्कृति की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। हम अपने सांस्कृतिक आचार-विचार का अनुसरण एवं अभ्यास कर प्रकृति का सरक्षण करें। हमें अपने विकास का ऐसा ढाचा तैयार करना चाहिए जो कि पर्यावरण एव सास्कृतिक आधार को दृढ़ता प्रदान करे। आज न केवल हमारी सस्कृति या राष्ट्र वरन् हमारा समूचा ग्रह (पृथ्वी) भी ऐसे खतरे में है जैसा पहले कभी नहीं था। मानव जाति पर्यावरण को इतने व्यापक पैमाने पर नष्ट कर रही है कि स्वय प्रकृति भी अकेले इस ह्रास की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकती। इससे पहले कि बहुत देर हो जाए हमें पर्यावरण की इस सबसे बड़ी चुनौती को जिससे कि हमारा और हमारी पृथ्वी का अस्तित्व जुड़ा है, स्वीकारना होगा। हमें स्वयं एक श्रेष्ठ पर्यावरण सरक्षक बनना होगा।

चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओ पर अंकित चिह्न प्रकृति एवं पर्यावरण संरक्षण के अर्थ एव संदेश के संवाहक हैं। ये चिह्न सम्बन्धित तीर्थंकर के जीवनवृत्त एव उनकी समकालीन प्रवृत्ति पर आधारित हैं। जैन तीर्थंकरों का प्राकृतिक सम्पदा एवं वन्य प्राणियों के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण योगदान है। तीर्थंकर यह जानते थे कि मानव प्रकृति पर निर्भर है, अतएव उन्होंने प्रकृति, वन्य पशु एवं वनस्पति जगत् के प्रतिनिधि के रूप में महत्त्वपूर्ण विभिन्न प्रतीक चिह्न स्वीकार किए। 24 तीर्थंकरों के 24 चिह्नों में से प्राणी-जगत् से 13 चिह्न हैं। प्राणी जगत् के बैल, हाथी, घोड़ा, बन्दर, हिरण एव बकरा इत्यादि मनुष्य जगत् के लिए सदैव उपयोगी एवं सहयोगी रहे हैं। चकवा पक्षीसमूह का प्रतिनिधि है। जल में रहने वाले मगर, मछली, कछुआ एवं शंख का जलशुद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान है। ये जीव जगत् के लिए वरदान स्वरूप रहे हैं। स्वस्तिक एवं कलश मांगलिक हैं, अत: क्षेमंकर हैं। वज्रदण्ड न्याय, वीरता एवं शौर्य का प्रतीक है। प्रकृति का महत्त्वपूर्ण घटक चन्द्रमा शीतलता एवं प्रसन्नता का प्रदायक है। कल्पवृक्ष वनस्पति जगत् का प्रतीक है। लाल एवं नीलकमल पुष्प जगत् के सुमधुर एवं सुरभित प्रतिनिधि हैं। पुष्प अपनी प्राकृतिक सुन्दरता एवं सुकुमारता से शान्ति और प्रेम का संदेश प्रसारित करते रहे हैं।

प्रत्येक जैन तीर्थंकर को विशुद्ध ज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति किसी विशेष वृक्ष की छाया में प्राप्त हुई। जैन साहित्य में इन वृक्षों को तीर्थंकर वृक्ष या केवली वृक्ष कहते हैं। भगवान् आदिनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त ये सभी वृक्ष पर्यावरण संरक्षण के जनक एवं संपोषक हैं। यह मान्यता है कि केवली वृक्ष में सम्बन्धित तीर्थंकर का आंशिक प्रभाव विद्यमान रहता है। केवलवृक्ष की सेवा, दर्शन और अर्चना से सम्बन्धित तीर्थंकर की कृपा प्राप्त होती है। केवली वृक्ष के रोपण से सम्बन्धित स्थल की आध्यात्मिक शक्ति में वृद्धि होती है। 24 तीर्थंकरों के वृक्ष निम्नांकित हैं -

क्र. तीर्थंकर का नाम	केवलज्ञानवृक्ष	संस्कृत में	हिन्दी में	विज्ञान में
1. ऋषभनाथ	न्यग्रोध	वटवृक्ष	वटवृक्ष	फाइकस बन्गालेंसिस
2. अजितनाथ	सप्तपर्ण	चितवनसप्तपर्णी	सप्तपर्ण	एलस्टोनिया स्कोलेरिस
3. संभवनाथ	शाल	शाल	साल, साखू	शोरिया रोबस्टा
4. अभिनन्दननाथ	सरल	असन	चीड़	पाइनस राक्सबर्घाइ
5. सुमतिनाथ	प्रियंगु	पियंगु	प्रियगु	केलीकार्पा मेक्रोफिला
6. पद्मनाथ	प्रियगु	प्रियगु	पियगु	केलीकार्पा मेक्रोफिला
7. सुपार्श्वनाथ	शिरीष	शिरीष	सिरसा	अलबिजिया लीबेक
8. चन्द्रप्रभ	नागवृक्ष	नाग	नागकेसर	मेसुआ फेरिया
9. पुष्पदन्त	अक्ष	बहेड़ा	बहेड़ा	टरमिनेलिया बलेरिका
10. शीतलनाथ	धूलिपलाश	बेल	ढ़ाक, पलाश	ब्यूटिया फ्रंडोसा
11. श्रेयान्सनाथ	तेंदू	तेंदू	तेंदू	डायोस्पाइरस इंब्रायोप्टेरिस
12. वासुपूज्य	पाटल	कदम्ब	कदम्ब	एन्थोसिफेलस कदम्बा
13. विमलनाथ	जम्बू	जम्बू	जामुन	यूजीनिया जेम्बोलैना
14. अनन्तनाथ	पीपल	पीपल	पीपल	फाइकस रैलीजियोसा
15. धर्मनाथ	दक्षिपर्ण	दधिपर्ण	कैथा	फेरोनिया एलीफैण्टम
16. शान्तिनाथ	नन्दी	नन्दी	नन्दी	सिड्रैला तूना
17. कुन्थुनाथ	तिलक	तिलक	तिलक	वेन्डलेन्डिया एक्सर्टा
18. अरहनाथ	आम्र	आम्र	आम	मैन्जीफेरा इण्डिका
19. मल्लिनाथ	कंकेलि / अशोक	अशोक	अशोक	सराका इण्डिका
20. मुनिसुव्रतनाथ	चम्पक	चम्पा	चम्पा	मइकेलिया चम्पाका
21. नमिनाथ	बकुल	बकुल	मौलश्री	माईमुस्पोस एलेन्जी
22. नेमीनाथ	मेषश्रृंग	वंश	गुड़मार	जिम्नेमा सिल्वेस्टर
23. पार्श्वनाथ	धव	देवदारु	देवदार	सीड्रस देवदारा
24. महावीर	शाल	साल	साल	शोरिया रोबस्टा

पर्यावरण संरक्षण में सतत् रूप से समृद्ध तीर्थंकर चिह्न एवं तीर्थंकर वृक्ष भारतीय-संस्कृति में पूरी तरह से रच-पच कर भारतीय जीवन पद्धति के अंग बन गए हैं। भारतवर्ष सघन वन तथा वन्य प्राणियों की प्रचुरता के लिए विख्यात रहा है। तीर्थंकरों ने अपने चिह्नों और वृक्षों के माध्यम से प्रकृति से अपना जीवंत सम्पर्क बनाये रखा है। आज आवश्यकता है कि इस जीवन्त इतिहास को विश्व के समक्ष पुनः उद्घाटित किया जाए।

तीर्थंकर चिह्न-समूह और तीर्थंकर वृक्ष समूह अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के पर्यावरनण की अनुभूति का प्रवाहीस्रोत है। चिह्नों और वृक्षों की यह चौबीसी प्रकृति, वनस्पति, पशु एवं पक्षी जगत् की महत्त्वपूर्ण अभयवाटिका है। इस अभयवाटिका से शान्ति का शाश्वत निर्झर प्रवाहित हो रहा है।

मनुष्य की सामान्य इच्छाओं की पूर्ति प्रकृति द्वारा बिना किसी कठिनाई के पूरी की जा सकती है, किन्तु जब इच्छा बहुगुणित होकर कलुषित हो जाती है, तब उसे पूरी करना प्रकृति के लिए कठिन हो जाता है। मनुष्य की यह बहुगुणित इच्छा ही प्राकृतिक संकटों की जननी है। इसी कलुषित एव बहुगुणित इच्छा की तुष्टि के फलस्वरूप पर्यावरण तहस-नहस हो जाता है। वायु, जल, ध्वनि एवं दृश्य प्रदूषित हो जाते हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति की इच्छा बहुगुणित और कलुषित होती जाती है, उसकी संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। उसका मन, चित्त, धवलता के स्थान पर कालिमा ग्रहण कर लेता है। आइये, हम कालिमा के पथ को छोड़कर धवलता के पथ पर अग्रसर हों और अपने पर्यावरण का संरक्षण एवं सवर्द्धन करें।

बहे आँसुओं की धार

दिनाँक - २-१२-०४ स्थान सरस्वती भवन

पूज्य मुनिश्री का विदाई समारोह। सरस्वती भवन खचाखच भरा हुआ था। सभी आँखें गमगीन थी। एक-एक कर वक्ताओं को आमन्त्रित किया जा रहा था। डॉ. ललताप्रसाद खरे पहले वाक्य के साथ ही भावविह्वल हो गये। श्री पुष्पेन्द्रसिंह ने अटकते-अटकते अपनी भावांजलि दी। निर्मल जी ने मुनिश्री की जय बुलाई और इसके बाद उनका कंठ रुद्ध हो गया। चुपचाप मुनि श्री को नमोऽस्तु कर अपने स्थान पर बैठ गये।

जैन कर्मवाद : तत्त्वार्थसूत्र

* प्रो. लक्ष्मीचन्द जैन

भारतीयदर्शन-जगत् में माया और कर्म अत्यन्त गहन प्रत्यय हैं। भारतीय विचारधारा प्रभाव से ही कर्मवाद का प्रबल समर्थन करती रही है। जो जैसा बोता है वह वैसा ही काटता है। कर्म के तीन रूप संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण माने जाते रहे हैं। पुनर्जन्म का आधार भी कर्म माना गया है। भारतीयों का भाग्यवाद भी मूलत: कर्मवाद पर आधारित किया गया है। कर्म के फल प्रदाय के सम्बन्ध में दो मत पनपे- एक मत ईश्वरवादी तथा दूसरा मत निरीश्वरवादी प्रचलित हुआ। इस सम्बन्ध में मीमांसा, गीता, वेद, उपनिषद् ग्रन्थों में कर्म सम्बन्धी विवेचन मिलते हैं। दार्शनिक सम्प्रदाय मे कर्मवाद विशेष रूप से विकसित हुआ। *जैनदर्शन, बौद्धदर्शन, न्यायदर्शन सूत्र, सांख्यदर्शन, पतंजलि योगशास्त्र, मीमांसा* तथा गीता में कर्मवाद सम्बन्धी तथ्य विशेष रूप से वर्णित हैं। यह वाद सिद्धान्त रूप में भी विकसित किया गया। यहाँ तक कि दिगम्बर जैन महर्षियों, आचार्यो ने कर्मवाद को गणितीय आधार देने का अप्रतिम प्रयास किया जो आगे जाकर गणितीय समीकरणों के रूप में यथाविधि निर्मित गणितीयप्रतीकों, संदृष्टियों के द्वारा अनेक रहस्यों को खोलता चला गया।

जैन कर्मवाद के विस्तृत एवं गहरे विकास को जब सिद्धान्त रूप में ढाला गया जो गणितीय प्रतीकों से भरपूर था, तब उसका अध्ययन किनारा कर गया। दो, दो शताब्दियों के अन्तराल में गणितीय प्रतिभा सम्पन्न आचार्य ही उस पर टीकाएँ निर्मित करते चले गये, जिनमें नवीं सदी के वीरसेनाचार्य की धवल, जयधवल टीकाएँ हैं, जो बत्तीस जिल्दों में है। हमें उपलब्ध हो सकीं, शेष काल के गाल में समा गयीं। ये टीकाएँ ईसा की प्रथम सदी के आसपास रचित षट्खण्डागम एवं कषायप्राभृत ग्रन्थों पर रची गयी थीं। महाधवल कहलाने वाला महाबंध ग्रन्थ भी इसी प्रथम सदी में भगवन्त भूतबलि द्वारा रचा गया था, जिनके ज्येष्ठ आचार्य पुष्पदन्त थे और दोनों ही घनाक्षरी तथा हीनाक्षरी विद्याओं को सिद्धहस्त किये हुए थे। महाबंध भी सात जिल्दों में प्राप्य है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त का विशेष अंश इन उनतालीस जिल्दों की आधुनिक सामग्री रूप में है।

इस प्रकार इस गणितीय कर्मवाद को, जिसे यूनिवर्सल अध्ययन हेतु निर्मित किया गया, आज के किसी भी आधुनिकतम वैज्ञानिक सिद्धान्त के समक्ष रखने योग्य है। इसमें ही प्रवेश करने हेतु, आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् हुए आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की। इस प्रकार, यह तत्त्वार्थसूत्र परम्परा से न केवल मुनिवर्ग या श्रावकवर्ग के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ, वरन् वह एक अत्यन्त पूज्यनीय, पठनीय, स्मरणीय, साधना आदि के बड़े महत्त्व को भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र की रचना का प्रयोजन, अभिप्राय, प्रेरणा व लक्ष्य सिद्ध हुआ। गणितीय वस्तु जिस कर्मवाद को सिद्धान्त रूप में लाया गया, उसे सरल दार्शनिक शब्दों में आधारशिला रूप रचित किया गया।

दूसरा ही सूत्र, **तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्** में तत्त्व ही सर्वनाम का भाव है। जो भी कोई पदार्थ जिस रूप से

* 554, दीक्षा ज्वैलर्स, सराफा बाजार, जबलपुर

अवस्थित है, उसका उसी रूप होना तत्त्व है। अर्थ वह है जो निश्चय किया जाता है। साथ ही किसी पदार्थ (विषय या वस्तु) के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के प्रमाण आदि को भी अर्थ कहते हैं। इसी अर्थ को लेकर प्रमाण रूप गणितीय संदृष्टियाँ बनाई गईं जिन्हें अर्थसंदृष्टियाँ कहते हैं। इनका स्वरूप मुनि केशव वर्णी की गोम्मटसार की कर्णाटवृत्ति जीवतत्त्वप्रदीपिका में दृष्टव्य है, जो भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से चार भागों में प्रकाशित हुई है। केवलज्ञान की अर्थ संदृष्टि के, पल्य की प, सूच्यंगुल की 2 आदि होती है। इन संदृष्टियों से अर्थ, अंक और आकार रूप होती हैं, सूत्र या फार्मूला, समीकरण आदि बनाते हैं और इस प्रकार कर्मवाद का स्वरूप बड़ी गहराईयों तक आने के लिए उनका उपयोग करते हैं। यथा - (Log P) अं = प गुणित प ...... पल्य के अर्द्धच्छेद बार जिसे आज के आधुनिक रूप में हम F = (P) = रूप में लिख सकते हैं। यहाँ (Log_2P) घात के रूप में है। यानी सूच्यंगुल के प्रदेशों की संख्या पल्य के समयों के द्वारा निरूपित की गई है - यह उपमा मान का प्रारम्भ मात्र है।

कर्म के ऐसे गणितीय विज्ञान को निर्मित करने हेतु या श्रुत के सूत्रों को लिपिबद्ध करने हेतु दीक्षित मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त (प्रभाचन्द्राचार्य) ने अपने परम गुरु आचार्य भद्रबाहु के सानिध्य में ब्राह्मी, सुन्दरी लिपियों या घनाक्षरी, हीनाक्षरी विद्याओं या लिपियों को भाषा व गणित रूप कर्म सिद्धान्त को देने के लिये बारह वर्ष तक उल्लेखनीय प्रयास किये होंगे। अशोक को अपने पितामह से जब इस लिपि की प्राप्ति हुई तो भारत में प्रथम बार, सिन्धु हड़प्पा की सभ्यता के बाद, शिलालेख बनना प्रारम्भ हुआ होगा। इसी समय से भारत के श्रुति, स्मृति रूप ज्ञान लिपिबद्ध होना प्रारम्भ हुए। इस प्रकार ब्राह्मी लिपि के आविष्कार की आवश्यकता का इतिहास भारत में इस कर्मवाद के स्वरूप को यह रूप देने हेतु सुन्दरी लिपि से भी सम्बन्धित है। भाषा बाँए से दाहिनी ओर तथा गणित दाहिनी से बाँए ओर लिखी जाने का संकेत किवदंतियों द्वारा प्रकट किया जाने लगा।

एक और महत्त्वपूर्ण खोज शून्य को दसार्हा पद्धति में प्रयोग किये जाने सम्बन्धी हैं। उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र रचने के पूर्व कुन्दकुन्दाचार्य षट्खण्डागम के प्रथम कुछ अध्यायों पर परिकर्म नामक गणित से ओतप्रोत टीका लिख चुके थे जो अब अनुपलब्ध हैं। न केवल वीरसेनाचार्य वरन् नेमिचन्द्राचार्य ने इसका उल्लेख किया है। तिलोयपण्णत्ती में बड़ी-बड़ी करणानुयोग या द्रव्यानुयोग सम्बन्धी बड़ी संख्याएँ दसार्हा पद्धति में लिखी मिलती है। हो सकता है कि इस पद्धति का उपयोग या आविष्कार कुन्दकुन्दाचार्य ने किया हो, क्योंकि उनका महत्त्व तथा गणितीय प्रतिभा से प्रभावित अनुयायियों ने यह कहा है -

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

उनका नाम सीधे गौतम गणधर के बाद अवतरित होना एक विलक्षणता है। महाबंध में शून्य का उपयोग रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए किया गया है, जो एक संकेत देता है कि 9 के बाद के रिक्तस्थान शून्य द्वारा भरा जाये और 10 से यह कार्य प्रारम्भ हुआ होगा। उमास्वामी ने भी दस अध्यायों में तत्त्वार्थसूत्र को सम्पन्न किया। जो भी सामग्री कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में सुरक्षित रखी गयी होगी, उसी की भूमिका रूप, सार रूप, दिग्दर्शिनी रूप यह तत्त्वार्थसूत्र की रचना हुई होगी, जिसमें कर्म बन्ध, संवर, निर्जरा आदि तथा कर्म की दस अवस्थाएँ साररूप में वर्णित की गयी होंगी।

यदि इन अवस्थाओं में गहरी पहुँच करना हो, तथा श्रुतसंवर्द्धन का सारभूत लाभ प्राप्त करना हो तो मुमुक्षु को, प्राय: विगत सौ वर्षों में विकसित सिस्टम थ्योरी का गहन अध्ययन करना होगा। उसमें आधुनिकतम सभी प्रकार की गणितों का प्रयोग और उपयोग किया गया है। इसी प्रकार विगत दो सौ वर्षों में नियन्त्रण सिद्धान्त भी विकसित किया गया है, और इन दोनों विज्ञानों, सिस्टम थ्योरी और सायबर्नेटिक्स, का उपयोग कम्प्यूटर तथा सूचना संचार आदि में किया गया है। स्थिति रचना यन्त्र जैसी अनेक प्रकार की व्यूह रचनाओं द्वारा ये सिद्धान्त अपनी चरम सीमाओं तक पहुँचकर विश्व की जीवन शैली को बदल रहे हैं। इनमें कर्म सत्त्व की उपमा स्टेट से, कर्मास्रव की उपमा इनपुट से, कर्मबन्ध की उपमा सम्बन्धों से, कर्मनिर्जरा की उपमा आउटपुट से कर उसकी गणितीय विधियों को उसी प्रकार कर्म सिद्धान्त के रहस्यों को निखारने व खोजने में कर सकते हैं।

यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है, कि कुछ शताब्दियों पूर्व से अल्पतम तथा अधिकतम मानों का प्राप्त करने के लिये वैज्ञानिकों द्वारा महान् प्रयास किये गये। कर्मवाद ग्रन्थों में अल्पबहुत्व अनेक स्थलों पर निकालकर बतलाये गये हैं। विज्ञान में अल्पतम समय, दूरी, कर्म आदि सम्बन्धी गणनाएँ की गयीं तथा भौतिकी में विचरण सिद्धान्तों की चरम सीमाओं तक पहुँचकर प्रकृति के बलों, क्षेत्रों आदि सम्बन्धी समीकरण स्थापित किये गये। जिस प्रकार कर्म को वैज्ञानिकों ने तथा आईस्टाइन आदि प्रसिद्ध भौतिकशास्त्रियों ने गणितीय स्वरूप दिया और एतद् सम्बन्धी समीकरणों द्वारा विज्ञान जगत् में अभूतपूर्व रहस्यों का उद्घाटन करने विधियाँ विकसित कीं, उसी प्रकार जैनाचार्यों ने कर्म को गणितीय स्वरूप दिया, उसकी अवस्थाओं को गणितीय स्वरूप दिया, यहाँ तक कि संदृष्टियों के द्वारा समीकरण, असमीकरण व अल्पबहुत्व का उपयोग करते हुए सीमाएँ निर्धारित कर ली थीं।

आइन्सटाइन ने कहा भी है 'सभी अन्य विज्ञानों से ऊपर गणित को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त होने का एक कारण यह भी है कि जहाँ उसकी प्रतिज्ञप्तियाँ यथार्थ रूप से निश्चित और विवादरहित होती हैं, वहीं अन्य विज्ञानों की कुछ सीमा तक विवादास्पद होती है तथा नये आविष्कृत तथ्यों द्वारा निरस्त किये जाने के सतत् संकट में होती हैं। गणित के उच्च सम्मान का दूसरा कारण यह है कि गणित के द्वारा शुद्ध प्राकृतिक विज्ञानों में जिस किसी सीमा तक जो निश्चितता प्रविष्ट हुई पायी जाती है वह गणित के बिना उपलब्ध नहीं हो सकती थी।' - आइडियाज एण्ड ओपिनियन्स, 1954, लंदन।

अल्पतम समय या दूरी आदि सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने में कार्यकारण की एक ही युगपत् समय में उपस्थिति का वैज्ञानिकों को उपयोग में लाना पड़ा। साधारणत: विचार किया जाता है कि इनमें कम से कम एक समय का अन्तर तो होना ही चाहिये, परन्तु यह इस अल्पतम को निकालने में प्रयुक्त विचरण के सिद्धान्तों (Variational Principles) को मान्य नहीं है जो प्रकृति का ही चुनाव रूप या धर्म रूप माना जाने लगा तथा इसे Toleology की उपाधि दी गयी। इसी प्रकार जैन कर्मवाद में एक ही समय में जीव और पुद्गलों के बीच होने वाली अंतरक्रियाएँ मान्य होती हैं। यह विलक्षणता किस प्रकार जैनाचार्यों ने प्रकृति के रहस्यों को खोज करते हुए कीं यह आश्चर्यजनक तथ्य है।

आगे भी तत्त्वार्थसूत्र में कर्मबन्ध, संवर, निर्जरादि सम्बन्धी दिशामात्र वा संकेतमात्र में कुछ गणितीय प्रमाणों को सूत्रों में निबद्ध किया गया था। जम्बूद्वीप का एक लाख योजन का व्यास, दो चन्द्र, दो सूर्य, उनकी ऊँचाईयाँ आदि आज के विज्ञान से मेल नहीं खाते दिखाई देते हैं, परन्तु उन्हीं के द्वारा जो गणनाएँ की जाती थीं या हैं, वे आज के आधुनिक विज्ञान के परिणामों से मेल खाते हैं, जहाँ तक माध्य आनुमानिक गणनाएँ होती हैं। ऊँचाईयाँ वस्तुत: कोण हैं जो खगोलीय त्रिकोणमिति के जानकार भलीभांति समझते हैं।

इसी प्रकार कर्मप्रकृतियों के वर्णन मे प्रदेश, स्थिति तथा अनुभाग वस्तुत: गणितीय प्रमाणों से ओतप्रोत हैं जो चर-राशियाँ हैं तथा बलों के प्रयोग से या करणों के प्रयोग से, योग या कषायों से किस प्रकार परिवर्तित होती हैं, इनके गणितीय विवेचन को कितनी सरलता से तत्त्वार्थसूत्र में लाया गया है, वह वस्तुत: मोक्ष की सीढ़ी का पहला पायदान है। उसी दिशा में बढ़ते जाना है, किन्तु गणनाओं द्वारा अपनी स्थिति का पूरा-पूरा ख्याल रखते हुए, चेतना-जागृति की अवस्था को कायम-अवस्थित रखते हुए, बड़ा कठिन प्रतीत होता है। इस जागृत अवस्था में चेतक अपने पारिणामिक भावों में बहता है, और वह बुद्धि वा प्रज्ञा, दोनों को कर्म विज्ञान समझने में लगाता है।

यदि हम कर्म की इन प्रकृतियों में विज्ञान की उपलब्धियों को देखना चाहें तो हम पायेंगे कि इनके उपशम व क्षयोपशम के माध्यम से निम्न प्रकार के विज्ञानों की ओर विश्व के कदम बढे होंगे। यथा -

दर्शनावरणीय - दूरदर्शन, रेडियो, इलेक्ट्रानिक्स, रसायन, सुगन्धविज्ञान. आदि

ज्ञानावरणीय - सूचनातत्र, कम्प्यूटर, सिस्टम व सायबरनेटिक्स सिद्धान्त आदि

मोहनीय - मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान आदि, मस्तिष्क विज्ञान आदि

अन्तराय - सैनिकादि बल प्रयोग, पर्यावरण, नेनोविज्ञान आदि

नामकर्म - जिनेटिक्स (जननविज्ञान), क्रोमोसोम, जीन, डी. एन. ए. आदि

गोत्र - आनुवंशिकी, वशानुक्रम, हेरिडिटी आदि

वेदनीय - पैथालॉजी, मेडिकल साइसेज, सर्जरी आदि

आयु - सायटालाजी (कोषिका विज्ञान), पुरातत्त्व, ज्योतिष, बायोलॉजी आदि

सबसे अधिक विस्मयकारी तथ्य यह है कि जैन कर्मवाद में गणितीय प्रमाणो को देते हुए जहाँ कही भी सम्भव हुआ है वहाँ गणितीय न्याय या दर्शन का उपयोग किया गया है। यह विशेषकर चौदह धाराओं में, जो त्रिलोकसार मात्र में उपलब्ध है, गहराई से किया गया प्रतीत होता है। यतिवृषभाचार्य की तिलोयपण्णत्ती तथा वीरसेनाचार्य की धवलादि टीकाओं में भी यह देखने में आया है। बरट्रेण्ड रसैल ने यूनानियों के दर्शन के अध्ययन करते हुए यह पाया कि वे, गणितीय दर्शन की ओर पिथेगोरस काल या युग से बढ़ते दिख रहे थे, किन्तु वे अनन्तों के अल्पबहुत्व तक न पहुँच सके थे। यह श्रेय जर्मनी के जार्ज केण्टर को नवी सदी मे प्राप्त हुआ जिनकी राशि सिद्धान्त में रसैल ने केवल एक अन्तर्विरोध दिखाकर गणित की आधारशिलाओं को हिला दिया था। इसी कारण बीसवीं सदी के प्रारम्भ से गणितीय दर्शन की खोज चल पडी और गणित में राशि सिद्धान्त को लेकर नई आधारशिलाएँ, क्रमश: रसैल, ब्रोवर और हिलबर्ट ने डालना प्रारम्भ कीं। आज भी भौतिकी मे तीन प्रकार के अनन्तों का उपयोग, जो एक से बढ़कर एक हैं, अणुविज्ञान में किया जा रहा है।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र एक छोटा सा झरोखा है, जिसमें से हम कर्मवाद की आधारशिलाओं को सरलतम भाषा से समझ सकते हैं। उस कर्मवाद की अपार सामग्री को, जो विद्यानुवाद के पूर्वों में दी गई थी, उसका मात्र एक अत्यल्प अंश हम धवलादि टीकाओं या गोम्मटसार या लब्धिसार की टीकाओं में पाते हैं। साथ ही, जब देखते हैं कि यह झरोखा कर्म के नाश होने पर ही मोक्ष की मजिल तक ले जाता है, तब प्रश्न खड़ा होता है कि कर्म को बड़ी गहराई से समझा जाये कि हम किस प्रकार के कर्म में लिप्त हैं - वह पाप या पुण्य रूप है - लोहे या सोने की बेड़ी रूप है - तो उस बेड़ी के बंधन को बढ़ाया जाय, जाल जैसा, या घटाया, दबाया या काटा जाये। यहाँ से उस गणित का प्रारम्भ होता है जिसमें ऐसे कारण

होते हैं जो कर्म वस्तु को उत्पन्न करने वाले होते हैं और उनका विनाश करने वाले भी होते हैं। जो कर्म का विनाश आदि करने वाले होते हैं वे विशुद्धि नामक परिणामों की गणित से सम्बन्ध रखते हैं, जिसे हम धर्म के नाम से पुकारते हैं। कर्म सम्बन्धी ज्ञान की सीमाएँ निहित हैं परन्तु धर्म से उत्पन्न उपलब्धियाँ असीम, अखण्ड, चिरस्थायी, अनन्तदर्शन, ज्ञान, बलवीर्य या सुख लिये हुए होती हैं। गणितीय प्ररूपण में हम इन सभी को विशुद्धि रूप परिणामों के गणित द्वारा प्रकट रूप में बतला सकते हैं। जो मार्ग कर्म का है - क्रोधादि को लिये हुए है, क्रूर है, उसके विपरीत धर्म आदि का मार्ग क्षमादि गुण लिए हुए मृदु वा करुणा से ओतप्रोत है। इन सभी की इकाइयाँ हैं, पुद्गल द्रव्य या भाव के प्रमाणों से, कर्म के द्रव्य या भाव प्रमाणों से तथा जीव के द्रव्य वा भाव प्रमाणों से ओतप्रोत हैं तथा उनके बीच जो सम्बन्ध गणित द्वारा प्रकाश में आते हैं वे सभी एक विलक्षण -कम्प्युटर के द्वारा भी निर्दिष्ट किये जाने में अति कठिन पहेलियाँ सामने लाते हैं। इतना सारा न्यास (डाटा) किस प्रकार की क्षमता वाले कम्प्यूटर में लाया जा सकेगा, वह अणुविज्ञान की कठिनतम समस्याओं से भी आगे है। जैसे डी. एन. ए., आर. एन.ए. आदि की विशाल शृंखलाएँ भिन्न-भिन्न जीवों में भिन्न-भिन्न प्रकार से बनती चली आई हैं या बनती चली जायेंगी, वह आश्चर्यजनक रूप अलग-अलग जीवों के सत्त्व रूप में स्थितिरचना यंत्र में या टेन्सर रूप समीकरण में समयप्रबद्ध रूप में देखी जा सकती है। डी.एन.ए. को जीवन की कुंजी माना जाता है, वैसे ही नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों द्वारा जीवन की संरचना पहिचानकर एक नई विमा में, विधा में, पहुँचा जा सकता है। जब भी असाता वेदनीय कर्म का उदय, उदीरणा रूप आता है तभी समझ लें कि डी.एन.ए. आदि के कार्य में कोई विकार आया है, और उस समय, जैसे आज डी.एन.ए. को जिनेटिक इंजीनियरिंग द्वारा काटकर नये अविकृत डी.एन.ए. की शृंखला पेस्टकर बीमारियों को दूर करने के प्रयास चल रहे हैं, उसी प्रकार जैनकर्मवाद में भी जीवन की कुंजी को विशुद्धि रूप सातावेदनीय परिणामों की उत्पत्ति कर असातावेदनीय को हटाने का उपक्रम सीखा जा सकता है।

जहाँ बन्ध के कारण के लिए अष्टम अध्याय तत्त्वार्थसूत्र (8/1) में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को हेतु माना जाता है, वहाँ हमें कषाय और योग के गणितीय रूप मिलते हैं। शेष का गणितीय रूप शोध का विषय बनता है। विभिन्न प्रकृतियों के स्थिति बन्ध के उत्कृष्ट और जघन्य प्रमाण किस आधार पर निश्चित किये गये, यह भी शोध की प्रेरणा देता है। बन्ध का लक्षण सूत्र (8/2) में दिया गया है। समस्त लोक में कार्मण जाति की वर्गणाएँ भरी हुई हैं, तथा समस्त जीवों के साथ प्रकृत्या एक क्षेत्रावगाही हैं, उनका कषाय के सानिध्य में जो विशिष्ट सम्बन्ध हो जाता है वही बन्ध कहा जाता है। फिर उन बद्ध कर्मों के उदय में कषाय होती है, फिर बन्ध होता है, इसी परम्परा को संसार कहते हैं। स्मरण रहे कि कषाय की इकाई को कर्म परमाणुओं के अनुभाग के आधार पर तय किया जाता है, किन्तु योग की इकाई को आत्मा के प्रदेशों के परिस्पन्द से गणितीय रूप में निर्धारित किया जाता है। कर्मों के आठ मूल प्रकार हैं और उनके उदय से तदनुसार उन कर्म प्रकृतियों के संवेदनादि होते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र (6/1) में आत्मा के प्रदेशों के परिस्पन्द को (हलन-चलन को) योग कहा गया है। आत्मप्रदेश परिस्पन्द मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के निमित्त से होता है। इस कारण निमित्त कारण में कार्य का उपचार करके शरीर मन की क्रिया को योग कहा गया है। (6/2) के अनुसार योग के निमित्त से कर्मों का आस्रव होता है, अतः योग को आस्रव कहा गया है। नवम अध्याय के प्रथम सूत्र में कर्मों के आस्रव को रुक जाने को संवर कहा गया है जिसके कारण (9/2) में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय व चारित्र रूप भावों द्वारा बतलाया गया है। यहीं आगे तप के द्वारा निर्जरा भी होना बतलाया है। आगे बाह्यतप और आभ्यन्तरतप के भेद-प्रभेद बतलाये गये हैं। अन्तरंग तप में अन्तिम

प्रकार ध्यान कहा गया है जिसके धर्मध्यान व शुक्लध्यान के रूपों में पहुँचने पर कर्म ध्यानाग्नि के कारण तथा ज्ञान धौंकनी के प्रयोग से जला देना, विनष्ट कर देना, एक ऐसी प्रक्रिया है जो आत्मा को कर्मबन्ध से मुक्त करती है।

लब्धिसार में इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को गणितीय रूप दिया गया है जो जयधवला या कषायप्राभृत का सार रूप गणितीय विधा को सम्मुख लाता है। बुद्धि और प्रज्ञा, दोनों का अप्रतिम प्रयोग किया गया है, क्योंकि बुद्धि का कार्य बीजगणित सम्हालती है और प्रज्ञा का कार्य संख्यात अंकगणित तथा आकार रूप गणित सम्हालती है। इस प्रकार इन ग्रन्थों में कर्मों के बन्ध का, कर्मों के उपशम, क्षयोपशम, क्षय, गुणस्थानों आदि के सम्बन्ध सम्मुख रखते हुए गणितीय प्रमाण दिये गये हैं। गुणस्थानों का सम्बन्ध तदवस्थित जीव के भावों व परिणामों से जोड़ा जाता है - ये क्षायिक, क्षायोपशमिक वा औपशमिक भावों के प्रभावों रूप होता है तथा गणितीय अध्यात्मवाद की ओर ले जाता प्रतीत होता है। इस प्रकार कर्मवाद का गणित अनेक विमाओं पर आधारित होता है, जो आधुनिक जीवविज्ञान, रसायनविज्ञान, भौतिकविज्ञान आदि के सयुक्त रूप से प्रवर्तित गणितीय रूप से भी आगे ले जाता है। जो भी हो, यह अध्ययन अत्यन्त लाभदायी हो सकता है।

आधुनिक सभ्यता चाहे जितने आगे निकल गई हो, किन्तु प्रकृति के प्रकोपों से बचाने में, मृत्यु को जीतने में, मानवीय सम्बन्धों को प्रिय बनाने में सफल नहीं हो सकी है। यही कारण है कि धर्म उद्भावना प्रत्येक व्यक्ति को प्रेरित करने की ओर कभी मिट नहीं सकती है। हो सकता है कि कर्म और धर्म के भेद को यथोचित रूप से समझने में भ्रम हो, अतः कर्म वा धर्म के गणितीय रूप की ओर बढ़ने में जो सकेत हमें तत्त्वार्थसूत्र में प्राप्त होते हैं उनको विशेष रूप से विवेचित किया जाना आवश्यक है। पर्युषणपर्व के समय या शिविरों में इन प्रमुख गणितीय रूपों को मात्र श्रद्धा का विषय न बनाकर ऊहापोह विवेचना का विषय आधुनिक वैज्ञानिक विधाओं के सम्मुख रखते हुए शकाओं का समाधान करना कल्याणप्रद होगा।

यह समाज के लिए अद्वितीय सौभाग्य की बात है कि पूज्य मुनिपुगव श्री 108 प्रमाणसागर द्वारा तत्त्वार्थसूत्र के ऐसे ही विशाल अध्ययन की ओर विद्वानों को तथा जनसामान्य को प्रेरित किया गया है। ऐसे ही उद्देश्यों को लेकर उनके द्वारा अनेक नगरों मे जो प्रेरणास्पद क्रिया कलाप प्रारम्भ किये गये है, वे एक नये इतिहास के निर्माण का संकेत दे रहे हैं। यही मार्ग सम्यग्दर्शन की ओर ले जाता हुआ दृष्टिगत हो रहा है, जिसके असहाय पराक्रम को प्राप्त करने की आज अपरिहार्यता अनुभव में आ रही है। तभी संयम आदि धार्मिक चारित्र परिपूर्णता की ओर अग्रसर हो सकेंगे तथा उन्हें निश्चित ही ज्ञान की जड़ें सुदृढ़ संकल्पों के दायरे में ले जा सकेंगी। सन्तशिरोमणि गुरुदेव पूज्य श्री 108 आचार्य विद्यासागर जी के साये में इस संसार सागर में, ऐसी ही संगोष्ठियों या शिविर प्रक्रिया प्रकाश स्तम्भ का कार्य सम्हाल सकेंगी।

कर्म-बन्ध की प्रक्रिया

* ब्र. जिनेश जैन, प्रतिष्ठाचार्य

जैनदर्शन के सात तत्त्वों में से आदि के दो तत्त्व अर्थात् जीव और अजीव तत्त्वों का निरूपण प्रमुख रूप से किया जाता है। यथार्थतया इनका ही विस्तार शेष तत्त्वों का अस्तित्व पैदा करता है। अजीव तत्त्व से ही क्रमशः आस्रव और बन्ध नामक तत्त्वों स्वरूप ग्रहण करते हैं। इनका ही विशेष विवरण यहाँ अपेक्षित है, चूंकि यह विषय कर्म-सिद्धान्त का है, अतः इसे आधुनिक भाषा में जैन मनोविज्ञान भी कह सकते हैं।

आस्रव

कर्मों के आगमन को 'आस्रव' कहते हैं।[१] जैसे नाली आदि के माध्यम से तालाब आदि जलाशयों में जल प्रविष्ट होता है, वैसे ही कर्म-प्रवाह आत्मा में आस्रव द्वार से प्रवेश करता है। आस्रव कर्म-प्रवाह को भीतर प्रवेश देने वाला द्वार है।[२] जैनदर्शन के अनुसार यह लोक पुद्गल-वर्गणाओं से ठसाठस भरा है। उनमें से कुछ ऐसी पुद्गल-वर्गणाएँ हैं जो कर्म-रूप परिणत होने की क्षमता रखती हैं, इन वर्गणाओं को कर्म-वर्गणा कहते हैं।[३] जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों के निमित्त से ये कार्मण-वर्गणाएँ जीव की ओर आकृष्ट हो, कर्म रूप में परिणत हो जाती हैं और जीव के साथ उनका सम्बन्ध हो जाता है। कर्मवर्गणाओं का कर्म रूप में परिणत हो जाना ही आस्रव है।

जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा मे मन, वचन और शरीर रूप तीन ऐसी शक्तियाँ हैं, जिनसे प्रत्येक संसारी प्राणी में हर समय एक विशेष प्रकार का प्रकम्पन/परिस्पन्द होता रहता है। इस परिस्पन्दन के कारण जीव के प्रत्येक प्रदेश, सागर में उठने वाली लहरों की तरह तरंगायित होते रहते हैं। जीव के उक्त परिस्पन्दन के निमित्त से कर्म-वर्गणाएँ कर्म रूप से परिणत होकर जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हो जाती हैं, इसे 'योग' कहते हैं।[४] यह योग ही हमे कर्मों से जोड़ता है, इसलिए 'योग' यह इसकी सार्थक संज्ञा है। योग को ही 'आस्रव' कहते हैं।[५] 'आस्रव' का शाब्दिक अर्थ है 'सब ओर से आना', 'बहना', 'रिसना' आदि। इस दृष्टि से कर्मों के आगमन को आस्रव कहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म किसी भिन्न क्षेत्र से आते हों, अपितु हम जहाँ हैं, कर्म वहीं भरे पड़े हैं। योग का निमित्त पाते ही कर्म-वर्गणाएँ कर्म रूप से परिणत हो जाती हैं।[६] कर्म-वर्गणाओं का कर्म रूप से परिणत हो जाना ही आस्रव कहलाता है।

---

१. द्रव्यसंग्रह, टीका 28,

२. तत्त्वार्थवार्तिक, 6/2/4,

३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, 3/513

१. कायवाङ्मनः कर्म योगः। - तत्त्वार्थसूत्र, 6/1

२. स आस्रवः। वही, 6/2

३. तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुतसागर, 6/2

---

* अधिष्ठाता, श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल, पिसनहारी, जबलपुर, 0761-237099।

मन, वचन और काय की प्रवृत्ति शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार की होती है। शुभ प्रवृत्ति को शुभ योग तथा अशुभ प्रवृत्ति को अशुभ योग कहते हैं। शुभ योग शुभास्रव का कारण है तथा अशुभ योग से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है।[1] विश्वक्षेम की भावना, सबका हित-चिन्तन, दया, करुणा और प्रेमपूर्ण शुभ मनोयोग है। प्रिय-सम्भाषण, हितकारी वचन, कल्याणकारी उपदेश 'शुभवचनयोग' के उदाहरण हैं तथा परोपकार, दान एवं देवपूजा आदि 'शुभकाययोग' के कार्य हैं। इनसे विपरीत प्रवृत्तियाँ 'अशुभयोग' कहलाती हैं।

आस्रव के भेद

आस्रव के द्रव्यास्रव और भावास्रव रूप दो भेद हैं। जिन शुभाशुभ भावों से कार्मण वर्गणाएँ कर्म रूप परिणत होती हैं, उसे 'भावास्रव' कहते हैं तथा उन वर्गणाओं का कर्म-रूप परिणत हो जाना 'द्रव्यास्रव' है।[2] दूसरे शब्दों में जिन भावों से कर्म आते हैं, वह भावास्रव है तथा कर्मों का आगमन द्रव्यास्रव है। जैसे - छिद्र से नाव में जल प्रवेश कर जाता है, वैसे ही जीव के मन, वचन, काय के छिद्र से ही कर्म-वर्गणाएँ आकर्षित/प्रविष्ट होती हैं। छिद्र होना भावास्रव का तथा कर्मजल का प्रवेश करना, द्रव्यास्रव का प्रतीक है।

सकषाय और निष्कषाय जीवों की अपेक्षा द्रव्यास्रव दो प्रकार का कहा गया है - 1. साम्परायिक और 2. ईर्यापथ।[3]

1. साम्परायिक आस्रव - 'साम्पराय' का अर्थ कषाय होता है। यह संसार का पर्यायवाची है। क्रोधादिक विकारों के साथ होने वाले आस्रव को 'साम्परायिक-आस्रव' कहते हैं। यह आस्रव आत्मा के साथ दीर्घकाल तक टिका रहता है। कषाय स्निग्धता का प्रतीक है। जैसे तेलसिक्त शरीर में धूल चिपककर दीर्घकाल तक टिकी रहती है, वैसे ही कषाय सहित होने वाला यह आस्रव भी दीर्घकाल अवस्थायी रहता है।

2. ईर्यापथ आस्रव - आस्रव का दूसरा भेद ईर्यापथ है। यह मार्गगामी है अर्थात् आते ही चला जाता है, ठहरता नहीं।[4] जिस प्रकार साफ-स्वच्छ दर्पण पर पड़ने वाली धूल उसमें चिपकती नहीं है, उसी प्रकार निष्कषाय, जीवन-मुक्त महात्माओं के योग मात्र से होने वाला आस्रव 'ईर्यापथ आस्रव' कहलाता है। कषायों का अभाव हो जाने के कारण यह दीर्घकाल तक नहीं ठहर पाता। इसकी स्थिति एक समय की होती है।

आस्रव के कारण

जैनागम में आस्रव के पाँच कारण बताये हैं - 1. मिथ्यात्व, 2. अविरति, 3. प्रमाद, 4. कषाय और 5. योग।[5]

1. मिथ्यात्व - विपरीत श्रद्धा या तत्त्व ज्ञान के अभाव को मिथ्यात्व कहते हैं। विपरीत श्रद्धा के कारण शरीर आदि जड पदार्थों में चैतन्य बुद्धि, अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि अकर्म में कर्मबुद्धि आदि विपरीत मान्यता/प्ररूपणा मानी जाती है। मिथ्यात्व के कारण जीव को स्व-पर विवेक नहीं हो पाता। पदार्थों के स्वरूप में भ्रान्ति बनी रहती है। कल्याणमार्ग में सही श्रद्धा नहीं होती। यह मिथ्यात्व सहज और गृहीत दोनों प्रकार से होता है।[6] दोनों प्रकार के मिथ्यात्व में तत्त्व रुचि जागृत

---

१. शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य। - तत्त्वार्थसूत्र, 6/3

२. सर्वार्थसिद्धि, 6/4

३. तत्त्वार्थसूत्र, 6/4

४. तत्त्वार्थवार्तिक, 6/4/7,

५. द्रव्यसंग्रह, गाथा 30,

नहीं होती है। जीव कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और लोक मूढ़ताओं को ही धर्म मानता है। मिथ्यात्व ही दोषों का मूल है, इसलिए इसे जीव का सबसे बड़ा अहितकारी कहा गया है।

इस मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं -

1. एकान्तमिथ्यात्व - वस्तु के किसी एक पक्ष को ही पूरी वस्तु मान लेना, जैसे पदार्थ नित्य ही है या अनित्य ही है। अनेकात्मक वस्तु तत्त्व को न समझ कर एकांगी दृष्टि बनाये रखना। वस्तु के पूर्ण स्वरूप से अपरिचित रहने के कारण सत्यांश को ही सत्य समझ लेना।

2. विपरीतमिथ्यात्व - पदार्थ को अन्यथा मानकर अधर्म में धर्मबुद्धि रखना।

3. विनयमिथ्यात्व - सत्य-असत्य का विचार किये बिना तथा विवेक के अभाव में जिस किसी की विनय को ही अपना कल्याणकारी मानना।

4. संशयमिथ्यात्व - तत्त्व और अतत्त्व के बीच संदेह में झूलते रहना।

5. अज्ञानमिथ्यात्व - जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार के कारण विचार और विवेक-शून्यता से उत्पन्न अतत्त्वश्रद्धान।

2. अविरति - सदाचार या सम्यक्चारित्र को ग्रहण करने की ओर रुचि या प्रवृत्ति का न होना अविरति है। मनुष्य कदाचित् चाहे भी तो, कषायों का ऐसा तीव्र उदय रहता है, जिससे वह आंशिक सम्यक्चारित्र भी ग्रहण नहीं कर पाता।

3. प्रमाद - प्रमाद का अर्थ होता है 'असावधानी'। आत्मविस्मरण या अजागृति को प्रमाद कहते हैं। अधिक स्पष्ट करें तो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के प्रसग में सावधानी न रखना प्रमाद है। कुशल कार्यों के प्रति अनादर या अनास्था होना भी प्रमाद है।[१] प्रमाद के पन्द्रह भेद हैं - पाँच इन्द्रिय, चार विकथा, चार कषाय, स्नेह और निद्रा।[२]

पाँचों इन्द्रियों के विषय में तल्लीन रहने के कारण राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजनकथा आदि विकथाओं में रस लेने के कारण क्रोध, मान, माया एवं लोभ इन चार कषायों से कलुषित होने के कारण तथा निद्रा, स्नेह आदि में मग्न रहने के कारण कुशल कार्यों में अनादर भाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार की असावधानी से कुशल कर्मों के प्रति अनास्था भी उत्पन्न होती है और हिंसा की भूमिका तैयार होती है। हिंसा का मुख्य कारण प्रमाद है।

4. कषाय - 'कषाय' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है 'कष् + आय'। कष् का अर्थ संसार है, क्योंकि इसमे प्राणी विविध दुःखों के द्वारा कष्ट पाते हैं, आय का अर्थ है लाभ। इस प्रकार कषाय का सम्मिलित अर्थ हुआ कि जीव को जिन भावों के द्वारा संसार की प्राप्ति हो, वे कषायभाव हैं।[३]

वस्तुतः कषायों का वेग बहुत ही प्रबल है। जन्म-मरण रूप यह संसार वृक्ष कषायों के कारण ही हरा-भरा रहता है। यदि कषायों का अभाव हो, तो जन्म-मरण की शृंखला रूप यह विष-वृक्ष स्वयं ही सूखकर नष्ट हो जाए। कषाय ही समस्त सुख-दुःखों का मूल है। कषाय को कृषक की उपमा देते हुए पंचसंग्रह में कहा गया है कि 'कषाय एक ऐसा कृषक है, जो चारों गतियों की मेड़ वाले कर्म रूपी खेत को जोतकर सुख-दुःख रूपी अनेक प्रकार के धान्य उत्पन्न करता है।'[४]

१. तत्त्वार्थवार्तिक, 8/1/6,

२. कुशलेष्वनादरः प्रमादः। - सर्वार्थसिद्धि, 8/1,

३. पंचसंग्रह, प्राकृत, 1/15,

४. कषः संसारः तस्य आयः प्राप्तयः कषायाः। - पंचसंग्रह, स्वोपज्ञ, 3/35

आचार्य वीरसेन स्वामी ने भी कषाय की कर्मोत्पादकता के सम्बन्ध में लिखा है, जो दुःख रूप धान्य को पैदा करने वाले कर्म रूपी खेत का कर्षण करते हैं, जोतते हैं, फलवान् करते हैं वे क्रोध-मानादिक कषाय हैं।[1] क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से कषाय के चार भेद हैं। इनमें क्रोध और मान द्वेषरूप हैं तथा माया और लोभ राग-रूप हैं। राग और द्वेष समस्त अनर्थों का मूल है।

5. योग – जीव के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन/प्रकम्पन या हलन-चलन होता है, उसे योग कहते हैं।[2] (योग का प्रसिद्ध अर्थ यम-नियमादि क्रियाएँ हैं, पर वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है।) जैनदर्शन के अनुसार मन, वचन और काय से होने वाली आत्मा की क्रिया कर्म-परमाणुओं के साथ आत्मा का योग अर्थात् सम्बन्ध कराती है। इसी अर्थ में इसे योग कहा जाता है। यह योग प्रवृत्ति के भेद से तीन प्रकार का है - मनोयोग, वचनयोग और काययोग। जीव की कायिक (शरीर) प्रवृत्ति को काययोग तथा वाचनिक और मानसिक प्रवृत्ति को क्रमशः वचन और मनोयोग कहते हैं।

प्रत्ययों के पाँच होने का प्रयोजन - आत्मा के गुणों का विकास बताने के लिए जैनदर्शन में चौदह गुणस्थानों का निरूपण किया गया है। उनमें जिन दोषों के दूर होने पर आत्मा की उन्नति मानी गई है, उन्हीं दोषों को यहाँ आस्रव के हेतु में परिगणित किया गया है।[3] ऊँचे चढ़ते समय पहले मिथ्यात्व जाता है, फिर अविरति जाती है, तदुपरान्त प्रमाद छूटता है, फिर कषाय और अन्त में योग का सर्वथा निरोध होने पर आत्मा सब कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करती है। इसलिए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, यह क्रम रखा गया है। यहाँ यह विशेष ध्यातव्य है कि पूर्व-पूर्व के कारणों के रहने पर उत्तरोत्तर कारण अनिवार्य रूप से रहते हैं। जैसे - मिथ्यात्व के होने पर शेष चारों कारण भी रहेंगे, किन्तु अविरति रहने पर मिथ्यात्व रहे, यह कोई नियम नहीं है। भिन्न-भिन्न अधिकरणों की अपेक्षा ही उक्त प्रत्यय बताये गए हैं।

बन्ध

कर्म रूप में बदले हुए पुद्गल परमाणुओं का जीवात्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध हो जाना बन्ध है।[4] दो पदार्थों के मेल को बन्ध कहते हैं। यह सम्बन्ध धन और धनी की तरह का नहीं है, न ही गाय के गले में बन्धने वाली रस्सी की तरह का, वरन् बन्ध का अर्थ जीव और कर्म-पुद्गलों का मिलकर एकमेक हो जाने से है। दूध में जल की तरह आत्मा के प्रदेशों में कर्म प्रदेशों का एकमेक हो जाना ही बन्ध कहलाता है।[5] जिस प्रकार सोने और ताँबे के संयोग से एक विजातीय अवस्था उत्पन्न हो जाती है, अथवा हाइड्रोजन और ऑक्सीजन रूप दो गैसों के सम्मिश्रण से जल रूप एक विजातीय पदार्थ की उत्पत्ति हो जाती है, उसी प्रकार बन्ध पर्याय में जीव और पुद्गलों की एक विजातीय अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जो न तो शुद्ध जीव में पाई जाती है, न ही शुद्ध पुद्गलों में।

इसका अर्थ यह नहीं है कि बन्धावस्था में जीव और पुद्गल कर्म सर्वथा अपने स्वभाव से च्युत हो जाते हैं तथा फिर उन्हें पृथक् किया ही नहीं जा सकता। उन्हें पृथक् भी किया जा सकता है - जैसे मिश्रित सोने और ताँबे को गलाकर अथवा

१. सुहदुक्ख बहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेइ जीवस्स। संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं विंति॥

२. दुःखं शस्यं कर्मक्षेत्रं कर्षन्ति फलवत् कुर्वन्तीति, कषायाः क्रोधमानमायालोभाः।-धवला पु 6/41

३. सर्वार्थसिद्धि, 6/1

४ अ. प्रयोजनस्य गुणस्थानभेदेन बन्धहेतुविकल्पयोजनं बोद्धव्यम्।-तत्त्वार्थवृत्ति, भास्करनन्दि पृ 453

ब. विस्तरस्तु गुणस्थानक्रमापेक्षया पूर्वोक्तं चतुष्टयं पंच वा कारणानि भवन्ति। जैनदर्शनसार, पृ. 44

५. आस्रवैरात्तकर्मणः आत्मना संयोगः बन्धः। - तत्त्वार्थाधिगम भाष्य, हरिभद्र, 1/3

प्रयोग विशेष से जल को पुनः हाइड्रोजन और ऑक्सीजन रूप में परिणत किया जा सकता है। उसी प्रकार कर्मबद्ध जीव भी अपने पुरुषार्थजन्य प्रयोग के बल से अपने आपको कर्मों से पृथक् कर सकता है।

आस्रव-बन्ध सम्बन्ध

जीव के मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के निमित्त से कार्मण वर्गणाओं का कर्म रूप से परिणत होना 'आस्रव' है तथा आस्रवित कर्म-पुद्गलों का जीव के रागद्वेष आदि विकारों के निमित्त से आत्मा के साथ एकाकार/एक रस हो जाना ही 'बन्ध' है। बन्ध आस्रवपूर्वक ही होता है। इसीलिए आस्रव को बन्ध का हेतु कहते हैं।[1] आस्रव और बन्ध दोनों युगपत् होते हैं। उनमें कोई समय भेद नहीं है।[2] आस्रव और बन्ध का यही सम्बन्ध है। सामान्यतया आस्रव के कारणों को ही बन्ध का कारण (कारण का कारण होने से) कह देते हैं, किन्तु बन्ध के लिए अलग शक्तियाँ कार्य करती हैं।

बन्ध के कारण

मूल रूप से दो ही शक्तियाँ कर्म बन्ध का कारण हैं - योग और कषाय। योग रूप शक्ति के कारण कर्म वर्गणाएँ जीव की ओर आकृष्ट होती हैं तथा रागद्वेष आदि रूप मनोविकार - कषायों का निमित्त पाकर जीवात्मा के साथ चिपक जाते हैं अर्थात् योग शक्ति के कारण कर्म-वर्गणाएँ कर्म रूप में बदल जाती हैं तथा कषायो के कारण उनका आत्मा के साथ संश्लेष रूप एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्म-बन्ध में मूल रूप से दो शक्तियाँ योग और कषाय काम करती हैं।[3]

इन दोनों शक्तियों में से कषायों को गोंद की, योग को वायु की, कर्म को धूल की तथा जीव को दीवार की उपमा दी जाती है। दीवार गीली हो अर्थात् उस पर गोंद लगी हो तो वायु से प्रेरित धूल उस पर चिपक जाती है, किन्तु साफ-स्वच्छ दीवार पर वह चिपके बिना झडकर गिर जाती है। उसी प्रकार योग रूपी वायु से प्रेरित कर्म भी कषाय रूपी गोद युक्त आत्मप्रदेशों से चिपक जाती है। धूल की हीनाधिकता वायु के वेग पर निर्भर करती है तथा उनका टिके रहना या चिपका रहना गोंद की प्रगाढ़ता और पतलेपन पर अवलम्बित है। गोद के प्रगाढ़ होने पर धूल की चिपकन भी प्रगाढ़ होती है तथा उसके पतले होने पर धूल की चिपकन भी अल्पकालिक होती है। उसी प्रकार योग की अधिकता से कर्म प्रदेश अधिक आते हैं तथा उनकी हीनता से अल्प। उत्कृष्ट योग होने पर कर्म प्रदेश उत्कृष्ट बँधते हैं तथा जघन्य होने पर जघन्य। उसी प्रकार यदि कषाय प्रगाढ़ होती हैं तो कर्म अधिक समय तक टिकते हैं तथा उनका फल भी अधिक मिलता है। कषायों के मन्द होने पर कर्म भी कम समय तक टिकते हैं तथा उनका फल भी अल्प मिलता है। इस प्रकार योग और कषाय रूपी शक्तियाँ ही बन्ध के प्रमुख कारण हैं। इसलिए जैनधर्म में कषाय के त्याग पर जोर देते हुए कहा गया है कि 'जो बन्ध नहीं करना चाहते, उन्हें कषायें भी नहीं करना चाहिए।'[4]

बन्ध के भेद

द्रव्य बन्ध और भाव बन्ध की अपेक्षा बन्ध के दो भेद किये गए हैं। जिन राग, द्वेष, मोह आदि मनोविकारों से कर्मों का बन्ध होता है, उन्हें 'भावबन्ध' कहते हैं तथा कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ एकाकार हो जाना 'द्रव्यबन्ध' है।[5] भावबन्ध ही द्रव्यबन्ध का कारण है, अतः उसे प्रधान समझकर उससे बचना चाहिए।

---

१. आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशात्मको बन्धः। - सर्वार्थसिद्धि, 1/4,

२. आस्रवो बन्धहेतुर्भवति। - जैनदर्शनसार, पृ. 44

३. तत्त्वार्थसूत्र, 8/2१. द्रव्यसंग्रह, टीका 33,

४. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 35

५. द्रव्यसंग्रह, टीका 32

द्रव्यबन्ध के भेद - द्रव्यबन्ध के चार भेद किये गए हैं - 1, प्रकृतिबन्ध, 2. प्रदेशबन्ध, 3. स्थितिबन्ध और 4. अनुभागबन्ध ।[1]

प्रकृतिबन्ध - प्रकृति का अर्थ है स्वभाव/कर्मबन्ध के समय बँधने वाले कर्म परमाणुओं में बन्धन का स्वभाव निर्धारण होना प्रकृतिबन्ध है। प्रकृतिबन्ध यह निश्चित करता है कि कर्म-वर्गणा रूप पुद्गल आत्मा की ज्ञान-दर्शन आदि किस शक्ति को आवृत्त/आच्छादित करेंगे।

प्रदेशबन्ध - बँधे हुए कर्मपरमाणुओं की मात्रा को प्रदेशबन्ध कहते हैं

स्थितिबन्ध - बँधे हुए कर्म जब तक अपना फल देने की स्थिति में रहते हैं, तब तक की काल मर्यादा को स्थितिबन्ध कहते हैं। सभी कर्मों की अपनी-अपनी स्थिति होती है। कुछ कर्म क्षणभर टिकते हैं तथा कुछ कर्म अतिदीर्घ काल तक आत्मा के साथ चिपके रहते हैं। उनके इस टिके रहने की काल-मर्यादा को ही स्थितिबन्ध कहते हैं। जिस प्रकार गाय, भैंस, बकरी आदि के दूध में माधुर्य एक निश्चित कालावधि तक ही रहता है, उसके बाद वह विकृत हो जाता है। उसी प्रकार प्रत्येक कर्म का स्वभाव भी एक निश्चित काल तक ही रहता है। यह मर्यादा अर्थात् काल की सीमा ही स्थितिबन्ध है, जिसका निर्धारण जीव के भावों के अनुसार कर्म बँधते समय ही हो जाता है और कर्म तभी तक फल देते हैं, जब तक कि उनकी स्थिति होती है। इसे काल-मर्यादा भी कह सकते हैं।

अनुभावबन्ध - कर्मों की फलदान-शक्ति को अनुभागबन्ध कहते हैं। कर्मफल की तीव्रता मन्दता इसी पर अवलम्बित है।

प्रकृतिबन्ध सामान्य है। अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म आ तो जाते हैं, किन्तु उनमें तरतमता अनुभागबन्ध के कारण ही आती है। जैसे - गन्ने का स्वभाव मीठा है, पर वह कितना मीठा है, यह उसमें रहने वाली मिठास पर ही निर्भर है। ज्ञानावरणीय कर्म का स्वभाव ज्ञान को ढाँकना है, पर वह कितना ढाँके, यह उसके अनुभागबन्ध की तरतमता पर निर्भर है। प्रकृतिबन्ध और अनुभागबन्ध में इतना ही अन्तर है।

अनुभागबन्ध में तरतमता हमारे शुभाशुभ भावों के अनुसार होती रहती है। मन्द अनुभाग में हमें अल्प सुख-दुःख होता है तथा अनुभाग में तीव्रता होने पर हमारे सुख-दुःख में तीव्रता होती है। जैसे - उबलते हुए जल के एक कटोरे से भी हमारा शरीर जल जाता है, किन्तु सामान्य गर्म जल से स्नान करने से शरीर गर्म तो होता है, पर वैसा कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसी प्रकार तीव्र अनुभाग युक्त अल्पकर्म भी हमारे गुणों को अधिक घातते हैं तथा मन्द अनुभाग युक्त अधिक कर्म-पुंज भी हमारे गुणों को घातने में उतने समर्थ नहीं हो पाते। इसी कारण चारों बन्धों में अनुभागबन्ध की ही प्रधानता है।

इन चार प्रकार के बन्धों में प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग से होते हैं, जबकि स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का कारण कषाय है।

इस प्रकार कर्मों से बँधा हुआ जीव विकारी होकर नाना-योनियों में भटकता है। कर्म ही जीव को परतन्त्र करते हैं। संसार में जो विविधता दिखाई देती है, वह सब कर्मबन्धजन्य ही है। आस्रव और बन्ध के स्वरूप को विशेष रूप से समझने के लिए कर्म-सिद्धान्त पर विचार करना आवश्यक है। उसके बिना इस विषय को समझ पाना असम्भव है।

---

१. अ. तत्त्वार्थसूत्र, 8/3, ब. पयडिट्ठिदिअणुभागा पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो। -वही, 33

ध्यान विषयक मान्यताओं का समायोजन

* डा. फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी'

विश्व की चिन्तनधारा में भारतीय चिन्तन का विशिष्ट महत्त्व है, क्योंकि उसका मूल केन्द्र आत्मा है। भारत भोगभूमि न होकर योग और कर्मभूमि है। यहाँ के ऋषि-मुनियों ने आत्मा के विकास के लिए ध्यान-योग साधना पद्धतियों को विशेष महत्त्व दिया है। जैनचिन्तकों ने आत्मविकास के अन्वेषण करने में ही अपने सारे जीवन का समर्पण किया है। जैन आगमो में आत्मा को शरीर इन्द्रिय एव मन आदि भौतिक पदार्थों से अलग एव स्वतन्त्र माना गया है। राग-द्वेषादि विकारों के कारण हमारी आत्मा ससार में परिभ्रमण करता है। इन विकारो के क्षय के लिए आचार्यो ने अनेक मार्गों की सर्जना की, जिनमें ध्यान (योग) का सर्वाधिक महत्त्व है। तीर्थकर ऋषभदेव जैनेतर साहित्य-पुराणों, वेदों में श्रेष्ठतम योगी के रूप में उल्लिखित हैं। तीर्थकर पार्श्वनाथ और महावीर द्वारा प्रतिपादित ध्यान साधना पद्धतियो के बहुत कुछ सूत्र हमें उपलब्ध आगमों में मिलते हैं। इस परम्परा के आचार्यो ने इन ध्यान-योग साधना पद्धतियों का आश्रय लेकर इस विषय पर शताधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की, ताकि प्रत्येक मनुष्य उनके ज्ञानामृत का पान करके आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होते रहें।

आचार्य धरसेन, कुन्दकुन्द, शिवार्य, वट्टकेर, उमास्वामी, पूज्यपाद, शुभचन्द्र, गुणभद्र, हरिभद्र, हेमचन्द्र, रामसेन, यशोविजय प्रभृति अनेक आचार्यो ने स्वतन्त्र रूप से योगध्यान विषय अनेक मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन करके अध्यात्म प्रथम ध्यान-योग साहित्य की श्रीवृद्धि कर इस पथ पर चलने के इच्छुक साधकों का मार्गदर्शन किया। अनेक आचार्यों की प्राकृत तथा संस्कृत आदि भाषाओं में निबद्ध आत्मानुशासन, ज्ञानार्णव, योगशतक, योगशास्त्र कृतियों काफी लोकप्रिय और प्रसिद्ध हैं, किन्तु आज भी पद्मनन्दिकृत णाणसार, योगीन्द्रकृत ज्ञानांकुश, सोमसेन त्रैविद्यकृत समाधिसार तथा बीसवीं शताब्दी के आचार्य सुधर्मसागर विरचित सुधर्मज्ञानप्रदीप जैसे अनेक ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए आज भी अप्रसिद्ध एव गुमनाम हैं।

निवृत्ति प्रधान जैनधर्म में पिछली कुछ शताब्दियों से जैनेतर विभिन्न धर्मो की धार्मिक क्रियाकाण्डों के परस्पर प्रतिस्पर्धाओं के प्रभाव से इन प्रवृत्तियों का ऐसा प्राबल्य बढ़ा कि जैनधर्म भी अछूता न रहा। इसके फलस्वरूप योग, ध्यान, सामायिक, तप आदि आध्यात्मिक ऊँचाई प्रदान करने वाली साधना की ध्यान-योग आदि पद्धतियाँ जीवन में गौण हो गई और धार्मिक क्षेत्रों में बाह्य क्रियाकाण्डों की प्रधानता बढ़ती गई।

इसलिए हमारे आचार्यों-मुनियों आदि ने समय-समय पर स्वयं गहन सयम और ध्यान साधना करके प्रायोगिक रूप में अनुभूत रहस्यों को ग्रन्थों की रचना द्वारा मूर्तरूप प्रदान करते रहे।

---

* प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी,

वस्तुत: श्रमण परम्परा ध्यान-योग साधना की मूल भित्ति पर आधारित है। इसका सबसे सबल प्रमाण है जैन तीर्थंकरों आदि की ध्यानस्थ मुद्रा। संसार के प्राय: सभी धर्मों के अपने-अपने इष्ट देवताओं की मूर्तियाँ विभिन्न मुद्राओं में देखने को मिलेंगी। यहाँ तक कि विभिन्न भाव-भंगिमाओं से युक्त लेटे, सोते, बैठे, देखते, गुस्साये, हँसते तथा शान्त आदि रूप-मुद्राओं में उनकी मूर्तियाँ देखने को मिलेंगी, किन्तु जैन परम्परा के इष्ट देवता तीर्थंकरों आदि की मूर्तियाँ चाहे पद्मासन मुद्रा में हों या खड्गासन मुद्रा में - सभी गहरे ध्यान में डूबी हुई, प्रशान्त मुखमुद्रा, नासाग्र दृष्टि एवं वीतरागता के भाव से ओतप्रोत मिलेगी, इनके अतिरिक्त नहीं। क्योंकि श्रमण संस्कृति का मूल उत्स ही ध्यान-योग साधना है। अन्य धर्म-परम्पराओं में भी यदि ध्यान योग साधना के तत्त्व हैं तो वे श्रमण संस्कृति के प्रभाव से हैं।

इसी प्रसंग में यह तथ्य भी हमें जान लेना आवश्यक है कि दार्शनिक जगत् में सांख्य-योगदर्शन को प्राय: सर्वाधिक प्राचीन दर्शन की मान्यता प्रचलित है। कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि यह दर्शन कभी श्रमण परम्परा से सम्बद्ध रहा है, किन्तु न मालूम यह दर्शन कब श्रमण परम्परा से दूर होकर वैदिक धारा से जुड गया। जबकि आज भी यह दर्शन अनेक मान्यताओं और सिद्धान्तों में वैदिक दर्शन की अपेक्षा श्रमण दर्शन के अधिक नजदीक है। इसकी अनेक चिन्तनधारायें वैदिक दर्शन के बिल्कुल विपरीत हैं। इस दिशा में तथ्यपूर्ण अनुसन्धान आवश्यक है।

तत्त्वार्थसूत्र और उसमें प्रतिपादित ध्यान विषयक अवधारणायें -

आचार्य उमास्वामी प्रणीत तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म का एक सर्वाङ्ग परिपूर्ण प्रतिनिधि शास्त्र है, जिसे जैनधर्म के सभी सम्प्रदायों को मान्य है। यह सूत्र ग्रन्थ है अत: इसमें तत्त्व का जो भी कथन शब्द में किया गया है, वह सूत्र रूप में अर्थात् संक्षिप्त शैली तथा सारगर्भित - कम से कम शब्दों में किया गया है। ईसा की प्रथम शती के आसपास के आचार्य उमास्वामी ने इसके नवें अध्याय में छह अन्तरग तपों के अन्तर्गत अन्तिम तप के रूप में 'ध्यानतप' का विवेचन सूत्र संख्या 27 से लेकर 44 तक मात्र 18 सूत्रों में ध्यान, उसके भेद-प्रभेद आदि का स्वरूप सहित विवेचन सारगर्भित रूप में किया है। मात्र इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने इस ध्यान तप की अनेक विशद व्याख्यायें प्रस्तुत की, तथा अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण किया। तत्त्वार्थसूत्र के प्रमुख व्याख्या साहित्य जैसे सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अर्थप्रकाशिका तथा बीसवीं शताब्दी के अनेक हिन्दी व्याख्याकारों ने भी 'ध्यान' का विशद विवेचन प्रस्तुत किया।

वस्तुत: ध्यान-योग है ही ऐसा प्रायोगिक विषय, जो प्रत्येक व्यक्ति की अपनी क्षमता, अपनी प्रवृत्ति तथा देश, काल, भाव आदि कारकों पर आधारित होने से इसकी विधियों और प्रकारों का निरन्तर विकास होता रहा है। इस दृष्टि से जब तत्त्वार्थसूत्र तथा अन्य प्राचीन प्राकृत आगमों का अध्ययन करते हैं तब इनमें सूत्र रूप में ध्यान-योग का प्रतिपादन पाते हैं, जबकि आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव, आचार्य रामसेन के तत्त्वानुशासन, आचार्य गुणभद्र का आत्मानुशासन तथा आचार्य हरिभद्र एवं आचार्य हेमचन्द्र आदि के अनेक परवर्ती योग विषयक शास्त्रों में ध्यान-योग एवं इसकी पद्धतियों आदि का काफी विस्तार और विकास पाते हैं। बीसवीं सदी के अन्तिम दो-तीन दशकों में तेरापंथ जैन श्वेताम्बर परम्परा के गुरुओं द्वारा विकसित 'प्रेक्षा-ध्यान' नामक ध्यान पद्धति भी जैन आगमों में ध्यान विषयक बिखरे हुए सूत्रों पर आधारित है। जो भी हो किन्तु जैनधर्म में ध्यान साधना पद्धति का मूल लक्ष्य सांसारिक सुख की प्राप्ति नहीं अपितु आध्यात्मिक विकास करते हुए मोक्ष की प्राप्ति मूल लक्ष्य है। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव (3/27-8) में कहा है कि संक्षेप रुचि वालों ने तीन प्रकार का ध्यान माना है। क्योंकि जीव का आशय तीन प्रकार का ही होता है। प्रथम पुण्य रूप शुभ आशय, दूसरा इसका विपक्षी पाप रूप आशय तथा तीसरा शुद्धोपयोग रूप आशय है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में 'तप' के बाह्य और आभ्यन्तर - ये दो भेद किये हैं। इनमें अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश - ये छह बाह्य तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान - ये छह आभ्यन्तर - इस प्रकार तप के बारह भेद हैं। तप के बारह भेदों का उल्लेख प्राय: सभी आचार-परक ग्रन्थों में है। इनके क्रम में भले ही थोड़ा अन्तर हो। इनमें भी आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत 'ध्यान' अन्तिम तप है। मुझे लगता है आचार्य उमास्वामी ने एक अनिवार्य और सजग प्रहरी के रूप में ध्यान को अन्तिम तप रखा, ताकि इसके द्वारा सभी तपों की परिपूर्णता बनी रह सके। क्योंकि बिना ध्यान के किसी भी तप की साधना अपूर्ण है।

'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से निष्पन्न ध्यान शब्द का अर्थ है चिन्तन। सामान्यत: एक विषय में चिन्तन (चित्तवृत्ति) का स्थिर करना ध्यान है। आचार्य उमास्वामी ने ध्यान की अपनी परिभाषा में ध्यान का अधिकारी, ध्यान का स्वरूप और ध्यान का समय - इन तीन बातों का समावेश करते हुए कहा है - '**उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्त-र्मुहूर्तात् ॥**' 9/27 अर्थात् उत्तमसंहनन वाले का एक विषय मे अन्त:करण की वृत्ति का स्थापन करना ध्यान है। वह अन्तर्मुहूर्त अर्थात् अधिक से अधिक 48 मिनट पर्यन्त रहता है।

संहनन के छह भेद हैं - वज्रऋषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक एव असंप्राप्तासृपाटिका संहनन। संहनन अर्थात् हड्डियों का सचय। पूर्वोक्त सूत्र मे आचार्य उमास्वामी ने सर्वप्रथम ध्यान का अधिकारी कौन ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है कि उत्तम संहननधारी ही ध्यान का अधिकारी है। क्योंकि ध्यान के लिए जितने आन्तरिक (मानसिक) बल की आवश्यकता है, उतने ही शारीरिक बल भी आवश्यक है। इन छह सहननों मे उत्तम कौन ? तत्त्वार्थवार्तिक (9/27/1) में कहा है - **आद्यं संहननत्रयमुत्तमम् ।.... कुत: ? ध्यानादिवृत्तिविशेष-हेतुत्वात् ।.... तत्र मोक्षस्य कारणमाद्यमेकमेव । ध्यानस्य त्रितयमपि ।**

अर्थात् ध्यानादि की वृत्ति विशेष का कारण होने से आरम्भ के तीन उत्तम सहनन कहे गये हैं। किन्तु इन तीनों मे मोक्ष का कारण प्रथम संहनन होता है, यद्यपि ये तीनों सहनन ध्यान के कारण तो हैं ही। वस्तुत: इतने समय तक उत्तम संहनन वाला ही ध्यान कर सकता है, अन्य नहीं।

आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव (41/6-7) मे इसका समाधान करते हुए कहा है कि प्रथम वज्रऋषभसहनन वाले जीव को शुक्लध्यान कहा है, क्योंकि इस सहनन वाले का ही चित्त ऐसा होता है कि शरीर को छेदने, भेदने, मारने और जलाने पर भी अपने आत्मा को अत्यन्त भिन्न देखता हुआ, चलायमान नहीं होता, न वर्षाकाल आदि के दु:खों से कम्पायमान होता है।

श्वेताम्बर जैन या अन्य परम्पराओं में जहाँ स्त्री को मुक्ति (मोक्ष) का अधिकारी बतलाया है, वे दिगम्बर जैन परम्परा मान्य स्त्री-मुक्ति निषेध सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना बड़ी बढ़-चढ़कर करते हैं, उन्हें आचार्य कुन्दकुन्द के अष्टपाहुड तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड मे आचार्य प्रभाचन्द्र की स्त्रीमुक्ति खण्डन सम्बन्धी सशक्त युक्तियों को तो पढ़ना ही चाहिए, साथ ही उन्हें गोम्मटसार कर्मकाण्ड की वह गाथा अवश्य दृष्टव्य है, जिसमें कहा है -

अंतिमतियसंहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं ।
आदिमतियसंहडणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ 32 ॥

अर्थात् कर्मभूमि की स्त्रियों में अन्त के तीन अर्थात् अर्धनाराच, कीलित और सृपाटिका - ये तीन संहननों का

उदय होता है। आरम्भ के तीन उत्तम संहनन के उदय का अभाव होने से स्त्रियों को मोक्ष नहीं होता। इस तरह उत्तम संहनन के अभाव में जब ध्यान की ही स्थिति नहीं बन सकती, तब मोक्ष की बात ही कहाँ?

श्वेताम्बर परम्परा के सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में पूर्वोक्त तत्त्वार्थसूत्र के ध्यान सम्बन्धी परिभाषा वाले एक सूत्र के स्थान पर दो सूत्र हैं '**उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्**' ॥ 27 ॥ तथा **आमुहूर्तात्** ॥ 28 ॥ वस्तुतः सूत्र ग्रन्थ होने से एक ही सूत्र की बात दो सूत्रों में कहना उपयुक्त नहीं लगता। इन दो सूत्रों का अर्थ भाष्य में इस प्रकार है - उत्तम संहननों (आदि के तीन) से युक्त जीव के एकाग्र चिन्ता का जो निरोध होता है उसे ध्यान कहते हैं ॥ 27 ॥ वह ध्यान अधिक से अधिक एक मुहूर्त तक हो सकता है, इससे अधिक काल तक नहीं हो सकता। क्योंकि अधिक काल हो जाने पर दुर्ध्यान हो जाता है ॥ 28 ॥

वस्तुतः उत्तमसंहनन अर्थात् अतिशय वीर्य से विशिष्ट शारीरिक संघटन वाले आत्मा को जो एक वस्तुनिष्ठ ध्यान होता है, वही प्रशस्त ध्यान है। पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने (तत्त्वार्थसूत्र 9/27 पृ. 218) में लिखा है कि जब विचार का विषय एक पदार्थ न होकर नाना पदार्थ होते हैं तब वह विचार ज्ञान कहलाता है और जब वह ज्ञान एक विषय में स्थिर हो जाता है तब उसे ही ध्यान कहते हैं। इसीलिए आचार्य अकलङ्क ने कहा है कि ज्ञान व्यग्र होता है और ध्यान एकाग्र। एकाग्र से तात्पर्य है ध्यान अनेकमुखी न होकर एकमुखी (एक लक्ष्य में स्थिर) रहता है और उस एक मुख में ही संक्रम होता रहता है, क्योंकि ध्यान स्ववृत्ति होता है, इसमें बाह्य चिन्ताओं से पूर्ण निवृत्ति होती है।

सामान्यतः लोग '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध को योग या ध्यान कहते हैं। इसीलिए आचार्य अकलंक देव तत्त्वार्थवार्तिक (9/27/5-22 पृ. 626-7) में लिखते हैं कि- गमन, भोजन, शयन और अध्ययन आदि विविध क्रियाओं में भटकने वाली चित्तवृत्ति का एक क्रिया में रोक देना निरोध है। जिस प्रकार वायु रहित प्रदेश में दीपशिखा अपरिस्पन्द अर्थात् स्थिर रहती है, उसी प्रकार निराकुल देश में एक लक्ष्य में बुद्धि और शक्ति पूर्वक रोकी गई चित्तवृत्ति (चिन्ता या अन्तःकरण व्यापार) बिना व्याक्षेप के वहीं स्थिर रहती है। इस निश्चल दीपशिखा के समान निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है।

ध्यान शतक (गाथा 2) में चेतना के चल और स्थिर - ये दो भेद करके चल चेतना को चित् और स्थिर चेतना को ध्यान कहा है - जं थिरमज्झवसाणं, झाणं जं चलं तयं चित्तं ॥ 2 ॥ आगे (गाथा सं. 3 में) कहा है कि चित्त अनेक वस्तुओं या विषयों में प्रवृत्त होता रहता है, उसे अन्य वस्तुओं या विषयों से निवृत्तकर एक वस्तु या विषय में प्रवृत्त करना ध्यान है। वस्तुतः हमारा चिन्तन विविध विषयों पर सतत् चलता ही रहता है, पर उसे हम ध्यान नहीं कह सकते, किन्तु यदि वह चिन्तन यहाँ-वहाँ से हटकर जितने समय के लिए एकाग्र या एक विषय पर स्थिर होगा, उसे उतने समय का ध्यान कहा जा सकता है।

तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान की परिभाषा में 'एकाग्र' पद क्यों ग्रहण किया? इसका समाधान तत्त्वानुशासन में भी इस प्रकार किया है -

एकाग्र ग्रहणं चात्र वैयग्र्यविनिवृत्तये।
व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥ 59 ॥

अर्थात् ध्यान एकाग्र एवं ज्ञान व्यग्र अर्थात् विविध मुखों या अवलम्बनों को लिए हुए होता है इसीलिए व्यग्रता की विनिवृत्ति के लिए ध्यान के लक्षण में 'एकाग्र' पद ग्रहण किया। इस तरह ध्यान साधना में मन की चंचलता का निरोध परम आवश्यक है। बिना मन को जीते साधना की कोई भी क्रिया व्यर्थ है, इसीलिए तत्त्वानुशासन में कहा है -

संचिन्तयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः ।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थ-पराङ्मुखः ॥ 79 ॥

अर्थात् जो साधक सदा अनुप्रेक्षाओं का अच्छी तरह चिन्तन करता है, स्वाध्याय मे उद्यमी और इन्द्रिय विषयो से प्रायः मुख मोडे रहता है, वह अवश्य ही मन को जीतता है।

इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द रयणसार में कहते है -

अज्झयणमेव झाणं, पंचेंदियणिग्गहंवसायं ॥ 95 ॥

अर्थात् जिनागम का अध्ययन अभ्यास, पठन-पाठन और पञ्चेन्द्रिय निग्रह ध्यान है।

पं. सुखलाल जी सघवी ने तत्त्वार्थसूत्र (9/28 पृ 224) के अपने विवेचन मे लिखा है, कि 'कई लोग श्वास-उच्छ्वास रोक रखने को ही ध्यान मानते है तथा अन्य कुछ लोग अ इ आदि मात्राओ से काल की गणना करने को ही ध्यान मानते हैं। परन्तु जैन परम्परा में यह कथन स्वीकार नही किया गया है, क्योकि यदि सम्पूर्णतया श्वास-उच्छ्वास क्रिया रोक दी जाय तो शरीर ही नहीं टिकेगा। इसीलिए मन्द या मन्दतम श्वास का सचार तो ध्यानावस्था मे रहता ही है। इसी प्रकार जब कोई मात्रा से काल को गिनेगा, तब तो गिनती के काम मे अनेक क्रियाये करने में लग जाने से उसके मन को एकाग्र के स्थान पर व्यग्र ही मानना पडेगा।'

यही कारण है कि दिवस, मास, वर्ष और उससे अधिक समय तक ध्यान टिकने की लोकमान्यता भी जैन परम्परा को ग्राह्य नहीं है। इसका कारण यह है कि लम्बे समय तक ध्यान साधने से इन्द्रियो का उपघात सम्भव है, अतः ध्यान को अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक बढ़ाना कठिन है। 'एक दिन, एक अहोरात्र अथवा उससे अधिक समय तक ध्यान किया' इस कथन का अभिप्राय इतना ही है कि उतने समय तक ध्यान का प्रवाह चलता रहा। किसी भी एक आलबन का एक बार ध्यान करके पुनः उसी आलम्बन का कुछ रूपान्तर से या दूसरे ही आलम्बन का ध्यान किया जाता है और पुनः इसी प्रकार आगे भी ध्यान किया जाता है तो ध्यान प्रवाह बढ जाता है।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने ध्यान की पूर्वोक्त परिभाषा के साथ ही ध्यान के भेद-प्रभेद एव ध्यान के फल आदि का जो विवेचन किया है वह सक्षिप्त होते हुए भी अष्टाग परिपूर्ण है। इसीलिए वैदिक परम्परा मे प्रसिद्ध महर्षि पतञ्जलि ने अपने योग-दर्शन में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूप अष्टाङ्ग योग सम्बन्धी मान्यता से हटकर तत्त्वानुशासनकार ने बिलकुल नये प्रकार के अष्टाग योग बतलाये है -

ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं यस्य यत्र यदा यथा ।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुकामेन योगिना ॥ 37 ॥

अर्थात् 1. ध्याता - ध्यान करने वाला, 2. ध्यान, 3. ध्यान का फल (निर्जरा एव सवर), 4. ध्येय (ध्यान योग्य पदार्थ), 5. यस्य (जिस पदार्थ का ध्यान करना है), 6. यत्र (जहां ध्यान करना है), 7. यदा (जिस समय ध्यान करना है वह काल विशेष), 8. यथा (जिस रीति से ध्यान करना है)। तत्त्वार्थसूत्रकार के विवेचन के आधार पर ही रामसेनाचार्य ने इन्हें विवेचना का विषय बनाया।

ध्यान के भेद -

आचार्य उमास्वामी ने ध्यान की परिभाषा आदि का मात्र पूर्वोक्त एक सूत्र (9/27) में वर्णन करने के बाद उन्होंने सीधे - आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान के ये चार भेद प्रतिपादित किये, जबकि अनेक आचार्यों ने अप्रशस्त तथा प्रशस्त

ध्यान के रूप में ध्यान के दो भेद करके आर्त्त और रौद्रध्यान को अप्रशस्त तथा धर्म और शुक्ल - इन दो ध्यान को प्रशस्त ध्यान की कोटि में रखा है। किन्तु आचार्य उमास्वामी ने इनका प्रशस्त और अप्रशस्त विभाजन न करके 'परे मोक्षहेतू' अर्थात् इन चार में से अन्त के दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं। इसी कथन के माध्यम से ध्यान की प्रशस्तता-अप्रशस्तता का संकेत आचार्य उमास्वामी ने कर दिया कि धर्म और शुक्ल - ये दो ध्यान मोक्ष के हेतु होने से प्रशस्त हैं तथा आर्त्त और रौद्र - ये दो आरम्भ के दो ध्यान मोक्ष के हेतु न होने से अप्रशस्त ध्यान हैं।

षट्खण्डागम की धवला टीका (13/5, 4, 26/64/5) में कहा है - '**तत्थझाणे चत्तारि अहियारा होंति - ध्याता ध्येयं ध्यानं ध्यानफलमिति**' अर्थात् ध्यान के विषय में चार अधिकार हैं - ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यानफल। आचार्य उमास्वामी ने इन चारों का अलग से प्रतिपादन तो नहीं किया, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के इसी नवें अध्याय के सूत्र सं. 27 के साथ ही '**आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि**' तथा '**परे मोक्षहेतू**' इन 28 एवं 29 वें सूत्र के द्वारा इन चारों अधिकारों को समाहित कर लिया। इन चारों का स्वरूप इस प्रकार है -

1. आर्त्तध्यान -

सर्वार्थसिद्धि (9/28/874) में कहा है - 'ऋतं दु:खम्, अर्दनमर्तिर्वा तत्र भवनार्त्तम्' अर्थात् ऋत का अर्थ दु:ख है और अर्तिका अर्थ पीडा है, अत: इनसे होने वाला ध्यान आर्त्तध्यान है। इसीलिए सूत्रकार ने कहा अनिष्टसंयोगज, इष्टवियोगज, वेदनाजन्य और निदान - इस तरह इसके चार भेद किये हैं। प्रथम आर्त्त के लक्षण में कहा है -

1. **आर्त्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः** ॥ 30 ॥ अर्थात् अमनोज्ञ पदार्थ के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए चिन्ता-सातत्य का होना प्रथम **अनिष्टसंयोगज** आर्त्तध्यान है।

2. '**इष्टवियोगज**' नामक द्वितीय आर्तध्यान के लक्षण के कहा है - **विपरीतं मनोज्ञस्य** ॥ 31 ॥ अर्थात् मनोज्ञ वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत् चिन्ता करना दूसरा इष्टवियोगज आर्त्तध्यान है।

3. **वेदनायाश्च** ॥ 32 ॥ अर्थात् सुख-दु:ख के वेदन रूप वेदना के होने पर उसे दूर करने के लिए सतत् चिन्ता करना वेदना आर्त्तध्यान है।

4. **निदानञ्च** ॥ 33 ॥ अर्थात् अनागत भोगों की वाछा के लिए मन:प्रणिधान होना निदान नामक चतुर्थ आर्त्तध्यान है।

आर्त्तध्यान के इन चार भेदों के बाद तत्त्वार्थसूत्र में आर्त्तध्यान किन जीवों को होता है ? इसका प्रतिपादन करते हुए कहा है - '**तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्**' ॥ 34 ॥ अर्थात् वह आर्त्तध्यान 1. अविरत, 2. देशविरत (पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक) तथा 3. प्रमत्तसंयत (छठा गुणस्थानवर्ती) जीवों के होता है। यहाँ अविरत से तात्पर्य मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और असंयतसम्यग्दृष्टि - इन चार गुणस्थानवर्ती जीवों से है। यहाँ यह दृष्टव्य है कि प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के निदान को छोड़कर बाकी के तीन ध्यान प्रमाद की तीव्रतावश कदाचित् होते हैं।

2. रौद्रध्यान -

आचार्य उमास्वामी ने रौद्रध्यान के लक्षण, भेद और स्वामी को एक ही सूत्र के माध्यम से कहा है - **हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत-देशविरतयोः** ॥ 35 ॥ अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी और विषयसंरक्षण के लिए सतत् चिन्तन करना रौद्रध्यान है। वह अविरत और देशविरत के होता है।

आचार्य उमास्वामी ने रौद्रध्यान की इस परिभाषा में रौद्रध्यान के भी चार भेद किये हैं, जिनका उत्तरवर्ती साहित्य में हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द - ये नाम मिलते हैं।

इस तरह आर्त और रौद्र - ये दो अप्रशस्त (अशुभ) ध्यान हैं। इनमें आर्तध्यान का फल तिर्यंचगति तथा रौद्रध्यान का फल नरकगति है।

3. धर्मध्यान -

धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव से युक्त को धर्म्य कहते हैं। अत: '**आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्**' ॥ 36 ॥ अर्थात् आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय - ये धर्म्यध्यान के चार भेद हैं। यहाँ विचय से तात्पर्य विचारणा है।

1. सर्वज्ञ प्रणीत आगम की आज्ञा (प्रमाणता) से वस्तु के श्रद्धान का विचार करना आज्ञाविचय है।

2. संसारी जीवों के दु:ख और मिथ्यात्व को देखकर उसके छूटने के उपाय का चिन्तन अपायविचय है।

3. कर्मफल के उदय का विचार करना विपाकविचय है।

4. लोक के आकार का विचार करना सस्थान विचय धर्मध्यान है।

ज्ञानार्णव (पृ. 361) आदि परवर्ती साहित्य में इसी सस्थान विचय नामक चतुर्थ धर्मध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत - इन चार भेदों का प्रतिपादन मिलता है। इसे हम ध्यान के आधार क्षेत्र का विकास कह सकते हैं। इनका विवेचन इस प्रकार है -

1. **पिण्डस्थ** - पिण्ड अर्थात् शरीर स्थित आत्मा का चिन्तन करना अथवा पिण्ड के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता पिण्डस्थध्यान है।

2. **पदस्थ** - पद अर्थात् शब्दों का समूह। पवित्र ग्रन्थों के अक्षर स्वरूप पदों के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता को पदस्थध्यान कहते हैं।

3. **रूपस्थ** - रूप अर्थात् महंत आदि किसी भी आकार के आलम्बन मे होने वाली एकाग्रता रूपस्थ ध्यान है।

4. **रूपातीत** - यह निरालम्बन स्वरूप होता है।

गुणस्थानों की दृष्टि से यह धर्मध्यान चतुर्थ अविरत, पंचम देशविरत, छठा प्रमत्तसयत और सप्तम अप्रमत्तसयत- इन चार गुणस्थानवर्ती जीवों के सम्भव है।

4. शुक्लध्यान -

आचार्य उमास्वामी ने शुक्लध्यान का विवेचन इस ध्यान प्रकरण में सांगोपाग, वह भी सर्वाधिक आठ सूत्रों में किया है। सर्वार्थसिद्धि (9/28) के अनुसार 'शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्' अर्थात् जिसमें शुचि गुण (कषायों व उपशम या क्षय) का सम्बन्ध हो उसे शुक्ल कहते हैं। आत्मा के शुचिगुण के सम्बन्ध से जो ध्यान होता है, वह शुक्लध्यान है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा (481) में कहा है -

जत्थ गुणा सुविसुद्धा, उवसम खमणं च जत्थ कम्माणं।
लेस्सा वि जत्थ सुक्का, तं सुक्कं भण्णदे झाणं॥

अर्थात् जिसमें अतिविशुद्ध गुण होते हैं, कर्मों का उपशम तथा क्षय होता है और शुक्ल लेश्या होती है, वह शुक्लध्यान है।

भेद - 1. पृथक्त्ववितर्क, 2. एकत्ववितर्क, 3. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और 4. व्युपरतक्रियानिवर्ती - ये शुक्लध्यान के चार भेद हैं। (सूत्र 39)

आचार्य उमास्वामी ने '**शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः**' ॥ 37 ॥ तथा '**परे केवलिनः**' ॥ 38 ॥ इन दो सूत्रों में कहा है कि पूर्वोक्त चार में से आरम्भ के दो शुक्लध्यान पूर्वविद् अर्थात् पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवली के होते हैं। तथा अन्त के दो अर्थात् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती एव व्युपरतक्रियानिवर्ती - ये दो शुक्लध्यान क्रमशः सयोगकेवली और अयोगकेवली जिन के होते हैं। चारो का स्वरूप इस प्रकार है - 1. **पृथक्त्ववितर्कवीचार** - वस्तु के द्रव्य, गुण और पर्याय का परिवर्तन करते हुए चिन्तन करना पृथक्त्व है यह उपशान्तकषाय नाम के 11 वें गुणस्थान में होता है। 2. **एकत्ववितर्क अवीचार** - यह ध्यान व्यञ्जन और योग के संक्रमण से रहित वस्तु के किसी एक रूप को ध्येय बनाने वाला होता है। अतः किसी एक अर्थ, गुण या पर्याय का आश्रय लेकर चिन्तन करना एकत्ववितर्क अवीचार है। मूलाचार (5/207) के अनुसार यह ध्यान क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों को होता है।

3. **सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती** - कार्तिकेयानुप्रेक्षा (484) के अनुसार केवलज्ञान स्वभाव वाले सयोगी जिन जब सूक्ष्म काययोग में स्थित होकर ध्यान करते हैं तब यह ध्यान होता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें श्वासोच्छ्वास क्रिया भी सूक्ष्म रह जाती है तथा इसकी प्राप्ति के बाद योगी अपने ध्यान से कभी गिरते नहीं हैं, अतः इसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती कहते है। यह तेरहवें सयोगकेवलीजिन नामक गुणस्थान मे होता है। यह ध्यान त्रिकालवर्ती अनन्त सामान्य-विशेषात्मक धर्मों से युक्त छह द्रव्यों का एक साथ प्रकाशन करता है अतः सर्वगत है।

4. **समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति** - भगवती आराधना (1889) अनुसार काययोग का निरोध करके अयोग केवली औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों का नाश करता हुआ इस चतुर्थ शुक्लध्यान को ध्याता है। इस ध्यान में क्रिया अर्थात् योग सम्यक् रूप से उच्छिन्न हो जाते हैं और यह चौदहवे अयोगकेवली नामक गुणस्थान में होता है। यह परम निष्कम्प रत्नदीप की तरह समस्त क्रियायोग से मुक्त ध्यान की दशा को प्राप्त होने पर पुनः उस ध्यान से निवृत्ति नही होती। इसीलिए इसे समुच्छिन्नक्रिया निवर्ति कहते है। (मूलाचार 5/208 सवृत्ति) चौदहवे गुणस्थान का स्थितिकाल अ, इ, उ, ऋ, लृ - इन पाँच ह्रस्वाक्षरो के उच्चारण काल प्रमाण है। (भ. आ. 2124) इस प्रकार शुक्लध्यान के इन चार भेदों मे आरम्भ के दो शुक्लध्यान के आलम्बन सहित है शेष दो ध्यान निरालम्ब है।

इस प्रकार ध्यान विषयक अवधारणाओ का तत्त्वार्थसूत्र के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक विवेचन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। परवर्ती साहित्य में ध्यान की अनेक पद्धतियों का विकास के मूलबीज इसी तत्त्वार्थसूत्र में निहित हैं। आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति हेतु ध्यान एक दिव्य रसायन का कार्य करता है। इसीलिए अमितगति श्रावकाचार (15/78) मे कहा है - सिद्धि प्राप्ति के इच्छुक जनों को ध्यान करने से पूर्व ध्यान के साधक, साधन, साध्य और फल - इन चारों का विधिपूर्वक ज्ञान कर लेना चाहिए। क्योंकि संसारी भव्य पुरुष ध्यान का साधक होता है, उज्ज्वल ध्यान साधन है, मोक्ष साध्य है तथा अविनश्वर सुख ध्यान का फल है।

इस प्रकार ध्यान भले ही चार प्रकार के हों, किन्तु चारों ध्यान तप नहीं हैं। तप की कोटि में सिर्फ दो ही ध्यान हैं- धर्म और शुक्लध्यान। बाकी जितने तप हैं, वे सब ध्यान के साधन मात्र कहे जा सकते हैं।(षट्खण्डागम पु. 13 पृ.64)

ध्यान की विवेचना

* पं. शिवचरनलाल जैन

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्वं,
अभ्यन्तरस्य तपसो परिबृंहणार्थम् ।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्,
ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥ बृ.स्तो.

जिनागम द्वारा प्ररूपित सात तत्त्वों में लक्ष्य रूप मोक्ष की प्राप्ति हेतु संवर एवं निर्जरा की उपादेयता वर्णित की गई है। इसके कारणभूत तप का साधना में बहुत महत्त्व है। अविपाक निर्जरा जो कि मोक्ष का नियामक कारण है, उसके लिये ही तपश्चरण के बाह्य एवं अन्तरंग रूपों का विधान है। चारित्र, संयम, प्रव्रज्या, समिति, गुप्ति व परीषहजय आदि इसी के भेद विहित हैं। इनके बिना मोक्षमार्ग नहीं है। उपर्युक्त उपादानों के समस्त परिवेश में ध्यान तप सर्वोत्कृष्ट हैं। ध्यान के आर्त्त, रौद्र, धर्म्य तथा शुक्ल[1] - इन चार भेदों में प्रथम दो ससार के कारण हैं।[2] धर्म्य और शुक्ल मोक्ष के कारण हैं। प्रस्तुत आलेख में मोक्ष हेतु ध्यानविषयक चर्चा अपेक्षित है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में ध्यान विषयक विभिन्न मान्यताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। जिनागम के सारभूत सूत्र शैली द्वारा वर्णन स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र नामक ग्रन्थराज है। इसके प्रणेता आचार्य उमास्वामी ने वर्त्तमान में उपलब्ध प्रथम संस्कृतभाषामय रचना स्वरूप अत्यन्त बुद्धि-कौशल से मात्र 357 सूत्रों एवं 10 अध्यायों के सुगठित स्वरूप में मोक्ष तथा मोक्षमार्ग का वर्णन किया है। इसमें ध्यान विषयक प्ररूपण नवें अध्याय में संवर-निर्जरा तत्त्व के प्रतिपादन के अन्तर्गत अवलोकनीय है। यहाँ हम ध्यान के स्वरूप का निर्णय कर तद्विषयक मान्यताओं के समायोजन का प्रयास करेंगे। यह बिन्दुसार प्रकाशनीय है।

1. आचार्य गृद्धपिच्छ (उमास्वामी) ने ध्यान का लक्षण निम्न प्रकार किया है -

"**उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।**" - तत्त्वार्थसूत्र 9/27

अर्थात् उत्तम संहनन वाले का अन्तर्मुहूर्त्त तक एकाग्रचिन्तानिरोध ध्यान है।

उक्त परिभाषा के विषय में मुख्य तीन बातें दृष्टव्य हैं -

१. आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि - तत्त्वार्थसूत्र 9/28
२. परे मोक्षहेतू - वही 9/29

* मानद संरक्षक एवं पूर्व अध्यक्ष, तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ ; पूर्व कोषाध्यक्ष अ. भा. दि. जैन शास्त्रि परिषद्, : सीताराम मार्केट, मैनपुरी - 205001

अ. उत्तम संहनन - सर्वार्थसिद्धि[1] तथा तत्त्वार्थवार्तिक[2] टीकाओं में उत्तमसंहनन के अर्थस्वरूप वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच व नाराच तीनों को ग्रहण किया है। यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि उत्तम तो एक होता है। क्या वे एक से अधिक संभव हैं ? पुनश्च तीनों संहननों में भी परस्पर श्रेष्ठता का तारतम्य तो मान्य है ही। एवं ज्ञानार्णव जी का निम्न मन्तव्य भी ध्यान देने योग्य है। यह शुक्लध्यान की अपेक्षा प्रदर्शित है -

न स्वामित्वमतः शुक्ले विद्यतेऽत्यल्पचेतसाम् ।
आद्य संहननस्यैव तत्प्रणीतं पुरातनैः ॥ 41/6 ॥

आद्य संहननोपेता निर्वेदपदवीं श्रिताः ।
कुर्वन्ति निश्चलं चेतः शुक्लध्यानक्षमं नराः ॥ 41/9 ॥

प्राचीन मुनियों ने पहले (वज्रर्षभनाराच) सहनन वालों के ही शुक्लध्यान कहा है। जिनके आदि का सहनन है और जो वैराग्य पदवी को प्राप्त हुए हैं ऐसे पुरुष ही अपने चित्त को शुक्लध्यान करने में समर्थ, निश्चल मानते हैं। यहाँ प्रश्न स्पष्ट है कि क्या आदि के तीनों सहननों में अथवा मात्र प्रथम संहनन में शुक्लध्यान की पात्रता है ? यह भी विचारणीय है कि मूल सूत्रकार ने ''उत्तम सहननस्य'' लिखकर एक वचन का प्रयोग किया। यदि उन्हें तीनों संहननों की ही उत्तमता अभीष्ट होती तो 'उत्तमसहनननानाम्' (उत्तमानां संहनननानां) पद क्यों नहीं रखा। सभवतः उनको आद्य सहनन ही इष्ट होगा। इस जिज्ञासा के समाधान हेतु ऊहापोह के क्रम में मेरा ध्यान आचार्य भास्करनन्दि (12 वीं शताब्दी) द्वारा प्रणीत टीका 'तत्त्वार्थवृत्तिः' पर आकर्षित हुआ। उस स्थल का निम्न कथन इस द्विविधा का समाधान करने का प्रयास विदित होता है। (सर्वार्थसिद्धि मे भी आद्य सहनन की मोक्ष पात्रता का उल्लेख है पर निम्न उद्धरण मे अच्छा खुलासा होता है।)

''**उत्तमसंहननं वज्रर्षभनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं, नाराचसंहननमिति** ।'' (9/27, पृ. 532)

प्रथमस्य निःश्रेयसहेतुध्यानसाधनत्वादितरयोश्च, प्रशस्तध्यान-हेतुत्वादुत्तमत्वम् ॥''

प्रथम सहनन की उत्तमता मोक्ष के हेतुभूत ध्यान की साधनता से है तथा इतर दो संहनन प्रशस्त ध्यान के हेतु हैं, अतः उत्तम हैं।

यहाँ यह भी गवेषणीय है - आचार्य उमास्वामी ने ध्यान का लक्षण समग्र रूप से (सभी ध्यानों की दृष्टि से) ही किया है, यदि वे शुक्लध्यान (मोक्ष का साक्षात् हेतु) के लिये एक सूत्र पृथक् से लिखते तो स्पष्ट हो जाता। खैर यहाँ हमें विवक्षित आगमार्थ से काम चलाना ही अभीष्ट होगा।

कुल चर्चा का टीकाकारों के अनुसार ही निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि 'एकत्ववितर्कअवीचार' नामक द्वितीय शुक्लध्यान के लिये आद्यसंहनन में ही पात्रता है। समायोजन तो करना ही होगा, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव आगम मे प्राप्त किसी वचन का निषेध न करते हुए सभी का सग्रह करता है।

ब. 'एकाग्रचिन्तानिरोध' का अर्थ है एक ही अग्र, अर्थ, मुख या विषय में चिन्ता को रोक देना अर्थात् स्थिर कर देना। इस विषय में प्रायः सहमति है। यहाँ चिन्ता या चिन्तन का अभाव अभीष्ट नहीं है। अन्य मतों में जो ''ध्यानं

---

१. आद्यं त्रितयं संहननमुत्तमं वज्रर्षभनाराचसंहननं वज्रनाराचसहननं, नाराचसंहननमिति। - सर्वार्थसिद्धि 9/27

२. वज्रवृषभनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं नाराचसहननमित्येतत्त्रितयं सहननमुत्तमम्। - तत्त्वार्थवार्तिक 9/27

निर्विषयं मनः'' ऐसी मान्यता है, उसका निरसन करते हुए जैनमत की अवधारणा है कि ''ध्यानं एक विषयं मनः'' एक विषयभूत मन की परिणति ध्यान है। कहा भी है -

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं ।
तं होइ भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता ॥[1]

अर्थात् स्थिर अध्यवसान की ध्यान संज्ञा है। जो चलायमान चित्त का होना है वह भावना, अनुप्रेक्षा या अर्थचिन्ता है। सर्वार्थसिद्धि में 'चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्।'[2] लक्षण किया है। ये सब एकार्थवाची शब्द हैं तथा सूत्रकार के अभिप्रायानुसार ही हैं। यह ज्ञातव्य है कि अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं में जब बार-बार चिन्तनधारा चालू रहती है तब वह ज्ञानरूप है पर जब उनमें एकाग्रचिन्ता निरोध होकर चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती है तब वह ध्यान कहलाती है। यहाँ ऊहापोह हेतु अभीक्ष्ण आगम दृष्टा तत्त्वार्थसूत्रकार का तद्गत निम्न सूत्र उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ।[3]

आशय यह है कि आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थान आदि के विचय, विवेक, विचारणा के लिये जो स्मृतिसमन्वाहार - चिन्तनधारा है वह धर्म्यध्यान है।

यहाँ यह विचारणीय है पुनः पुनः चालू चिन्तनधारा को तो ज्ञान या अनुप्रेक्षा कहा गया है जो निम्न सूत्र से भी प्रकट है -

''**अनित्याशरणसंसारैकत्वाऽन्यत्वाऽशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः** ॥ 9/7 ॥''

अर्थ - इन विषयों (बारह भावनाओं) में बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

तब ऐसी स्थिति में ध्यान का जो 'एकाग्रचिन्तानिरोध' लक्षण है, वह धर्म्यध्यान के 'स्मृतिसमन्वाहारः' लक्षण से असंगत, पूर्वापरविरोध सहित प्रतीत होता है। इसका समायोजन गवेषणीय है। कहीं इसका यह तात्पर्य तो नहीं कि मात्र शुक्लध्यान, वह भी 'एकत्ववितर्कअवीचार' ही ध्यान की श्रेणी में आ जावे। शेष सभी ध्यान औपचारिक ही ठहरें, जैसे केवलियों के स्वीकृत औपचारिक ध्यान। पृथक्त्ववितर्कवीचार के अन्तर्गत वीचार के (पलटन के) समय (काल) को ध्यान कहना भी प्रश्नचिह्न खड़ा करता है।

ख. अन्तर्मुहूर्त काल मर्यादा ध्यान के विषय में सर्वमान्य है। ध्यान से च्युत होने की स्थिति में अगर सस्कार बना रहता है तो पुनः उसी ध्यान में आता है।

2. आचार्य उमास्वामी ने शुक्लध्यानों के पात्र साधु की चर्चा करते हुए सूचित किया है, ''**शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः**'' अर्थात् पूर्वविद् के पृथक्त्ववितर्क-वीचार[4] एवं एकत्ववितर्कअवीचार ये शुक्लध्यान तथा धर्म्यध्यान भी होते हैं। इस सूत्र की टीका में आचार्य पूज्यपाद तथा भट्टाकलंकदेव दोनों ने ही पूर्वविद् का अर्थ श्रुतकेवली किया है।[5] श्रुतकेवली का तात्पर्य

---

१. धवला पुस्तक 13 पृ. 64
२. तत्त्वार्थसूत्र 9/20
३. तत्त्वार्थसूत्र 9/36
४. तत्त्वार्थसूत्र 9/37
५. वक्ष्यमाणेषु शुक्लध्यानविकल्पेषु आद्ये शुक्लध्याने पूर्वविदो भवतः श्रुतकेवलिन इत्यर्थः। - सर्वार्थसिद्धि 9/37, पूर्वविद्विशेषणं

11 अंग, 14 पूर्व तथा दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, चूलिका नामक भेद और अंगबाह्य 14 प्रकीर्णकों का ज्ञानी। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप में विभक्त सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता। किन्तु आचार्य भास्करनन्दि ने तत्त्वार्थवृत्ति में प्रकट किया है - '**वक्ष्यमाणेषु शुक्लध्यानविकल्पेष्वाद्ये शुक्लध्याने देशतः कात्स्न्येतो वा पूर्वश्रुतवेदिनो भवतः - श्रुतकेवलिन इत्यर्थः।**' 9/37

अर्थात् वक्ष्यमाण शुक्लध्यान के भेदों में से आदि के दो शुक्लध्यान देशतः पूर्वविद् मुनि के, पूर्णतः पूर्वविद् मुनि के होते हैं। पूर्वविद् का अर्थ श्रुतकेवली है।

इन आचार्य के मत मे श्रुतकेवली दो प्रकार के इस प्रसग में विवक्षित है- 1. देशश्रुतकेवली, 2. पूर्णश्रुतकेवली।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने नवम अध्याय के सूत्र सख्या 37 में 'पूर्वविद्' का अर्थ अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका में 'श्रुतकेवली' किया है। श्रुतसागरसूरि ने भी तत्त्वार्थवृत्ति मे "परिपूर्णश्रुतज्ञान" शब्द का प्रयोग किया है। पुनश्च उन्होंने सूत्र सख्या 41 की टीका मे पात्रता विषयक यह वर्णन किया है -

"**उभेऽपि परिप्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठेनारभ्येते इत्यर्थः।**" अर्थात् दोनों ही शुक्लध्यान 'परिप्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठ' के द्वारा आरम्भ किये जाते हैं। यहाँ 'परिप्राप्तश्रुतज्ञाननिष्ठ' का अर्थ श्रुतकेवली से कुछ न कुछ अन्यता लिये ही प्रतीत होता है। यह यथाशक्य गवेषणीय है।

किसी भी ग्रन्थ या पद का अर्थ करते समय शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ एव भावार्थ सभी दृष्टियाँ विवक्षित होती है। अपेक्षित आगमार्थ के रूप मे यहाँ षड्खण्डागम की धवला टीका को उद्धृत करना समीचीन होगा - "**चोद्दस-दस-णव-पुव्वहरा पुण धम्मसुक्कझाणाणं दोण्णं पि सामित्तमुव-णमंति अविरोहादो।**"[1]

अर्थात् चौदह, दश और नौ पूर्व के धारी तो धर्म और शुक्ल दोनों ही ध्यानों के स्वामी होते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि प्रकृत विषय मे जो मत भिन्नता भासित होती है, उसका समायोजन आचार्य भास्करनन्दि के कथन मे ज्ञात होता है। सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी आगमार्थ का निषेध करने का साहस नहीं कर सकता। समायोजन विभिन्न अपेक्षाओं से करने का प्रयत्न अपेक्षित है।

3. गुणस्थानों मे ध्यानो का अस्तित्व - तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय 9 के सूत्र 37 की टीका सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि - 'तत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः। इति श्रेण्यारोहणात्प्राग्धर्म्यं, श्रेण्योः शुक्लं इति व्याख्यायते।'

अर्थात् व्याख्यान से विशेष ज्ञात होता है इस नियम के अनुसार श्रेणि चढ़ने से पूर्व धर्म्यध्यान होता है और दोनो श्रेणियो मे आदि के दो शुक्लध्यान होते है ऐसा व्याख्यान करना चाहिए।

उपर्युक्त से प्रकट है कि सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक धर्मध्यान तथा आठवें से लेकर बारहवें तक शुक्लध्यान होता है। तत्त्वार्थवार्तिककार आचार्य अकलकदेव ने इसी अध्याय के सूत्र संख्या 36 की वार्तिक स. 14-15 के अन्तर्गत कहा है कि उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय में शुक्लध्यान माना जाता है उनमें धर्म्यध्यान नहीं होता। दोनों मानना उचित नहीं है। क्योंकि आगम में श्रेणियों में शुक्लध्यान ही बताया है, धर्मध्यान नहीं। (यह ज्ञात नहीं है कि दिगम्बर या

श्रुतकेवलिनस्तदुभयप्रणिधानसामर्थ्यात्। - राजवार्तिक 9/37

१. धवला पुस्तक 13 पृ. 65

श्वेताम्बर किस परम्परा में छद्मस्थ वीतरागों के धर्मध्यान माना है)। यहाँ हम धवला टीका के मन्तव्य को प्रस्तुत करना उपयोगी समझते हैं। इसमें सर्वार्थसिद्धि व तत्त्वार्थवार्तिक से भिन्न मत प्राप्त होता है।

आचार्य वीरसेन स्वामी पुस्तक सं. 13 में पृष्ठ 74 पर उल्लिखित करते हैं - **"धम्मज्झाणं सकसायेसु चेव होदित्ति कधं णव्वदे ? असंजद-सम्माइट्ठिसंजदासंजदपमत्तसंजद-अप्पमत्तसंजद-अपुव्वसंजद-अणियट्टिसंजद-सुहुमसांपराइयखवगोवसामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो।"**

अर्थात् चौथे गुणस्थान से लेकर दसवें तक जिनोपदेश के अनुसार धर्मध्यान की प्रवृत्ति होती है। इसी ग्रन्थ में पृ. 65 पर श्रेणी के योग्य व अयोग्य धर्मध्यान इस प्रकार धर्मध्यान के दो रूपों का प्रतिपादन भी किया गया है।

उपर्युक्त दोनों कथनों में सामंजस्य का आधार यह संभावित किया जा सकता है कि वीरसेन स्वामी द्वारा कथित धर्मध्यान (8 से 10 वें तक) को व्यवहार से, उपचार से शुक्लध्यान माना जाय क्योंकि बुद्धिपूर्वक राग का अभाव है अत: किसी अपेक्षा उस मंद उदय प्राप्त अप्रकट राग को गौण कर शुक्लता स्वीकृत की जा सकती है तथा अकषाय अर्थात् उपशान्त कषाय और क्षीणकषाय में कषाय के पूर्णतया उदय का अभाव होने से परमार्थ शुक्लध्यान को स्वीकार किया जा सकता है। ज्ञातव्य है कि कषाय के उदय से ही ध्यान की शुक्लता का, स्वच्छता का अभाव होता है।

हम यहाँ पाठकों के लिए उपयोगी समझकर धवला के कतिपय अंशों को उद्धृत करने का लोभ-सवरण नहीं कर पा रहे हैं, प्रस्तुत हैं वे ध्यान सम्बन्धी विभिन्न अंश -**'सव्वं एदेहि दोहिवि सरूवेहि दोण्णं ज्झाणाणं भेदाभावादो। किंतु धम्मज्झाणमेयवत्थुम्हि थोवकालावट्ठाइ। कुदो ? सकसायपरिणामस्स गब्भहरंतट्ठिदपईवस्सेव चिरकालमवट्ठाणाभावादो।'** पुस्तक 13 पृ. 74

अर्थात् 'इन दोनों प्रकार के स्वरूपों की अपेक्षा इन दोनों ध्यानों में कोई भेद नही है। किन्तु इतनी विशेषता है कि धर्मध्यान एक वस्तु में स्तोक काल तक रहता है क्योंकि कषायसहित परिणाम का गर्भगृह के भीतर स्थित दीपक के समान चिरकाल तक अवस्थान नहीं बन सकता।' यह अवधारणा गवेषणीय है। तत्त्वार्थसूत्र में दोनों (धर्म्य, शुक्ल) ध्यानों के स्वरूप में अन्तर दृष्टिगत होता है। धवला में इस बारे में अचिरकाल, चिरकाल तथा दीपशिखाप्रकाश, मणिप्रकाश उदाहरण देते हुए पर्याप्त ऊहापोह किया गया है। सकषाय एवं अकषाय स्वामी के भेद से भेद दर्शाया गया है।

उपशान्तकषाय गुणस्थान में धवला में एकत्ववितर्कअवीचार द्वितीय शुक्लध्यान भी स्वीकार किया गया है। (पु. 13, पृ. 81) जबकि सूत्रकार के टीकाकारों ने क्षीणकषाय में ही स्वीकार किया है। इसी प्रकार क्षीणकषाय गुणस्थान मे सर्वार्थसिद्धि में एकत्ववितर्क कहा है ('क्षीणकषायौ' 9/44) परन्तु धवला में उपर्युक्त स्थल पर ही पृथक्त्ववितर्क भी तर्क द्वारा सिद्ध किया है। इस विषय का सम्यक् ऊहापोह आवश्यक है।

उपर्युक्त विषयों में तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याकारों के वक्तव्य यथासंभव अपेक्षित प्रस्तुत किये जाते हैं।

"ईदृग्विधं चतुर्विधमपि धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्य साक्षात् भवति। अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतानां तु गौणवृत्त्या धर्म्यध्यानं वेदितव्यमिति।" 9/3 तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय)

"ये चारों प्रकार के धर्म्यध्यान अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसयत के होते हैं, परन्तु अप्रमत्तसंयत मुनि के साक्षात् धर्म्यध्यान होता है और अविरत, देशसंयत और प्रमत्तसंयत जीवों के गौण वृत्ति से धर्म्यध्यान होता है।"

"सकलश्रुतधारी के अपूर्वकरण गुणस्थान के पूर्व अर्थात् अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त धर्म्यध्यान होता है तथा अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय तथा उपशान्तकषाय इन चार गुणस्थानों में पृथक्त्वविलर्कवीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान होता है तथा क्षीणकषाय नामक 12 वें गुणस्थान में (एकत्वविलर्कवीचार) एकत्ववितर्क अवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान होता है।" वही 9/37

आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में उल्लिखित किया है - "तत्त्वार्थाधिगमभाष्यसम्मत सूत्रपाठ में धर्म्यध्यान अप्रमत्तसंयत के बताया है पर यह ठीक नहीं है क्योंकि धर्म्यध्यान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है। अत: वह असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत के भी होता है। यदि उक्त अवधारण किया जाता है तो इनकी निवृत्ति हो जायेगी।" 9/36/13

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि - धर्म, शुक्ल दोनों ध्यानों का पात्र विशिष्ट मुनि है।

"तदेतत् सामान्यविशेषनिर्दिष्टं चतुर्विधं धर्म्यं शुक्लं च पूर्वोदितगुप्त्यादि-बहुप्रकारोपायं संसारनिवृत्तये मुनिर्ध्यातुमर्हति कृतपरिकर्मा।" 9/44

यहाँ धवला टीका की कतिपय पंक्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं - "थोवेण णाणेण जदि ज्झाण होदि तो खवगसेडि-उवसमसेडीणमप्पाओग्गधम्मज्झाणं चेव होदि।" पु. 13 पृ. 65

अर्थात् 'स्तोक ज्ञान मे यदि ध्यान होता है तो वह क्षपक श्रेणी व उपशम श्रेणी के अयोग्य धर्मध्यान ही होता है।' यहाँ श्रेणी के योग्य व अयोग्य दो भेद सिद्ध होते हैं।

4. विषय कषाय स्थिति में मोक्षोपयोगी ध्यान का अभाव - आचार्य उमास्वामी ने कहा है 'परे मोक्षहेतू' (9/29)। अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं। अर्थापत्ति से यहाँ प्रकट है कि शेष आर्त्त-रौद्र संसार के कारण हैं। यह कथन उस मान्यता का निरसन करता है जिसमें विषय-कषाय भोगाकाँक्षा रूप निदानयुक्त गृहस्थ के मोक्षोपयोगी ध्यान की संभावना बताई जावे। एक म्यान में दो तलवारों का समावेश संभव नहीं, पथिक एक साथ दो दिशाओं में गमन नहीं कर सकता। इस विषय में सभी टीकाकार सहमत हैं दुर्ध्यान में सम्यक् ध्यान नहीं भ्रम से अपने को ध्यानी मानना उचित नहीं।

5. परिग्रही के मोक्षोपयोगी ध्यान की असंभवता - तत्त्वार्थसूत्र जी के नवम अध्याय के अनुसार यह प्रकट होता है कि बाह्य तप अन्तरंग तप का कारण है तथा अंतरंग तपों में पूर्व-पूर्व के तप उत्तर-उत्तर तप के साधन प्रतीत होते हैं। तदनुसार ही ध्यान का साक्षात् कारण व्युत्सर्ग तप है। व्युत्सर्ग का लक्षण करते हुए सूत्रकार ने कहा है 'बाह्याभ्यन्तरोपध्योः'। अर्थात् 10 प्रकार बाह्य और 14 प्रकार के अन्तरंग परिग्रह के ममत्व सहित परिग्रह का त्याग व्युत्सर्ग है। इससे प्रकट है परिग्रहधारी जो कि मूर्च्छावान् अनिवार्य रूप से होता है, व्यक्ति को ध्यान की सिद्धि नहीं है। ध्याता के लक्षणों में सर्वत्र यही कहा है। गृहस्थ इसका पात्र नहीं है। परिग्रह मन की स्थिरता में नियामक रूप से बाधक है। इस विषय में निश्चयैकान्त के ज्वर से पूर्व में ग्रसित तथा उसे दूर कर अनेकान्त को स्वीकार करने वाले पं. बनारसीदास जी की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं -

जहाँ पवन नहिं संचरै, तहाँ न जल कल्लोल।
तैसे परिग्रह छोडिके, मनसा होय अडोल॥ - समयसार नाटक

अर्थ - जैसे वायु-संचार के अभाव में सरोवर में लहरें नहीं उठती, उसी प्रकार परिग्रह के त्याग से मन स्थिर होता है। तभी ध्यान संभव है।

किन्हीं महानुभावों की यह अवधारणा है कि अन्तरंग में से जब ममत्व आदि परिग्रह निकलेगा तो बाहरी परिग्रह बाद में स्वयं बिना प्रयास के छूट जायेगा। यह विचार समीचीन नहीं, जिनागम से मेल नहीं खाता। अध्यात्म के मूर्धन्यमणि आचार्य अमृतचन्द्र जी ने बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह त्याग का क्रम अथवा साध्य-साधन भाव निम्न प्रकार प्रकट किया है -

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव,
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम् ।
अज्ञानमुज्झितमना अधुना विशेषात्,
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥ - समयसार कलश

अर्थ - इस प्रकार सामान्य रूप से ही निज-पर के अज्ञान के कारणभूत समस्त परिग्रह (बाह्य परिग्रह) को त्याग कर साधु अब अज्ञान (अन्तरंग परिग्रह) को त्यागने हेतु पुनः प्रवृत्त हुआ है।

6. त्रिविध उपयोग (अशुभ, शुभ, शुद्ध) मे ध्यानों की संभावना तत्त्वार्थसूत्रकार ने नवम अध्याय में प्रकट किया है कि आर्त्त-रौद्र ध्यान संसार के तथा धर्म्य-शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं। आशय यह है कि पूर्ववर्ती ध्यान हेय हैं तथा परवर्ती 2 ध्यान उपादेय हैं। आचार्य उमास्वामी के गुरु आचार्य कुन्दकुन्द तथा अन्यों ने भी कहा है कि तीव्र कषाय सक्लेश रूप उपयोग अशुभ है, मन्दकषायरूप (अर्हन्तादिक के भक्ति आदिरूप) उपयोग शुभ है तथा कषाय रहित उपयोग शुद्ध है। यहाँ परिणाम, भाव, उपयोग अपेक्षाकृत एकार्थवाची के रूप में ज्ञान-दर्शन (चेतना) के पर्याय हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड में वर्णित किया है -

भावं तिविहपयारं सुहासुहं च सुद्धमेव णायव्वं ।
असुहं अट्टरउद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ 76 ॥

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं ।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ 77 ॥

जिनवरदेव ने भाव तीन प्रकार कहा है - 1. शुभ, 2. अशुभ और 3. शुद्ध। आर्त्त और रौद्र अशुभ भाव हैं, शुभ भाव धर्मध्यान है। शुद्ध है वह अपना शुद्ध स्वभाव अपने में ही है। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि धर्मध्यान शुभोपयोग रूप है। उसे तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष का कारण कहा है अतः श्रेय है उपादेय है। वह परम्परारूप में मोक्षसाधन या शुद्धोपयोग के कारण के रूप में स्वीकृत है। समयसार में वर्णित शुभ-अशुभ की समानता की अपेक्षा न समझकर शुद्धोपयोग प्राप्ति की पात्रता के अभाव में भी शुभ को सर्वथा हेय मानने वालों की, निश्चयैकान्तियों की ध्यान सम्बन्धी मान्यता, कि शुभोपयोग चूंकि विकल्परूप, रागसहित है अतः सर्वथा हेय है, का निरसन होता है। उमास्वामी ने विचय रूप, विकल्परूप धर्म्यध्यान को स्पष्ट रूप से मोक्ष का हेतु माना है। शुद्धोपयोग, शुक्लध्यान, निर्विकल्प अनुभूति, निश्चयध्यान, शुद्धध्यान आदि के लिये शुभोपयोग, धर्मध्यान, सविकल्प अनुभूति, व्यवहारध्यान अनिवार्य साधन है। व्यवहार मोक्षमार्ग भी मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकृत है। कहा भी है -

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनः ॥ - तत्त्वार्थसार

निश्चय और व्यवहार दो प्रकार मोक्षमार्ग है, निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है। यह तो स्पष्ट ही है साधनपूर्वक ही साध्य की संभावना होती है, पहले व्यवहार मोक्षमार्ग होता है।

वर्त्तमान में अपने अव्रती के रूप में कथन करने वाले कतिपय व्यक्ति या वर्ग यह घोषणा करते हुए ज्ञात होते हैं कि अमुक स्थान पर, अमुक तिथि व समय पर निर्विकल्प शुद्ध आत्मानुभूति हुई। यह मान्यता तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर पूर्णतया कपोलकल्पित एवं मिथ्या सिद्ध होती है। निर्विकल्प अनुभूति तो शुद्धोपयोगवर्ती शुक्लध्यान है जिसको गुप्ति आदि धारक एव समस्त परिकर्मकर्त्ता श्रुतकेवली ही करने में समर्थ हैं। इस प्रकार के एकान्त निश्चयाभासी लोग इसी कारण, उनके मत का स्पष्ट रूप से जिसमें खण्डन होता है ऐसे, तत्त्वार्थसूत्र अपरनाम मोक्षशास्त्र का स्वाध्याय, वाचन, पठन-पाठन नहीं करते जबकि दिगम्बर परम्परा के आद्य प्रस्थापक महर्षि कुन्दकुन्द के पट्टशिष्य उमास्वामी महाराज द्वारा प्रणीत यह गागर में सागर को चरितार्थ करने वाला ग्रन्थ तब से लेकर अब तक आचार्यों तथा चतुर्विध संघ का कण्ठहार बना हुआ है। समस्त भारत में यह जैनियों की बाइबिल माना जाता है।

यहाँ यह भी कहना मार्गप्रभावना की दृष्टि से उपयोगी होगा कि एकान्त निश्चयाभासी एव संयम की महत्ता को न मानने वाले लोग यह भी कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग रूप ध्यान है और उसकी काल मर्यादा कम है मुनि से न्यून है। यही मात्र अन्तर है, परिणाम शुद्ध आत्मा की अनुभूति का ही है। जिनागम की दृष्टि से यह मान्यता मिथ्या है।

क्योंकि यदि एक-सा परिणाम हो तो निर्जरा भी समान होना चाहिये जबकि आगम से सूर्यप्रकाशसम स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय तक अपेक्षित गुणस्थानों में क्रमशः असख्यातगुणी निर्जरा है अन्तर परिणाम का अवश्य है। ज्ञातव्य है कि चौथे गुणस्थान में कषायों की तीन चौकड़ी का उदय है, मुनि के एक ही मन्द संज्वलन का उदय उस अवस्था में है। तीन चौकड़ी के उदय रूप में उपयोग की शुद्धता, निर्विकल्प अनुभूति या शुद्धध्यान असंभव है। उसके तो बुद्धिपूर्वक राग का (अशुभ राग का भी) उदय है। हाँ उसके गुणस्थान के आगमकथित स्वरूप को गोम्मटसार आदि के अनुसार मानना इष्ट है।

7. उपर्युक्त प्रकार ध्यान विषयक मान्यताओं का तत्त्वार्थसूत्र के परिप्रेक्ष्य में दिग्दर्शन कराते हुए अपेक्षित यथासंभव समन्वय प्रस्तुत करने का इस आलेख में प्रयास किया गया है, अन्य ग्रन्थों के मान्य रूपों का भी यथास्थान उपयोग किया गया है। तथापि सम्पूर्णतया में संतोषजनक नहीं मानता हूँ। शोधार्थियों के लिये विस्तृत क्षेत्र अवशिष्ट है, उनसे अपेक्षा है कि एतद्विषयक क्षेत्र को गति प्रदान करें। शास्त्र और शास्त्रार्थ दोनों ही गम्भीर समुद्रवत् दुरूह हैं। मेरे इस प्रयास में त्रुटि संभव है विज्ञजन सुधारें कर ज्ञान प्रसार में सहायक बनें, यह अपेक्षा है।

चेतना का निर्मलीकरण : संवर और निर्जरा के परिप्रेक्ष्य में

* पं. मूलचन्द लुहाड़िया

तत्त्वार्थसूत्र जैन साहित्य का प्रथम संस्कृत सूत्र ग्रन्थ होने के साथ-साथ जैन तत्त्वज्ञान का व्यापक परिचय प्रदान करने वाला एक मात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में मोक्षमार्ग का तथा उसके लिए मूलतः श्रद्धा करने योग्य प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का सांगोपांग निरूपण है। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि टीका की उत्थानिका में लिखा है कि अपना हित चाहने वाले किसी एक बुद्धिमान निकट भव्य ने किसी एकान्त आश्रम में ठहरे बिना बोले अपने शरीर की मुद्रा मात्र से मूर्तिमान मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाले निर्ग्रन्थ दिगम्बर आचार्य के पास जाकर विनय पूर्वक पूछा - ''भगवन्! आत्मा का हित क्या है? आचार्य ने उत्तर दिया - आत्मा का हित मोक्ष है।'' भव्य ने फिर पूछा - 'मोक्ष का क्या स्वरूप है और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है?' आचार्य ने कहा कि - 'जब आत्मा कर्म मल कलंक और शरीर को अपने से सर्वथा अलग कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप अव्याबाध सुख की सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं।' इस प्रकार आत्मा के गुणों की स्वाभाविक अवस्था रूप मोक्ष की प्राप्ति का उपाय बताते हुए आचार्य कहते हैं समीचीन श्रद्धान, ज्ञान और आचरण ही मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। मूलतः सात तत्त्वों का समीचीन श्रद्धान होने पर ज्ञान और चारित्र उत्पन्न और विकसित होते हैं और फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मोक्ष अथवा मुक्ति आत्मा की स्वाभाविक अवस्था को कहते हैं। सुख आत्मा का स्वभाव है। स्वाभाविक अवस्था पूर्णसुख की अवस्था है। वैभाविक अवस्था दुःख रूप है। ससार परिभ्रमण दुःख रूप है। दुःख मुक्ति अथवा वैभाविक अवस्था का अभाव ही मोक्ष है जो सुख स्वरूप है। सात तत्त्वों में आस्रव बन्ध ये दो तत्त्व कर्मबन्ध के कारण अथवा दुःख के कारण हैं और संवर-निर्जरा ये दो तत्त्व बन्धन के अभाव के कारण अथवा सुख के कारण हैं। आस्रव बन्ध से आत्मा कर्मों से बंधता है और उससे आत्मा मैली बनती है, कषाययुक्त होती है, दुःखी होती है। दूसरी ओर सवर-निर्जरा के द्वारा आत्मा निर्मल बनती है, कषायरहित होती है, स्वभाव में आती है अतः सुखी होती है। अतः आत्मा / चेतना का वैभाविक मैलेपन से छूटकर स्वाभाविक निर्मलता को प्राप्त करना ही मोक्ष प्राप्त करना है। उस आत्मा / चेतना के निर्मलीकरण की प्रक्रिया ही संवर-निर्जरा कहलाती है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने ग्रन्थ के नवम अध्याय में मोक्ष की कारणभूत उस चेतना के निर्मलीकरण की प्रक्रिया का अर्थात् संवर-निर्जरा तत्त्व का वर्णन किया है।

नवम अध्याय के प्रथम सूत्र में संवर तत्त्व का लक्षण कहा गया है। '**आस्रवनिरोधः संवरः**' आस्रव का निरोध करना संवर है। आत्मप्रदेशों की ओर कर्मवर्गणाओं का आकर्षित होकर आना आस्रव कहलाता है। मन, वचन, काय की क्रिया ही योग है जिसके कारण आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन होता है। आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन से अबद्ध कार्मणवर्गणाएँ

* लुहाड़िया सदन, जयपुर रोड, मदनगंज-किशनगढ़ (अजमेर)

आत्मा की ओर आकर्षित होती हैं और आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक होकर बन्ध जाती हैं। आस्रवित कार्मणवर्गणाएँ कषाय के कारण आत्मप्रदेशों के साथ बन्ध जाती हैं। कषायों के सद्भाव में आस्रव और बन्ध दोनों क्रियायें साथ-साथ होती हैं। अतः आस्रव निरोध के साथ बन्धनिरोध भी अभिप्रेत है। इस आस्रव-बन्ध की प्रक्रिया के रुक जाने को ही संवर कहते हैं। जैसे-जैसे संवर होता है वैसे-वैसे आत्मचेतना को मलिन करने वाली कषाय भी क्षीण होती जाती है और कर्मों के ग्रहण का विच्छेद होता जाता है। इस प्रकार क्रमशः आस्रव-बन्ध कम होता जाता है और संवर-निर्जरा बढ़ती जाती है। जिससे आत्मचेतना अधिक निर्मल होती जाती है।

सामान्य तर्क से ही यह बात समझ में आ जाती है कि जिन कारणों से कर्मों का आस्रव-बन्ध होता है उनके दूर हो जाने पर अथवा उनसे विपरीत कारणों से संवर-निर्जरा होती है। नूतन कर्मों के ग्रहण का धीरे-धीरे विच्छेद होता जाता है और पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा होती जाती है। इस प्रक्रिया से सम्पूर्ण कर्मों का निःशेष तथा क्षय हो जाने पर आत्मा पूर्णतः कर्ममुक्त अथवा कषायमुक्त हो जाती है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाती है।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने आस्रव-बन्ध के कारणों में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एव योग बताए हैं। सर्वप्रथम मिथ्यात्व कारण दूर होता है। मिथ्यात्व के दूर हो जाने पर मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डक संस्थान, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारणशरीर ये सोलह प्रकृति रूप कर्मों का संवर हो जाता है। तत्त्व श्रद्धान के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तब अनन्तानुबन्धी कषाय चौकडी का अभाव हो जाता है तब चतुर्थ गुणस्थान में 25 प्रकृतियों का और संवर हो जाता है। अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान में सोलह व पच्चीस कुल 41 प्रकृतियों का आस्रव-बन्ध नहीं होता। आगे देशसयम ग्रहण कर लेने पर अप्रत्याख्यानावरण कषाय चौकडी का अनुदय हो जाता है और दम कर्म प्रकृतियों का संवर हो जाता है। आगे प्रत्याख्यानावरण कषाय चौकडी का अभाव होने पर सकलसयम धारण कर निर्ग्रन्थ दिगम्बर अवस्था प्राप्त हो जाती है और इस पद से अन्य प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया व लोभ इन चार कर्म प्रकृतियों का संवर हो जाता है। पुनः प्रमाद के अभाव से सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान में 6 कर्म प्रकृतियों का संवर हो जाता है। आगे श्रेणी में तीव्र कषाय का उत्तरोत्तर अभाव होने पर विवक्षित भाग से आगे क्रमशः दो, तीन एवं चार प्रकृतियों का सवर हो जाता है। इसी प्रकार मध्यम कषाय का भी अभाव होने पर क्रोध, मान और माया संज्वलनकषाय का सवर होता है। आगे सूक्ष्म लोभ का भी अभाव होने पर पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अन्तराय, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र का भी संवर हो जाता है। केवल योग के निमित्त से वेदनीय का आस्रव 11 वे, 12 वें और 13 वें गुणस्थान मे होता है। योग का अभाव होने पर अयोग केवली को पूर्ण संवर हो जाता है।

संवर आत्मा में नए दोष और उनके कारणों को उत्पन्न नहीं होने देने का मार्ग है। संवर के साथ संचित कर्मों को तप के द्वारा निर्जरित करने पर मुक्तिलाभ होता है। अतः आत्मा चेतना के निर्मलीकरण का उपाय संवर-निर्जरा ही है।

संवर के कारणों का वर्णन करते हुए दूसरे सूत्र में आचार्य उमास्वामी महाराज ने कहा है कि वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है। मन, वचन, काय की क्रिया को समीचीन प्रकार से निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का निरोध होने पर संवर स्वतः सिद्ध है। गुप्ति में नहीं रह पाने पर मन-वचन-काय की हिंसारहित यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है। सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेप और सम्यगुत्सर्ग इस प्रकार समिति के पांच भेद हैं। इस प्रकार यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले के असंयम रूप परिणामों के निमित्त से जो कर्मों का आस्रव होता है उसका संवर हो जाता है। तीसरा संवर का कारण धर्म

है। ऊपर संवर का प्रथम कारण योगप्रवृत्ति का निग्रह करना कहा है। जो वैसा करने में असमर्थ है उसके लिए यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने के रूप में संवर के दूसरे कारण का विधान किया गया है। समितियों में प्रवृत्ति करने वाले के प्रमाद का परिहार करने के लिए धर्म को संवर के तीसरे कारण के रूप में बताया गया है। समितियों की पालना के बाद भी परिणामों की शुद्धि के लिए दश धर्मों का जीवन में पालन संवर के चौथे कारण के रूप में बताया गया है। लौकिक प्रयोजन का निषेध करने के लिए एव जीवन में तत्त्वज्ञान की भूमिका पूर्वक आध्यात्मिक प्रयोजन की दृष्टि रखने के लिए क्षमादि धर्मों के पहले उत्तम विशेषण का प्रयोग किया गया है। धर्मो में स्थिरता कषायों की हानि और परिणामों में वैराग्य की दृढ़ता लाने के लिए संवर के पाँचवें कारण के रूप में अनुप्रेक्षा का विधान है।

भोगासक्ति, देहासक्ति, परिग्रहासक्ति, स्वजनासक्ति के अनादिकालीन दृढ़मूल संस्कारों की क्षीणता के लिए एवं तत्त्व श्रद्धान की पुष्टता के लिए निरन्तर बार-बार चिन्तन करने योग्य अनुप्रेक्षाएँ हैं। यह देह, इन्द्रिय, विषय, भोगोपभोग योग्य पदार्थ, बाह्य वैभव सपत्ति, जल के बुद्बुद् के समान अनवस्थित स्वभाव वाले होते हैं। मोहवश यह अज्ञ प्राणी इनको नित्य समझता है। वस्तुत: आत्मस्वभाव के अतिरिक्त सभी पर पदार्थ अध्रुव हैं, ऐसा चिन्तन अनित्यानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले भव्य के पर से अनासक्ति होने से पर-पदार्थों के वियोग में संताप नहीं होता है। जिस प्रकार एकान्त में क्षुधित मांसभोजी बलवान् व्याघ्र के द्वारा दबोचे गए मृगशावक के लिए कोई शरण नहीं होता उसी प्रकार जन्म-जरा-मृत्यु आदि दु:खों से घिरे हुए इस जीव को संसार में कोई शरण नहीं है। धन, मित्र, बाधव, मन्त्र, तन्त्र, कोई भी इसकी मरण से रक्षा नहीं कर पाते। केवल धर्म शरण है ऐसा चिन्तन अशरणानुप्रेक्षा है। ससार मे वैभवशाली व्यक्ति तृष्णा के कारण और दरिद्री अभाव के कारण दु:खी है। तत्त्वदृष्टि प्राप्त हुए बिना पर-पदार्थ के प्रति रही आई आसक्ति के कारण सभी जीव दु:खी हैं। इस प्रकार संसार के स्वभाव का चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है। ऐसे चिन्तन से साधक के मन में संसार से निर्वेद उत्पन्न होता है और वह संसार से निर्विण्ण होकर आत्मा के निर्मलीकरण में अधिक उत्साह से संलग्न होता है। मोक्षपथगामी वह साधक अपने को अकेला अनुभव करता है। मैं अकेला ही जन्म लेता हूँ, मरता हूँ और अकेला ही सुख-दु:ख का अनुभव करता हूँ। यह एकत्वानुप्रेक्षा का चिन्तन है। ऐसे चिन्तन से स्वजनों के प्रति राग एवं पर जनों के प्रति द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं होते और आत्म स्वातन्त्र्य की श्रद्धा से अपने उत्थान के लिए अपने भीतर आत्मबल की वृद्धि होती है। जब यह देह ही मेरी नहीं है, एक दिन छूट जाती है तो अन्य स्पष्ट पर-पदार्थ मेरे कैसे हो सकते हैं ? इस प्रकार का चिन्तन अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस चिन्तन से देहादिक से ममत्व छूट जाता है और तत्त्व ज्ञानपूर्वक वैराग्य की प्रकर्षता से संवर-निर्जरा के द्वारा मोक्षपथ पर पद बढ़ते जाते हैं। यह देह अत्यन्त अशुचि पदार्थों का पिण्ड है। अतिदुर्गन्ध रस को प्रवाहित करता रहता है। अशुचित पदार्थों द्वारा निर्मित इस देह को स्नानादि से कदापि शुचि नहीं किया जा सकता। रत्नत्रय की साधना से पवित्र हुई आत्मा के संसर्ग से कथंचित् देह भी शुचि की जा सकती है। यह अशुचि अनुप्रेक्षा का चिन्तन है। इस चिन्तन से देहासक्ति क्षीण होकर स्वात्मलीनता प्राप्त होती है। इन्द्रिय, भोग, अव्रत और कषाय रूप आस्रव इस आत्मा को मैला करता है और इसीलिए जीव को दु:ख देने वाला है। आस्रवानुप्रेक्षा का चिन्तन आत्मा में आस्रव के कारणों के त्याग और संवर के कारणों के ग्रहण की प्रेरणा देता है। दु:ख के कारण रूप आस्रव से अपने को बचाकर सुख के कारण संवर के गुणों को निरन्तर चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है। संवर के साथ-साथ साधक निर्जरा के गुणों का भी चिन्तन करता है। कर्मफल के विपाक से होने वाली अबुद्धिपूर्वक निर्जरा मोक्षमार्ग में निर्जरा तत्त्व के रूप में ग्राह्य नहीं है। किन्तु परीषहविजय और तपाराधना के द्वारा कुशलमूला अविपाकनिर्जरा ही आत्मा के स्वभाव प्राप्ति में कार्यकारी है। यह चिन्तन निर्जरानुप्रेक्षा है। लोक की रचना एवं व्यवस्था का चिन्तन लोकानुप्रेक्षा है जो साधक के तत्त्वज्ञान को

विशुद्ध और श्रद्धा को पुष्ट करता है। संसार परिभ्रमण में अनन्तकाल तो निगोद पर्याय में बीता। निगोद से बाहर आने पर भी त्रस पर्याय प्राप्त होना दुर्लभ रहता है। त्रसपर्याय में भी अधिक काल तो विकलेन्द्रिय पर्याय में ही बीतता है। पंचेन्द्रियों को भी मनुष्य पर्याय प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। उसमें भी उच्चकुल, निरोगता, इन्द्रियपूर्णता, सत्संगति आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ स्थितियाँ प्राप्त होने पर भी तत्त्वज्ञान की भूमिका पूर्वक बोधिलाभ प्राप्त होना महान् दुर्लभ है। इस प्रकार चिन्तन करना बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है। ऐसा चिन्तन करने से वैराग्यमय बोधिलाभ प्राप्त करने में उत्साह जागृत होता है। जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित अहिंसा एव अपरिग्रह लक्षण वाला धर्म ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है। ऐसा चिन्तन धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाला व्यक्ति जीवन में धर्म को धारण करता है। इस प्रकार अनित्यादि अनुप्रेक्षाओं के निरन्तर चिन्तन से उत्तमक्षमादि धारण होते है और परीषहों को जीतने की शक्ति उत्पन्न होती है। अनुप्रेक्षा और परीषहजय से महान् सवर होता है।

सवर-निर्जरा की साधना करने वाले साधक की दृष्टि पलट जाती है। शरीर की सुख सुविधाएँ अब सुख देने वाली प्रतिभासित नहीं होती। बल्कि शारीरिक असुविधाओं के क्षणों में सवर-निर्जरा की अधिक साधना होने से वे मन को भाती है। साधक यदि असुविधाओ मे जीने का अभ्यास करके अपनी आत्मलीनता की वृत्ति को नहीं बढ़ाता है तो असुविधाओं के आने पर वह आत्मा में समता परिणाम बनाए नही रख सकता है। अतएव सवर-निर्जरा के मार्ग से च्युत नहीं होने और निरन्तर होने वाली निर्जरा में वृद्धि प्राप्त करने के लिए साधक परीषहो को सहन करने का अथवा जीत लेने का अवश्य अभ्यास करता है। परीषहो को सहन कर लेना ही तो इस बात का प्रमाण है कि हमारी शरीर से आसक्ति कम हुई है और तत्त्वरुचि अथवा आत्मरुचि उत्पन्न हुई है। परीषह 22 होते हैं - क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन। परीषहसहन से सवर होता है। औपक्रमिक कर्मों के फल भोगते हुए मुनिजन निर्जरण कर्म वाले हो जाते हैं और क्रम से मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। इससे यह फलित होता है कि परीषह सहन से सवर-निर्जरा होती है और अन्त मे मोक्ष प्राप्त होता है। परीषहसहन अथवा परीषहविजय की स्थिति प्राप्त होने पर शारीरिक प्रतिकूलतायें साधक के ज्ञान में आते हुए भी उसके मन उन प्रतिकूलताओं के प्रति अनिष्टता के भाव नहीं आते हैं। कष्ट अथवा पीडा का अनुभव नही होता है। परिणामों में आकुलता नहीं होती, शान्ति और समता का अनुभव होता है। यह स्थिति ही संवर-निर्जरा की साधक स्थिति है। मोक्षार्थी पुरुष शारीरिक कष्टो को समताभाव पूर्वक सहन करता है। जो भिक्षा में भोजन नहीं मिलने पर अथवा अल्पमात्रा में मिलने पर क्षुधा की वेदना को प्राप्त नहीं होता। अकाल में या अदेश में अथवा दाता के अभाव में जिसे भिक्षा लेने की इच्छा नहीं होती, आवश्यकों की थोड़ी भी हानि जो सहन नहीं करता, जो स्वाध्याय और ध्यान भावना में निरन्तर तत्पर रहता है जो प्रायः स्वकृत अथवा परकृत अनशनादि तप करता है, जो नीरस आहार लेता है, क्षुधा वेदना को उत्पन्न करने वाले असातावेदनीय की उदीरणा होने पर भी जो भिक्षालाभ की अपेक्षा उसके अलाभ को अधिक हितकारी मानता है। और क्षुधाजन्य बाधा का अनुभव नहीं करता वही क्षुधापरीषहविजयी होता है। इसी प्रकार जो साधक प्रकृति विरुद्ध आहार, ग्रीष्मकालीन आतप, पित्तज्वर और अनशन आदि के कारण उत्पन्न हुई शरीर और इन्द्रियों का मथन करने वाली तीव्रपिपासा का प्रतिकार करने में रुचि नही रखता और संतोष एवं समाधि रूप शीतलजल से उसे शान्त करता है वही साधक पिपासापरीषहविजयी होता है। इसी प्रकार शीत, उष्ण, दंशमशक आदि की पीडाकारक बाधाओं को जो अपनी आत्मशान्ति के बल पर समतापूर्वक सहन कर लेते हैं और तनिक भी संताप का अनुभव नहीं करते वे महात्मा परीषहजयी होते हैं। अन्य भी परीषहों की जो सहनकर अपने समता परिमाणों से उन पर विजय प्राप्त करते हैं वे ही महात्मा परीषहजयी होते हैं और वे ही परीषहजय से विशेष संवर-निर्जरा की साधना करते हैं।

एकान्त स्थान पर नवयौवन, मदविभ्रम और मदिरापान से प्रमत्त हुई स्त्रियों द्वारा बाधा पहुँचाने पर कछुए के समान जिसने इन्द्रिय और मनोविकार को रोक लिया है तथा स्त्रियों द्वारा मन्दमुस्कार, कोमलसम्भाषण, तिरछी नजरों से देखना, हंसना और कामबाण चलाना आदि को जिसने विफलकर दिया है उसके स्त्रीपरीषहजय होता है।

जो प्राणों का वियोग होने पर भी आहार, वसति और औषधि आदि की दीन शब्दों द्वारा अथवा मुख की विवर्णता दिखाकर याचना नहीं करता तथा भिक्षा के समय भी जिसकी मूर्ति बिजली की चमक के समान दुरुपलक्ष्य रहती है ऐसे साधु के याचना परीषहजय जानना चाहिए।

इस प्रकार जो सकल्प के बिना उपस्थित हुए परीषहों को सहन करता है और जिसका चित्त संक्लेश रहित है उसके रागादि परिणामों के अभाव मे आस्रव का निरोध होने से महान् संवर होता है।

संवर के अन्तिम कारणों में चारित्र कहा गया है, जो मोक्ष का साक्षात् कारण है। चारित्र पाँच प्रकार का है - सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। सब प्राणियों के प्रति समताभाव रखने और समस्त सावद्य की निवृत्ति को सामायिक कहते हैं। छेदोपस्थापना में चारित्र में लगने वाले दोषों के परिमार्जन की मुख्यता है। प्राणिवध से सर्वथा निवृत्ति को परिहार कहते है। इस युक्त शुद्धि जिस चारित्र में होती है उसे परिहारविशुद्धि कहते हैं। परिहारविशुद्धि चारित्र ऐसे सम्पन्न व्यक्ति के होता है जो तीस वर्ष तक गृहस्थ अवस्था में सुखपूर्वक बिताकर सयत होने पर तीर्थंकर के पादमूल की परिचर्या करते हुए आठ वर्ष तक प्रत्याख्यानपूर्व का अध्ययन करता है। वह प्रमादरहित, महाबलशाली कर्मों की महान् निर्जरा करने वाला और अति दुष्कर चर्या का अनुष्ठान करने वाला होता है। जिस चारित्र मे केवल एक लोभकषाय अतिसूक्ष्म हो जाता है उसको सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। सूक्ष्मसाम्पराय दसवें गुणस्थान में होने वाला चारित्र है। समस्त मोहनीय के क्षय से या उपशम से जैसा आत्मा का स्वभाव है, उस अवस्था रूप जो चारित्र होता है वह यथाख्यातचारित्र कहा जाता है। यथाख्यातचारित्र बारहवें, तेरहवे और चौदहवें गुणस्थान में होता है।

संवर के कारणों के विश्लेषण के पश्चात् तप का वर्णन करना प्रसग प्राप्त है। जो तप बाहर से देखने में आता है उसको बाह्यतप कहते हैं। वे छह प्रकार के हैं - सयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्मों का विनाश, ध्यान और आगम की प्राप्ति के लिए अनशन तप किया जाता है। सयम को जाग्रत रखने, दोषों को प्रशम करने, सतोष और स्वाध्याय आदि की सिद्धि के लिए अल्प भोजन लेना अवमौदर्यतप है। भिक्षा के इच्छुक मुनि का एक घर आदि विषयक नियम आदि लेकर भिक्षा के लिए गमन वृत्तिपरिसंख्यानतप है। इन्द्रियों के दर्प का निग्रह करने के लिए निद्रा पर विजय पाने के लिए और सुखपूर्वक स्वाध्यायादि की सिद्धि के लिए घृत, दुग्ध, शक्कर आदि रसों का त्याग करना रसपरित्याग नामक तप है। एकान्त, शून्यघर आदि में निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि की सिद्धि केलिए संयत का शय्यासन लगाना विविक्तशय्यासन तप है। आतापनयोग, वृक्ष के मूल में निवास, निरावरण शयन एवं अन्य नाना प्रकार के प्रतिमायोग इत्यादि करना कायक्लेश नामक छठवां तप है। यह तप देहदुःख को सहन करने के लिए इन्द्रिय सुख विषयक आसक्ति को कम करने के लिए और प्रवचन की प्रभावना करने के लिए किया जाता है।

अब आभ्यन्तर तप का विवेचन किया जाता है। आभ्यन्तर तप भी छह ही होते है - प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। इन तपो से मन का नियमन होता है अत: इनको आभ्यन्तर तप कहते हैं। प्रमादजन्य दोषों का परिहार करना प्रायश्चित्त तप है। पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय तप है। मुनियों की सेवा करना वैय्यावृत्त है। आलस्य का त्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय तप है। अहंकार और ममकार रूप सकल्प का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। चित्त के विक्षेप का त्याग कर उपयोग का केन्द्रित करना ध्यानतप है।

प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं। विनय के चार भेद हैं - ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय।

निर्दोष ग्रन्थ पढ़ना और उसका अर्थ बतलाना वाचना है। संशय मिटाने के लिए प्रश्न करना पृच्छना है। जाने हुए अर्थ का मन में बार-बार अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। उच्चारण की शुद्धि पूर्वक पाठ को पुनः पुनः दोहरना आम्नाय है और धर्म का उपदेश देना धर्मोपदेश है। अपने ज्ञान में प्रकर्षता के लिए, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिए, परम संवेग के लिए, तप में वृद्धि के लिए और परिणामों में विशुद्धि प्राप्त करने के लिए स्वाध्याय तप किया जाता है।

त्याग करना व्युत्सर्ग है। यह दो प्रकार का है - बाह्य उपधित्याग और अन्तरंग उपधित्याग। आत्मा के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं हुए ऐसे धन, धान्य, मकान-जायदाद आदि बाह्य उपधि हैं। क्रोधादि कषायभाव आभ्यन्तर उपधि हैं। तथा नियतकाल तक अथवा यावज्जीवन काय से ममत्व का त्याग करना भी आभ्यन्तर उपधि त्याग कहा जाता है। यह व्युत्सर्गतप निःसंगता, निर्भयता और जीविताशा के त्याग के लिए किया जाता है। आभ्यन्तर तपों में मुख्य अन्तिम तप ध्यान है। एक विषय में चित्तवृत्ति (उपयोग) को रोकना ध्यान है। उपयोग चंचल होता है। नाना विषयों का अवलम्बन लेने से उपयोग परिवर्तित होता रहता है। उसे अन्य अशेष विषयों से हटाकर एक विषय पर नियमित करना एकाग्रचिन्तानिरोध कहलाता है, यही ध्यान है। ध्यान के चार भेद हैं - आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें से अन्त के दो ध्यान धर्म और शुक्ल मोक्ष के कारण हैं। आर्त्त और रौद्र ध्यान संसार परिभ्रमण के कारण हैं। अमनोज्ञ अथवा अनिष्ट पदार्थों के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए चिंता सातत्य का होना प्रथम अनिष्टसंयोगज आर्त्तध्यान है। मनोज्ञ वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत् चिन्ता करना ही दूसरा इष्टवियोगज आर्त्तध्यान है। वेदना के होने पर उसको दूर करने के लिए तीसरा वेदनाचिन्तन आर्त्तध्यान है। भोगों की आकांक्षा के लिए आतुर हुए व्यक्ति के आगामी विषयों की प्राप्ति के लिए संकल्प तथा निरन्तर चिन्ता करना निदान नाम का चौथा आर्त्तध्यान है। हिंसा, झूठ, चोरी एवं परिग्रह संरक्षण के लिए सतत् चिन्तन करना चार प्रकार का रौद्रध्यान है। इन आर्त्त और रौद्रध्यान को पुरुषार्थपूर्वक छोड़कर मोक्ष के कारणभूत दो ध्यान धर्म और शुक्लध्यान में उपयोग को लगाना चाहिए। संसार शरीर और भोगों से विरक्त होने के लिए या विरक्त होने पर उस भाव को स्थिर बनाए रखने के लिए जो प्रणिधान होता है उसे धर्मध्यान कहते हैं। धर्मध्यान चार प्रकार का है। उपदेश देने वाले का अभाव होने पर सूक्ष्म, अन्तरित और दूरस्थ विषयों के प्रति सर्वज्ञप्रणीत आगम के आधार पर विषय का निर्धारण करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। जगत् के ये मूढ़प्राणी मिथ्यादर्शन से छूटकर कैसे समीचीन मोक्षमार्ग का परिचय प्राप्त करें, इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना अपायविचय धर्मध्यान है। ज्ञानावरणादि कर्मों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव निमित्तक फल के अनुभव का निरन्तर चिन्तन करना विपाकविचय धर्मध्यान है। लोक के आकार तथा स्वभाव का निरन्तर चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है।

आज्ञाविचय तत्त्वनिष्ठा में सहायक होता है। अपायविचय संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति उत्पन्न करता है। विपाकविचय से कर्मफल और उसके कारणों की विचित्रता का ज्ञान दृढ़ होता है और संस्थानविचय से लोक की स्थिति का ज्ञान दृढ़ होता है। धर्मध्यान के द्वारा ही शुक्लध्यान की सिद्धि होती है। शुक्लध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है। शुक्लध्यान के चार भेद हैं - पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रिया-निवर्ति। प्रथम दो शुक्लध्यान श्रेणी में होते हैं। अन्तिम दो शुक्लध्यान केवली भगवान के होते हैं।

इस प्रकार संवर-निर्जरा के द्वारा आस्रव-बन्ध की परम्परा धीरे-धीरे कम होती-होती नष्ट हो जाती है और आत्मा पूर्ण निर्मल होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेती है। यही चेतना के निर्मलीकरण की प्रक्रिया है।

असंख्यातगुणश्रेणीनिर्जरा

* सिद्धार्थकुमार जैन

आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र के नवमें अध्याय में सवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन किया है। पहले सूत्र में संवर का लक्षण कहा तथा दूसरे सूत्र में वह संवर कैसे प्राप्त होगा, इसके कारणों को कहा और तीसरे सूत्र में **तपसा निर्जरा च** कहकर तप को संवर और निर्जरा में सयुक्त कारण निरूपित किया। आगे के सूत्रों में क्रम से विस्तार करते हुये 10 धर्म, 12 भावना, 22 परीषह का वर्णन किया तथा 19 वें सूत्र में बाह्य तप को तथा 20 वें सूत्र में अंतरंग तप का वर्णन करते हुये इनके भेद-प्रभेदों को बताया। अन्तिम तप में ध्यान के वर्णन में शुक्लध्यान का वर्णन करने के पश्चात् सूत्र क्रमांक 45 में असंख्यातगुणश्रेणी निर्जरा के पात्रों को दर्शाया। इससे एक दृष्टि प्राप्त होती है कि आखिर यह कौन सी निर्जरा है, इसका कार्य क्या है, कौन-कौन-से जीव इसे कर सकते हैं, किन-किन कारणों से यह होती है यही सभी बातों पर चिन्तन करने का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है।

निर्जरा क्या है : आत्मा के साथ सश्लेष संबध को प्राप्त पुद्गलकर्मो का एक देश आत्मा से झर जाना निर्जरा है एवं सम्पूर्ण कर्मों का झर जाना मोक्ष है यह सामान्य लक्षण कहा है। निर्जरा 2 प्रकार की बतलाई गई है। यथा - 1 सविपाकनिर्जरा 2. अविपाकनिर्जरा।

1. सविपाकनिर्जरा सभी संसारी जीवों के होती है, बिना पुरुषार्थ के ही होती है। पूर्व बंधा हुआ कर्म उदय में आता है अपना फल देकर निर्जीण हो जाता है यह पहली सविपाक निर्जरा है।

2. अविपाकनिर्जरा - पुरुषार्थ पूर्वक उदय समय के पूर्व में कर्मो को उदय में लाकर निर्जरित करना अविपाक निर्जरा है। इसके आगम में कई उदाहरण दिये गये हैं, जिससे ये दोनों निर्जरा समझीं जा सकती हैं यथा सविपाकनिर्जरा पेड में स्वयं पकने के बाद आम गिरता है तथा दूसरी कच्चे आम को तोडकर पाल लगाकर भिन्न-भिन्न तरीकों से उसे पकाया जाता है। यही दूसरी अविपाक निर्जरा ही मुख्यत: मोक्षमार्ग में कारण है बिना अविपाक निर्जरा के मोक्षमार्ग बनता ही नहीं है। इसी अविपाक निर्जरा में ही एक निर्जरा 'असंख्यातगुणश्रेणीनिर्जरा' कही। यह निर्जरा मोक्षमार्ग में अपना विशेष स्थान रखती है।

असंख्यातगुणश्रेणीनिर्जरा क्या है ? - जैसा कि शब्द से परिलक्षित होता है असंख्यात गुणी निर्जरा जो श्रेणी रूप में बढ़ती जाती है और हर अगले समय में पूर्व समय से असंख्यात गुणे कर्मों की निर्जरा होती जाती है। इसे एक उदाहरण से समझने पर स्पष्ट हो जायेगा।

एक फकीर कुंभ के मेले में हरिद्वार गया और उसने घूमते हुये एक सेठ से एक रूपये भिक्षा की याचना की। सेठ ने उससे कहा कि 1 रूपये कमाने में मेहनत होती है, मुफ्त में नहीं आता हम एक रूपये को तो 6 माह में अपनी मेहनत से दुगना कर लेते हैं, फकीर सुनकर मुस्कराया और कहने लगा - सेठ आप बहुत कुशल व्यापारी हैं अत: 1 रूपया मेरा भी

* 554, श्रावक निवास, गली नं. 3 प्रेमनगर, सतना, फोन नं. 237174, 235474

आप रख लेवें मैं अपना रूपया 12 वर्ष बाद अगले कुंभ पर ले लूंगा और अपना एक रूपया देकर चला गया। समय बीता 12 वर्ष बाद फकीर पुनः हरिद्वार पहुँचा। सेठ के पास गया और पिछले कुंभ की बात याद दिलाई। सेठ ने कहा - ठीक है; अपना हिसाब ले लो। सेठ ने उसे 10-20 रूपये देकर कहा हिसाब हो गया। फकीर तो अड़ गया कहने लगा - सेठ हिसाब में 10-20 कम दे देना, लेकिन हिसाब कर लो - सेठ ने हिसाब जोड़ा तो वह एक रूपया हर 6 माह में दुगुने के अनुसार 24 किस्तों में 1 करोड़ 67 लाख 37 हजार 216 रूपये हो गया। सेठ घबड़ा गया। हम आप भी इतनी राशि सुनकर चौंक गये होंगे। लेकिन नीचे लिखे अनुसार हिसाब देखे -

1 रूपये 6 माह में 2, 1 वर्ष मे 4, इसी प्रकार हर 6 माह में दुगुने क्रम से 8-16-32-64-128-512-1024-2048-4096-8192-16384-32768-65536-1,31,072-2,62,144-5,24,288-10,48,576-20,97,152-41,84,304-83,68,608 एव 24 वी किस्त में 12 वर्ष बाद 1,67,37,216=00 रूपये हो गये। यह उदाहरण तो दुगुने-दुगुने क्रम का है इसी क्रम को यदि हम गुणित क्रम में देखें तो जो राशि पहले समय में एक है वही दूसरे समय मे 4 तीसरे समय में 16 इस क्रम से वृद्धि को प्राप्त होती है यथा - 1-1, 2-2, 3-4, 4-16, 5-256, 6-65356, 7-4,29,49,67,296 अर्थात् सातवें समय मात्र में यह राशि 1 से बढकर गुणित क्रम में 4 अरब 29 करोड़ 49 लाख 67 हजार दौ सो छियानवे हो गई। आठवे समय में गुणा करने पर राशि इतनी है कि हम उसे पढ़ भी नही पायेंगे। 9 अक की सख्या हो जायेगी। इस प्रकार हमने द्विगुणित एवं गुणित क्रम को जाना। इसी बात को असख्यात गुणित क्रम जानने के लिये देखे -

पहले समय मे निर्जरित कर्म — दूसरे क्रम में अर्थात् दूसरे समय मे असख्यात x असंख्यात

तीसरे समय मे दूसरे समय की राशि x असख्यात — चौथे समय मे तीसरे समय की राशि x असख्यात

इस प्रकार प्रतिसमय असख्यात असख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा बढ़ती चली जाती है और जीव अपनी पात्रतानुसार पूरे-पूरे जीवन भर अपने अनन्त कर्मों को खिरा देते है। अपने पूर्व असख्यातों जन्मो मे बाँधे हुये कर्मों के बोझ को इस निर्जरा के द्वारा हलका कर लेते है और मोक्षमार्ग प्रशस्त करके मुक्ति को प्राप्त हो जाते है। इसमे और भी विशेषतायें है यह सामान्य कथन किया है अन्य विशेषताए आगे आने वाले शीर्षको में स्वयं प्रतिपादित हो जायेंगी। इसलिये उस प्रसंग को यहाँ नहीं लिया है।

असंख्यातगुण श्रेणी निर्जरा कौन कर सकता है - तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 9 के 45 वें सूत्र मे आचार्य उमास्वामी महाराज ने इसको खुलासा किया है। 10 पात्र बतला रहे है यथा - **सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शन-मोहक्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ 9/45 ॥** जिसका क्रम इस प्रकार है - 1. अविरति सम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थानवर्ती, 2. देशव्रती श्रावक पंचमगुणस्थानवर्ती, 3. विरत अर्थात् 6 वें एवं 7 वें गुणस्थानवर्ती मुनि महाराज, 4. अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाले, 5. दर्शनमोह का क्षय करने वाले, 6. चारित्रमोह का उपशम करने वाले अर्थात् उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले मुनिराज, 7. उपशान्तमोह 11 वें गुणस्थानवर्ती महामुनिराज, 8. मोहनीय की क्षपणा करने वाले क्षपकश्रेणी पर आरूढ़, 9. मोहनीय परिवार को नाश कर लिया है ऐसे 12 वें गुणस्थानवर्ती मुनिराज और 10. जिनाः अर्थात् अरिहन्त भगवान 13 वें एवं 14 वें गुणस्थानवर्ती। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा उत्तरोत्तर विकसित दस पात्र कहे गये हैं।

विशेष - अन्य-अन्य ग्रन्थों में कहीं 11 स्थान भी कहे गये हैं। शास्त्रसारसमुच्चय की हिन्दी टीका जैनतत्त्वविद्या के चौथे अध्याय सूत्र 62 में 11 वाँ स्थान केवली समुद्घात लिया गया है, उस समय पूर्ववर्ती स्थिति से अधिक निर्जरा है ऐसा

विवरण प्राप्त होता है। षट्खण्डागम परिशीलन पृष्ठ 39 पर भी धवला की 12 वीं पुस्तक के अनुसार 11 स्थान कहे गये हैं।

कौन-कौन से जीव कितनी निर्जरा कर सकते हैं -इस बात पर विचार करने के लिये हमें सर्वप्रथम यह जानना होगा कि यह निर्जरा प्रारम्भ कहाँ से होती है ? जब मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन प्राप्ति हेतु पाँच लब्धियों में करणलब्धि के परिणाम करता है, उस समय जो तीन करण - अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों के समय आयुकर्म को छोडकर बाकी 7 कर्मो की बहुत निर्जरा होती है। उस समय उस जीव को सम्यक्त्व के सन्मुख या सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं तथा जैसे ही यह जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है तो सम्यक्त्व प्राप्ति के काल में इसकी जो निर्जरा होती है उसे असंख्यात गुणी निर्जरा के प्रथम स्थान के रूप में लिया गया है। सातिशय मिथ्यादृष्टि अवस्था से सम्यक्त्व अवस्था में जो निर्जरा होती है वह पूर्व-पूर्व की अपेक्षा असंख्यात गुनी होती है इसलिये इसे पहले पात्र के रूप में स्वीकार किया गया है। पुनः वही जीव जब व्रत स्वीकार कर देशव्रती श्रावक बनता है तो उसे द्वितीय पात्र स्वीकार किया गया है और उसकी निर्जरा अपनी प्रथम अवस्था से असंख्यात गुणी है। वही श्रावक जब महाव्रत स्वीकार करता है मुनि अवस्था को प्राप्त होता है तो श्रावक अवस्था में होने वाली असंख्यातगुणी निर्जरा से भी असख्यातगुणी निर्जरा करता है। वही मुनि महाराज जब अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करते हैं तो उस समय में होने वाली निर्जरा पूर्व अवस्था से असंख्यात गुणी है, वे ही महामुनिराज जब दर्शन मोहनीय की क्षपणा करते हैं तो उस समय होने वाली निर्जरा पूर्व अवस्था से असंख्यात गुणी है, वे ही महामुनिराज उपशम श्रेणी चढ़ते हैं तो श्रेणी में होने वाली निर्जरा उनकी पूर्व स्थिति से असंख्यात गुनी है। पुनः वे ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त करके उपशामक बनते हैं तो पूर्ववर्ती अवस्था से 11 वें गुणस्थान में होने वाली निर्जरा असंख्यात गुणी है। वे ही मुनिराज जब क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं तो 11 वें गुणस्थान की अपेक्षा उन्हीं मुनि महाराज की निर्जरा 8 से 10 गुणस्थान में असंख्यात गुनी है। पुनः वे ही महाव्रती 12 वें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह को प्राप्त हो जाते हैं तो उनकी निर्जरा श्रेणी पर आरूढ़ अवस्था से असंख्यात गुणी है तथा वही मुनिराज जब केवलज्ञान प्राप्त कर अरिहन्त भगवान् हो जाते हैं तो उनकी निर्जरा क्षीणमोह अवस्था से असंख्यातगुणी है, इस प्रकार इन 10 स्थानों पर निर्जरा का क्रम दर्शाया है। जहाँ पर 11 स्थान बताये हैं, वहाँ अरिहन्त भगवान् अवस्था से भी ज्यादा निर्जरा जब वे केवली समुद्घात करते हैं तो केवली अवस्था से भी असंख्यात गुणी निर्जरा करते हैं। यहाँ पर जो उदाहरण लिया गया है वह एक जीव को लेकर है। उसी जीव की अनेक अवस्थाओं के आधार पर लिया गया है। धवला पुस्तक 12 में अधःप्रवृत्त केवलीसंयत और योगनिरोध केवलीसंयत ऐसा लिया है।

कौन-कौन से पात्र कब-कब करते हैं - इस सम्बन्ध में विचार करते हैं कि पात्रों के अनुसार असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा कितने समय तक होती है -

1. अविरत सम्यग्दृष्टि - सिर्फ सम्यग्दर्शन प्राप्ति के समय गुण श्रेणी निर्जरा करते हैं तथा किससे असंख्यातगुणी सो आचार्य कहते हैं कि सातिशय मिथ्यादृष्टिपने में जो निर्जरा हो रही थी उससे असंख्यात गुणी करते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि यदि आगे नहीं बढ़ता, व्रतादि स्वीकार नहीं करता तो उसके जीवन में फिर नहीं होती सिर्फ सम्यग्दर्शन प्राप्ति काल में ही होती है।

2. व्रती श्रावक अपनी भूमिका में रहते हुये अविरत सम्यग्दृष्टि अवस्था से असंख्यात गुणी करते हैं। यहाँ विशेषता है कि पाँचवां गुणस्थान जब तक बना रहेगा तब तक निरन्तर असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा करते रहेंगे।

3. मुनि महाराज महाव्रती भी अपने योग्य गुणस्थानों में पूरे समय तक निरन्तर गुण श्रेणी निर्जरा करते हैं।

4. अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाले विसंयोजना के काल में मात्र करते हैं।

5. दर्शनमोहनीय की क्षपणा करने वाले जीव भी जिस समय क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्ति का उपाय करते हैं उस समय अपनी पात्रानुसार निर्जरा करते हैं। उदाहरण के लिये कोई अविरत सम्यग्दृष्टि क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की भूमिका में जिस समय होगा उस भूमिका में 5 वें क्रम में कही गई निर्जरा करेंगे, लेकिन सिर्फ क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्ति के काल में, शेष जीवन अव्रती हैं तो नहीं करेंगे।

विशेष विचारणीय बिन्दु - सूत्र 9/45 में जो 10/11 स्थान कहे गये हैं उनमें चौथे नम्बर पर अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाले एवं पाँचवें स्थान पर दर्शन मोहनीय की क्षपणा करने वाले पात्र को लिया गया है। वहाँ प्रश्न होता है ये पात्र कौन-से गुणस्थानवर्ती लेवें ? क्या वहाँ पर चौथे गुणस्थानवर्ती-पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव भी हो सकते हैं अथवा मुनि की अपेक्षा से कथन है ? यह विचारणीय है। क्या वहाँ वह अविरत सम्यग्दृष्टि वियोजक एवं अविरतक्षायिक सम्यग्दृष्टि मुनि महाराज की अपेक्षा असंख्यात गुणी निर्जरा करता है। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के सन्दर्भो को हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं जिसके द्वारा इस विषय पर प्रकाश पड़ता है। अलग-अलग आचार्यों में से बहुत से आचार्यों का अभिमत एक जैसा है किन्तु धवलाकार का मत भिन्न दिखाई पड़ता है अत: हमें दोनों मत स्वीकार करने योग्य हैं।

धवला जी में बहुत स्पष्ट शका और उसका समाधान करते हुये आचार्य वीरसेन स्वामी ने अनन्तानुबन्धी वियोजक से असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासयत और संयत को ग्रहण किया है तथा वहाँ पर अनन्तानुबन्धी वियोजक की विसंयोजना के काल में विशुद्धि अनन्तगुणी है। फलस्वरूप वहाँ पर मुनि संयत से भी ज्यादा निर्जरा अनन्तानुबन्धी वियोजक करता है। यद्यपि दर्शनमोहनीय की क्षपणा के सम्बन्ध में खुलासा नहीं किया किन्तु सूत्र क्रम में पात्र क्रम से और पूर्व सूत्र के खुलासा से हम दर्शनमोहनीय की क्षपणा करने वालों की गुणश्रेणी निर्जरा में भी असंयत, सयतासंयत और संयत को ग्रहण कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध मे अनेक ग्रन्थ एव धवलाजी का मन्तव्य का अवलोकन संक्षिप्त मे करते हैं -

6. उपशम श्रेणी/क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर उपशामक/क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती सभी जीव अन्तर्मुहूर्त तक निरन्तर अपनी पात्रता अनुसार निर्जरा करते हैं, यह जरूर है कि ऊपर-ऊपर की अवस्थाओं में अन्तर्मुहूर्त में पहले की अपेक्षा समय घटता जाता है और गुणश्रेणी निर्जरा असंख्यात गुणित क्रम से बढ़ती जाती है।

7. जिन भगवान जब तक केवलीपने को प्राप्त रहते हैं अपनी अरिहन्त अवस्था में निरन्तर असंख्यात गुणी निर्जरा करते हैं।

8. समुद्घात केवली भगवान - ममुद्घात के समय अरिहन्त अवस्था से भी असंख्यात गुणी निर्जरा करते हैं।

अन्य-अन्य ग्रन्थों का मन्तव्य - सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ के नवें अध्याय के 45 वें सूत्र की टीका करते हुए 908 वें अनुच्छेद मे 10 पात्रों के अनुसार अपनी बात कही है तथा उसमें आचार्य महाराज ने वे 10 स्थान एक ही जीव के विकास क्रम को लेकर कहे हैं। आचार्य पूज्यपाद जी के मन्तव्य में अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना तथा दर्शनमोहनीय का क्षय करने वाली अवस्था मुनि महाराज के ही लेवें ऐसा दिखाई पड़ता है वहाँ चतुर्थ गुणस्थानवर्ती के लिये भी कहा हो ऐसा नहीं झलकता, क्योंकि 'स एव स एव' कहते हुये प्रारम्भ से दसों स्थानों को कहा। इसलिये जब क्रम में सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरत-अनन्तानुबंधी वियोजक-दर्शनमोक्षपक ऐसा क्रम कहा है। जिससे वहाँ मुनि की अपेक्षा से लेवें ऐसा अवभासित होता है। सर्वार्थसिद्धि टीका पृष्ठ 362 संस्कृत टीका-हिन्दी अर्थ एवं पं. फूलचन्द जी शास्त्री का विशेषार्थ अवलोकन करने योग्य है।

2. तत्त्वार्थवृत्ति आचार्य भास्करनन्दि टीका में भी नवमें अध्याय के पेंतालीसवें सूत्र की टीका करते हुये पृष्ट 545-546 की संस्कृत टीका में यही भाव प्रदर्शित है। वहाँ निर्जरा के कालों की व्याख्या भी सुन्दर ढंग से की गई है।

3. जैन तत्त्व विद्या ग्रन्थ में जो शास्त्र सार समुच्चय की टीका के रूप में पूज्य प्रमाणसागर जी महाराज द्वारा रचित हैं, 4 थे अध्याय के सूत्र 62 की टीका 352-353 पृष्ठ पर विस्तार से की गई।

4. तत्त्वार्थसूत्र की टीका श्री पं. फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा भी इसी मन्तव्य को झलकाया है। देखें पृष्ठ अध्याय 9 सूत्र 45 पर।

5. तत्त्वार्थसूत्र टीका पं. कैलाशचन्द्र जी बनारस द्वारा पृष्ठ 151 पर नवमें अध्याय के पेंतालीसवें सूत्र के अर्थ एवं विशेषार्थ में बहुत सरल शब्दों में गुण श्रेणी निर्जरा के दस स्थानों का कथन किया है।

6. तत्त्वार्थसूत्र सरलार्थ - के नवमें अध्याय सूत्र 45 की टीका पृष्ठ 267-68 पर गुणश्रेणी निर्जरा के दस स्थानों का कथन करते हुये विशेषार्थ में 5 बातों द्वारा कथन को और स्पष्ट करते हुये एक जीव की अपेक्षा से ही कथन किया है।

7. तत्त्वार्थ राजवार्तिक के द्वितीय भाग पृष्ठ 635-636 अध्याय 9 के सूत्र 45 की टीका में अकलकदेव स्वामी ने सम्यग्दृष्टि से तीनों सम्यग्दृष्टि उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ग्रहण किया है। पश्चात् श्रावक को कहकर आगे यथा क्रम से ले लेना।

8. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में आचार्य विद्यानन्दि महाराज ने भी पृष्ठ की सस्कृत टीका अध्याय 9/45 में सम्यग्दृष्टि से तीनों सम्यग्दृष्टि ग्रहण किया है इससे ऐसा जान पड़ता है कि राजवार्तिककार और श्लोकवार्तिककार भी चौथे और पाँचवें क्रम की निर्जरा पात्रों में वहाँ मुनि वियोजक और मुनि क्षपक है ऐसा कहना चाह रहे हैं। मुनि अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् जो अगले क्रम में निर्जरा के जितने अन्य स्थान कहे गये, वे सब मुनि अपेक्षा हैं, ऐसा अभिप्राय जान पडता है।

9. षट्खण्डागम पुस्तक 12 - सूत्र 178 पृष्ठ 82 पर उक्त विवरण प्राप्त होता है 'उससे अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करने वाले की श्रेणी गुणाकार असंख्यात गुणा है ।। 178 ।।'

स्वस्थान संयत के उत्कृष्ट गुणश्रेणी गुणाकार की अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टि, सयतासयत और संयत जीवों में अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने वाले जीव का जघन्य गुणश्रेणी गुणाकार असंख्यात गुणा अधिक है।

अर्थात् संयत के जो उत्कृष्ट निर्जरा हो रही है उसे अनन्तानुबन्धी वियोजक की जघन्य निर्जरा भी विसयोजना के काल में असंख्यात गुणी है।

शंका - संयम रूप परिणामों की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करने वाले असंयत सम्यग्दृष्टि के परिणाम अनन्तगुणा हीन होता है ऐसी अवस्था में उससे असंख्यात गुणी प्रदेश निर्जरा कैसे हो सकती है ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं क्योंकि संयम रूप परिणामों की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना में कारणभूत सम्यक्त्व रूप परिणाम अनन्तगुणे उपलब्ध हैं।

शंका - यदि सम्यक्त्व रूप परिणामों के द्वारा अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना की जाती है तो सभी सम्यग्दृष्टि जीवों में उसकी विसंयोजना का प्रसंग आता है ?

समाधान - ऐसा पूछने पर उत्तर में कहते हैं कि सब सम्यग्दृष्टियों में उसकी विसंयोजना का प्रसंग नहीं आ सकता

है क्योंकि विशिष्ट सम्यक्त्व स्वरूप परिणामों के द्वारा ही अनन्तानुबन्धी कषायों की विसंयोजना स्वीकार की गई है।

इस प्रसंग पर धवला जी की 12 वीं पुस्तक के पृष्ठ 78 गाथा नं. 7-8 तथा सूत्र क्रमांक 175 से 185 अवलोकन करने योग्य हैं।

उपसंहार - असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा का अवलोकन करने के पश्चात् दृष्टि में यह बार-बार आता है कि जीव भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपनी भूमिका/पात्रता अनुसार हर अगले स्थानो पर पिछले स्थानों की अपेक्षा असख्यात गुणी असंख्यात गुणी निर्जरा करते हैं तो कर्म बांधे कितने थे ? पिछली अनेक पर्यायों में संग्रह के रूप इकट्ठे होते गये ये कर्म तो मेरु के समान से जान पड़ते हैं और इतने कर्मो का बोझा लेकर जीव बिना गुणश्रेणी निर्जरा करे ऊ पर आ ही नहीं सकता। बांधते समय तो न होश था न ज्ञान, लेकिन निर्जरा के समय का प्रकरण देखकर आँखें चौधियां जातीं हैं।

उसमें भी एक विशेषता है कि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव की निर्जरा तो मात्र सम्यक्त्व प्राप्ति के काल में होती है जबकि व्रती श्रावक/मुनिराज की गुणश्रेणी निर्जरा पूरे जीवनकाल में निरन्तर हर पिछले समय की अपेक्षा अगले समयों में असख्यात गुणी होती जाती है। अपने जीवन काल में देशव्रती/महाव्रती कितनी निर्जरा कर लेते हैं इसका आकलन अवश्य करना चाहिये।

मेरा व्यक्तिगत विचार है कि सभी सुधी पाठक/विद्वान् प्रवचनकार जो अपने विचारों/लेखों/प्रवचनों के माध्यम से जीवों के कल्याणमार्ग को प्रशस्त कर रहे हैं उनसे मेरा अनुरोध है कि हम आस्रव-बंध की चर्चा के साथ संवर की चर्चा भी बहुत करते है किन्तु इसी कड़ी में निर्जरा में असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा की भी चर्चा सामान्य जीवों के बीच में करें सभी जीवों को यह समझ में आये तो लोग अवश्य ही व्रतों की ओर अग्रसर होंगे, व्रती जीवन अगीकार करके गुणश्रेणी निर्जरा के माध्यम से अपने अनन्तों कर्मो के बोझ को वर्तमान पर्याय में बड़े ही सहज ढंग से हलका करने में सक्षम हो सकेंगे। जब तक व्रती जीवन अंगीकार नहीं भी कर सकेंगे तब तक अपने परिणामों द्वारा उस पद को पाने की भावना अपने कर्मों को निरन्तर खिराने की भावना को बलवती बनाते हुये अपने विकास के मार्ग को गति देंगे ऐसा मेरा मानना है।

सन्दर्भित ग्रन्थ सूची

1. सर्वार्थसिद्धि - संस्कृत टीका आचार्य पूज्यपाद हिन्दी टीका प. फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रका.
2. तत्त्वार्थवार्तिक - अकलंकदेव, प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली
3. तत्त्वार्थवृत्ति - भास्करनन्दी टीका अनु. आर्यिका जिनमती, प्रका. पांचूलाल जैन किशनगढ़,
4. तत्त्वार्थवृत्तिः - श्रुतसागरीय टीका, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
5. जैन तत्त्व विद्या - पू. प्रमाणसागर जी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
6. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक - संस्कृत टीका, आचार्य विद्यानन्दि, प्रका. गांधी रंगानाथ जैन ग्रंथमाला, मुम्बई
7. तत्त्वार्थसूत्र - पं. फूलचन्द्र शास्त्री, प्रका.
8. तत्त्वार्थसूत्र - पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. भारतवर्षीय जैन संघ, चौरासी मथुरा
9. तत्त्वार्थसूत्र सरलार्थ - भागचन्द जैन इन्दु, गुलगंज, प्रका. जबलपुर
10. षट्खण्डागम परिशीलन - पं. बालचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
11. षट्खण्डागम धवला पुस्तक 12, प्रकाशन सिताबराय लखमीचन्द विदिशा

मुक्त जीव एवं मोक्ष का स्वरूप

* पं. रतनलाल बैनाड़ा

मोक्ष का अर्थ मुक्ति या छुटकारा होता है। अर्थात् अनादिकाल से कर्मबंधन को प्राप्त जीव का, कर्मबंधन से रहित हो जाना मोक्ष है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने अध्याय 10, सूत्र 2 में मोक्ष की परिभाषा इस प्रकार की है- **बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।** अर्थ - बंध के कारणों का अभाव हो जाने से तथा निर्जरा से सम्पूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाना ही मोक्ष है। बन्ध के हेतुओं के बारे में आचार्य उमास्वामी महाराज ने स्वयं आठवें अध्याय का प्रथम सूत्र इस प्रकार लिखा है -

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ।

अर्थात् बन्ध के कारणभूत मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं। इन सभी बन्ध के कारणों का और आत्मा के साथ अनादिकाल से जो कर्मपुंज सम्बन्ध को प्राप्त था, उसके सत्त्व, बन्ध, उदय और उदीरणा इन चारों ही दशाओं का, सम्पूर्ण रूप से समाप्त हो जाना मोक्ष है।

यदि कोई ऐसा विचारे के दुःख रूपी समुद्र में निमग्न सारे जगत् के प्राणियों को देखने जानने वाले भगवान को कारूण्य भाव उत्पन्न होता होगा तब उससे तो बन्ध होना ही चाहिए ? इसका उत्तर राजवार्तिककार अध्याय 10 सूत्र 4 की टीका में देते हैं कि भक्ति, स्नेह, कृपा और स्पृहा आदि राग विकल्पों का अभाव हो जाने से वीतराग प्रभु के जगत् के प्राणियों को दुःखी और कष्ट में पड़े हुए देखकर करुणा और तत्पूर्वक बन्ध नहीं होता। क्योंकि उनके सर्व आस्रवों का परिक्षय हो गया है।

सर्वार्थसिद्धिकार ने अध्याय 1 सूत्र 4 की टीका करते हुए बड़ी सक्षेप सी परिभाषा मोक्ष की दी है, यथा - कृत्स्नकर्मविप्रवियोगलक्षणो मोक्षः। अर्थात् सब कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना मोक्ष है। इस सूत्र में तीन शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। 'वि', 'प्र' तथा 'मोक्ष'। यहाँ वि से तात्पर्य विशिष्ट रूप से है अर्थात् जो अन्य मनुष्यों में असाधारण हो। प्र से तात्पर्य प्रकृष्ट रूप से है अर्थात् जो एकदेश क्षय हो जाना नामक निर्जरा, उसका उत्कृष्ट रूप से आत्यन्तिक यानी अनन्तानन्त काल के लिए छूट जाना। मोक्ष शब्द से तात्पर्य है क्षय हो जाना या आत्मा से अलग हो जाना अर्थात् जो कार्माण वर्गणाएं कर्म रूप परिणमित होकर आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त हुई थीं उनका निर्जरित होकर पुनः कार्मण वर्गणा रूप हो जाना इसी को यहाँ मोक्ष कहा है। यहाँ पर आत्मा के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म इन तीनों प्रकार के कर्मों से छूट जाना ही मोक्ष रूप से विवक्षित है। कोई मुनिराज जब क्षपकश्रेणी माड़कर त्रेसठ प्रकृतियों का क्षय करके अरिहंत परमेष्ठी बनने के उपरान्त चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं और चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त समय में 72 प्रकृतियों का और अन्तिम समय में शेष बची हुई 12/13 प्रकृतियों का क्षय करते हैं तब ही समस्त कर्मों का क्षय कहा जाता है, इसी

* हरीपर्वत, प्रोफेसर कालोनी, आगरा

का नाम मोक्ष है। और जो इस प्रकार समस्त कर्मों से यहाँ छूटकर एक समय मात्र में ही सिद्ध परमेष्ठी बनकर लोक के अन्त में अन्तिम तनुवातवलय के अन्तिम 525 धनुष में जाकर विराजमान हो जाते हैं, वे मुक्त जीव हैं।

कर्मक्षय को श्लोकवार्तिककार ने दो प्रकार का कहा है एक प्रयत्नसाध्य और दूसरा अप्रयत्नसाध्य। अर्थात् जिन कर्मों का क्षय प्रयत्न से साध्य किया जाता है वह प्रयत्नसाध्य है और चरमशरीरी जीवों के नरकायु-तिर्यंचायु और देवायु इन तीनों कर्मों का सत्ता मे अभाव होना ही क्षय माना गया है उसे अप्रयत्नसाध्य क्षय कहा गया है। शेष प्रकृतियों के क्षय को, प्रयत्नसाध्य कहा जाता है।

मोक्ष के भेद -

यद्यपि समस्त कर्मक्षय रूप मोक्ष एक प्रकार का ही है तदपि विभिन्न अपेक्षाओं से भेद करके आचार्यों ने मोक्ष के भेदों का कई प्रकार से निरूपण किया है। किन्ही शास्त्रकारों ने मोक्ष के दो भेद कहे हैं- द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष। द्रव्यसंग्रह गाथा 37 की टीका करते हुए ब्रह्मदेवसूरि ने भावमोक्ष का स्वरूप इस प्रकार कहा है - **'निश्चयरत्नत्रयात्मक-कारणसमयसाररूपो स्फुटमात्मनः परिणामः यः सर्वस्य द्रव्यभावरूपमोहनीयादिघाति-चतुष्टयकर्मणो क्षयहेतु इति'** अर्थात् - निश्चयरत्नत्रयात्मक कारण समयसार रूप प्रकट आत्मा का जो परिणाम समस्त द्रव्यभाव रूप मोहनीय आदि चार घातिया कर्मो के नाश का कारण है वह भावमोक्ष है। इसका गुणस्थान 13 वां है, अर्थात् अर्हन्त परमेष्ठी भावमोक्ष प्राप्त है। द्रव्यमोक्ष की परिभाषा इस प्रकार कही है - **टंकोत्कीर्णशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मनायुरादिशेषा-घातिकर्मणामपि य आत्यन्तिकपृथक्भावो विश्लेषो विघटनमिति द्रव्यमोक्षः स अयोगचरमसमये भवति।**

अर्थ - टंकोत्कीर्ण, शुद्ध, बुद्ध जिसका एक स्वभाव है ऐसे परमात्मा से आयु आदि शेष चार अघाति कर्मों का भी अत्यन्त रूप से पृथक् होना - भिन्न होना, छूट जाना द्रव्यमोक्ष है और वह अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। नयचक्रादि ग्रन्थों मे भी मोक्ष के दो भेदो का वर्णन पाया जाता है।

आचार्य वीरसेन महाराज ने धवला पुस्तक 13 पृ. 823 पर लिखा है - **'सो मोक्खो तिविहो - जीवमोक्खो, पोग्गलमोक्खो, जीवपोग्गलमोक्खो चेदि'** अर्थ - मोक्ष तीन प्रकार का है - 1. जीवमोक्ष, 2. पुद्गल मोक्ष और 3. जीवपुद्गलमोक्ष। कुछ आचार्यो ने मोक्ष के चार भेद भी किए है - नाममोक्ष, स्थापनमोक्ष, द्रव्यमोक्ष और भाव मोक्ष। अकलंकस्वामी ने राजवार्तिक अध्याय 1, सूत्र 7 की टीका करते हुए कहा है - **'सामान्यादेको मोक्षः द्रव्यभाव-भोक्तव्यभेदादनेकोऽपि।'** अर्थ - सामान्य से मोक्ष एक ही प्रकार का है, द्रव्य, भाव और भोक्तव्य की दृष्टि से अनेक प्रकार का भी है।

मुक्तजीव और उनकी कुछ विशेष चर्चायें -

जैसा ऊपर कहा है मुक्त जीव का लक्षण पचास्तिकाय गाथा 28 मे इस प्रकार कहा है -

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं॥

अर्थ - कर्ममल से मुक्त आत्मा ऊर्ध्व लोक के अन्त को प्राप्त करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता है।

राजवार्तिककार ने मुक्त जीव का स्वरूप इस प्रकार कहा है - **'निरस्तद्रव्यभावबन्धाः मुक्ताः।'** (अध्याय 2,

सूत्र 10) जिनके द्रव्य व भाव दोनों कर्म नष्ट हो गये हैं वे मुक्त हैं। नयचक्रकार ने भी गाथा 107 में मुक्त जीव का स्वरूप इस प्रकार कहा है -

णट्ठट्ठकम्मसुद्धा असरीराणंतसोक्खणाणड्ढा ।
परमपहुत्तं पत्ता जे ते सिद्धा हु खलु मुक्का ॥

अर्थ - जिनके अष्ट कर्म नष्ट हो गये हैं, शरीर रहित हो अनन्त सुख व अनन्त ज्ञान में आसीन हैं और परम प्रभुत्व को प्राप्त हैं ऐसे सिद्ध भगवान मुक्त हैं। मुक्त जीवों में 'संसारिणो मुक्ताश्च' इसमें मुक्ता: शब्द के अनुसार दो भेद भी कहे गये हैं - जीवन्मुक्त एवं मुक्त। 13 वें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली को जीवन्मुक्त कहा है। पंचास्तिकाय गाथा 150 की टीका में इस प्रकार लिखा है - 'भावमोक्ष: केवलज्ञानोत्पत्ति: जीवन्मुक्तोऽर्हत्पदमित्येकार्थ:।' अर्थ - भावमोक्ष, केवलज्ञान की उत्पत्ति, जीवन्मुक्त और अर्हन्त पद ये सब एकार्थवाचक हैं। यदि कोई प्रश्न करे कि अर्हन्त परमेष्ठी मुक्त हैं या संसारी तो पंचास्तिकाय के अनुसार हमारा उत्तर होगा कि वे जीवन्मुक्त हैं। लेकिन आचार्य विद्यानन्द महाराज ने श्लोकवार्तिक में उपरोक्त सूत्र की टीका में बड़े रोचक ढंग से लिखा है कि संसारी जीव चार प्रकार के होते हैं - 1. ससारी, 2. नोससारी, 3. असंसारी, 4. सिद्ध। अर्थात् प्रथम से 11 वें गुणस्थान तक के जीव ससारी हैं। क्योंकि उनका अभी बहुत संसार बाकी है। 12 वें गुणस्थान और 13 वें गुणस्थानवर्ती जीव को नोससारी अर्थात् ईषत्ससारी कहा है क्योंकि वे शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करेंगे। 14 वें गुणस्थानवर्ती जीव असंसारी हैं क्योंकि वे मोक्ष जाने ही वाले है और सिद्ध तो मोक्ष प्राप्त कर ही चुके हैं।

मुक्त जीवों के भाव -

तत्त्वार्थसूत्रकार ने इस सम्बन्ध में दो सूत्र दिये हैं - **'औपशमिकादिभव्यत्वानां च'** **'अन्यत्रकेवलज्ञानदर्शन-सिद्धत्वेभ्य:'** अर्थात् औपशमिकादि भावों और भव्यत्व भाव के अभाव होने मे मोक्ष होता है। पर केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान और सिद्धत्व भाव का अभाव नहीं होता। इन सूत्रों में भव्यत्व भाव का निर्देश यह बता रहा है कि पारिणामिक भाव का एक भेद जीवत्व भाव यहाँ रह जाता है। और चौथे सूत्र का तात्पर्य है कि यहाँ नौ क्षायिक भाव तथा समस्त कर्मो के नष्ट होने से सिद्धत्व भाव पाया जाता है।

मुक्त जीव की अवगाहना एवं स्थिति -

लोक के अग्रभाग में जो मुक्त जीव विराजमान हैं उनके आत्मप्रदेशों की उत्कृष्ट अवगाहना 525 धनुष से कुछ कम और जघन्य अवगाहना साढे तीन अरत्नि से कुछ कम होती है। किन्हीं आचार्यों ने मुक्त जीवों की अवगाहना उपरोक्त दोनों प्रमाणों के 2/3 भी स्वीकृत की है। विशेष यह है कि साढे तीन अरत्नी से कम अवगाहना वाले जीवों को मोक्ष नहीं होता, साथ ही जिन जीवों की अवगाहना साढे तीन अरत्नी से लेकर सात अरत्नी से कुछ कम होती है उनका मोक्ष प्राप्ति का आसन खडगासन या कायोत्सर्ग मुद्रा ही कही गई है। इसका कारण यह है कि जितनी जिस जीव की अवगाहना है वह पद्मासन से बैठने पर आधी अवगाहना वाला हो जाता है और यदि 5 अरत्नि अवगाहना वाले जीव पद्मासन से मुक्ति प्राप्त करें तो उनकी अवगाहना ढाई अरत्नि रह जायेगी, जो आगम में स्वीकार नहीं की गई है। यह भी ज्ञातव्य है कि आत्मप्रदेशों की अवगाहना को जितना शरीर की अवगाहना से छोटा होना होता है, वह आत्मप्रदेशों की अवगाहना 13 वें गुणस्थान के अन्त समय में ही हो जाती है। क्योंकि आत्मप्रदेशों का संकोच और विस्तार शरीर नामकर्म के उदय से 13 वें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही कहा गया है। अत: आत्मप्रदेशों का संकोच या विस्तार 13 वें गुणस्थान के बाद फिर नहीं होता और इसीलिए मुक्त होने के उपरान्त आत्मप्रदेश न तो विस्तरित होते हैं न संकुचित।

श्लोकवार्तिक खण्ड 7, पृ. 444 में पं. माणिकचंद जी कौंदेय जी टीका करते हुए लिखते हैं कि 'सभी सिद्ध परमेष्ठियों के सिरोभाग अर्थात् उपरिम आत्मप्रदेश अलोकाकाश के अधस्तन प्रदेशों से स्पर्शित हैं।' कौन्देय जी का कथन है कि उपसर्ग द्वारा अन्तकृत केवली बनते वाले केवलियों के आत्मप्रदेश केवलज्ञान होने पर ऐसे आकार को प्राप्त हो जाते हैं, जो उनका शिरोभाग ऊपर हो जाता है।

मुक्ति का उपाय -

यद्यपि आचार्यों ने निश्चय मोक्षमार्ग को साक्षात् मोक्षमार्ग कहा है परन्तु श्लोकवार्तिककार ने मोक्ष का कारण इस प्रकार बताया है - 'क्षीणकषाये दर्शनचारित्रयोः क्षायिकत्वेऽपि मुक्त्युपादने केवलापेक्षित्वस्य सुप्रसिद्धत्वात्।' (श्लो. वा. प्रथम पुस्तक, पृ. 487) अर्थात् क्षीण कषाय नामक 12 वें गुणस्थान आदि में सम्यक्त्व और चारित्र क्षायिक हो जाने पर भी मुक्ति रूप कार्य की उत्पत्ति करने में केवलज्ञान की अपेक्षा रहती है, यह भली प्रकार प्रसिद्ध है।

यद्यपि यहाँ मुक्ति प्राप्ति में केवलज्ञान कारण है तथापि मनुष्यायु की शेष स्थिति द्वारा उसमें बाधा हो रही है। इसीलिए श्लोकवार्तिककार आगे लिखते हैं -

तेनायोगिजिनस्यान्त्यक्षणवर्ति प्रकीर्तितम् ।
रत्नत्रयमशेषाघविघातकारणं ध्रुवम् ॥ श्लो.वा.प्र.पु.पृ. 489

अर्थ - इसलिए अयोगीजिन के चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रय को सम्पूर्ण कर्मों का विघात करने वाला कहा गया है। अर्थात् 14 वें गुणस्थान के अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रय ही साक्षात् मोक्ष का कारण है। आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश में इस प्रकार कहा है -

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥ 26 ॥

अर्थ - ममता भाव वाला (रागी) जीव कर्मों को बांधता है और ममता रहित (वीतरागी) जीव मुक्त हो जाता है इसलिए पूरे प्रयत्न के साथ निर्ममता (समता, वीतरागता) भाव का ही चिन्तवन करना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कर्मों से छूटने का उपाय इस प्रकार कहा है -

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ समयसार 150

अर्थ - रागी जीव कर्म बाधता है और वैराग्य को प्राप्त जीव कर्म से छूटता है यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है, इसलिए कर्मों में राग मत करो।

यदि कोई ऐसा प्रश्न करे कि संसारी जीवों को निरन्तर कर्मों का बन्ध और उदय होता रहता है, उसके मोक्ष का उपाय कैसे संभव है ? उसका उत्तर वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 37 की टीका में इस प्रकार दिया है - 'जिस प्रकार कोई बुद्धिमान मनुष्य पुरुषार्थ करके शत्रु को नष्ट करता है। उसी प्रकार कर्मों की भी एक रूप अवस्था नहीं रहती है। जब कर्म की स्थिति और अनुभाग हीन होने पर वह लघु और क्षीण होता है तब बुद्धिमान भव्य जीव आगमभाषा से पाँच लब्धि रूप और अध्यात्मभाषा से निजशुद्धात्माभिमुख परिणाम नामक विशेष प्रकार की निर्मल भावना रूप खड्ग से पुरुषार्थ करके कर्म शत्रु को नष्ट करता है।' अर्थात् कर्म के तीव्र उदय में आत्मकल्याण रूप पुरुषार्थ संभव नहीं हो पाता परन्तु जब कषाय का

मन्द उदय हो तब यदि आत्मपुरुषार्थ में उद्यत हो जाय तो कर्म नाश करके मुक्ति प्राप्त करने का उपाय कर सकता है।

मुक्त जीवों का निवास -

संसारी आत्मा कर्म बन्धन से मुक्त होते ही उसी स्थान से ठीक ऊपर एक समय में लोकान्त में जाकर विराजमान हो जाती है। कुछ जीवों की धारणा है कि सिद्ध भगवान् अर्धचन्द्राकार सिद्धशिला में विराजते हैं और इसी अपेक्षा से वे स्वास्तिक के ऊपर जब अर्धचन्द्राकार बनाते हैं, तो उसमें एक बिन्दु रखते हुए सिद्ध भगवान् की कल्पना करते हैं जबकि शास्त्रानुसार यह धारणा उचित नहीं है। सत्य यह है कि सर्वार्थसिद्धि विमान के ध्वजदण्ड से 12 योजन ऊपर खाली स्थान है उसके बाद आठ योजन मोटी, एक राजू चौडी, सात राजू लम्बी ईषत्प्राग्भार नामक अष्टम पृथ्वी है, जिसमें त्रसननाडी के मध्य के ऊपर 45 लाख योजन व्यास वाली, मध्य में आठ योजन और किनारे पर अंगुल के असंख्यातवें भाग मोटी, स्फटिकमणि की सिद्धशिला खचित है। लेकिन इस पर सिद्ध भगवान् नहीं विराजते। इस शिला के ऊपर दो कोस मोटा घनोदधिवलय है, उसके ऊपर एक कोश मोटा घनवातवलय है और उसके भी ऊपर 1575 धनुष मोटा तनुवातवलय है। (ये सभी कोश और धनुष प्रमाणांगुल की अपेक्षा जानने चाहिए) उस तनुवातवलय के भी अन्त में अर्थात् लोकान्त में सभी जीव विराजते हैं। इनका अवस्थान पूरे 45 लाख योजन विस्तार में और उत्सेधांगुल की अपेक्षा 525 धनुष मोटे सिद्धक्षेत्र में है। अर्थात् तनुवातवलय के 1575 धनुष के 1500 वें भाग में सिद्धभगवान अवस्थित हैं।

यद्यपि सिद्ध अवस्था की प्राप्ति तो मनुष्य लोक में ही होती है पर कर्ममुक्त होते ही आत्मा ऊर्ध्वगमन स्वभावी होने के कारण सीधा ऊपर गमन करता है। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए जैसा कि सोनगढ से प्रकाशित मोक्षशास्त्र अध्याय 10, सूत्र 8 की टीका में पृ. 631 पर लिखा है 'गमन करने वाले द्रव्यों की उपादान शक्ति ही लोक के अग्रभाग तक गमन करने की है। अर्थात् वास्तव में जीव की अपनी योग्यता ही अलोक में जाने की नही है।' अतएव वह अलोक में नहीं जाता, धर्मास्तिकाय का अभाव तो इसमें निमित्त मात्र है। 'जबकि वास्तविकता यह है कि जीव की उपादान शक्ति तो ऊर्ध्वगमन स्वभावी होने के कारण ऐसे अनन्त लोकों के पार तक जाने की है परन्तु सहायक निमित्त रूप धर्मास्तिकाय का अभाव होने से वे लोकान्त के ऊपर अलोकाकाश में गमन नहीं करते। जैसे यद्यपि आगे पटरी का अभाव होने से ट्रेन का इंजन आगे गमन नहीं कर पाता है परन्तु इससे उसमें शक्ति का अभाव नहीं कहा जा सकता।'

अन्य दर्शनों के अनुसार मोक्ष प्राप्त जीवों का निवास स्थान सीमित होता है। वहाँ जब अधिक भीड़ हो जाती है तब जीवों को नीचे संसार में भेजना प्रारम्भ कर दिया जाता है। लेकिन जैनदर्शन में ऐसी मान्यता नहीं है, सभी मुक्तजीव, यद्यपि संसारी अवस्था में कर्म बन्धन से सहित होने के कारण मूर्तिक कहे जाते हैं, परन्तु कर्मबन्धन से रहित होने पर वे अपने स्वभाव को प्राप्त होते हुए स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित अमूर्तिक हो जाते हैं। अमूर्तिक द्रव्य आपस में टकराते या बाधा को प्राप्त नहीं होते। अत: वे एक में एक समा जाते हैं। इसको किसी कवि ने इस प्रकार लिखा है -

जो एक मांहि अनेक राजें, अनेक मांहि एक लों।
एक अनेक की नाहिं संख्या, नमूं सिद्ध निरंजनो ॥

और इस प्रकार आज वहाँ अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठी, उस सीमित स्थान में विराजमान हैं और भविष्यत् काल के अनन्तानन्त उसी में विराजमान हो जायेंगे, रंचमात्र भी अन्तर पड़ने वाला नहीं है। अन्य दर्शनों में तो मोक्ष प्राप्ति के बाद पुन: संसार आगमन की चर्चा है परन्तु जैनदर्शन में अष्टकर्म के बन्ध को संसार का कारण कहा है और कर्मबन्ध से रहित हो जाने पर फिर उस आत्मा का पुन: संसार आगमन या जन्म धारण करना नितान्त संभव नहीं है। वे मुक्त जीव अनन्त

काल तक टंकोत्कीर्ण परम स्थिरता को प्राप्त होते हुए सिद्धालय में विराजमान रहते हैं; इनमें रंचमात्र भी विकार नहीं आता।

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्रस्वामी लिखते हैं -

काले कल्पशतेऽपि च, गते शिवानां न विक्रियालक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात्, त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः ॥133॥

अर्थ - तीनों लोकों को उलट-पुलट करने में समर्थ कोई महान् उत्पात होने पर भी या सैकड़ों कल्पकालों के बीत जाने पर भी मुक्त जीवों में किसी प्रकार का विकार (परिवर्तन) संभव नहीं।

मुक्त जीवों का सुख -

कुछ जीवों का ऐसा सोच है कि मोक्ष में क्या सुख मिलता होगा। लगता है कि उन जीवों को मात्र इन्द्रिय सुख का ही ज्ञान है और वे आत्मसुख के ज्ञान से रहित हैं। वास्तविकता यह है कि रागद्वेष परिणामों से सहित होने के कारण संसारी आत्मा सदैव आकुलता सहित होने से दुःखी रहता है, जबकि अष्टकर्म नष्ट होने से निराकुलता को प्राप्त सिद्ध, मुक्त जीव अनन्त सुख का अनन्त काल तक उपभोग करने वाले होते हैं, जैसा कि पंचास्तिकाय गाथा 29 में कहा है -

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पप्पेदि सुहमणंतं अव्वाबाधं सगममुत्तं ॥ 29 ॥

अर्थ - वह चेतयिता आत्मा सर्वज्ञ और सर्वलोकदर्शी स्वयं होता हुआ स्वकीय, अमूर्त, अव्याबाध, अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार मे भी आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है -

विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम् ॥132॥

अर्थ - उस मोक्ष में रहने वाले सिद्ध भगवान् अनन्त ज्ञान, दर्शन, अनन्त वीर्य, परम उदासीनता, अनन्तसुख, आनन्द, तृप्ति एव परमशुद्धता से सयुक्त रहते हैं, वे हीनाधिक भाव से रहित समान गुणों के धारक हैं और अनन्त काल तक सुखपूर्वक उस मोक्ष में निवास करते हैं। राजवार्तिककार ने सिद्धों का कैसा सुख होता है ? इसका समाधान (अध्याय 10 के अन्त में श्लोक नं. 24-27) मे इस प्रकार किया है -

अर्थ - इस लोक में चार अर्थों में सुख शब्द का प्रयोग होता है - विषय, वेदना का अभाव, कर्मफल, मोक्ष। अग्नि सुखकर है, वायु सुखकारी है इत्यादि में सुख शब्द विषयार्थक है। रोगादि दुःखों के अभाव में पुरुष 'मैं सुखी हूँ' ऐसा समझता है वह वेदनाभाव सुख है। पुण्यकर्म के उदय से जो इन्द्रिय विषयों से सुखानुभूति होती है वह कर्मफल से उत्पन्न सुख है और कर्म और क्लेश के नष्ट होने से प्राप्त अनुपम मोक्ष सुख है।

संसारी जीवों में सबसे ज्यादा सुखी अहमिन्द्रों को कहा जाता है, जिनकी संख्या असख्यात है। ऐसे असंख्यात अहमिन्द्रों के तथा समस्त संसारी जीवों के प्राप्त सुख से अनन्तानन्त गुणा सुख, मुक्त जीवों को प्रतिसमय प्राप्त होता है। मुक्त जीवों में रंचमात्र भी अस्थिरता नहीं पाई जाती है। इसलिए मन को एकाग्र करने रूप ध्यान का यहाँ नितान्त अभाव पाया जाता है।

मुक्त जीवों का परिणमन -

यद्यपि मुक्तजीवों के आत्मप्रदेशों में रंचमात्र भी हिलना, डुलना नहीं पाया जाता, परन्तु फिर भी 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' तथा 'सत्द्रव्यलक्षण' इन दोनों सूत्रों के अनुसार उनमें स्वभाव से पाये जाने वाले अगुरुलघु गुण के कारण प्रतिसमय उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप परिणमन पाया जाता है। ऐसा नहीं कि वे अपरिणामी हो गए हों। जैसा प्रवचनसार गाथा 18 की टीका में कहा है - *'यद्यपि संसार की जन्म-मरण रूप कारण समयसार की पर्याय का विनाश हो* जाता है। परन्तु केवलज्ञानादि की व्यक्ति रूप कार्यसमयसार रूप पर्याय का उत्पाद हो जाता है। और दोनों पर्यायों से परिणत आत्मद्रव्य रूप से ध्रौव्यत्व भी बना रहता है। क्योंकि वह एक पदार्थ है अथवा दूसरी प्रकार से ज्ञेय पदार्थों में प्रतिक्षण तीनों भंगों द्वारा परिणमन होता रहता है। और ज्ञान भी परिच्छित्ती की अपेक्षा तदनुसार ही तीनों भंगों से परिणमन करता रहता है। तीसरी प्रकार से षट्स्थानगत अगुरुलघुगुण में होने वाली वृद्धिहानि की अपेक्षा भी तीनों भंग भी वहाँ जानने चाहिए।' अर्थात् मुक्त जीवों में परिस्पन्दन नहीं होता, परन्तु परिणमन तो होता ही है। कुछ जीव ऐसी भी शंका करते हुए पाए जाते हैं कि संसारी जीवों की संख्या से जब निरन्तर छह महीने आठ समय में 608 जीव मोक्ष जा रहे हैं तो कभी न कभी तो समस्त जीव राशि समाप्त हो ही जायेगी, उसका उत्तर श्री धवलाकार ने धवला पुस्तक 14 पृ. 126 -8 पर बहुत सुन्दरता से दिया है। *'त्रसभाव को नहीं प्राप्त हुए अनन्त निगोद जीव संभव हैं। आय रहित जिन सख्याओं का* व्यय होने पर सत्त्व का विच्छेद होता है, वे संख्याएँ सख्यात और असंख्यात सज्ञा वाली होती हैं। आय से रहित जिन संख्याओं का संख्यात और असंख्यात रूप से व्यय होने पर भी विच्छेद नहीं होता है, उनको अनन्त सज्ञा है। और सब जीव राशि अनन्त है, इसलिए वह विच्छेद को प्राप्त नही होती। अन्यथा उसके अनन्त होने में विरोध आता है। सब अतीतकाल के द्वारा जो सिद्ध हुए हैं उनसे एक निगोद शरीर के जीव अनन्तगुणे है। जिस प्रकार अनन्तकाल से सूर्य का बिम्ब निरन्तर गर्मी छोड़ रहा है और फिर भी आज भी उतना ही गर्म है, उसी प्रकार अनन्तानन्त जीव राशि में से कुछ जीवों के मुक्त होने पर भी जीवों की राशि अनन्त ही रहती है।'

कुछ अन्य ज्ञातव्य चर्चायें -

1. छह महीने आठ समय में 608 जीव मोक्ष जाते हैं और उतने ही जीव नित्य निगोद को छोड़कर चतुर्गति रूप भव को प्राप्त होते हैं।

2. यद्यपि सभी सिद्ध एकसमान हैं फिर भी क्षेत्र, काल, आदि की अपेक्षा से उनमें अन्तर भी कहा गया है।

3. दिगम्बर आम्नाय के अनुसार केवल द्रव्य पुरुषवेदी मुक्ति प्राप्त कर सकता है, द्रव्यस्त्रीवेदी नहीं।

4. पूरे 45 लाख योजन क्षेत्र से जीवों को मुक्ति होती है।

5. विदेह क्षेत्र और विजयार्ध पर्वतों से मुक्ति हमेशा सम्भव है, जबकि भरत एवं ऐरावत क्षेत्र की कर्मभूमियों से केवल उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के तीसरे काल के अन्त में, चौथे काल में और चौथे काल के उत्पन्न जीव का पंचम काल के प्रारम्भ में मोक्ष होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में स्त्रीमुक्ति निषेध

* प्रोफे. रतनचन्द्र जैन

भाष्यकार ने भाष्य में स्त्रीमुक्ति तथा स्त्री के तीर्थंकरी होने का प्रतिपादन किया है।[१] किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में सर्वत्र मुक्ति निषेधक प्रमाणों से स्त्रीमुक्ति का निषेध होता है क्योंकि स्त्री भी सवस्त्र होती है। वह शारीरिक संरचना विशेष के कारण वस्त्र त्याग नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त भी तत्त्वार्थसूत्र में स्त्रीमुक्ति विरोधी अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यथा -

1. 'बादरसाम्पराये सर्वे'[२] सूत्र में कहा गया है कि नौवें गुणस्थान के सवेदभाग पर्यन्त (श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार) सभी 22 परीषह होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नाग्न्यपरीषह भी 9 वें गुणस्थान तक होता है अत: स्त्री नौवें गुणस्थान तक नहीं पहुँच सकती। स्त्री का नौवें गुणस्थान तक का न पहुँच पाना उसकी मुक्ति के विरोध का सूचक है।

2. तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविद:'[३] सूत्र द्वारा भी स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है क्योंकि सूत्र में कहा गया है चार प्रकार के शुक्लध्यानों में से आदि के दो ध्यान पृथक्त्ववितर्कवीचार और एकत्ववितर्कवीचार पूर्वविद् (चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाता अर्थात् श्रुतकेवली) को होते हैं और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के अनुसार स्त्री को 11 अंगों का ही ज्ञान हो सकता है भले ही आर्यिका है।[४] इससे स्पष्ट है कि उसे चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान नहीं हो सकता। फलस्वरूप उसे आदि के दो शुक्ल ध्यान नहीं हो सकते इससे केवलज्ञान होना असम्भव है।

किन्तु श्वेताम्बराचार्यो ने तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ढाचे में फिट करने के लिए स्त्री को पूर्वो के अध्ययन के बिना ही उनका ज्ञान हो जाने की कल्पना की है श्री हरिभद्रसूरि कहते हैं 'स्त्री वेदादि मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से क्षपकश्रेणी का विशिष्ट परिणाम उत्पन्न होने पर श्रुतज्ञानावरण का विशिष्ट क्षयोपशम होता है। जिससे द्वादशांग के अर्थ का बोधात्मक उपयोग प्रकट हो जाता है, तब अर्थोपयोग रूप से द्वादशांग की सत्ता आ जाती है।'[५]

इसके पंजिका टीकाकार चन्द्रसूरीश्वर जी लिखते हैं - 'बारहवें अंग दृष्टिवाद में विद्यमान 'पूर्व' नाम के श्रुत का

१. क. स्त्रीलिंगसिद्धा: संख्येयगुणा:। ..... तीर्थकरतीर्थसिद्धा: स्त्रिय: सख्येयगुणा:। - तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, 10/7
ख. एवं तीर्थकरीतीर्थे सिद्धा अपि, - वही 11/7

२. तत्त्वार्थसूत्र, 7/12, स. सि. 7/12, भाष्य, 7/12

३. तत्त्वार्थसूत्र, 7/37 'आद्ये शुक्लध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्के पूर्वविदो भवत:।' - तत्त्वार्थाधिगमभाष्य 7/37

४. अरहंतचक्कि केसवबलसंभिन्ने या चारणे पुण्णा।
गणहरपुलाशय आहारांग च न हु भवति महिलाण ॥ - प्रवचनसारोद्धार, 1506

५. (द्वादशांगवत् कैवल्यस्य कथं न बाध: ?) कथं द्वादशागप्रतिषेध:? तथा विद्याविग्रहे ततो दोषात्। श्रेणिपरिणती तु कालगर्भवद् भावतो भावोऽविरुद्ध एव। -ललितविस्तरा,स्त्रीमुक्ति,गा.3 पृ. 406

* ए/2, मानसरोवर शाहपुरा, भोपाल, (0755) 2424666

ज्ञान न हो तो आदि के दो शुक्लध्यान नहीं हो सकते और शास्त्र यह भी कहता है कि स्त्रियों को दृष्टिवाद का अध्ययन का निषेध है, किन्तु स्त्रियों को केवलज्ञान तो होता ही है अत: उसका साधनभूत शुक्लध्यान भी होता है। इसीलिये यह मानना दुर्वार है कि उन्हें शब्द रूप से अध्ययन न होने पर भी धर्मध्यान के आधार पर वे क्षपकश्रेणी के विशिष्ट परिणाम तक पहुँचती है और वहाँ श्रुतज्ञानावरण कर्म का ऐसा क्षयोपशम हो जाता है कि जिससे शब्दत: न सही पदार्थ बौद्धरूप से द्वादशांग श्रुत की प्राप्ति हो जाती है। ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है।'[1]

किन्तु ऐसा मानने में अनेक दोष हैं। उदाहरणार्थ -

क. यदि क्षपकश्रेणी का विशिष्ट परिणाम होने पर श्रुतज्ञानावरण को विशिष्ट क्षयोपशम से स्त्री को शाब्दिक ज्ञान हुए बिना द्वादशांग का अर्थबोध हो जाता है तो पुरुष के लिये भी द्वादशांग के अध्ययन की अनिवार्यता असिद्ध हो जाती है, क्योंकि उसे भी इसी प्रकार अध्ययन के बिना ही द्वादशांग का अर्थावगम हो सकता है। इससे द्वादशांग का शब्दरूप में अस्तित्व और अध्ययन-अध्यापन निरर्थक होने का प्रसंग आता है, किन्तु वह निरर्थक नहीं माना जा सकता। अन्यथा भगवान उसे दिव्यध्वनि द्वारा प्रकट क्यों करते और गणधर उसका संकलन क्यों करते। इससे सिद्ध है कि उपर्युक्त कल्पना युक्तिसंगत न होने से यथार्थ नहीं है।

ख. दूसरी बात यह है कि 14 पूर्वों के अध्ययनों के बिना उनका अर्थबोध उन्हीं ऋषियों को होता है जिन्हें प्रज्ञाश्रमणत्वऋद्धि (लब्धि) प्राप्त हो जाती है।[2] किन्तु दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों आम्नायों के आगमो में स्त्रियों को सभी प्रकार की ऋद्धियों की प्राप्ति का निषेध किया गया है। यथा श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रवचनसारोद्धार में कहा गया है -

> अरिहंतचक्कि-केसव-बल-संभिन्ने य चारणो-पुव्वा।
> गणहर-पुलाय आहरगं च न हु भविय महिलाणं ॥[3]

अर्थात् भव्य स्त्रियाँ तीर्थंकर चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, संभिन्नश्रोतृत्व, चारणऋद्धि, चौदहपूर्वित्व, गणधर, पुलाक तथा आहारकऋद्धि ये दस अवस्थायें प्राप्त नहीं कर सकती।

यापनीय आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन कहते हैं कि यद्यपि स्त्रियों में 'वाद' आदि लब्धियाँ नहीं होती, वे जिनकल्प और मन:पर्ययज्ञान भी प्राप्त नहीं कर सकतीं, तो भी उनके मोक्ष का भाव नहीं है यदि 'वाद' आदि लब्धियों के

---

१. श्रेणिपरिणतौ तु क्षपकश्रेणिपरिणामे पुन: वेदमोहनीयक्षयोत्तरकालं, कालगर्भवत्, काले प्रौढेकतु प्रवृत्युचिते उदरसत्त्व इव भावतो द्वादशांगार्थोपयोगरूपात् न तु शब्दतोऽपि, भाव: सत्ता द्वादशांगस्य, अविरुद्धो न दोषवान्। इदमत्र हृदयमस्ति अस्ति हि स्त्रीणामपि प्रकृत-युक्त्या केवलप्राप्ति:, शुक्लध्यानसाध्यं च तत्। ध्यानान्तारिकायां शुक्लध्यानाद्यमेद्वयावसान उत्तरभेदद्वयानारम्भरूपायां वर्तमानस्य केवलमुत्पद्ये इति वचनात् प्रामाण्यात्। न च पूर्वगतमन्तरेण शुक्लध्यानाद्यमादौ स्त: आद्ये पूर्वविद: (तत्त्वार्थ 7/37) इति वचनात्, दृष्टिवादश्च न स्त्रीणामिति वचनात्, अतस्तदर्थोपयोगरूप: क्षपकश्रेणिपरिणतौ स्त्रीणां द्वादशांगभाव: क्षयोपशमविशेषादुपदिष्ट इति। - वही पंजिकाटीका, पृ. 406

२. पयडीए सुदणाणावरणाए वीरयंतराए।
उक्कस्सक्खउवसमे उप्पज्जइ पण्णसमणद्धी ॥
पण्णसवणाद्धिजुदो चोद्दसपुव्वीसु विसयसुहुमत्तं।
सव्वं हि सुदं जाणदि अज्झयणो वि सिद्धमेणा ॥ - तिलोयपण्णत्ती, 4/10, 17-18

३. प्रवचनसारोद्धार गाथा, 1506, पृ. 325

अभाव में स्त्रियों को मोक्ष की प्राप्ति असम्भव होती तो आगम में जैसे जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद जिनकल्प आदि के विच्छेद का उल्लेख किया जाना चाहिए था।[१]

यहाँ शाकटायन ने स्त्रियों में 'वाद' आदि लब्धियों की योग्यता का भाव स्पष्टत: स्वीकार किया है। वादऋद्धि या वादित्वऋद्धि उस ऋद्धि को कहते हैं जिससे बहुवाद के द्वारा शक्रादि के पक्ष को भी निरुत्तर कर दिया जाता है।[२] वादादि ऋद्धियों में प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धि भी समाविष्ट है। अत: सिद्ध है कि स्त्रियों को प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धि की प्राप्ति का निषेध श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय आम्नायों में किया गया है, इसलिये श्री हरिभद्रसूरि का यह कथन आगमसम्मत नहीं है कि क्षपकश्रेणी का विशिष्ट परिणाम उत्पन्न होते ही स्त्रियों को 14 पूर्वों के अर्थ का बोध हो जाता है। तात्पर्य यह कि स्त्रियों को 14 पूर्वों का न तो शब्दबोध सम्भव है, न अर्थबोध अत: शुक्लध्यान भी सम्भव नहीं है। फलस्वरूप तत्त्वार्थसूत्र का 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविद:' सूत्र स्त्रीमुक्ति का निषेधक है।

ग. और जो यह कहा गया है कि स्त्री को केवलज्ञान होता है और केवलज्ञान चतुर्दशपूर्वों के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है तथा स्त्री को द्वादशांग आगम के अध्ययन का निषेध है अत: अन्यथानुपपत्ति से सिद्ध होता है कि स्त्री को द्वादशांग अध्ययन के बिना ही चतुर्दशपूर्वों का अर्थबोध हो जाता है। यह अन्यथानुपपत्तिजन्य निष्कर्ष श्वेताम्बर आगमों में तो उत्पन्न हो जाता है किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में नहीं होता। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में स्त्री को केवलज्ञान होने का कहीं भी उल्लेख नहीं है। अत: तत्त्वार्थसूत्र में उसकी उपपत्ति के लिये स्त्री में चतुर्दशपूर्वों के ज्ञान को येन केन प्रकारेण उपपादित करने की आवश्यकता नहीं है।

श्रीहरिभद्रसूरि ने तत्त्वार्थसूत्र को श्वेताम्बराचार्यकृत मान कर उसमें स्त्री को केवलज्ञान प्राप्ति की मान्यता अपने मन से आरोपित कर दी है और फिर स्त्री में चतुर्दशपूर्वों का ज्ञान उपपादित करने के लिए उपर्युक्त केवलज्ञानप्राप्ति का उल्लेख का अभाव सिद्ध करता है कि सूत्रकार को यह विचार मान्य नहीं है कि स्त्री को द्वादशांग आगम का अध्ययन किये बिना ही चतुर्दशपूर्वों का अवबोध हो जाता है इससे सिद्ध है कि तत्त्वार्थसूत्र का 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविद:' सूत्र स्त्रीमुक्ति का निषेध का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

घ. तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित 22 परिषहों में स्त्रीपरिषह का उल्लेख भी यह सिद्ध करता है कि सूत्रकार केवल पुरुषमुक्ति के पक्षधर हैं, उन्हें स्त्रीमुक्ति अमान्य है। यदि उन्हें स्त्रीमुक्ति मान्य होती तो स्त्रीपरिषह के समकक्ष पुरुषपरिषह का भी उल्लेख करते। स्व. डा. दरबारीलाल कोठिया ने भी तत्त्वार्थसूत्र स्त्रीमुक्ति के विरोधी होने के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया है जिस पर आक्षेप करते हुए डा. सागरमल जी लिखते हैं - 'भारतीय संस्कृति का सर्वमान्य तथ्य है कि सारे उपदेश-ग्रन्थ एवं नियम-ग्रन्थ पुरुष को प्रधान करके ही लिखे गए हैं किन्तु इससे स्त्री की उपेक्षा या अयोग्यता सिद्ध नहीं होती है। समन्तभद्र आदि दिगम्बर आचार्यों ने 'श्रावकाचार' लिखे हैं तथा चतुर्थ अणुव्रत को स्वदारसंतोषव्रत कहा है एवं उस

---

१. वादविकुर्वणत्वादिलब्धिविरहे श्रुतं कनीयसि च।
जिनकल्प-मन:पर्यायविरहेऽपि न सिद्धिविरहोऽस्ति ॥
वादादिलब्ध्यभाववद् भविष्यदादि च सिद्ध्यभावोऽपि।
तासामवारयिष्यद्यथैव जम्बूयुगादारात् ॥ - स्त्रीमुक्तिप्रकरण, 7-8

२. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पृ. 347-8

सम्बन्ध में सारे उपदेश एवं नियम पुरुष को लक्ष्य करके ही कहे, तो उससे क्या यह मान लिया जाये कि उन्हें स्त्री व्रतधारी श्राविका होना भी स्वीकार्य नहीं ?"[1]

इस विषय में मेरा निवेदन है कि यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रकार ने श्रावकधर्म का निरूपण करते समय पुरुषोचित व्रतों ही विधान किया है, किन्तु जैनों के तीनों सम्प्रदायों (दिगम्बर, श्वेताम्बर और यापनीय) को पुरुष के समान स्त्री का श्राविका होना स्वीकार्य है, इसलिये श्रावकधर्म के पुरुषोचित व्रतों के समकक्ष स्त्रियोचित व्रतों का युक्तिबल से अनुम कर लिया जाता है। किन्तु स्त्रियों का मुक्त होना जैनों के सभी सम्प्रदायों को मान्य नहीं है। इसलिये तत्त्वार्थसूत्र में मुनि के अन्तर्गत जिन पुरुषोचित व्रत-नियमों का विधान किया गया है उनसे तत्समकक्ष स्त्रियोचित व्रत-नियमों का युक्ति से स्वतः अनुमान लगाना युक्तिसंगत एवं न्यायोचित नहीं है। वहाँ स्त्रीमुक्ति का प्रतिपादन किया गया है यह तभी सि हो सकता है जब मुनिव्रतों के समकक्ष स्त्रीव्रतों का भी शब्दतः या युक्तितः प्रतिपादन उपलब्ध हो।

यद्यपि 'मूलाचार' स्त्रीमुक्ति प्रतिपादक नहीं है तो भी उसमें मुनियों और आर्यिकाओं के लिये विशिष्ट नियमों अलग-अलग उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ - मुनियों के लिये जिस समाचार का उल्लेख किया गया है आर्यिकाओ लिये उसे ज्यों का त्यों ग्रहण न कर अपनी स्त्रीपर्याय के योग्य ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है।[2] मुनि को यथाजातरूपध कहा गया है और आर्यिकाओं को अविकारवत्थवेसा (विकाररहित वस्त्र और वेशधारी)[3] आहारादि के लिए आर्यिका को तीन, *पांच या सात के समूह में जाने का आदेश दिया गया है*।[4] जबकि मुनि अकेला भी जा सकता है जहाँ मुनियों गिरि, कन्दरा, श्मशान, शून्यागार और वृक्षमूल में ठहरने का विधान मिलता है, वहाँ आर्यिकाओं को उपाश्रय में र का।[5]

स्त्रीमुक्ति प्रतिपादक श्वेताम्बरीय आगम आचारांगादि में भी भिक्खु एवं भिक्खुणियो अथवा निर्ग्रन्थों एवं निर्ग्रन्थनि के लिए विशिष्ट नियम अलग-अलग निर्दिष्ट किये गये हैं कि जो निर्ग्रन्थ (साधु) तरुण हो, युवक हो, बलवान हो, निर हो, दृढसंहनन वाला हो, उसे एक ही वस्त्र धारण करना चाहिए, दूसरा नहीं। किन्तु निर्ग्रन्थनियों को चार संघाटिक रखनी चाहिए। एक-दो हाथ विस्तार वाली, दो तीन प्रमाण और एक चार हाथ प्रमाण।[6] बृहत्कल्पसूत्र में निर्देश कि गया है कि 'सामान्य रूप से जिस उपाश्रय में जाने का मार्ग गृहस्थ के धर्म में से होकर जाता हो, वहाँ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी ठहरना उचित नहीं है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में निर्ग्रन्थी को[7] ऐसे उपाश्रय में ठहरने की अनुज्ञा है।' जहाँ भिक्खु अ भिक्खुणियों के लिए नियम एक जैसे हैं वहाँ दोनों को सम्बोधित करके निर्देश किया गया है।[8]

---

१. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पृ. 347-8

२. मूलाचार, गाथा 180

३. वही, गाथा 174

४. वही, गाथा 752, 754

५. 'जे णिग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पयांके थिरसंघयणे से एगं वत्थं धारेज्जा, णो बिइयं। जा णिग्गथी सा चत्तारि संघाडिओ धारेज्जा - दुहत्थ-वित्थारं, दो तिहत्थवित्थाराओ, एगं चउहत्थ-वित्थारं।' - आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन 5, उद्देशक 1, सूत्र 14।

६. नो कप्पइ निग्गंथाणं गाहावइकुलस्स मज्झं मज्झेणं गंतु वत्थए।
कप्पइ निग्गंथीणं गाहावइकुलस्स मज्झं मज्झेणं गंतु वत्थुए॥ - बृहत्कल्पसूत्र, 301/33-34

७. 'से भिक्खू वा भिक्खुणी वा' - आचारांग, द्वितीयश्रुतस्कन्ध, पिण्डैषणा, 1/1 सूत्र 1

८. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य 10/7

किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा नहीं है। उसमें अनगारधर्म के अन्तर्गत केवल पुरुषोचित व्रत-नियमों का कथन किया गया है। वहाँ स्त्रियोचित व्रत-नियमों का भूल से भी नाम नहीं लिया गया। उदाहरणार्थ - नाग्न्यपरीषह पुरुष पर ही चरितार्थ होता है, स्त्री पर नहीं। सभी पर घटित होने वाले इसके समकक्ष कोई परीषह वर्णित नहीं किया गया है। स्त्रीपरिषह भी ऐसा ही है। इसके साथ स्त्री पर घटित होने वाले पुरुषपरीषह का उल्लेख नहीं किया गया। शीत, उष्ण, दंश-मशक परीषह भी सर्वत्र स्त्री के अनुरूप नहीं हैं। जहाँ आचारांगानुसार भिक्खुणियों के लिए सान्तरोत्तर प्रावरणीय की व्यवस्था हो, चार संघाटिकाओं को रखने की अनुमति हो, तीन-तीन सूती-ऊनी कल्पों के प्रयोग की सुविधा दी गई है, वहाँ स्त्रियों पर शीत, उष्ण, दंश-मशक परीषह स्वप्न में भी घटित नहीं हो सकते। ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाओं में पुरुषों के अनुरूप स्त्रीरागकथाश्रवण और तन्मनोहरांगनिरीक्षण के त्याग का वर्णन है। स्त्रियों के अनुरूप पुरुषरागकथा, पुरुषमनोहरांगत्याग का कथन नहीं है। अचौर्य महाव्रत की शून्यागारवास और विमोचितावास भावनाएँ भी स्त्रियों के विरुद्ध हैं। दिगम्बर आगम मूलाचार और श्वेताम्बर आगम आचारांग में आर्यिकाओं के लिए उपाश्रय में रहने का विधान किया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित वैयावृत तप के दश भेद आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ की सेवा स्त्री महाव्रतियों के अनुकूल नहीं हैं। पुलाक, बकुश आदि पाँच भेद मुनियों में ही बतलाए हैं, श्रमणियों में नहीं। इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार एकमात्र नग्न पुरुषशरीर को ही मोक्षसाधक लिंग मानकर चल रहे थे, इसलिये नग्नपुरुषविषयक ही परीषहों का उल्लेख किया है।

तत्त्वार्थसूत्र में भिक्षुणी, निर्ग्रन्थी, श्रमणी और आर्यिका इनमें से किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। जबकि भाष्य में श्रमणी, निर्ग्रन्थी और प्रवर्तिनी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। तीर्थकरप्रकृति के बन्ध के हेतुओं का निर्देश करने वाले सूत्र में तीर्थकर शब्द का ही प्रयोग है 'तीर्थकरी' का नहीं। जबकि भाष्यकार एक अन्य सूत्र के भाष्य में 'तीर्थकरी' शब्द प्रयुक्त करते हैं - 'एवं तीर्थकरीतीर्थे से सिद्धा अपि'[1] इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में अनगारधर्म के अन्तर्गत केवल पुरुष पर चरितार्थ होने वाले व्रत-नियमों का वर्णन किया जाना, स्त्री पर चरितार्थ होने वाले एक भी व्रत-नियम का निर्देश नहीं मिलना यहाँ तक कि भिक्षुणी, निर्ग्रन्थी, श्रमणी और आर्यिका शब्द भी ग्रन्थ में कहीं दिखाई न देना इस बात का सुबूत है कि ग्रन्थ स्त्रीमुक्ति विरोधी ग्रन्थकार की कृति है। इसके विपरीत भाष्य स्त्रीमुक्ति समर्थक लेखनी से उद्भूत हुआ है। यह सूत्रकार और भाष्यकार के सम्प्रदाय भेद का अन्यतम प्रमाण है।

---

१. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, 7/24

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर सतना एवं अन्य संस्थाएँ : विकास के क्रम में

आज से लगभग डेढ सौ वर्ष पूर्व वर्तमान सतना नगर के स्थान पर हरा-भरा वन प्रदेश था। अंग्रेज शासकों ने सम्पूर्ण भारत पर अपना शासन जमाने की योजना की पूर्ति के लिये यह आवश्यक समझा कि सारे देश को रेलमार्ग से जोड़ा जावे ताकि फौज का आवागमन सरलतापूर्वक हो सके। इसी उद्देश्य से इलाहाबाद और जबलपुर को जोडने के लिये रेल की पटरी बिछाई गई।

सन् 1863 में रेल लाइन के साथ-साथ छोटी दुकानों की एक छोटी-सी बस्ती बसनी प्रारम्भ हुई। शनैः शनैः इन्हीं से सतना नगर का विस्तार हुआ। जैन वणिक् व्यापार कुशल होते ही हैं, सो आसपास के नगरों, कस्बों और देहातों से अनेक कुशल वणिक् बस्ती के निर्माण के साथ ही सतना में आकर बसने लगे। बुन्देलखण्ड के विभिन्न स्थानों से आये इन जैन धर्मावलम्बियों की आस्था का केन्द्र जिनालय न हो, ऐसा हो नहीं सकता था। उन बन्धुओं ने एक छोटे से जिनालय की नींव रखी सन् 1880 में जिनालय सहित मूलनायक तीर्थंकर श्री नेमिनाथ स्वामी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा सपन्न हुई। जैन मन्दिर के निर्माण के पूर्व सतना में एक-दो वैष्णव मन्दिरों की स्थापना की जानकारी प्राप्त होती है, पर इनमे से कोई भी मन्दिर शिखरबद्ध मन्दिर के रूप में नहीं था। इस तरह से श्री दिगम्बर जैन मन्दिर सतना का इतिहास वास्तव मे सतना के निर्माण, विकास और प्रगति का इतिहास है।

समय के साथ-साथ मन्दिर जी और वेदियों के आकार-प्रकार में भी परिवर्तन होता आया है। लगभग एक मीटर ऊँचे चबूतरे के ऊपर मजबूत दीवारों एवं स्तम्भों के आधार पर मन्दिर का निर्माण किया गया था। चारों दिशाओं में पाँच दरवाजे थे जो अब भी कुछ परिवर्तनों के साथ मौजूद हैं। पूर्व दिशा की ओर से 3-4 सीढियाँ चढने के बाद बरामदा है, उसके दोनों ओर कमरे हैं। दरवाजे से प्रवेश करने पर छोटा बरामदा, फिर आँगन और उसके तीनों ओर बरामदे थे। आँगन के दोनों छोर उत्तर और पूर्व में ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ थीं। चारों बरामदों पर ऊपर छज्जे एवं कमरे बने हुये थे। यहाँ पहले दिगम्बर जैन पाठशाला लगती थी, जो स्थान परिवर्तित होकर सेमरिया चौराहे में स्थित विद्यालय भवन (पूर्व में माता त्रिशला प्रसूतिका गृह) में चली गई है। आँगन और तीनों तरफ के बरामदों व सीढ़ियों को अलग कर वर्तमान में एक सुन्दर विशाल कक्ष के निर्माण का कार्य द्रुतगति से चल रहा है। यहाँ तीन नवीन वेदियों की स्थापना कर तीर्थंकर पार्श्वनाथ की सहस्रफणी मूर्तियों की स्थापना होने जा रही है। अत्यन्त भव्य, आकर्षक और मनोज्ञ इन जिनबिम्बों की स्थापना के उपरान्त इस जिनालय की भव्यता में चार-चाँद लग जायेंगे।

आँगन व पश्चिमी बरामदे को पार करके बरामदे के उत्तरी-पश्चिमी दिशा में स्थित द्वार से हम अन्दर प्रविष्ट होते हैं। लगभग 30-35 फुट लम्बे कक्ष में हमें उत्तरमुखी प्रथम वेदी के दर्शन होते हैं। वेदी की पहली कटनी का चबूतरा पंचकोणीय व लगभग सवा मीटर ऊँचाई का बना हुआ है। इस पर इतना ही स्थान ऊपर छोडकर वेदी का निर्माण किया गया है। वेदिका के ऊपर तीन सुन्दर शिखर दोनों ओर एवं दो कलशाकृति सुनहरे कलशो सहित हैं। वेदी की परिक्रमा हेतु दो छोटे-छोटे द्वार हैं। तीसरी कटनी के मध्य में श्वेत पाषाण से निर्मित लगभग 3 फुट अवगाहना वाली अत्यन्त मनोज्ञ

मूलनायक श्री 1008 नेमिनाथ भगवान की अतिशयकारी पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। प्रतिमा के पादमूल में प्रतिष्ठापक हजारीलाल जवाहरलाल जी के नाम सहित प्रतिष्ठा संवत् माघ सुदी 5 सं0 1937 उत्कीर्ण है। इस वेदी में विराजमान जिनबिम्बों में स्फटिक मणि से निर्मित दो जिनबिम्ब संभवत: चन्द्रकान्त शिला से प्राप्त पाषाण से निर्मित हैं। इन दोनों जिनबिम्बों का वजन उनके विग्रह के अनुपात में बहुत कम (फूल जैसा) है। श्री नेमिनाथ भगवान् की वेदी में 50 वर्ष पूर्व रात्रि में वाद्यों की सुमधुर ध्वनि सुनाई पड़ती थी।

दूसरी वेदी के गर्भगृह का प्रवेशद्वार भी पहली की भाँति है। दोनों वेदियों में अन्तर यह है कि यह वेदी दो फुट ऊँचाई वाले चबूतरे पर रखी गई है। चबूतरे पर सामने एक से सवा मीटर स्थान पूजन के लिये पहली वेदी की भाँति ही छूटा हुआ है। यह वेदी संगमरमर की बनी हुई है और पहली वेदी से छोटी है। चार स्तम्भों पर तीन कटनी हैं, दोनों स्तम्भों पर देव चँवर ढारते हुए बने हैं। वेदिका शिखर एवं कलशों से सुशोभित है। बाजू में दोनों ओर जालीदार नक्काशी है। इस वेदी पर वेदी नायक 1008 श्री अजितनाथ भगवान् की लगभग डेढ फीट अवगाहना की पद्मासन मुद्रा में विराजमान अष्टधातु की प्रतिमा है। यह वेदी सिं. धर्मदास प्रेमचन्द जी की कही जाती है। ऐसा लगता है कि यह वेदी बनी बनाई मँगवाकर स्थापित कराई गई है।

द्वार से होकर हम भीतर बडे हॉल में प्रवेश करते हैं, जिसमें बाईं ओर एक छोटा कमरा है। तीसरी वेदी इसी कमरे में है। तीसरी वेदी की बनावट दूसरी वेदी से भिन्न है। संगमरमर से बनी यह वेदी शिखरों एवं कलशों से सुसज्जित है। वेदी लगभग तीन फुट ऊँचे चबूतरे पर स्थित है। यह वेदी श्री जगमोहनलाल लखपतराय जी की कही जाती है। गर्भगृह में दो द्वार हैं, एक सामने उत्तर दिशा में और दूसरा पार्श्व में पश्चिम दिशा में। इस वेदिका में वेदीनायक के रूप में श्री 1008 चन्द्रप्रभ भगवान् की श्वेत संगमरमर की प्रतिमा विराजमान है, जिस पर प्रतिष्ठा सं0 1951 अंकित है।

इस वेदी के बाद पूर्व एव वर्तमान स्थिति में अन्तर प्रारम्भ हो जाता है। पहले तीसरी वेदी के सामने बरामदा था जो चारों ओर सुन्दर स्तम्भों पर आधारित था, बीच में लगभग डेढ फुट गहरा आगन था। यहाँ दीपावली के अवसर पर जलमन्दिर बनवाकर पावापुरी जी की रचना की जाती थी। दाहिने बरामदे में किनारे पर चौथी वेदी थी। जो पहली वेदी की ही भाँति थी। इस वेदी में तीन बार परिवर्तन हुए है। कहा जाता है कि पहले इसमें वेदीनायक के रूप में श्री चन्द्रप्रभु भगवान् की प्रतिमा विराजमान थी, जो अब तीसरी वेदी मे अन्य जिनबिम्बों के साथ विराजमान है।

मन्दिर स्थापना के लगभग 56 वर्ष बाद व्यौहारी के पास मऊग्राम से शान्तिनाथ भगवान् की प्रतिमा रीवाँ नरेश महाराजा गुलाबसिंह के आदेश से प्राप्त हुई। प्रतिमा में स्पष्ट चिह्न का अभाव होने से निर्णय करना कठिन था कि प्रतिमा किन तीर्थंकर की है। तत्कालीन समाज बन्धुओं ने इस प्रतिमा को शान्तिनाथ के रूप में प्रणाम किया।

इसके बाद जिस वेदी का निर्माण हुआ उसमें बीचों-बीच श्री शान्तिनाथ प्रभु की प्रतिमा स्थापित हुई। मूर्ति के दोनों ओर दो सुन्दर आले थे, जिनमें से एक में चन्द्रप्रभ भगवान का जिनबिम्ब और दूसरे में दो धातु प्रतिमाएँ विराजमान थीं। वेदी के गर्भगृह के दोनों ओर पूर्वाभिमुख और उत्तराभिमुख जालीदार दरवाजे थे। सतना मन्दिर में यह एकमात्र वेदिका है जो पूर्वाभिमुख है। श्री सेवकचन्द्र जी ने वेदी का फर्श एवं साज-सज्जाकराकर एक टेबिल इस वेदी के लिये भेंट की थी। टेबिल पर पीतल की चद्दर मढी हुई है, जिसमें वेदी की प्रतिष्ठा तिथि मगसिर सुदी 1 सं0 1993 की सूचना प्राप्त होती है।

भगवान् शान्तिनाथ की इस प्रतिमा पर सुधार कार्य (घिसाई) हुई। लगभग दो वर्ष तक प्रतिमा जी अप्रतिष्ठित रही। इसका प्रतिकूल प्रभाव भी समाज पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा। अत: प्रतिमा जी को पुन: संस्कारित कर उनके लिये प्राचीनकला से मिलती जुलती वेदी का निर्माण कराया गया। महिला वर्ग के सहयोग से कुन्थुनाथ एवं अरनाथ जी की देशी लाल पाषाण की प्रतिमाएँ मँगवाकर दोनों पार्श्व में स्थापित की गईं, जिनके कारण शान्तिनाथ जी की प्राचीनता संरक्षित हुई। इनकी प्रतिष्ठा हेतु फरवरी 1998 में पंचकल्याणक एवं गजरथ समारोह का आयोजन किया गया। यह आयोजन परम पूज्य आचार्य विद्यासागर जी के शिष्य परम पूज्य मुनिराज श्री समतासागर जी, श्री प्रमाणसागर जी एवं ऐलक श्री निश्चयसागर जी के पावन सान्निध्य में संपन्न हुआ। वर्तमान में इस वेदिका का क्रम पाँचवां है। मन्दिर का पश्चिमी प्रवेश द्वार बहुत सुन्दर एवं मजबूत था। द्वार के दोनों ओर नौबतखाने बहुत सुन्दर बने हुये थे। इन पर बहुत खूबसूरत टाइल्स के सुन्दर रंगों में सजीव से दो मोर बने हुये थे। इन नौबतखानों से विशिष्ट अवसर पर शहनाई या अन्य वाद्य यन्त्र बजाये जाते थे।

कालक्रम चलता रहा और सतना में सीमेंट फैक्ट्री तथा अन्य उद्योगों की स्थापना के साथ जनसख्या तेजी से बढ़ी। व्यापार या नौकरी के लिये अनेक जैन परिवार सतना आते गये। मन्दिर जी का प्रांगण छोटा पडने लगा, अत: विस्तार का कार्य प्रारम्भ हुआ। आगन, बरामदे एवं छोटे कमरे सबको मिलाकर नीचे का बड़ा हॉल निर्मित किया गया। तीसरी वेदी को भी स्थानान्तरित करने की योजना थी, पर विरोध के कारण क्रियान्वित न हो सकी। सन् 1973 में भगवान् बाहुबली की प्रतिमा मँगवाई गई थी जो हल्की -सी खामी होने के कारण दो वर्ष तक अप्रतिष्ठित खडी रही। कालान्तर में बाहुबली जी की दूसरी प्रतिमा 1975 में आई। इसी समय मुन्नीलाल हुकुमचन्द जी (पीपल वाला) ने पश्चिमी द्वार के सामने मानस्तम्भ का निर्माण कराया। दिसम्बर 1975 में सतना जैन समाज द्वारा पचकल्याणक प्रतिष्ठा एव गजरथ महोत्सव का आयोजन किया गया। इस वर्ष परम पूज्य मुनिराज श्री 108 आर्यनन्दि जी महाराज का सतना में चातुर्मास हुआ था। उनकी प्रेरणा और मार्गदर्शन में यह आयोजन बहुत प्रभावनापूर्ण ढंग से सम्पन्न हुआ। बाहुबली जी सहित मानस्तम्भ में विराजमान भगवान् आदिनाथ, भगवान् चन्द्रप्रभु, भगवान् शान्तिनाथ तथा भगवान् महावीर के जिनबिम्बों की भी प्रतिष्ठाएँ हुई। बाहुबली जी की प्रतिमा हॉल में दक्षिणी द्वार के समीप वेदिका बनाकर (वेदिका क्रमांक 4 में) स्थापित की गई है। वर्तमान में प्राय: सभी बड़े कार्यक्रम तथा सामूहिक पूजन-विधान इसी वेदिका के सम्मुख सम्पन्न होते हैं।

सेठ नत्थूलाल जी की धर्मपत्नी श्रीमती गेंदाबाई (रावरानी फुआ) के विशेष आग्रह एव दान से हॉल के ऊपर छठवीं वेदी का निर्माण हुआ, जिसमें वेदीनायक के रूप में श्री चन्द्रप्रभु भगवान् विराजमान हैं। 6 मई 81 को इस वेदी की प्रतिष्ठा हुई।

मन्दिर जी के पश्चिमी द्वार से बाहर मैदान में अशोक का घना पेड चारों ओर चबूतरे सहित था। उत्तरदिशा में सेठ दिगनलाल जी की दो मंजिली धर्मशाला थी। बाहर मैदान की रूपरेखा बदली। मानस्तम्भ को घेरकर बाउंड्री एवं दरवाजे बनाये गये। सेठ दिगनलाल जी वाली पुरानी धर्मशाला तोड़कर मैदान में एक विशाल सभागार का निर्माण हुआ। नाम रखा गया 'श्री दयाचन्द्र सरस्वती भवन'। सन् 1980 में निर्मित इस सभाकक्ष में लगभग एक हजार श्रोताओं के बैठने की व्यवस्था है। हॉल ऐसा बना है कि आवाज गूँजती नहीं। पृथ्वीतल पर होने के कारण और बाहिरी मैदान से इसका फर्श मात्र 7 इंच ऊँचा होने के कारण श्रोताओं की संख्या अधिक होने पर बाहर मैदान में बैठे श्रोता भी अपने आपको सभाभवन

में बैठा हुआ ही महसूस करते है। सरस्वती भवन में सार्वजनिक सुविधाएँ उपलब्ध कराकर इसे बहुउपयोगी बना दिया गया है। सरस्वती भवन के ऊपर (प्रथम तल पर) सुविधायुक्त 9 कमरों का ऐसा निर्माण किया गया है कि साधु-संघ यहाँ सुविधा से ठहर सके। बीच में कुछ स्थान प्रवचन या भक्ति आदि के लिये खुला भी छोड़ दिया गया है। इस तल का नाम 'गुरुछाया' निवास है। इसका निर्माण परम पूज्य मुनिराज श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज के चातुर्मास (2004) के पूर्व पूर्ण हुआ और चातुर्मास काल में बाहर से आने वाले यात्रियों के निवास की यहाँ समुचित व्यवस्था होती रही।

सरस्वती भवन के सामने एक छोटी सी दो मजिली बिल्डिंग का निर्माण सन् 85-86 में किया गया, इसमें चार कमरे है। मन्दिर प्रांगण के बाहर अहिंसा चौक पर स्थित धर्मशाला का पुनर्निर्माण वर्तमान में चल रहा है। पन्नीलाल चौक (वर्तमान नाम अहिंसा-चौक) स्थित जैन समाज की भूमि पर सेठ गजाधरप्रसाद नत्थूलाल नागौद वालों के द्रव्य से इस धर्मशाला का निर्माण हुआ था। आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज द्वारा निरन्तर स्वाध्याय की प्रेरणा से समाधिमरण का एक क्रम सा सिघई जयकुमार अमरपाटन वालो की मातुश्री सोनाबाई जी की समाधि से चल पड़ा है। प. जगन्मोहनलाल जी के सुयोग्य सुपुत्र श्री सिद्धार्थकुमार जी प्रतिदिन सुबह समाज को स्वाध्याय कराते है। उनके मार्गदर्शन में अब तक कई समाधियाँ हो चुकी हैं। सिघई जयकुमार जी के परिवार ने मातुश्री की स्मृति को चिरजीवी करने के लिये समाधिकक्ष का निर्माण कराया है। मन्दिर जी की बाहिरी पश्चिमी दीवारो के पुनर्निर्माण एव शान्तिनाथ वेदिका के पुराने शिखर के ऊपर नवीन शिखर के निर्माण के उपरान्त इस पर नवीन कलश की स्थापना सिघई जयकुमार एव परिवार द्वारा एव ध्वजा की स्थापना विजयकुमार (महावीर ज्वैलर्स) द्वारा वर्ष 2000 मे की गई।

जिनालय के पूर्वी द्वार के सामने दुलीचन्द भवन है। इसमे एक औषधालय सचालित है। औषधालय की स्थापना वर्ष 1920 मे हुई थी। उस समय यह औषधालय भी दादू सेठ के मकान से सचालित होता था। बीच मे थोड़ी अवधि के लिए यह औषधालय बन्द रहा। अब इसका नाम श्री विद्यासागर पारमार्थिक औषधालय रख दिया गया है। आयुर्वेदिक तथा होम्योपैथिक दोनो प्रकार की चिकित्सा सुविधाएँ यहाँ उपलब्ध है।

शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिये सतना की दिगम्बर जैन समाज द्वारा वर्ष 1920 मे ही जैन पाठशाला प्रारम्भ की गई थी। सतना की सर्वाधिक प्राचीन शिक्षण सस्थाओ में से यह एक है। शनै: शनै: विकास के क्रम में प्राथमिक फिर माध्यमिक और आज उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के रूप मे यह सस्था जनता की सेवा कर रही है। बाबू दुलीचन्द जी ने शाला सचालन हेतु अपना भवन समाज को दान में दिया था। वर्तमान मे यह विद्यालय कोलगवा मे निर्मित 'माता त्रिशला प्रसूतिकागृह' के भवन मे संचालित हो रहा है। इस विद्यालय के पूर्व छात्रों में श्री जगदीशशरण वर्मा, सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस का पद सुशोभित कर चुके हैं। अन्य उल्लेखनीय छात्रों मे डॉ0 लालताप्रसाद खरे (पूर्व मत्री, म. प्र. शासन), श्री शिवानन्द जी (पूर्व विधानसभा अध्यक्ष, विंध्यप्रदेश), श्री नेमिचन्द जैन (निवर्तमान चीफ इजीनियर, म. प्र. विद्युत मडल) के नाम उल्लेखनीय हैं।

दिगम्बर जैन समाज की अन्य संपत्तियो मे चौक बाजार में स्थित जैन क्लब भवन है, इसमें प्रथम तल पर दुकानें किराये पर हैं, ऊपर सभागार है, जिसमें विभिन्न सस्थाओं के कार्यक्रम सपन्न होते है। स. सि. रामलाल नत्थूलाल जैन द्वारा मन्दिर जी को चौक बाजार में ही क्लब भवन के सामने एक भवन दान स्वरूप दिया गया था, जिसमे दो दुकाने हैं, जो किराये पर दी हुई हैं।

विभिन्न क्षेत्रों में मानव सेवा के साथ-साथ पशु जगत की ओर ध्यान आकृष्ट किया परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी ने। सतना में वर्ष 1998 में संपन्न पंचकल्याणक महोत्सव की चिर स्मृति के रूप में परम पूज्य मुनि श्री समतासागर जी, श्री प्रमाणसागर जी एवं ऐलक श्री निश्चयसागर जी की प्रेरणा से 'दयोदय पशु सेवा केन्द्र' (गौशाला) की स्थापना हुई। सतना शहर से लगभग 5 कि0 मी0 दूर सतना नदी के किनारे सुरम्य, प्राकृतिक वातावरण में जमीन खरीदकर गौशाला प्रारम्भ हुई है। वर्तमान में लगभग 100 गायें एवं बैल यहाँ संरक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

लगभग 350 परिवारों वाली सतना जैन समाज में आपस में अत्यन्त घनिष्ठ प्रेम और वात्सल्य है। समाज में तीव्र धर्मानुराग और श्रुतभक्ति की भावना है। प्राय: हर दूसरे-तीसरे दिन श्री शान्तिनाथ विधान या अन्य विधान होते रहते हैं। छोटे-छोटे बच्चों में भी जिनेन्द्र पूजन के प्रति उत्साह देखने को मिलता है। प्राय: बुजुर्ग लोग अपने पुत्र-पौत्रों को साथ में लेकर पूजा करते दिखाई पड़ते हैं। छोटे बच्चों के लिये संस्कार शिविर और पूजन प्रशिक्षण शिविर हुआ करते हैं। प्रात:काल में स्वाध्याय की दो कक्षाएँ चलती हैं। रात्रि में महिलाओं और पुरुषों द्वारा पृथक्-पृथक् शास्त्र सभा होती ही है।

युवक-युवतियों, पुरुषों और महिलाओं के पृथक्-पृथक् संगठन हैं, जैन क्लब, जैन महिला क्लब, जैन नवयुवक मण्डल एवं जैन बालिका क्लब के माध्यम से सामाजिक, सांस्कृतिक व धार्मिक गतिविधियों का क्रियान्वयन होता है। जैन क्लब सतना की पहल पर एक क्षेत्रीय संगठन का निर्माण 17 सितम्बर 1981 को किया गया था। 'जैन क्लब परिसंघ' के नाम से इस संगठन से टीकमगढ़, छतरपुर, पन्ना, सतना, रीवा, सीधी और शहडोल जिलों के 57 सेवाभावी संगठन जुड़े थे। संस्थापक अध्यक्ष के रूप में सिं. जयकुमार जैन अमरपाटन के साथ मुझे संस्थापक महामंत्री होने का गौरव प्राप्त हुआ। मन्दिर जी में एक सुन्दर व समृद्ध ग्रन्थ भंडार है, जिसमें विभिन्न विषयों के लगभग एक हजार ग्रन्थ संग्रहीत हैं। हस्तलिखित, प्राचीन ग्रन्थ भी अनेक हैं। वर्तमान में इस ग्रन्थ भंडार को सुन्दर ढंग से सूचीबद्ध किया जा रहा है।

राजेन्द्र जैन,
संयोजक, मन्दिर विभाग,
(मे. गृहशोभा, सतना)

सतना के श्रीशान्तिनाथ

शान्तिनाथ भगवान की विशाल कायोत्सर्ग आसन वाली प्रतिमा श्री दिगम्बर जैन मन्दिर सतना की प्रमुख और तिशयकारी प्रतिमा है। ऐसा लगता है कि सतना की समस्त जैन समाज का सम्पूर्ण पुण्य-पुंज ही सिमट कर इस नोहारी मूर्ति के रूप में यहाँ स्थिर हो गया है।

ब्यौहारी से रीवा की ओर जाने वाले राजमार्ग पर, ब्यौहारी से लगभग 15 किलोमीटर पर मऊ नाम का एक छोटा ा ग्राम है। यही ग्राम प्रायः हजार वर्ष पूर्व एक समृद्ध कस्बा रहा होगा और इस कस्बे मे जैनो की अच्छी सख्या रही ागी। शान्तिनाथ भगवान् की यह मोहक मूर्ति उसी ग्राम से लगभग पेसठ वर्ष पूर्व सतना लाई गई थी। मूर्ति का शिल्प खकर यह अनुमान होता है कि कल्चुरी राज्यकाल मे ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी के आसपास मऊ की टेकरी से अथवा किसी ास के स्थान से प्राप्त शिला-फलक पर मध्ययुगीन मूर्ति-शैली का एक उत्तम उदाहरण है। भगवान् ध्यानस्थ खड़े हैं। और नके परिकर मे चामरधारी इन्द्र, पुष्पाजलि लिये हुए विद्याधर तथा मूर्ति के प्रतिष्ठापक श्रावकगण यथास्थान अंकित िये गये है। चरण-पीठिका पर कोई आलेख अकित नहीं होने के कारण तथा स्पष्ट चिह्न के अभाव के कारण यह निर्णय रना कठिन हुआ होगा कि मूर्ति किस तीर्थकर भगवन्त की है, अतः सतना मे 'शान्तिनाथ भगवान्' के नाम से उनकी ापना तथा औपचारिक पूजा-प्रतिष्ठा की गई होगी। इस प्रकार अब वे निश्चित रूप से 'शान्तिनाथ' ही है। उनकी जा-आराधना से चित्त को शान्ति मिलती है और मनुष्य की सारी प्रतिकूलताएँ स्वयमेव समाप्त हो जाती हैं।

मै ब्यौहारी का निवासी हूँ। अब सतना मे ही रहता हूँ। मैने ग्राम मे जाकर वयोवृद्ध जनो से जो जानकारी एकत्र ी है उसके अनुसार मऊ मे प्राचीन मन्दिर खण्डहर के रूप मे ही पाये गये थे। यह मूर्ति, कई अन्य शिल्पावशेषों के साथ ाम के ठाकुर की जमीन पर टिकाई हुई रखी थी। ग्रामवासी फल-फूल आदि अर्पित करके 'भीमदेव' अथवा 'भीमबाबा' नाम से यथाशक्ति उनकी पूजा-अर्चा करते रहते थे और यह मानते थे कि भीमादेव के कारण ही उनका ग्राम सब कार की दैवी विपत्तियो से सुरक्षित है।

ब्यौहारी में तब जैनो के दो ही परिवार थे। एक मेरे पूर्वजो का, जिसमे मेरे पितामह कपूरचन्द जी और पिता र्मदास जी व चाचा अमरचन्द जी थे। दूसरे परिवार के प्रमुख कन्छेदीलाल जी नायक थे। ये दोनों परिवार अपने भगवान् ी समुचित व्यवस्था न कर पाने से चिन्तित रहते थे। एक दिन सबने मिलकर रीवा और सतना के जैन सज्जनों से अपनी ड़ा कही। दोनो नगरों में कुछ ऐसे लोग थे जिनकी पहुँच रीवा के महाराज तक थी, अतः मूर्ति को ग्राम से उठाकर लाने उपाय प्रारम्भ हुए, पर गाँव के ठाकुर साहब किसी भी प्रकार अपने भगवान् को वहाँ से उठवाने के लिये तैयार नहीं ए। तब समाज के लोगों ने बात महाराज तक पहुँचाई। अन्त मे महाराज के आदेश से ही मूर्ति जैन समाज के हाथ में ाई। रीवा और सतना दोनों जगह के लोग भगवान् को अपने यहाँ ले जाना चाहते थे, पर महाराज गुलाबसिंह जी ने सतना जाने की अनुमति दी और इस तरह विक्रम सं0 1989-90 के बीच यह मूर्ति सतना लाई गई।

उन दिनों मूर्ति लाने वालों में प्रमुख नाम सेठ दयाचन्द जी (दिवान सेठ), सेठ धर्मदास जी, सेठ कन्हैयालाल जी और

ढनगन सेठ का नाम आज भी ग्राम के वृद्धों को याद है। अवश्य ही समाज के कुछ अन्य लोग भी रहे होंगे, पर उनके नाम किसी स्रोत से ज्ञात नहीं हो सके। मेरी माताजी श्रीमती बेटीबाई आयु 93 वर्ष, श्री रामदुलारे काछी आयु 90 वर्ष तथा श्री रामदयाल गुप्ता आयु 80 वर्ष ये तीनों इससे अधिक कुछ बता नहीं पाये। यह पता चला कि मूर्ति टेकरी के पास से सड़क तक गाड़ी में आई। नाले में गाड़ी रुक गई तब रात्रि विश्राम करना पड़ा और सुबह पूजन करके ही आगे बढ़ पाये। गाड़ी में बैल नहीं लगाये गये। मनुष्यों ने ही खींचकर भगवान् को गाँव से निकाला। सतना में भी मन्दिर का पूर्वी द्वार उस समय जैसा था, उसमें से मूर्ति का प्रवेश सम्भव नहीं था अतः पिछवाड़े पश्चिम की ओर से दीवार तोड़कर भगवान को स्थापित किया गया और उनके पीछे पुनः दीवार चिन दी गई। जिस साल मूर्ति उठकर आई उसी साल, मूर्ति उठने के बाद मेरे बड़े भाई का जन्म हुआ। उनका जन्मकाल बही में संवत् 1990 लिखा है। अतः इस तिथि को प्रामाणिक माना जा सकता है। तब से भगवान् शान्तिनाथ अपने भक्तों की कामना-पूर्ति का वरदान बरसाते हुए सतना के मन्दिर में खड़े हैं। मऊ से ही एक इनसे कुछ छोटी प्रतिमा शायद बाद में रौवा लाई गई। ग्राम में कुछ शिल्पावशेष अभी भी पडे हैं, जिन्हें एकत्र करके ग्राम पंचायत ने एक स्थानीय संग्रहालय बना दिया है।

प्रो. सुभाष जैन
वाणिज्य महाविद्यालय, सतना

सागर चरण पखारे

मुनिश्री प्रातः 5:30 / 6:00 बजे नीहारचर्या के लिये जाते। जैन युवकों का एक समूह नियमित रूप से उनके साथ जाता। पर इस समूह में सबसे आगे रहते डॉ. भोजवानी (होम्योपैथिक चिकित्सिक), श्री अतुल दुबे (इनकमटेक्स सलाहकार) और श्री अजय द्विवेदी (एडवोकेट)। चर्या से लौटकर मुनि कक्ष में प्रवेश करते तो श्री अतुल दुबे उनके पैर धुलाते और नेपकिन से पूज्य मुनि श्री के चरण पौंछते। पूरे वर्षावास काल में एक दिन भी इस क्रम में अन्तर नहीं पड़ा।

श्री नेमिनाथ महोत्सव

सतना बहुत प्राचीन नगर नहीं है। आज जिस स्थान को सतना के रूप में जाना जाता है। संभवतः वहाँ पहिले जंगल ही रहा होगा। रेल्वे लाइन के निर्माण के साथ-साथ बस्ती का बसना प्रारम्भ हुआ। सन् 1872 में रेल्वे स्टेशन बनने के साथ ही रेलगाड़ियों का नियमित चलना प्रारम्भ हुआ। बाहर से आकर बसने वाले जैन, मारवाड़ी, गुजराती, कच्छी आदि लोगों ने इस शहर के विकास में अपना योगदान दिया। सन् 1880 में श्री दिगम्बर जैन मन्दिर का निर्माण हुआ। जिनालय मूलनायक तीर्थंकर श्री 1008 नेमिनाथ स्वामी की बहुत सुन्दर पद्मासन प्रतिमा वेदी क्रमांक एक में विराजमान है। इस प्रतिमा के पादमूल में प्रतिष्ठाकाल माघ सुदी 5 विक्रम सं0 1937 अंकित है।

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर मेरे अनुरोध पर श्री दिगम्बर जैन समाज सतना की कार्यकारिणी ने निर्णय लिया कि भगवान् नेमिनाथ के जन्म और तप कल्याणक की तिथि अनुसार 21-08-04 से भगवान् नेमिनाथ के मोक्षकल्याणक आषाढ सुदी अष्टमी सन् 2005 तक पूरे वर्ष को जिनालय स्थापना एवं जिनबिम्ब प्रतिष्ठापना के गौरवशाली 125 वर्ष के रूप में विविध कार्यक्रमों के साथ आयोजित किया जाय। इस महत्त्वपूर्ण आयोजन के प्रति लोगों में उत्साह और अभिरुचि जाग्रत हो, इसके लिये भगवान् नेमिनाथ के मोक्षकल्याणक दिवस आषाढ सुदी अष्टमी दिनाँक 26-04-04 को विशेष अभिषेक पूजन के साथ महोत्सव का जयघोष/मंगलाचरण मन्दिर जी में हुआ।

परम पूज्य मुनिराज श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज के चातुर्मास का सौभाग्य सतना दिगम्बर जैन समाज को प्राप्त हुआ। पूज्य मुनिश्री के आगमन ने आबाल-वृद्ध नर-नारियों को अतिरिक्त ऊर्जा प्रदान कर दी। दिनाँक 4-07-04 को पूज्य मुनिश्री का वर्षावास योग सतना नगरी मे स्थापित हुआ और इसके साथ ही लोगों के उत्साह में प्रतिदिन अभिवृद्धि होती गई।

भगवान् नेमिनाथ के जन्म एव तप कल्याणक दिवस को पंच दिवसीय कार्यक्रम के रूप में मनाने का सुझाव पूज्य मुनि श्री ने दिया। तदनुसार दिनाँक 17-08-04 से 21-08-04 तक पचकल्याणकों की सांस्कृतिक झाँकी के साथ-साथ प्रत्येक दिन भगवान् नेमिनाथ के महामस्तकाभिषेक के आयोजन की रूपरेखा निश्चित हुई। दिनाँक 22-08-04 को भगवान् पार्श्वनाथ का मोक्ष कल्याणक दिवस होने के कारण दिनाँक 17 से 22 अगस्त तक होने वाले आयोजन को 'नेमिनाथ महोत्सव' का नाम पूज्य मुनिश्री ने दिया।

सतना जैन समाज के आग्रह और अनुरोध पर आदरणीय बाल ब्रह्मचारी श्री अशोक भैया जी ने भी वर्षावास योग में सतना में ही रहने का निश्चय कर लिया था। उनके निर्देशन में नेमिनाथ महोत्सव की तैयारियाँ प्रारम्भ हुईं। विभिन्न पात्रों की भूमिका अभिनीत करने के लिये योग्य व्यक्तियों को प्रेरणा पूज्य महाराज श्री ने देकर उत्साहित किया। सीमित समय में ही असीमित कार्य करा लेने की क्षमता के धनी आदरणीय भैया जी ने जिनबिम्ब प्रतिष्ठा जैसा वातावरण उत्पन्न कर दिया।

दिनाँक 14-08-04 शनिवार को श्री नेमिनाथ वेदिका में श्री शान्तिनाथ विधान प्रारम्भ हुआ। दिनाँक 15-08-94 को पूजन के उपरान्त नेमिनाथ वेदिका में विराजमान अन्य प्रतिमाओं व यन्त्रों को सम्मानपूर्वक ले जाकर श्री शान्तिनाथ वेदिका में विराजमान किया गया। मध्याह्न में श्री नेमिनाथ जिनबिम्ब के तीनों तरफ संगमरमर की पट्टिकायें लगाकर अभिषेक की व्यवस्थायें बनाई गई। दिनाँक 16-08-04 की प्रातः से जाप्य प्रारम्भ हो गया।

दिनाँक 17-08-04 नेमिनाथ महोत्सव का प्रथम दिवस। प्रातः से ही उत्सव का माहौल। सर्वप्रथम जिन वन्दना के उपरान्त समाज के बन्धुओं ने परम पूज्य मुनिश्री को श्रीफल भेंटकर चरणों में नमोऽस्तु कर उनका शुभाशीर्वाद प्राप्त किया। तत्पश्चात् प्रतिष्ठाचार्य श्री ब्र0 अशोक भैया जी का यथायोग्य सम्मान कर उनसे इस महोत्सव व श्री पंचकल्याणक विधान का आचार्य पद स्वीकार करने का आग्रह सर्व समाज बन्धुओं ने किया। ध्वजारोहण के उपरान्त नेमिनाथ भगवान् का महामस्तकाभिषेक प्रारम्भ हुआ। श्री सुशीलकुमार जैन ने प्रथम कलश करने का सौभाग्य प्राप्त किया। इसके बाद क्रमशः श्री व्यस्त दिवाकर, श्री डॉ. राजकुमार जैन तथा श्री जितेन्द्र जैन ने अभिषेक कर अपने जीवन को धन्य किया। शान्तिधारा कलश करने का सौभाग्य श्री धन्यकुमार जैन व श्री प्रदीपकुमार जैन को प्राप्त हुआ।

श्री नेमिनाथ वेदिका के सम्मुख कैमरा लगाया गया था। जिससे बाहर बैठे सभी पुरुष-महिलायें पर्दे पर अभिषेक को देख सकें।

शाम को महाआरती का आयोजन था। आज की महाआरती करने का सौभाग्य खजुराहो ट्रान्सपोर्ट परिवार को प्राप्त हुआ था। एक सजे सजाये हाथी पर उनके परिवारजन बैठे हुये थे। उनके हॉथ मे एक विशाल आरती थी। बैंड बाजों के साथ समाज बन्धुओं की भारी भीड़ के बीच ये सभी मन्दिर परिक्रमा करते हुये मन्दिर जी के पूर्वी द्वार पर पहुँचे। पदाधिकारियों द्वारा उनकी आगवानी की गई। तत्पश्चात् श्री नेमिनाथ वेदिका सहित सभी वेदियों मे आरती कर सौभाग्यशाली परिवार श्री सरस्वती भवन में विराजमान अस्थायी जिनालय मे पहुँचा। यहाँ पर गीत-संगीत के साथ नृत्य करते हुये सभी समाज बन्धुओं ने श्री जी की आरती की। पूज्य गुरुदेव के समक्ष विनयपूर्वक आरती के उपरान्त महाआरती का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। अब भीड़ सरस्वती भवन में उमड़ रही थी। पंचकल्याणक के दृश्यों की मचीय प्रस्तुति ही सास्कृतिक कार्यक्रम के रूप में थी। आज सुधर्मासभा और गर्भकल्याणक के पूर्व रूप की झाँकी का प्रदर्शन किया गया।

दिनाँक 18-08-04 प्रातः श्री नेमिनाथ भगवान् का महामस्तकाभिषेक। तत्पश्चात् श्री पचकल्याणक विधान और पूजन सम्पन्न हुई। ठीक 8-30 से पूज्य महाराज श्री के मगल प्रवचन। शाम को महाआरती का भव्य आयोजन। रात्रि में गर्भ कल्याणक के उत्तर रूप की प्रस्तुति। राजा समुद्रविजय द्वारा महारानी शिवादेवी द्वारा देखे गये मागलिक स्वप्नों के फल का वर्णन और देवियों द्वारा माता शिवादेवी की सेवा-सुश्रूषा, आज की सास्कृतिक झाँकियों मे प्रमुख थी।

दिनाँक 19-08-04 प्रातः पचकल्याणक विधान के अवसर पर जैसे ही प्रतिष्ठाचार्य जी द्वारा जन्मकल्याणक के सम्बन्ध में सूचना दी गई। सरस्वती भवन का कण-कण नृत्यातुर हो उठा। सौधर्म इन्द्र द्वारा अतीत में निष्पादित क्रियायें मानो सजीव हो उठीं। चूँकि जिनबिम्ब प्रतिष्ठा तो हो नहीं रही थी, इसलिये एक बालक को नवजात शिशु के रूप मे प्रस्तुत कर शेष झाँकियाँ प्रस्तुत की गई। रात्रि में पालना और बालक नेमिकुमार की बालक्रीडायें मन-मुग्ध करने वाली रहीं।

महामस्तकाभिषेक, पूज्य मुनि श्री के प्रवचन और शाम को महाआरती का आयोजन विगत दिनों की भाँति ही सम्पन्न हुये।

दिनाँक 20-08-04 प्रातः और सायंकालीन कार्यक्रम पूर्वव्यवस्था के अनुसार हुये। रात्रि में होने वाली सांस्कृतिक झाँकी में आज महाराज समुद्रविजय के दरबार में नेमिकुमार की शादी की चिन्ता हो रही थी। उधर जूनागढ़ के महाराज उग्रसेन भी अपनी बेटी के लिये योग्य वर की तलाश में थे। राजपुरोहितों ने खोजबीन कर अपने-अपने स्वामियों को योग्य

वर और वधू के बारे में सूचनायें दीं। दोनों महलों में खुशियों के बाजे बजने लगे। विवाह का मुहूर्त तय होने लगा और शाही विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ हो गई।

प्रातः काल होने वाला महामस्तकाभिषेक, पूज्य मुनि श्री के प्रवचन और शाम की मंगल आरती अपनी भव्यता और गरिमा के साथ सम्पन्न हुये थे।

दिनाँक 21-08-04 आज वह दिन था, जिसका इन्तजार लोग बड़ी बेसब्री के साथ कर रहे थे। प्रातःकाल से ही लोग पंक्तिबद्ध हो रहे थे। अभी 4 दिनों तक प्रतिदिन 4 कलशों और 2 शान्तिधारा कलशों द्वारा भगवान् नेमिनाथ का महामस्तकाभिषेक हो रहा था। पर आज उपर्युक्त कलशों द्वारा अभिषेक होने के उपरान्त पूर्व आरक्षित कलशों द्वारा सभी बन्धुओं को अभिषेक करने की सुविधा प्रदान की गई थी। 2121 रूपये, 1111 रूपये तथा 555 रूपये श्रद्धापूर्वक प्रदान कर कोई भी जैन बन्धु भगवान् नेमिनाथ का महामस्तकाभिषेक कर सकता था। कार्यकारिणी द्वारा यह भी संकल्प व्यक्त किया गया था कि वांछित राशि के अभाव में एक भी व्यक्ति इस महत् कार्य से वंचित न रहे। लोगों ने इसे अपना परम सौभाग्य माना।

मध्याह्न में द्वारिका (डॉ0 राजकुमार के निवासस्थान) से बारात जूनागढ़ (श्री विद्यासागर सभागार पुष्करिणी पार्क) के लिये रवाना हुई। लगभग एक किलोमीटर लम्बे ऐतिहासिक जुलूस में हाथी, घोड़े, बैलगाड़ी, सजे हुए रथ और अनेक कारें थीं। सतना के अतिरिक्त उचेहरा और जबलपुर के बैण्ड अपनी आकर्षक धुनें बिखरे रहे थे।

बारात निकलने के पूर्व अनायास ही आसमान मेघाच्छन्न हो उठा। काले-काले बादलों ने जल वृष्टि कर सतना शहर की सड़कों को मानो धो दिया। थोड़ी ही देर में मानो अपना कर्त्तव्य पूरा कर वृष्टि रुक गई पर बादलों की शीतल छाँव बनी रही। शोभायात्रा प्रारम्भ हुई। सबसे आगे चल रहे ढोलवादक दूर-दूर तक बारात के आगमन की सूचना प्रसारित करते हुये चल रहे थे। सजे हुये चार अश्वों पर धर्म ध्वजा लिये घुड़सवारों के पीछे गजराज अपनी मस्त चाल से जन-जन को आकर्षित कर रहा था। सौधर्मेन्द्र और कुबेर अपनी-अपनी देवियों सहित उस पर विराजमान थे। इनके पीछे श्री दिगम्बर जैन उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के लगभग 200 छात्र-छात्रायें अपने हाथों में ध्वज लेकर चल रहे थे। दूर से देखने पर ऐसा लगता मानो एक बडी पचरगी ध्वजा ही चल रही है। नन्हीं-नन्हीं छप्पनकुमारियों के पीछे सुसज्जित वेशभूषा में अष्टकुमारी देवियाँ और उनके पीछे बैण्ड की धुन पर थिरकती हुई इन्द्राणियों ने स्वप्नलोक जैसा दृश्य जीवन्त कर दिया। एक सजी धजी बैलगाड़ी पर अपने-अपने आयुधों सहित बैठे बलराम-श्रीकृष्ण जन-जन के आकर्षण के केन्द्र बने हुये थे। उनके पीछे महाराज समुद्रविजय एक सुसज्जित रथ पर बैठकर नगर निवासियों का अभिवादन स्वीकार करते चल रहे थे। जबलपुर का प्रसिद्ध राम-श्याम बैण्ड इनके पीछे था। जिनकी धुनों पर नृत्य करने को आतुर नवयुवक मण्डल के सदस्य थिरकते हुए चल रहे थे। आखिर नेमिकुमार की बारात जो ठहरी। इन्द्र परिवार के सदस्यों के पीछे राजस्थानी साफों में सुसज्जित समाजबन्धु व सतना शहर के गणमान्य नागरिक गर्व के साथ चल रहे थे। अब बारी थी नेमिकुमार की। एक भव्य और आकर्षक रथ पर बैठे हुये नेमिकुमार का रथ जब पास आता तो आसमान फूलों से ढँक जाता। इनके पीछे-पीछे सजे हुये वाहनों में राजपरिवार के सदस्य चल रहे थे। लगभग 20 कारों में वयोवृद्ध महिलायें व छोटे-बच्चे भी बारात का एक हिस्सा बनकर अपनी भागीदारी निभा रहे थे। अन्तिम वाहन में मिष्ठान्न का भण्डार रखा हुआ था। सभी का मुँह मीठा जो कराना था। पूरे यात्रापथ में बारात का दिल खोलकर स्वागत किया गया। महाराजा उग्रसेन का भूमिका अभिनीत करने वाले श्री नरेन्द्र जैन ने अपने परिवार और पूरे मुहल्ले सहित बारात का स्वागत किया। सर्वप्रथम उन्होंने

महाराजा समुद्रविजय के साथ समधी भेंट की। तत्पश्चात् अपने होने वाले दामाद नेमिकुमार की भावभीनी अभ्यर्थना की। श्वेताम्बर जैन समाज, कसौंधन वैश्य समाज, सर्व ब्राह्मण कल्याण महासंघ, भारतीय जनता पार्टी और व्यापारिक संघों ने श्री बारात का अपने-अपने ढंग से स्वागत किया। सचमुच में यह आयोजन सतना नगरवासियों के दिल में एक गहरी छाप छोड़ गया, जिसकी याद हमेशा बनी रहेगी।

पुष्करिणी पार्क के पास स्थित श्री कैलाशचन्द जी के प्लॉट पर वाटरप्रूफ सुविधा युक्त एक विशाल अस्थायी पाण्डाल बनाया गया था, जिसका नाम श्री विद्यासागर सभागार रखा गया था। इंजीनियर श्री रमेशचन्द जैन ने बड़ी सूझबूझ और मेहनत के साथ इसका निर्माण सम्पन्न कराया। इसी के अन्दर जूनागढ़ की झाँकी बनाई गई थी। बारात जूनागढ़ पहुँचने को थी, पर मार्ग में ही बाड़े में बन्द पशुओं के आर्तनाद ने नेमिकुमार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। वे उनके दुःख से कातर हो उठे और तत्पर हो उठे उनकी पीड़ा दूर करने के लिये। राग की ओर उठे कदम विराग की ओर बढ़ गये। रथ से उतरकर नेमिकुमार सिरसावन की ओर जाते हुये दृष्टिगोचर हुये। उनके द्वारा परित्यक्त राजसी वैभव संसार की असारता की कहानी कहने को शेष वहीं पड़ा हुआ था।

साक्षात् गणधर के रूप में विराजमान परम पूज्य मुनिराज श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज का प्रवचन प्रारम्भ हुआ। अपने मर्मस्पर्शी प्रवचन में उन्होंने नेमिनाथ के जीवन आदर्शों की चर्चा करते हुये भारतीय संस्कृति में उनके योगदान की बात कही।

विद्यासागर सभागार ठसाठस भरा हुआ था। मुनि श्री के प्रवचन के उपरान्त आयोजकों के विनयपूर्ण आग्रह पर सभी उपस्थित जनसमूह ने श्री सरस्वती भवन में पधारकर शाम का भोजन ग्रहण किया। श्री प्रभात जैन और उनके साथियों ने बहुत सुन्दर व्यवस्था बना रखी थी। जिसकी सभी ने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

दिनाँक 22-08-04 भगवान् पार्श्वनाथ निर्वाण दिवस। श्री सरस्वती भवन मे सम्मेदशिखर जी की अनुकृति बनाकर स्वर्णभद्रकूट पर भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान की गई थी। नीचे पाण्डुकशिला पर भी भगवान् पार्श्वनाथ विराजमान थे। आज के दिन अभिषेक से प्राप्त सम्पूर्ण धनराशि श्री सम्मेदाचल विकास समिति, मधुवन को भेजने की घोषणा की गई।

सिं. जयकुमार जैन, अमरपाटन वाले
संयोजक - नेमिनाथ महोत्सव
मे. अनुराग ट्रेडर्स, गाँधी चौक, सतना

सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी

परम पूज्य मुनिराज श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज के सतना वर्षावास योग की सर्वोत्तम फलश्रुति है 'सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी' पूज्य महाराज श्री के सान्निध्य में यह संगोष्ठी दिनांक 4, 5 एवं 6 सितम्बर 04 को 8 सत्रों में संपन्न हुई। जिसमें उद्घाटन सत्र से लेकर निरन्तर सातवें सत्र तक देश के विभिन्न स्थानों से पधारे 22 विद्वानों द्वारा अपने शोध आलेखों का निष्कर्ष रूप में वाचन किया गया। आचार्य उमास्वामी एवं तत्त्वार्थसूत्र पर केन्द्रित इस संगोष्ठी के प्रत्येक सत्र में जैन एवं जैनेतर प्रबुद्ध श्रोताओं की अच्छी उपस्थिति प्राप्त होती रही। अन्तिम सत्र समापन सत्र था। इस सत्र में जैन वाङ्मय के भण्डार को अपनी रचनाओं द्वारा श्रीमण्डित करने वाले सरस्वती के बरद पुत्रों का हार्दिक सम्मान सतना जैन समाज द्वारा दिल खोलकर किया गया। रात्रिकालीन सत्रों को छोड़कर प्रत्येक सत्र में परम पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी का पावन सान्निध्य विद्वानों और श्रोताओं के मन में हर्ष का संचार करता रहा और उनकी समीक्षात्मक टिप्पणियों ने संगोष्ठी को आध्यात्मिक ऊँचाईयाँ प्रदान कीं।

उद्घाटन सत्र सहित तीन संगोष्ठियाँ श्री विद्यासागर सभागार, पुष्करिणी पार्क में तथा समापन सत्र सहित पाँच संगोष्ठियाँ जैन मन्दिर परिसर स्थित श्री सरस्वती भवन में सम्पन्न हुई। त्रिदिवसीय संगोष्ठी के आठों सत्रों का कुल समय 25 घण्टे रहा। जिसमें 19 घण्टे 30 मिनिट का समय आलेख तथा समीक्षाओं के वाचन में और 5 घण्टे 30 मिनिट का समय उद्घाटन व समापन की औचारिकताओं में व्यतीत हुआ।

प्रस्तुत है सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी की एक संक्षिप्त झलक -

दिनांक 04-09-04 शनिवार, स्थान श्री विद्यासागर सभागार, पुष्करिणी पार्क, सतना

समय - प्रातः 8: 00 से 10: 00 बजे तक

पुष्करिणी पार्क के समीप अस्थायी रूप से निर्मित श्री विद्यासागर सभागार में प्रातः से ही हलचल प्रारम्भ हो गई थी। शहनाई की मधुर ध्वनि के बीच सुनिश्चित समय पर परम पूज्य मुनि श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज का शुभागमन हुआ। एक भव्य जुलूस जिसमें बाहर से पधारे कुछ विद्वानों सहित समाज बन्धु, माताएँ व बहिनें थीं, के आगे-आगे पूज्य गुरुदेव थे। उनके आगे बैण्ड वादक अपनी मधुर ध्वनि प्रसारित करते हुय चल रहे थे। पाण्डाल में पूर्व उपस्थित जन समुदाय ने पूज्य मुनि श्री की आगवानी की। पूज्य मुनि श्री के साथ ब्रह्मचारी श्री अशोक भैया सहित अन्य ब्रह्मचारी भी थे।

सिं. जयकुमार जैन ने माइक संभाला और पूज्य मुनि श्री को सादर नमोऽस्तु करते हुये कार्यक्रम प्रारम्भ करने की अनुमति माँगी। श्रीमती वन्दना जैन के बोल 'गुरुवन्दना' के रूप में हवा में गूँजे। डॉ0 ए. डी. एन. वाजपेयी, कुलपति कप्तान अवधेशप्रतापसिंह विश्वविद्यालय, रीवा ने सर्वप्रथम गुरुचरणों में श्रीफल अर्पित कर शुभाशीर्वाद लिया। तत्पश्चात् परम पूज्य आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज के चित्र के समक्ष दीप प्रज्वलित कर संगोष्ठी का शुभारम्भ किया। दीप प्रज्वलन में प्रो0 राजकुमार जैन प्राचार्य वाणिज्य महाविद्यालय व प्रो0 सुभाष जैन, प्राध्यापक वाणिज्य महाविद्यालय

सतना ने अपना सहयोग प्रदान किया। जैन समाज सतना के अध्यक्ष श्री कैलाशचन्द जैन ने स्मृतिचिह्न प्रदान कर सम्पूर्ण समाज की ओर से माननीय कुलपति जी का सम्मान किया। अब बारी थी आगत विद्वानों की। एक-एक कर विद्वान् पूज्य मुनि श्री के चरणों में श्रीफल अर्पित करते तत्पश्चात् समाज की ओर से उनका तिलक, केशरिया पट्टी, बैज और विशेष किट प्रदान कर स्वागत किया जाता। सर्वप्रथम श्री प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जी फिरोजाबाद, तत्पश्चात् श्री पं. मूलचन्द जी लुहाडिया, मदनगंज-किशनगढ़, श्री पं. रतनलाल जी बैनाड़ा, आगरा, श्री डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बडौत, श्री पं. शिवचरणलाल जैन, मैनपुरी, श्री प. निर्मल जैन, सतना, श्री डॉ. कमलेशकुमार जैन, वाराणसी, श्री प्राचार्य निहालचन्द जैन, बीना, श्री पं. उमेशचन्द जैन, फिरोजाबाद, श्री सुरेश जैन, आई. ए. एस. भोपाल, श्री डॉ. अशोककुमार जैन ग्वालियर, श्री महेन्द्रकुमार जैन, भोपाल, श्री अनूपचन्द जी एडवोकेट, फिरोजाबाद तथा श्रीमती डॉ. नीलम जैन, गुडगाँव ने पूज्य मुनि श्री के श्रीचरणों में श्रीफल अर्पित कर उनका शुभाशीर्वाद प्राप्त किया।

संगोष्ठी संयोजक श्री अनूपचन्द जी एडवोकेट फिरोजाबाद ने इस क्रम में सचालन का दायित्व ग्रहण किया और विषय प्रवर्तन के उपरान्त श्रीमती डॉ. नीलम जैन को प्रथम शोध आलेख प्रस्तुत करने का आग्रह किया। श्रीमती डॉ. नीलम जैन ने समय सीमा देखते हुये अपने आलेख के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला।

आयोजन के मुख्य अतिथि श्री डॉ. ए. डी. एन. वाजपेयी का सारगर्भित उद्‌बोधन भारतीय सस्कृति की विशेषताओं से परिपूर्ण था। उन्होंने पूज्य मुनि श्री के प्रति प्रणाम करते हुये कहा कि - 'यह मेरा सौभाग्य है कि आप सभी ने मुझे सन्त समागम का सुअवसर प्रदान किया। रामायण से पंक्तियाँ उद्‌धृत करते हुये उन्होंने कहा कि- भारत की प्रतिष्ठा यहाँ के साधु-सन्तों और उनके आचरण के कारण है, टाटा, बिरला या अम्बानी के कारण नहीं। विश्व मे सम्पत्ति के मामले में उनसे कई गुना बड़े धनकुबेर मौजूद हैं।

परम पूज्य मुनिराज श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज ने अपने सारगर्भित प्रवचन में कहा कि- 'केवल भौतिक और तकनीकि विकास ही जीवन का परिपूर्ण विकास नहीं है। इनके साथ-साथ नैतिक, चारित्रिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक विकास भी होना चाहिए। विदेशी जीवन मूल्य तेजी से हावी होते आ रहे है। वे हमें सिर्फ लर्निंग और अर्निंग की ही शिक्षा देते हैं। लीविंग की नहीं। जीवन जीने की कला ही महत्त्वपूर्ण है। जो इस कला में निष्णात है वे ससार में रहते हुये भी संतरण करने में समर्थ हैं।' कुलपति श्री वाजपेयी जी की आध्यात्मिक विचारधारा की प्रशसा करते हुये पूज्य मुनि श्री ने कहा - 'यदि विद्या केन्द्रों के प्रमुखों के विचार आध्यात्मिक बन जाएं तो उसमें अध्ययनरत छात्रों का न केवल भविष्य बदलेगा अपितु देश का नक्शा ही बदल जायेगा।'

इसके पूर्व श्री कुलपति जी ने रीवा विश्वविद्यालय में जैनधर्म के अध्ययन-अध्यापन, शोध कार्य को प्रोत्साहन देने के लिये एक शोध संस्थान की स्थापना की घोषणा की। जिसका उपस्थित जनसमुदाय ने हर्षध्वनि के साथ स्वागत किया।

द्वितीय सत्र दिनांक 04-09-04 मध्याह्न 1:30 से 5:00 श्री सरस्वती भवन सतना

सुप्रसिद्ध विद्वान् प्राचार्य श्री नरेन्द्रप्रकाश जैन की अध्यक्षता में द्वितीय सत्र का शुभारम्भ मध्याह्न 1:30 से श्री

सरस्वती भवन में हुआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष श्री डॉ० कमलेशकुमार जैन इस सत्र के संयोजन का भार संभाल रहे थे। इस संगोष्ठी में श्री पं० निर्मल जैन सतना, श्री प्राचार्य निहालचन्द जैन बीना, श्री उमेशचन्द जैन, तथा श्री सुरेश जैन आई. ए. एस. ने अपने-अपने शोध आलेखों का वाचन किया। उपस्थित विद्वानों द्वारा की गई जिज्ञासाओं का समाधान विद्वान् लेखकों द्वारा होने के उपरान्त सत्र अध्यक्ष श्री पं० नरेन्द्रप्रकाश जी ने अपनी निष्पत्ति दी। तत्पश्चात् परम पूज्य मुनिराज श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज ने विद्वान् वक्ताओं के शोध आलेखों की समीक्षा करते हुये बहुमूल्य सुझाव दिये।

तृतीय सत्र दिनांक 04-09-04 रात्रि 7 : 30 से 9 : 30 श्री सरस्वती भवन सतना

श्री पं0 रतनलाल जी बैनाड़ा आगरा की अध्यक्षता और श्री प्राचार्य निहालचन्द जी जैन के संचालन में तृतीय सत्र का शुभारम्भ रात्रि 7 : 30 पर श्री डॉ0 कमलेशकुमार जैन, वाराणसी के आलेख पठन से हुआ। पं. मूलचन्द जी लुहाड़िया के उद्‌बोधन के उपरान्त डॉ0 श्रेयान्सकुमार जैन ने अपने शोधालेख का वाचन किया। विद्वानों की शंकाओं का समाधान उपर्युक्त सुधी लेखकों द्वारा दिये जाने के उपरान्त सत्र अध्यक्ष श्री प0 रतनलाल जी बैनाड़ा ने अपने विचार व्यक्त किये।

चतुर्थ सत्र दिनांक 05-09-04 रविवार प्रातः 7 : 30 से 9: 30 श्री सरस्वती भवन सतना

सगोष्ठी के द्वितीय दिवस का शुभारंभ श्री सरस्वती भवन में प्रातः 7 : 30 से प्रारम्भ चतुर्थ सत्र से हुआ। मगलाचरण व दीप प्रज्वलन के उपरान्त श्री डॉ0 भागचन्द जैन 'भास्कर' की अध्यक्षता और डॉ0 श्रेयान्सकुमार जैन के संचालन में इस सत्र में डॉ0 फूलचन्द 'प्रेमी' श्री अनूपचन्द जैन एडवोकेट, श्री डॉ0 अशोककुमार जैन, पं0 शिवचरणलाल जैन ने अपने आलेखों के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को प्रस्तुत किया, जिन पर व्यापक चर्चाएँ हुईं। श्री डॉ0 भागचन्द जैन 'भास्कर' के अध्यक्षीय उद्‌बोधन के उपरान्त पूज्य मुनि श्री ने सत्र क्रमांक 3 व वर्तमान सत्र में पठित शोध आलेखों की समीक्षा करते हुये उपयोगी सुझाव दिये।

पंचम सत्र दिनांक 05-09-04 मध्याह्न 1 :30 से 5 : 00 श्री विद्यासागर सभागार, सतना

श्रीमती सरला चौधरी द्वारा मनमोहक मंगलाचरण की प्रस्तुति के साथ पंचम सत्र का शुभारंभ श्री विद्यासागर सभागार में मध्याह्न 1 : 30 से हुआ। सत्र की अध्यक्षता वयोवृद्ध विद्वान श्री पं0 मूलचन्द जी लुहाडिया कर रहे थे, जबकि संचालन का भार श्री ब्र. राकेश भैया जी सँभाल रहे थे। जिनभाषित पत्रिका के सम्पादक डॉ0 रतनचन्द जैन, श्री पं0 रतनलाल बैनाड़ा, श्री नलिन के0 शास्त्री दिल्ली तथा श्री प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये। सुधी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत जिज्ञासाओं का समाधान विद्वान लेखकों द्वारा होने के उपरान्त सत्र के अध्यक्ष श्री पं0 मूलचन्द जी लुहाड़िया ने अपने विचार व्यक्त किये और अब बारी थी परम पूज्य मुनि श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज की। रविवार का दिन होने के कारण उनके मंगल प्रवचन सुनने के लिये भीड़ उमड़ पड़ी थी। पूज्य मुनि श्री ने भी सर्वप्रथम जनसामान्य के लिये अपने उपदेश दिये तत्पश्चात् उन्होंने आज की संगोष्ठी में विद्वान लेखकों के विचारों की सारगर्भित समीक्षा करते हुये आवश्यक सुझाव दिये।

षष्ठ सत्र दिनाँक 05-09-04 रात्रि 7 : 30 से 9: 30 श्री सरस्वती भवन, सतना

श्री डॉ0 कमलेशकुमार जैन की अध्यक्षता और श्री अनूपचन्द जैन के संचालन में संगोष्ठी के छठवें सत्र का शुभारम्भ रात्रि 7 : 30 बजे से श्री सरस्वती भवन में हुआ। कल रात्रि की अपेक्षा आज श्रोताओं की उपस्थिति थोड़ी कम थी। अनुपस्थित श्रोता जैन गणित के उद्भट विद्वान् श्री प्रो0 लक्ष्मीचन्द जैन को सुनने से वंचित रह गये। ओवरहेड प्रोजेक्टर की सहायता से उन्होंने लोक की रचना व अन्य गणितीय समस्याओं का बहुत सुन्दर निराकरण किया। उनकी समझाने की शैली अपूर्व थी। उनके पश्चात् श्री महेन्द्रकुमार जैन, श्री डॉ0 सुरेशचन्द्र जैन ने अपने-अपने आलेखों के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला। श्री डॉ0 कमलेशकुमार जैन के अध्यक्षीय उद्बोधन के उपरान्त आज का सत्र समाप्त हुआ।

सप्तम सत्र दिनाँक 06-09-04 सोमवार प्रातः 7 : 30 से 9 : 30 की विद्यासागर सभागार सतना

मंगलाचरण और दीप प्रज्वलन के उपरान्त स्थानीय विद्वान् श्री पं0 सिद्धार्थ जैन ने अपने आलेख का वाचन किया। उन्होंने अपने पिता स्व0 श्री पं0 जगन्मोहनलाल जी शास्त्री का भावभीना स्मरण करते हुये, जब सस्मरण सुनाए तो सभागार स्व0 पं. जी की स्मृतियों में खो गया। श्री डॉ0 भागचन्द जैन 'भास्कर' और ब्रह्मचारी राकेश भैया जी ने अपने-अपने आलेखों के महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रस्तुत किया। इस सत्र की अध्यक्षता श्री डॉ0 रतनचन्द जी और सचालन श्री अनूपचन्द जैन एडवोकेट कर रहे थे। अध्यक्षीय निष्कर्षों के उपरान्त परम पूज्य गुरुदेव 108 प्रमाणसागर जी महाराज ने अपने तलस्पर्शी प्रवचन द्वारा श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर दिया। उन्होंने आज प्रस्तुत आलेखों की भी सार-समीक्षा करते हुये अपने बहुमूल्य विचार दिये।

अष्टम सत्र दिनाँक 06-09-04 मध्याह्न 1 : 30 से 5 : 00 श्री सरस्वती भवन सतना

दिनाँक 04 से प्रारम्भ इस संगोष्ठी का यह समापन सत्र था। श्री सरस्वती भवन में प्रारम्भ मे श्रोताओं की संख्या नगण्य थी, पर शनैः शनैः इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। श्री प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश ने दीपप्रज्वलन कर सत्र का शुभारम्भ किया। मुख्य अतिथि के रूप में सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री डॉ0 राममूर्ति जी त्रिपाठी उज्जैन मचासीन हुये। जैन समाज सतना द्वारा उनका भावभीना स्वागत किया गया। कार्यक्रम का संचालन सिं. जयकुमार जैन व श्री अनूपचन्द जैन एडवोकेट द्वारा संयुक्त रूप से किया गया। इस सत्र में किसी शोध आलेख का वाचन नहीं हुआ। उपस्थित सभी विद्वानो का सम्मान श्री दिगम्बर जैन समाज के पदाधिकारियों, सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी समिति के उत्साही कार्यकर्त्ताओं व अन्य जैन बन्धुओ द्वारा किया गया। प्रत्येक विद्वान् का स्वागत तिलक लगाकर, पीत पट्टिका उढ़ाकर किया गया। उन्हें विदाई के रूप में एक सुन्दर बैग, एक जोड़ी कॉटन चद्दर व पूज्य मुनि श्री का विशेष रूप से निर्मित स्वर्णखचित चित्र भेंट में दिया गया। सतना की सुप्रसिद्ध मिठाई 'खुरचन' का एक पैकेट उन्हें इस अनुरोध के साथ भेंट किया गया कि यह सतना जैन समाज द्वारा आपके परिवार के सदस्यों के मुँह मीठा करने के लिये है। विदाई की इस भावभीनी रस्म के उपरान्त प्राचार्य श्री नरेन्द्रप्रकाश जी ने अपने विचार व्यक्त किये। आयोजन के मुख्य अतिथि श्री डॉ0 राममूर्ति जी त्रिपाठी ने मुनि श्री प्रमाणसागर जी के प्रति अपनी वन्दना व्यक्त करते हुये कहा कि 'आप कल्पना नहीं कर सकते हैं कि मुनि श्री प्रमाणसागर जी के प्रति कितनी

गहरी श्रद्धा मेरे मन में है।' उन्होंने भौतिकवादी युग और धनसंग्रह के प्रति आम आदमी की बढ़ती हुई लालसा पर चिंता व्यक्त करते हुये कहा कि 'विघटन भरे इस दौर से हमें ये तपस्वी ही उबार सकते हैं।'

आज के इस सत्र की विशेषता सतना जैन समाज द्वारा लिये गये निर्णय और उसकी उद्घोषणा थी, जिसमें जैन समाज के मन्त्री श्री पवन जैन ने यह संकल्प घोषित किया कि 'सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी' के प्रथम चरण (फिरोजाबाद) सहित सतना में सम्पन्न इस द्वितीय चरण में प्राप्त उत्कृष्ट शोध आलेखों का पुस्तकाकार प्रकाशन सतना जैन समाज द्वारा कराया जायेगा। श्री पवन जैन की इस उद्घोषणा का व्यापक स्वागत उपस्थित जनसमुदाय द्वारा किया गया। परम पूज्य मुनि श्री ने अपने मंगल प्रवचन में सतना जैन समाज के इस निर्णय की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुये अपने शुभाशीष प्रदान किये। उन्होंने आगत विद्वानों के श्रम की सराहना करते हुये परामर्श दिया कि 'विद्वानों को अपने जीवन में चारित्र की प्रतिष्ठा करना भी आवश्यक है।' सिं0 जयकुमार जैन ने आयोजन समिति की ओर से और समाज के अध्यक्ष श्री कैलाशचन्द जी ने समाज की ओर से सभी समागत विद्वानों व कर्ताकर्त्ताओं के प्रति आभार प्रकट किया।

इस प्रकार से एक ऐसी गोष्ठी सतना में सम्पन्न हुई, जिसकी अनुगूंज दूर-दूर तक सुनाई देगी। गोष्ठी में प्राप्त निष्कर्षों को सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया जायेगा, इस गोष्ठी में ब्रह्मचारी राकेश भैया, श्री अशोक भैया सहित अन्य ब्रह्मचारी विद्वानों ने भाग लेकर चार चाँद लगा दिये।

ब्रह्मचारियों के लिये मन्दिर परिसर में तथा व्रती विद्वानों के लिये कैलाशचन्द जी के निवास में ठहरने की सुन्दर व्यवस्था थी। अन्य विद्वानों के ठहरने की व्यवस्था बंजारा होटल में की गई थी। जहाँ सिं. अनुराग जैन व श्री वर्द्धमान जैन ने उनकी सुख-सुविधा का पूरा-पूरा ध्यान रखा। भोजनालय की व्यवस्था श्री प्रभात जैन की जिम्मेदारी पर थी। जिसे उन्होंने व उनकी टीम ने बखूबी निभाया। विद्वानों को स्टेशन से लाने व ले जाने की व्यवस्था श्री जितेन्द्र जैन (झाँसी), श्री विजय जैन (झाँसी), श्री पवन जैन, श्री प्रभात जैन, श्री अविनाश जैन सहित अन्य बन्धुओं ने सँभाल रखी थी। सम्पूर्ण व्यवस्थाओं के कुशल संचालन में मुझे स्थानीय संयोजक द्वय सिं. जयकुमार जैन व श्री अनूपचन्द्र जैन एडवोकेट फिरोजाबाद का अप्रतिम सहयोग प्राप्त हुआ। जिसके लिये मैं उन दोनों के प्रति हमेशा आभारी रहूँगा। परम पूज्य मुनिराज श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज की प्रेरणा और उनके मार्गदर्शन में सम्पन्न यह 'सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी' तत्त्वार्थसूत्र के अनेक अनुद्घाटित तथ्यों पर से आवरण हटाने में सहायक सिद्ध होगी।

सिद्धार्थ जैन
संयोजक - सर्वोदय विद्वत् संगोष्ठी,
(मे. स. सिं. प्रसन्नकुमार सुनीलकुमार जैन)

सतना संगोष्ठी में आगत विद्वानों की सूची

ब्र. अशोक जी,	इन्दौर
ब्र. राकेश जी,	सागर
ब्र. जिनेश जी,	जबलपुर
पं. मूलचन्द लुहाड़िया,	किशनगढ़
प. रतनलाल बैनाड़ा,	आगरा
प. निरञ्जनलाल बैनाड़ा,	आगरा
प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन,	फिरोजाबाद
पं. निर्मल जैन,	सतना
डॉ. रतनचन्द जैन,	भोपाल
डॉ. श्रेयान्सकुमार जैन,	बडौत
डॉ. भागचन्द जैन 'भास्कर',	नागपुर
श्री प. शिवचरणलाल जी,	मैनपुरी
श्री अनूपचन्द एडवोकेट,	फिरोजाबाद
डॉ. कमलेशकुमार जैन,	वाराणसी
डॉ. फूलचन्द्र 'प्रेमी',	वाराणसी
प्रो. लक्ष्मीचन्द जैन,	जबलपुर
डॉ. नलिन के. शास्त्री,	दिल्ली
प्रा. निहालचन्द्र जैन,	बीना
डॉ. अशोककुमार जैन,	ग्वालियर
डॉ. सुरेशचन्द जैन,	दिल्ली
डॉ. नीलम जैन,	गुडगाँव
श्री सुरेश जैन, आई.ए.एस.	भोपाल
श्री महेन्द्रकुमार जैन,	भोपाल
पं. धन्नालाल जैन,	कानपुर
प. सिद्धार्थ जैन,	सतना

श्रावक संस्कार जीवन का आधार

वास्तव में आज भौतिक साधनों की होड़ टी. तथा वी. एवं पाश्चात्य संस्कृति के कुप्रभाव से हम 'श्रावक-संस्कारों' को पूर्णतः पालन नहीं कर पा रहे हैं। समय-समय पर हमारे आचार्य एवं गुरुवर हमे अपने संस्कारों के प्रति सजग करते रहते हैं। किन्तु हम अपने आलस्य एवं प्रमाद के कारण उन संस्कारें और आदर्शों को खोते जा रहे हैं या यूँ कहें कि हम उसके प्रति उदासीन है।

हमारे संस्कार जीवित रहे और हम अपना व अपने माध्यम से अन्य के संस्कारों को जीवित रख सकें, इसके लिये सर्वप्रथम हमें श्रावक बनना होगा। अर्थात् देवदर्शन, पानी छानकर पीना, रात्रि भोजन का त्याग ये तीन बातें हर उस व्यक्ति में होना जरूरी है, जो अपने को संस्कारित करना चाहता है तथा श्रावक बनना चाहता है। आज संस्कारों के नाम पर व्यक्ति पूजा तो कर लेता है किन्तु रात्रि भोजन का त्याग और पानी छानकर पीना मुश्किल हो जाता है। मान ले इन सबको भी कर ले तो क्या भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक कर पाता है, कषाय की मन्दता कर पाता है ? नहीं। सरलता ला पाता है ? नहीं। गुणों का विकास करने, सस्कारो की महत्ता समझने और सस्कारों के माध्यम से आपके जीवन का बौद्धिक व आध्यात्मिक विकास करने हमारे आचार्य वर मुनिवर गुरुवर, आर्यिकायें मातायें निरन्तर प्रयास करती रहती है और उसका प्रभाव आज समाज में देखा जा सकता है।

चातुर्मास का समय आया। आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज के परम शिष्य तपस्वी एवं ओजस्वी वक्ता 108 मुनि श्री प्रमाणसागर जी महाराज के चतुर्मास का मंगलयोग प्राप्त हुआ। सतना नगरी धन्य हो गई अहोभाग्य हमारा व सतना दिगम्बर जैन समाज का। वर्षायोग की स्थापना हुई और कार्यक्रमों की बौछार लग गई। मुनि श्री एक दिन भी बेकार नहीं खोना चाहते थे। समाज के निवेदन पर श्रमण संस्कृति के अनुरूप श्रावक धर्म के संस्कारों का पुनर्जागरण करने के लिये 10 दिन का ऐतिहासिक श्रावक संस्कार शिविर का आयोजन दिनाँक 18 सितम्बर से 27 सितम्बर तक मुनि श्री के परम सानिध्य में किया गया।

परम सौभाग्य मेरा, कि इस शिविर का संयोजन करने का अवसर मुझे मिला। इसके पूर्व भी सन् 2000 में आर्यिकारत्न 105 पूर्णमति माता जी का वर्षायोग सतना में हुआ था तब भी संस्कार शिविर का आयोजन हुआ और संयोजक बनने का परम सौभाग्य मुझे ही प्राप्त हुआ था। संयोजक बनने का एक लाभ यह अवश्य मिलता है कि हम अपने गुरुओं के बहुत नजदीक हो जाते हैं और उनके माध्यम से हमें जो आत्मिक दृढ़ता मिलती है उसका मैं यहाँ बयान नहीं कर सकता। वह एक अद्वितीय उपलब्धि है और जीवन का टर्निंग प्वाइंट है या यू कहें कि सासारिक व्यवहार से अध्यात्म की तरफ का मोड़ है। जिसे आप यदि उस दिशा को मोड़े तो आत्मकल्याण निश्चित है। 'श्रावक-संस्कार शिविर' के आयोजन का जैसे ही लोगों को पता लगा सभी उत्साहित हुये और यह घोषणा हुई कि 10 दिन घर त्याग कर व्यापार आदि से मुक्त होकर मन्दिर जी में ही रहना पड़ेगा। लोगों के मन में थोड़ी सुगबुगाहट शुरू हुई। क्योंकि व्यक्ति सांसारिक कार्यों को बन्द करके एकदम से धर्म में नहीं लगना चाहता यूं कहें कि जल्दी मन बन नहीं पाता लेकिन मुनिवर के प्रभाव से एवं भैया जी के प्रोत्साहन से लोगों के मन बदलने लगे और चर्चा होने लगी कुछ भी हो। 10 दिन व्यापार बन्द कर घर त्याग कर हम शिविरार्थी जरूर बनेंगे पता नहीं ऐसा मौका फिर कब मिलता है। नवयुवकों ने जो कभी पूजन आदि नहीं करते थे,

दृढ़ संकल्प किया और देखते-देखते चर्चा आने लगी कि मैं भी शिविरार्थी बनूँगा, मैं भी शिविरार्थी बनूँगा। जहाँ लोगों का मन कम था, देखते-देखते पुरुष-महिलायें, बच्चे-बच्चियाँ सब मिलाकर करीब 200 लोगों ने फार्म भरे और 185-190 लोगों ने इस शिविर में शिविरार्थी बनकर अपने जीवन को धन्य बनाया।

शिविरार्थियों की चर्या देखते ही बनती थी सफेद धोती-दुपट्टा, एक हाथ में पानी का कैन, दूसरे हाथ में बैग व चटाई, बैग में पूजन की पुस्तकें, सामायिक की पुस्तक, छहढाला और पेन, माला आदि सामग्री। उन्हें देखकर मानो ऐसा लगता था कि कोई बहुत बड़े व्रती हमारे नगर में पधारे हैं। जो बालक-बालिकायें दिन में 10-10 बार अन्न का भोजन करते थे वे नियम संयम से एक बार या दो बार और उपवास करके रहे। दो बार में कोई दूध व जल के अलावा कुछ नहीं लेता था। इन सभी शिविरार्थियों ने संयम की साधना में बडे ही मनोयोग से निर्वाह करके अपनी आत्मिक शक्ति का परिचय दिया। बाहर से भी करीब 25-30 शिविरार्थी आये थे। प्रत्येक शिविरार्थियों का एक ही लक्ष्य था सयम से रहो, और अपने को पहचानो। प्रत्येक शिविरार्थी सुबह 4 बजे से रात्रि 10 : 30 बजे तक सिर्फ धर्म आराधना में ही लगे रहते थे। इससे बड़ी क्या बात हो सकती है कि किसी भी शिविरार्थी ने 10 दिन अपने परिजनों से बात तक नहीं की। ऐसा सभी को निर्देश था।

17 सितम्बर 2004 को सभी शिविरार्थी रात्रि 8 बजे अपना गृहत्याग कर मंदिर जी के प्रागण स्थित सरस्वती भवन में आ गये थे जहाँ पर उनके रहने सोने आदि की सारी व्यवस्था दिगम्बर जैन समाज सतना ने की थी। सभी भाई-बहिन धोती दुपट्टा एवं पीले धोती में आ गये क्योंकि दूसरे दिन 18 सितम्बर 2004 से सुबह 4 बजे से दिनचर्या शुरु होनी थी। सुबह 4 बजे मुँह हाथ धोना, 4: 15 से प्रार्थना, 4: 30 से नित्यक्रिया, 5: 15 से ध्यान-सामायिक, पूज्यवर मुनि श्री द्वारा। 6 : 15 से अभिषेक पूजन, 8 : 15 से मुनिवर के साथ जुलूस में प्रवचन के लिये विद्यासागर सभागार जाना, 8 : 30 से मुनिवर के मांगलिक प्रवचन, 9 : 45 वापिस मन्दिर जी आना। 10 :00 बजे से आहार चर्या, 11 :30 बजे विश्राम, दोपहर 12 : 30 से सामायिक, 1 : 30 बजे से छहढाला की कक्षा आदरणीय ब्र. अशोक भैया जी द्वारा, दोपहर 2 : 30 बजे से तत्त्वार्थसूत्र व्याख्या मुनि श्री द्वारा। शाम 4 : 30 बजे जलपान, 5:30 बजे प्रतिक्रमण, 6 : 30 बजे आचार्य भक्ति, रात्रि 7 बजे से आरती 8 बजे से प्रवचन दशधर्म पर आदरणीय भैया जी द्वारा तथा 9 बजे से सांस्कृतिक कार्यक्रम। 10 : 30 बजे विश्राम।

इस प्रकार की दिनचर्या उन शिवरार्थियों की प्रतिदिन की थी और वह बड़े ही मनोभाव से इस सयम रूपी संस्कारों में गोता लगाते हुये अपना मार्गप्रशस्त कर रहे थे। शिविर का प्रत्येक कार्यक्रम अपने में अद्वितीय था। रात्रि में जब सभी श्रावक मुनिश्री की वैयावृत्ति करते थे वह दृश्य देखते ही बनता था। उनके शरीर को छूते ही व्यक्ति मोह, राग, द्वेष रूप परिणति को भूलने लगता था और कहता था कि धन्य हैं ये गुरु और इनकी चर्या। एक से वस्त्रों में सभी शिविरार्थी ऐसे लगते थे कि यह सब लौकान्तिक देव कहाँ से आ गये। मुनि श्री की सभा में बैठे सभी शिविरार्थी ऐसे लगते थे कि मानो भगवान का समोशरण आया है और इतने गणधर उनकी वाणी को गूँथ रहे हैं।

बड़े ही उत्साह पूर्वक शिविरार्थी अभिषेक पूजन करते। शाम की भक्ति और मुनिश्री की आरती भी सभी शिविरार्थी बड़े ही मनोभाव से करते थे। शिविर की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि सभी शिविरार्थी रात्रि में दिनभर में अपने हुये कार्यों की समीक्षा और आलोचना कर प्रायश्चित्त लेते और उनको मुनिश्री दिशा निर्देश देते थे। छोटी-छोटी बातें जिन्हें हम ध्यान नहीं देते मुनिश्री उन बातों को बताते, समझाते, उनका जीवन में क्या अभिप्राय है उससे हमें जाने-

अनजाने क्या दोष लगते बताते थे। जैसे उन्होंने बताया कि आप भोजन करते समय टी. वी. देखते हैं। मुनिश्री ने बताया कि पाँच इन्द्रियों का भोग भोगते हुए भोजन करना यह गलत है। शिविरार्थियों ने भोजन करते समय टी. वी. देखने का त्याग किया। ऐसे ही बहुत सारे नियम शिविरार्थियों ने मुनि श्री से लिये।

आदरणीय ब्र. अशोक भैया जी ने सभी शिविरार्थियों को भी परिग्रह-परिमाणव्रत का महत्त्व बताकर प्रत्येक वस्तु की परिग्रह सीमा निर्धारित कर एक संकल्प पत्र भी भरवाया। सुबह शुद्ध भोजन की व्यवस्था में श्री प्रसन्न जैन (अम्बर) वालों का बड़ा ही सहयोग रहा। क्योंकि सभी शिविरार्थी अन्तराय पालकर भोजन करते थे। इसका विशेष ध्यान उन्होंने रखा और कोशिश रही कि किसी को अन्तराय नहीं आये। हालांकि यह चर्या मुनि की है लेकिन अभ्यास रूप में शिविरार्थियो ने इसका अनुसरण किया। भाई महावीर सेठी, पवन सलेहा और एक दो साधर्मी बन्धुओं ने तन-मन-धन से इस कार्य में पूर्ण रूपेण सहयोग दिया।

पर्युषण का वह अन्तिम दिन 27 सितम्बर 04 क्षमा याचना के रूप में पूर्ण हुआ। सभी ने क्षमा याचना की लेकिन 28 सितम्बर को किसी शिविरार्थी का घर जाने का मन नहीं हो रहा था। पूज्य मुनि श्री का आदेश भी था कि परिजन लेने न आयें तो मेरे साथ रहना चिन्ता की कोई बात नहीं। कितने दयालु, कितने उपकारी हमारे गुरु होते हैं। लेकिन इस मोह-माया रूपी ससार मे कोई किसी को जल्दी छोड़ने वाला नहीं। सबका साथ लगा है और यह भी डर था कि इन दस दिनों में लोगों का जो परिवर्तन हुआ है वह कही घर छोड़ न निकल जायें। 28 सितम्बर को सभी शिविरार्थियों के परिजन आये सभी ने कुछ न कुछ नियम लिया व अपने परिजनों के साथ बड़े गाजे-बाजे के साथ अपने निज घर को छोड़कर पर घर के लिये प्रस्थान किया। पारणा भी बडे धूम-धाम से हुई। जिन शिविरार्थियो या समाज के बन्धुओं ने 3 या 3 से अधिक उपवास किये थे मुनि श्री ने उन सभी को आशीर्वाद दिया।

आज भी वह पल याद कर मन रोमाचित हो जाता है और ऐसा लगता है कि मैं भी मुनिश्री के साथ दीक्षा धारण कर उनके साथ ही जा रहूँ। इतजार है उस दिन का जब मैं भी मुनि दशा अगीकार कर वन-वन भ्रमण कर अपने जीवन का कल्याण करूँ। क्योंकि एक बात तो मन में दृढ हो गयी है कि जितना हो सके शास्त्रों का अध्ययन कर तत्त्व निर्णय करूँ व समाधिपूर्वक मरण करूँ। समाधिपूर्वक मरण से व्यक्ति 7-8 भव मे अपना कल्याण कर सकता है।

मैं भी अपना कल्याण करूँ, इस भावना से श्री 1008 नेमीनाथ भगवान् के चरणों में बारम्बार नमन करता हूँ।

प्रमोद जैन
सयोजक, श्रावक संस्कार शिविर,
(मे. अरिहन्त गारमेन्ट्स)

जैन युवा सम्मेलन

जब से मुनि श्री प्रमाणसागर जी महाराज का सतना आगमन हुआ है पूरा सतना नगर धर्ममय हो गया है। विगत दिनों जैन नवयुवक मण्डल के तत्त्वावधान में आयोजित युवा सम्मेलन पूरे देश के लिये एक मिशाल बन गया। मुनि श्री की प्रेरणा से आयोजित इस सम्मेलन में देश भर के हजारों युवाओं ने भाग लिया। देश भर की युवा शक्ति को संगठित कर प्रेरणा और प्रोत्साहन से समाज में गौरवशाली स्थान दिलाने के उद्देश्य से आयोजित यह महा सम्मेलन अनेक अर्थों में उपलब्धिपूर्ण रहा।

पुष्पराज कालोनी स्थित 'विद्यासागर सभागार' के नाम से ख्यात अलग से बने वाटर प्रूफ पाण्डाल में मुख्य सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। बिलासपुर से आये-उद्योगपति श्री विनोद जैन, सागर के श्री महेश बिलहरा एवं श्री सुभाष जैन दिल्ली ने संयुक्त रूप से जैसे ही ध्वजारोहण किया, टीकमगढ़ अहिंसा ग्रुप के निर्देशक देवेन्द्र जैन डी.के. एवं रुचि श्रीवास्तव के मधुर कण्ठ से प्रस्तुत मंगलाचरण से पूरा वातावरण मंगलमय हो गया। दीप प्रज्वलन कार्यक्रम के मुख्य अतिथि श्री जीवन दादा पाटिल थे।

मुनि श्री ने अपने ओजस्वी प्रवचन में युवाओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि 'युवा वर्ग राष्ट्र की सच्ची अनुभूति है। समाज का यथार्थ बिम्ब है। वह शक्ति का प्रतीक और ऊर्जा का पुंज है। उसके ऊपर समाज का महान् दायित्व है। युवाओं को सामाजिक कुण्ठाओं और कुरीतियों को खत्म कर नव-निर्माण का बिगुल बजाना चाहिए।' मुनिश्री ने कहा कि 'जैन समाज अत्यन्त प्रबुद्ध समाज है। समाज का युवा वर्ग सर्वाधिक सुशिक्षित होने के बाद भी इतना पीछे क्यों है ? इस पर विचार करने की आवश्यकता है। मुनि श्री ने युवाओं को अपनी बुरी आदतों को छोड़ने की प्रेरणा देते हुये कहा कि सामाजिक क्रान्ति और नव-निर्माण हमेशा बलिदान माँगते हैं। यदि युवा अपनी दुर्बलताओं और जीवन की जड़ों को कुरेदने वाली आदतों का उत्सर्ग नहीं कर सकता तो उससे नव-निर्माण की क्या आशा की जा सकती है।' मुनि श्री ने सतना में आयोजित युवा सम्मेलन को युवा चेतना के जागरण का एक अभिनव पहल बताते हुए कहा कि 'इस सम्मेलन के माध्यम से युवा चेतना की जागृति का एक इतिहास बनेगा।' मुनि श्री ने 'युवारत्न' से अलंकृत युवाओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि 'युवाओं को प्रेरणा, प्रेम, प्रोत्साहन और प्रतियोगिता के बल पर ही आगे बढ़ाया जा सकता है। ताड़ना और तर्जना के बल पर नहीं।'

अलंकरण समारोह - सम्मेलन के दौरान आयोजित अलंकरण सम्मान समारोह में देश के विभिन्न क्षेत्रों से आए पाँच युवाओं को सम्मानित किया गया, जो समाज सेवा व निर्माण की दिशा में निर्विवादित रहते हुए कार्य कर रहे हैं। सम्मानित होने वालों में कवि चन्द्रसेन जैन भोपाल, शैलेश जैन आदिनाथ जबलपुर, कटनी नगर पुलिस अधीक्षक मलय जैन, पार्षद पंकज जैन ललितपुर, विधायक नरेश दिवाकर सिवनी। इन्हें समाज की ओर से टीका लगाकर, मुकुट पहनाकर व शाल उढ़ाकर सम्मानित किया गया इस अवसर पर नवभारत जबलपुर के प्रान्तीय

सम्पादक शीतल जैन को भी स्मृति चिह्न प्रदान कर सम्मानित किया गया। कवि चन्द्रसेन ने अपनी कविताओं के माध्यम से जनसमूह को मन्त्रमुग्ध कर दिया। शैलेश जैन ने मुनिश्री से आग्रह किया कि वे अगला चातुर्मास जबलपुर में करें और वहाँ पर वृहद् स्तर पर युवा सम्मेलन आयोजित कराया जा सके।

कार्यक्रम के मुख्य अतिथि श्री जीवन दादा पाटिल (कार्यपालन यन्त्री) समाजसेवी ने अपने उद्बोधन में कहा कि - 'युवा समाज की नहीं वरन राष्ट्र की शक्ति के रूप में होते हैं। यदि युवा अपने साथ-साथ समाज व देश को प्रगति के रास्ते पर ले जाना चाहता है तो उसे गुरु और अपनी संस्कृति के प्रति पूर्णरूपेण निष्ठावान् होना पड़ेगा।' समाज ने दादा पाटिल को तिलक लगाकर व मुकुट पहनाकर सम्मानित किया। सम्मेलन में दूरसंचार के निर्देशक पवन जैन ने कहा - 'युवा वही है जो वर्तमान को बदलने की आकांक्षा रखता है, उसका उम्र से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।' सीखने की प्रक्रिया को युवा की परिभाषा बताते हुए श्री जैन ने कहा कि 'विस्मय व उत्सुकता रहित मानव युवा की श्रेणी में नहीं आता।' दूरसंचार भोपाल के निर्देशक एम.के. जैन ने युवाओं को समाज की जड बताते हुए कहा हैं कि 'वह जितना मजबूत और सुसंस्कारित होगा समाज उतना ही ऊपर उठेगा।' भोपाल से आए आई. ए. एस. श्रेणी के अधिकारी श्री सुभाष जैन ने 'समाज के निर्माण' में युवाओं की भूमिका के बारे सारगर्भित बातें कहीं। श्री जैन युवा उसे मानते हैं 'जिसकी मानसिकता जीवन की अन्तिम क्षण तक जीवित रहती है। आपने मुनिश्री से आग्रह किया कि आपके सान्निध्य में जहाँ भी चातुर्मास हो वहाँ एक दिन युवाओं का सम्मलेन अवश्य हो।' इसके अलावा श्री हृदयमोहन जैन विदिशा, श्रीमती रंजना जैन बिलासपुर, श्री चक्रेश जैन फिरोजाबाद एवं ब्रह्मचारी जिनेश भैया ने अपने सारगर्भित वक्तव्य दिए। जैन समाज के कोषाध्यक्ष संदीप जैन ने आगन्तुकों का स्वागत किया। संचालन जबलपुर से आये अमित पडरिया ने किया।

प्रस्तावों का वाचन - विभिन्न क्षेत्रों से आए युवाओं ने प्रस्ताव रखे जिसे जनसमुदाय ने मुनिश्री के सान्निध्य में हाथ उठाकर अनुमोदित किया।

प्रथम प्रस्ताव - तीर्थराज सम्मेदशिखर जी की रक्षा एवं विकास हेतु एक संगठन का निर्माण एवं समस्त सामाजिक संगठनों के सदस्यों का वर्ष में कम से कम तीन दिन की उपस्थिति का प्रस्ताव।

द्वितीय प्रस्ताव - श्री गिरनार सिद्धक्षेत्र पर कतिपय असामाजिक तत्त्वों के बलात् आक्रमण/अतिक्रमण किये जाने के विरुद्ध गुजरात सरकार से दोषियों को दण्डित करने की अपील एवं बिना किसी बाधा के अपनी नियमित पूजा अर्चना के अधिकार हेतु प्रस्ताव।

तृतीय प्रस्ताव - जैन युवा सम्मेलन एवं युवा रत्न अलंकरण का प्रति वर्ष आयोजन किया जाये।

चतुर्थ प्रस्ताव - राष्ट्रीय स्तर पर व्यसन मुक्ति अभियान को दृढ़ निष्ठा के साथ संचालित करना एवं इसे अपने-अपने संगठनों के प्रमुख उद्देश्यों में समाहित करना।

पंचम प्रस्ताव - कुण्डलपुर में बड़े बाबा के मन्दिर निर्माण में युवा शक्ति का तन-मन-धन से सहयोग करना।

षष्ठ प्रस्ताव - विभिन्न सामाजिक संगठनों को आपस में समन्वित कर अखिल भारतीय स्तर पर जैन युवा महासंघ की रचना करना।

सप्तम प्रस्ताव - जैन समुदाय को राष्ट्रीय स्तर पर अल्पसंख्यक समुदाय घोषित किया जावे।

मुख्य सम्मेलन के पहले उद्घाटन सत्र में प्रात: सदस्यों के पंजीयन के बाद मुनि श्री की एक प्रवचन सभा हुई जिसमें श्री अजित जैन गोटेगाँव, डॉ0 इन्द्रजीत जैन टीकमगढ़, श्री दिनेश जैन खुरई, ब्रह्मचारी अन्नू भैया, नितिन भैया ने अपने विचार व्यक्त किए। तदुपरान्त मुनि श्री प्रमाणसागर जी ने अपनी ओजस्वी वाणी से सभी के दिल और दिमाग को झकझोर दिया।

प्रेरणा पथ संचलन - आये हुए युवाओं द्वारा प्रेरणा पथ सचलन के रूप मे पूरे नगर का भ्रमण किया गया। जिसमें टीकमगढ़ अहिंसा दिव्य घोष की मोहक धुनों के साथ अशोकनगर, मालथौन, बडनगर, साढौरा आदि स्थानों के दिव्यघोष सब तरफ देवदुन्दुभि से बजते दिखाई पड़ते थे। प्रेरणा पथ संचलन को कार्यक्रम के बिशिष्ट अतिथि श्री हृदयमोहन जैन विदिशा, श्री सुभाष जैन दिल्ली ने हरी झण्डी दिखाकर रवाना किया।

सम्मेलन में जबलपुर, कटनी, पनागर, गोटेगांव, शहपुरा, भिटौनी, अशोकनगर, टीकमगढ़, ललितपुर, मालथौन, हजारीबाग, दिल्ली, बडौत, देवेन्द्रनगर, मैहर, अमरपाटन, सिंहपुर, रीवा, बड़नगर, खुरई, बीना, भोपाल, ओबेदुल्लागंज, गैरतगंज, विदिशा, दमोह, सागर आदि स्थानों से पधारे युवाओं ने हिस्सा लिया। मुनिश्री के सानिध्य में आयोजित इस युवा सम्मेलन ने इतिहास रच डाला।

अवनीश जैन
सयोजक - जैन युवा सम्मेलन,
(मे. आस्था इन्टरप्राइजेज, सतना)

रामायण-गीता ज्ञानवर्षा

संत शिरोमणि परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के अग्रिम पंक्ति के वरेण्य प्रिय शिष्य अध्यात्म एवं राष्ट्रीय चेतना के प्रवक्ता मुनि श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज का वर्षायोग 2004 की स्थापना जब से सतना में हुई, धर्मप्रभावना की अद्‌भुत लहर एवं धर्म-ज्ञानामृत की वर्षा प्रवाहमान है। इस जैन संत के कंठ में मानो सरस्वती अधिष्ठित है, तभी तो आपकी वाग्मिता और प्रवचन कला से अभिभूत होकर भारत विकास परिषद् के कार्यकर्त्ताओं एवं आयोजकों ने जैन समाज को ही नहीं, बल्कि जनमानस को अपने आशीर्वाद का सौरभ बिखेरने के लिये मुनिश्री से प्रार्थना की, और इसकी फलश्रुति एक पंचदिवसीय महोत्सव 'रामायण-गीता ज्ञानवर्षा' के रूप में सतना नगरी को प्राप्त हुई। भारत विकास परिषद् के तत्त्वावधान में एक समिति का गठन करके सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि ऐसे दिगम्बर जैन संत के अगाध ज्ञान की गंगा के आचमन का लाभ सतना नगर के जन-जन को मिले। पूज्य मुनि श्री से कार्यक्रम की स्वीकृति लेकर समिति के समन्वयक श्री उत्तम बनर्जी, अध्यक्ष श्री चरणजीतसिंह पुरी, कार्यक्रम संयोजक श्री योगेश ताम्रकार एवं सह संयोजक श्री जीतेन्द्र जैन (जीतू) ने बड़ी दूरदर्शिता, सुदृढ़ प्रचारतन्त्र एवं पेम्पलेट, होर्डिंग्स आदि के माध्यम से रामायण एवं गीता का आध्यात्मिक रहस्य उद्‌घाटित करने की इच्छा, संकल्प से युक्त रामायण गीता ज्ञान वर्षा का कार्यक्रम संयोजित किया, जिसने सतना में एक अपूर्व इतिहास रच डाला

28 अक्टूबर से 1 नवम्बर 2004 तक सी. एम. ए. स्कूल के विशाल परिसर में 40 हजार वर्गफुट क्षेत्रफल में एक भव्य, महावीर मंडप का निर्माण किया गया। इस कार्यक्रम की अद्‌भुत सफलता ने पुराने सारे कीर्तिमान खारिज करते हुये 20-20 हजार की सतना के उमड़ते जन सैलाब ने मुनि श्री को कानों से ही नहीं प्राणों से सुना। मैं तो कहना चाहूंगा कि कलेक्टर से लेकर कहारिन तक, गरीब से लेकर श्रेष्ठ धनपतियों, प्रबुद्ध श्रोताओं, उद्योगपतियों ने मुनि श्री के प्रवचनों को सुनकर 'न भूतो न भविष्यति' की प्रतिक्रिया द्वारा जो उल्लास और हर्ष व्यक्त किया वह उनके चेहरों से झांक रहा था। दिगम्बर जैन मुनि के लिये एक जैनेतर सर्वसमाज की इतनी भक्ति, श्रद्धा और समर्पण देखकर सम्पूर्ण जैन समाज सतना मस्तक गर्व से उन्नत हो गया है। धर्म सहिष्णुता और साम्प्रदायिक सद्‌भाव की अनोखी मिसाल और ज्ञान ज्योति की मशाल का यह महायज्ञ देखने लायक था। जो जन-जन की चर्चा का विषय बना रहा।

कार्यक्रम के प्रथम दो दिवस रामायण पर एक नयी आध्यात्मिक दृष्टि से मुनि प्रमाणसागर जी के मंगल प्रवचन हुये। मुनि श्री ने रामायण के प्रत्येक पात्र के प्रतीकात्मक आध्यात्मिक अर्थ द्वारा यह सिद्ध किया कि रामायण हम सभी के जीवन की अन्तर्घटना है। राम को चौबीस तीर्थंकर की व्याप्ति से समाहित कर कहा कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का 'रा' और अन्तिम तीर्थंकर महावीर के 'म' से 'राम' सृजित हुये हैं। भरत-ज्ञान वैराग्य, लक्ष्मण-

विवेक, शत्रुघ्न-अबैर वृत्ति के प्रतीक हैं। रावण-अहंकार और विभीषण धार्मिक विश्वास के प्रमाण पुरुष हैं। वानरसेना संस्कृति और राक्षस सेना भीतर के कुसंस्कारों के प्रतीक हैं। लक्ष्मण के धर्मचक्र से अहंकार रूपी रावण का संहार होना था, सो हुआ। आज के सन्दर्भ से रामायण को जोड़ते हुए मुनि श्री ने कहा - 'जन-जन रावण घर-घर लंका इतने राम कहाँ से लाऊँ।' जबलपुर से पधारे राष्ट्रीय कलाकार पं. रुद्रदत्त जी दुबे एवं उनके सहयोगियों ने मंगलाचरण के रूप में आध्यात्मिक भजनों की संगीतमय प्रस्तुति देकर कार्यक्रम को रसमय बना दिया।

सतना की सर्व समाज के सहयोग से भारत विकास परिषद के कार्यकत्ताओं द्वारा विशाल नयनाभिराम मंच का शिल्प गढ़ा गया जो रोज के प्रवचन सन्दर्भों से बदलता रहता था। हजारों की संख्या में पुरुष और मातृशक्ति ने आध्यात्मिक गंगा में लगातार पांच दिन डुबकियाँ लगायी।

समारोह के तीसरे दिवस युवा जागृति रैली का आयोजन हुआ, इसमें नगर की लगभग 50 शिक्षण संस्थाओ के लगभग 15-20 हजार छात्र-छात्राओं एवं युवाओं ने मुनि श्री का प्रेरक सम्बोधन एवं प्रवचन सुना। मुनि श्री से व्यसन मुक्ति का संकल्प लिया। मध्याह्न में 1:30 बजे से नगर के सात विभिन्न स्थानों से छात्र-छात्राओं की टोलियाँ व्यसन मुक्ति से संदर्भित नारे लगाती हुई नदी की लहरों की तरह एक के बाद एक कार्यक्रम स्थल पर आती गयी और पूज्य मुनि श्री के चरणों में अपने को समर्पित करती गयीं। वास्तव में यह दृश्य अत्यन्त प्रेरक और दुर्लभ था। इस सभा को रीवा विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय श्री डॉ0 ए. डी. एन. वाजपेयी जी ने दीप प्रज्वलित कर उद्घाटित किया और उद्बोधन में कहा कि आध्यात्मिकता के अभाव में सारी समस्याये सुरसा बनकर खडी हो जाती हैं। आज के कार्यक्रम में उत्कृष्ट विद्यालय, सतना की छात्राओं द्वारा राष्ट्रीय गीत एवं मंगलाचरण के रूप में मेरी भावना की सुमधुर प्रस्तुति की गयी।

चौथे दिवस गीता पर आध्यात्मिक रस-उद्रेक से प्लावित अत्यन्त प्रभावक प्रवचन हुआ जिसे मन्त्रमुग्ध होकर 10 हजार जैनेतर एवं हिन्दू समाज ने सुना। मुनि श्री प्रमाणसागर जी ने कहा - 'जीवन के रूपान्तरण, आत्मा के उन्नयन और अध्यात्म के विकास में जो कहा गया है - वह गीता है। इसे कृष्ण ने गाया तो गीता बनी, महावीर नें गाया तो आगम कहलायी, बुद्ध ने गाया तो पिटक बनी और नानक ने गाया तो गुरुग्रन्थ साहब के रूप में हमारे सामने आयी। धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र दोनों हमारे भीतर हैं। जब तक भीतर का अर्जुन, गीता को अनसुना करता रहेगा, अंतस् का महाभारत समाप्त नहीं होगा।'

महाभारत के पात्रों को सटीक प्रतीक देते हुए मुनि श्री ने गीता के आध्यात्मिक नवनीत का प्रसाद भक्तों के अन्तःकरण में उतार दिया। कुंती-बुद्धि की तीक्ष्णता, युधिष्ठिर-समता, भीम-शक्ति, अर्जुन-ज्ञान, नकुल-वैराग्य और सहदेव-साधना में सहायक देववृत्ति के प्रतीक हैं। इन पाँचों का समन्वय ही पाण्डव हैं। धृतराष्ट्र हमारे भीतर का अज्ञान, गांधारी अज्ञानी आत्मा है जिसने आत्मविस्मृति की पट्टी अपनी आँखों पर बांध ली है। बुद्धि की अपरिपक्व संतान है कर्ण, कपट व छल-पाप बुद्धि में रत शकुनि और दुष्प्रवृत्ति के प्रतीक हैं दुर्योधन।

सभा के प्रारम्भ में कु. रूपाली जैन सागर के भजनों की संगीतमय प्रस्तुति एवं चिन्मय विद्यालय के नन्हें-नन्हें बालक-बालिकाओं द्वारा वेदमन्त्रों व गीता के श्लोकों का सस्वर वाचन बड़ा ही सम्मोहक था। इस सभा में विशिष्ट मुख्य अतिथि के रूप में आमन्त्रित माननीय कलेक्टर श्री उमाकान्त उमराव एवं पुलिस अधीक्षक श्री आर. के. गुप्ता सादी वेशभूषा में सामान्य श्रोताओं के बीच में बैठकर मुनि श्री के प्रवचन का रसपान करते रहे। बाद में जब लोगों को उनकी उपस्थिति का भान हुआ तो मंच पर बुलाकर उन्हें सम्मानित किया गया। आमन्त्रित अतिथि के रूप में बीना से पं. प्राचार्य निहालचन्द जैन एवं सतना के पं. रघुनाथ त्रिपाठी एवं डॉ. एस. के. माहेश्वरी भी मंचासीन रहे। महावीर मण्डप श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था।

कार्यक्रम के पाँचवें व अन्तिम दिवस 'धर्मसम्मेलन' का आयोजन था, जिसमें पूज्य मुनि श्री के अलावा हरे माधव सम्प्रदाय के सतगुरु श्री ईश्वरशाह और सनातन धर्म का प्रतिनिधित्व करते हुये हरिद्वार से पधारे स्वामी अखिलेश्वरानन्दगिरि थे। सिखधर्म के प्रतिनिधि के रूप में डॉ0 जसविंदरसिंह जी ब्यावर से पधारे थे। स्वामी श्री अखिलेश्वरानन्दगिरि जी ने मुनि श्री प्रमाणसागर जी को केन्द्रबिन्दु बनाकर साम्प्रदायिक सौहार्द्र का और संतों की सक्रिय भूमिका की आवश्यकता पर बल दिया। मुनि श्री प्रमाणसागर जी ने भगवान महावीर के अनेकान्त को फूलों का गुलदस्ता कहकर अपने अमृतमयी प्रवचन में वर्तमान के अनेक सन्दर्भों को लिया - गौमाता की सेवा और व्यसन मुक्ति के साथ दीपावली पर आतिशबाजी न करने की मार्मिक अपील की। इस सभा का शुभारम्भ श्रीमती सरला चौधरी के द्वारा संगीतमय गुरुवन्दना एवं समापन गुरु आरती से हुआ।

सम्पूर्ण पंचदिवसीय आयोजन में सभा समाप्ति पर प्रसाद वितरण निरंकारी मण्डल सतना, अखिल भारतवर्षीय सर्व ब्राह्मण समाज, सतना, पंजाबी नवयुवक मण्डल, नानक दरबार एवं श्वेताम्बर जैन संघ ट्रस्ट आदि सतना के विभिन्न धार्मिक समुदायों व संस्थाओं द्वारा किया गया। धर्मसभा के संयोजक श्री लखनलाल केशरवानी एवं इसके सहसंयोजक श्री सिंघई जयकुमार जैन ने अपने सक्रिय उत्तरदायित्व का निर्वहन करते हुये सम्पूर्ण समारोह में चार चाँद लगा दिये।

इस प्रकार इस सम्पूर्ण आयोजन ने धर्म सहिष्णुता, मानवीय संवेदना, अहिंसा की प्राण प्रतिष्ठा और पारस्परिक प्रेम-वात्सल्य तथा उदारता की जो अद्वितीय मिशाल दी वह कई वर्षों तक सतना के प्रबुद्ध मानस हृदयों में अंकित रहेगी।

पं. निहालचन्द जैन, बीना

अद्‌भुत नगर गजरथ यात्रा

जब से होश संभाला है तब से आज 77 वर्ष पूरे हो गये हैं, आज तक सतना में इतना बड़ा जुलूस इतने भव्य स्वरूप में निकलते तो हमने अपने जीवन में नहीं देखा। ये उद्‌गार थे समाज के निवर्तमान अध्यक्ष वयोवृद्ध श्री जवाहरलालजी के।

चाहे वह 90 वर्षीय वृद्ध हो या 40 वर्षीय युवा, या 10 वर्षीय बालक 27 नवम्बर 2004 का दिन सभी के लिये स्मृति के सुनहरे पृष्ठ पर अंकित हो जाने वाला दिन था। न सिर्फ जैन समाज बल्कि पूरे सतना नगर के लोग यह कह रहे थे कि 'हमने ऐसी गजरथ यात्रा जीवन में पहली बार देखी।'

परम पूज्य 108 आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के परम शिष्य तरुणाई के प्रखरवक्ता अध्यात्मयोगी परमपूज्य श्री प्रमाणसागर जी मुनि महाराज की महती अनुकम्पा से चातुर्मास के बाद बोनस के रूप में पूज्य मुनि श्री ने सतना समाज के निवेदन पर 'कल्पद्रुम महामण्डल विधान एव नगर गजरथ यात्रा' के आयोजन को अपना आशीर्वाद दिया।

फिर क्या था ? पूज्य गुरुदेव के आशीर्वाद से समाज में ऊर्जा का संचार होना स्वाभाविक था। 17 नवम्बर से 27 नवम्बर तक श्री 1008 कल्पद्रुम महामण्डल विधान एवं नगर गजरथ यात्रा तथा 28 नवम्बर को भव्य पिच्छिका परिवर्तन के आयोजन की धूमधाम से तैयारियाँ प्रारम्भ हो गई।

अत्यन्त मनोहारी समोसरण की रचना, भव्य पण्डाल, पूरे समाज की सहभागिता और परम पूज्य मुनि श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज का सानिध्य, मानो ऐसा लगता था कि पूरा नगर धर्मस्थल है, और विधान स्थल में साक्षात् समोसरण विराजमान है। प्रतिदिन पूज्य गुरुदेव की धर्मदेशना से न सिर्फ जैन समाज के लोग बल्कि अनेक जैनेतर बन्धुओं ने भी स्वयं के जीवन को धन्य बनाया।

विधान का आयोजन समाज के पूरे उत्साह के साथ सम्पन्न हुआ और अब निकलना था भगवान् जिनेन्द्र का रथ। आज 27 नवम्बर को प्रात: 12 बजे। रथ वो भी 22 फिट ऊंचा, 2 गजराजों सहित, आश्चर्य तो तब हुआ जब जिस नगर में दशहरे जैसे बड़े जुलूस में 14 फिट ऊँचाई से ज्यादा निकलने वाली मूर्तियों या ट्रक पर पाबन्दी है, जिस नगर में विद्युत की प्रमुख लाइने 16 से 18 फिट ऊँचाई पर मकड़ी के जाले की तरह फैली हो, वहाँ पर 22 फिट का यह रथ .....।

मैं साक्षी हूँ इस बात का और पूरी प्रमाणिकता के साथ हमने स्वयं म. प्र. विद्युत मंडल के 4 अधिकारियों के साथ यात्रा मार्ग का 22 फिट के बांस को लेकर अवलोकन किया था। लगभग 150 जगह ऐसी थी जहाँ से विद्युत तार में 17-18 फिट में अवरोध हो रहा था। हम लोग मार्ग निरीक्षण करने के उपरान्त तथा विद्युत विभाग के बडे अधिकारियों द्वारा पूरी तरह असमर्थता व्यक्त करने के उपरान्त विचार-विमर्श करने लगे कि क्यों न द्रोणगिरि से 17 फिट का रथ मंगा लिया जाये और ऐसा विचार करते-करते पूज्य मुनि श्री के कक्ष में पहुँचे एवं अपनी मजबूरी व्यक्त की।

पूज्य मुनि श्री ने कहा - कहाँ हैं एम. पी. ई. बी. के अधीक्षणयन्त्री। उन्हें हमारे पास ले आओ। अधीक्षणयन्त्री श्री पटेल जी आये और 22 फिट के रथ के लिये असमर्थता व्यक्त करने लगे, तभी पूज्य मुनि श्री ने कहा - 'आयोजन समिति ने जो मार्ग तय किया है, मार्ग वही रहेगा। 22 फिट ऊँचा जो रथ निर्धारित किया है, रथ वही निकलेगा। कैसे निकलेगा आप जानो। आपके मुख्यमंत्री जाने। आप व्यवस्था करोगे तो ठीक, नहीं भी तो ठीक लेकिन रथ 22 फिट का और उसी निर्धारित मार्ग से ही निकलेगा, यह तय है।'

पूज्य मुनि श्री के इन शब्दों ने उपस्थित कार्यकर्ताओं की बाहों में मानो नया जोश भर दिया हो, उस कक्ष में उपस्थित सभी लोगों ने पूज्य मुनि श्री के जय की उद्घोष करते हुये नारे के रूप में कहा - अब तो रथ यही निकलेगा।

27 नवम्बर 2004 का वह पावन दिन, सुबह से ही रथयात्रा की तैयारियों में पूरा नगर जुटा था और 12: 30 बजे आचार्य विद्यासागर सभागार से प्रारम्भ हुई अद्भुत नगर गजरथ यात्रा।

अशोकनगर, मुंगावली, टीकमगढ, पथरिया, मालथौन से आये दिव्यघोषों में तो अघोषित प्रतिस्पर्धा देखने को मिल रही थी। पूरा नगर गुंजायमान हो चला, पृथक्-पृथक् चल रहे तीन गज, चार घोड़े, दुल-दुल घोड़ी, नगर के बैण्ड, शहनाई, अनेक झांकी, मंगल कलश लिये केशरिया वस्त्रों में महिलाएँ कतारबद्ध बालिकाएँ, विद्यालय के बच्चे पुरुष वर्ग, बग्घी में श्री जिनवाणी जी, पालकी में विराजे भगवान्, विमान जी की अदभुत छटा और विशालकाय रथ और रथ के आगे परम पूज्य गुरुदेव मुनि श्री प्रमाणसागर जी महाराज। अद्भुत दृश्य था। जिसने देखा निहारते ही रह गया। यात्रा प्रारम्भ होने के 30 मिनिट पहले मेघों ने अपनी करवट बदली चारों तरफ घनघोर वर्षा की संभावना निर्मित हो गयी। तभी वर्षा की आशंका से भयभीत हमने पूज्य मुनि श्री से कहा - अब क्या होगा ? तुम अपना कार्य देखो कुछ नहीं होगा। इसे चमत्कार नहीं कहेंगे तो क्या कहेंगे ? यात्रा में शामिल हजारों बन्धु, नर-नारी इस बात के साक्षी हैं। यात्रा का प्रथम ब्रैण्ड सर्किट हाउस चौक होता हुआ रीवा रोड़ की ओर बढ़ रहा था, लेकिन अभी भी कुछ लोग प्रारम्भिक वेला में शामिल होने आचार्य विद्यासागर सभागार में बैठे अपने क्रम की प्रतीक्षा कर रहे थे। लगभग 2 कि. मी. से भी ज्यादा लम्बा जुलूस था यह। जैनेतर बन्धु पुष्पवृष्टि कर एव मिठाइयाँ वितरित करते हुये अपनी सहभागिता निभा रहे थे। नगर की पूरी सड़कें पुष्पमय हो गई थीं। पूज्य मुनिश्री के पग विहार में फूलों से पटी सड़क के द्वारा आ रहे व्यवधान को दूर करने के लिये कुछ कार्यकर्त्ता निरन्तर झाड़ू लगाकर मार्ग से पुष्प किनारे कर रहे थे। जिस किसी का घर इस यात्रा में पड़ा चाले वह हिन्दू हो, मुसलमान हो, सिक्ख हो, ईसाई रहा हो या अन्य मत का मानने वाला हो, सभी ने पूज्य मुनि श्री की आरती कर स्वयं को धन्य महसूस किया।

इस यात्रा में नगर के विधायक, महापौर, अनेक राजनेताओं सहित, सभागीय कमिश्नर श्री राव साहब भी शामिल हुये।

पूरा विवरण लिखने का प्रयास करेंगे तो शायद एक अलग से पुस्तक लिखी जा सकती है। लेकिन हमने ऊपर शीर्षक में अद्भुत शब्द का प्रयोग किया है, वह शब्द सार्थक हुआ इस यात्रा में इतिहास साक्षी रहेगा कि 27 नवम्बर 2004 को सतना नगर में परम पूज्य 108 श्री प्रमाणसागर जी महाराज के सानिध्य में 22 फिट ऊँचे रथ ने, जिसे गजयुगल द्वारा खींचा गया, निर्विघ्न रूप से निकला। पूरे मार्ग में जैसे वसुन्धरा और गहरी हो गई हो स्वयमेव विद्युत तार ऊपर हो गये हो, बिना किसी अवरोध के यात्रा पूर्ण की।

इस भव्य चमत्कारिक, अलौकिक, नगर गजरथ यात्रा में पूर नगर का, प्रशासन का, एवं यात्रा में शान्ति स्वरूप नर-नारियों का भी बहुत बड़ा योगदान था, पूज्य मुनि श्री के आशीष का प्रताप तो था ही कि उतना बड़ा ऐतिहासिक आयोजन हमारे नगर में निर्विघ्न सम्पन्न हुआ।

संदीप जैन

संयोजक, कल्पद्रुम विधान एवं नगर गजरथ यात्रा

(मे. अवन्ती फार्मा, सतना)

खजुराहो : पार्श्वनाथ मन्दिर का शिलालेख

सतना जिनालय के निर्माण का 125 वाँ वर्ष मनाते समय खजुराहो के विश्वविख्यात पार्श्वनाथ मन्दिर के दरवाजे पर उत्कीर्ण यह शिलालेख हम सभी के कर्त्तव्य का कितना सुन्दर स्मरण कराता है। मन्दिर निर्माताओं की विनम्रता प्रकट करने वाला यह लेख सम्पूर्ण विश्व में बेजोड़ है -

ओं संवत 1011 समये। निजकुलधवलोयम् दिव्यमूर्तिः स्वसील समदम गुणयुक्त सर्वसत्वानुकम्पी। स्वजन जनित तोषो धांगराजेन मान्यः प्रणमति जिननाथोयं भव्यपाहिल नामा। पाहिलवाटिका 1. चन्द्रवाटिका, 2. लघुचन्द्रवाटिका, 3. संकरवाटिका, 4. पचाईतलवाटिका, 5. आम्रवाटिका 6. धंगवाडी। पाहिल वंसे तु क्षये क्षीणे अपर वंसो कोपि तिष्ठति। तस्य दासस्य दासोयम् मम दत्तिु पालयेत्। महाराज गुरु श्री वासवचन्द्र। वैसाष सुदि सोम दिने।

हिन्दी अनुवाद - ओंम संवत् 1011 वर्ष में। निजकुल में धवल दिव्यमूर्ति सुशील समदम आदि गुणों से युक्त सब जीवों पर अनुकम्पा करने वाले, धंगराजा द्वारा मान्यता प्राप्त पाहिल नाम का भव्य श्रावक भगवान जिनेन्द्र को प्रणाम करता है। 1. पाहिल वाटिका, 2. चन्द्रवाटिका, 3. लघुचन्द्रवाटिका, 4. शकरवाटिका, 5. पचाईतलवाटिका, 6. आम्रवाटिका, 7. धंगवाडी (इसमन्दिर को समर्पित हैं)। पाहिल वंश में जो क्षय और क्षीणता को प्राप्त होने वाला है, दूसरे वंशों में भी कौन स्थायी रहता है। मेरे इस दान की जो पालना करेगा मैं उसके दासों का भी दास रहूँगा। महाराज गुरु श्री वासवचन्द्र। वैसाख सुदी सोमवार।

इस लेख में पाहिल श्रेष्ठी द्वारा महाराजा धंग के राज्यकाल में इस जिनालय का निर्माण कराये जाने का उल्लेख है। इस मन्दिर की पूजा व्यवस्था के लिये श्री पाहिल द्वारा सात वाटिकाओं (उपवनों) का दान भी इस मन्दिर को दिये जाने का इसमें उल्लेख है। मन्दिर निर्माता ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक यह भी लिखा है कि इस निरन्तर क्षीयमाण ससार मे जो कोई भी मेरे इस दान की पालना (सुरक्षा) करेगा, मैं अपने आपको उसके दास का भी दास मानता हूँ।

सतना जिला : पुरातात्त्विक सन्दर्भ में

चन्देल कला के लिये विश्वविख्यात मन्दिरों के नगर खजुराहो से लगभग 125 कि0 मी0 दूर सतना जिला देश के उन कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों में से एक है, जो अपने पुरातात्त्विक वैभव के कारण एक विशिष्ट स्थान रखता है। शुंगकाल में निर्मित देश के प्राचीनतम बौद्ध स्तूप से लेकर चन्देल और कलचुरिकालीन कला के उत्कृष्टतम पुरावशेष इस क्षेत्र में उपलब्ध हैं। इस जिले से प्राप्त पुरासम्पदा ने देश के अनेक सग्रहालयों को समृद्ध बनाया है। कलकत्ता का भारतीय सग्रहालय, रामवन का तुलसी सग्रहालय, प्रयाग का शासकीय सग्रहालय सहित राष्ट्रीय सग्रहालय पटना, शासकीय सग्रहालय भोपाल, रानी दुर्गावती सग्रहालय जबलपुर, सर हरिसिह गौर सग्रहालय सागर, शासकीय सग्रहालय धुबेला आदि में सतना जिला से प्राप्त मूर्तियों व अन्य अवशेषों को प्रमुखता के साथ प्रदर्शित किया गया है।

भरहुत, दुरेहा, भुमरा, सीरा पहाड़, नचना, कुठरा, जसो, पटना, भुमकहर, भरजुना, मैहर, मड़ई, नादन, बछरा, पतौरा आदि वे स्थान है, जिन्होने अपने पुरातात्त्विक अभिदान से भारत के स्थापत्य, कला और प्रतिमा विज्ञान को समृद्ध किया है।

प्रस्तुत लेख में हम सतना जिला के प्रतिनिधि जैन पुरातात्त्विक स्थलों का सक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं -

1. पतियान दाई - सतना नगर से लगभग 10 कि0 मी0 दूर दक्षिण-पश्चिम दिशा मे एक छोटी सी पहाडी है। सिन्दूरी रग की होने के कारण यह पहाड़ी 'सिन्दुरिया पहाड़ी' के नाम से भी जानी जाती है। पहाडी पर एक छोटी सी मढ़िया लगभग 6-7 फुट लम्बी और इतनी ही चौड़ी 'डुबरी की मढ़िया' या 'पतियान दाई' के नाम से यहाँ पर है। इसकी ऊँचाई लगभग साढे सात फुट है। उत्तरोन्मुख मढ़िया के द्वार के दोनो ओर गगा-यमुना की मूर्तियाँ अंकित हैं। लगभग आठवीं शताब्दी में निर्मित इस मन्दिर के ललाट बिम्ब पर तीन तीर्थकर पद्मासन मुद्रा मे प्रदर्शित हैं। सादगी से युक्त और आडम्बर विहीन इस मन्दिर में भगवान नेमिनाथ की शासनदेवी अम्बिका विराजमान थी। अम्बिका की यह प्रतिमा अब प्रयाग के संग्रहालय में स्थापित है। लगभग सात फुट ऊँचाई वाली त्रिभंग मुद्रा युक्त प्रतिमा के परिकर में 24 तीर्थंकर तथा नवग्रह सहित 23 अन्य शासनदेवियों का अंकन हुआ है। सिंह, प्रियंकर तथा शुभकर भी यथास्थान अंकित है। 24 तीर्थंकर और उनकी 24 शासन देवियों के नाम सहित पट्टिका होने के कारण यह प्रतिमा बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रतिमा है। इतनी समृद्ध प्रतिमा अन्यत्र दुर्लभ है।

2. मड़ई - एक ऐसा स्थान जहाँ जैन, वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के मन्दिर अपने पूरे वैभव और कलात्मक सौन्दर्य के साथ स्थापित थे। सतना से लगभग 70 कि0 मी0 दूर यह स्थान मैहर के पास था। मन्दिर के अवशेष नहीं रहे पर अभी भी वहाँ की भूमि मूर्तियों, शासनदेवी-देवताओं और अन्य पुरावशेषों को अपने गर्भ से उगल रही है। मड़ई से प्राप्त कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतिमाएँ तुलसी संग्रहालय रामवन में संरक्षित हैं। धरणेन्द्र, पद्मावती सहित अन्य शासनदेवी-देवताओं, खड्गासन चौबीसी, द्वार, तोरण, द्वारपाल, वेदिका, स्तम्भ और छज्जा आदि के अवशेष प्राप्त हुये हैं।

3. नादन - मैहर-अमरपाटन मार्ग पर अमरपाटन से लगभग 7 कि0 मी0 दूर 'नादन' ग्राम है। यहाँ भी अनेक जैन शिल्पावशेष पाये गये हैं। खेरमाई के नाम से एक सुन्दर तीर्थंकर प्रतिमा ग्राम देवता के चबूतरे पर पूजी जाती रही है।

4. भेडा - मैहर-अमरपाटन मार्ग पर ही भेडा ग्राम के तालाब के किनारे एक जीर्ण-शीर्ण अवस्था में स्थित मन्दिर की ललाट पट्टिका पर तीर्थंकर प्रतिमा का अंकन है, जो इस मन्दिर का जैन मन्दिर घोषित करने के लिये पर्याप्त है। ग्राम में कुछ अन्य शिल्पावशेष भी प्राप्त हुये हैं।

5. अमरपाटन - ग्राम से लगभग 2 कि0 मी0 दूर मैहर रोड़ पर एक तालाब के किनारे, सुन्दर पद्मासन तीर्थंकर की प्रतिमा टिकी हुई थी। सुसौम्य आकृति की यह प्रतिमा वर्षों तालाब में आने वाले लोगों की श्रद्धा का केन्द्र रही। मूर्ति-चोरों ने एक दिन इस प्रतिमा को सदा-सदा के लिये विलुप्त कर दिया।

6. बकरा - अमरपाटन-रीवा रोड़ पर ग्राम के तालाब की दीवार पर अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ जडी हुई है। एक कायोत्सर्ग आसन सहित तीन-चार पद्मासन प्रतिमाओं के दर्शन यहाँ होते हैं।

7. भरजुना- मड़ई की तरह समृद्ध रहे इस ग्राम मे धरणेन्द्र पद्मावती, चक्रेश्वरी, अम्बिका, द्वार, तोरण आदि के अवशेष प्राप्त हुये थे। मूर्ति तस्करों ने सबको लुप्त कर दिया। यह ग्राम सतना साइडिग के पास है और शोधकर्त्ताओं के लिये अभी भी आकर्षण का केन्द्र है।

8. जसो - यह ग्राम सतना से 42 कि0 मी0 दूर नागौद तहसील में स्थित है। यहाँ ग्राम देवता के रूप में आदिनाथ की पूजा होती है। यहाँ के शिल्पों में भरत, बाहुबली तथा नेमि-राजुल विवाह उल्लेखनीय है। लगभग दशवीं शताब्दी में यह स्थान विशाल जैन मन्दिरों के लिये प्रसिद्ध स्थान था। यहाँ से प्राप्त पुरावशेष प्रयाग और रामवन के संग्रहालयों में संग्रहीत हैं।

जिले की सीमाओं से सटे प्राचीन जैन पुरातात्विक स्थल

1. सीरा पहाड़ - सतना जिले की दक्षिण-पश्चिमी सीमा पर जसो के आगे गंज नाम का ग्राम है। गंज से थोड़ी ही दूरी पर नचना-कुठरा नामक स्थान है। एक सुन्दर सी पहाड़ी की छाया में बसा हुआ यह स्थान अत्यन्त रमणीय है। पहाड़ी के पगतल को छूता हुआ एक छोटा-सा तालाब श्रान्त-क्लान्त पथिकों को राहत प्रदान करता है। पहाड़ में गुफाओं के अन्दर गुप्तकालीन जैन मूर्तियाँ विराजमान हैं। यहाँ पर विराजमान भगवान महावीर स्वामी की पाँच फुट ऊँची पद्मासन प्रतिमा अत्यन्त मनोज्ञ है।

सीरा पहाड़ी से प्राप्त अनेक प्रतिमाएँ रामवन संग्रहालय, पन्ना स्थित छत्रसाल उद्यान, नागौद जैन मन्दिर तथा सलेहा जैन मन्दिर में विराजमान हैं। सलेहा जैन मन्दिरों में विराजमान तीर्थंकर आदिनाथ की प्रतिमा अत्यन्त विलक्षण/अद्‌भुत है। प्रतिमा का केशविन्यास अत्यन्त आकर्षक है। इस प्रतिमा की एक प्रमुख विशेषता यह है कि मस्तक के

बीचोबीच तृतीय मेघ का अंकन हुआ है। त्रिनेत्रधारी आदिनाथ की प्रतिमा में यक्ष गोवदन और यक्षिणी चक्रेश्वरी सहित चामरधारी आकृतियाँ व आकाश में उड़ते हुए गन्धर्व मिथुन भी अंकित हैं।

2. सिद्धनाथ - सीरा पहाड से लगभग 17 किलोमीटर की दूरी पर सिद्धनाथ नामक स्थान है। यहाँ से प्राप्त गुप्तकालीन जैन प्रतिमाएँ अब सलेहा जैन मन्दिर में विराजमान हैं।

3. मोहेन्द्रा - पन्ना जिले का यह छोटा सा ग्राम भी पुरातात्त्विक सम्पदा में अत्यन्त धनी है। यहाँ एक संग्रहालय बनाकर उन्हें संरक्षित किया जा रहा है।

4. बडागाँव - रीवा शहर से लगभग 20 कि0 मी0 की दूरी पर गुर्गी का प्रसिद्ध शैवमठ है। इस मठ के पास बडागाँव के समीप ही एक जैन केन्द्र था, जिसका विकास कलचुरिकाल में हुआ जो यहाँ कालदोष से नष्ट हो गया। यहाँ की कुछ प्रतिमाएँ रीवा के जैन मन्दिर में विराजमान हैं।

रीवा जिले के अन्तर्गत ही गुढ और चोरहटा ग्रामों में भी कुछ जैन शिल्प प्राप्त होते हैं। गुढ के सकटमोचन मन्दिर से प्राप्त दो विशाल जिनबिम्ब रामवन सग्रहालय में संग्रहीत हैं।

सतना जिले की दक्षिणी सीमा पर बरही, कारीतलाई, मनौरा आदि अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ से प्राप्त जैन शिल्प रायपुर, जबलपुर आदि सग्रहालयों को समृद्ध बना रहा है।

इस प्रकार सतना जिले मे और उसके आसपास गुप्तकाल से लेकर कलचुरी तथा चन्देलकला तक के एक से बढ़कर एक जैन शिल्पावशेष उपलब्ध होते हैं। इन स्थलों का व्यापक सर्वेक्षण होना आवश्यक है।

प्रो0 कमलापति जैन
पूर्व विभागाध्यक्ष, प्रा0 भा0 इ0 सं0 एवं पुरातत्त्व,
कला महाविद्यालय, अमरपाटन

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर सतना : स्थापना का गौरवशाली 125 वाँ वर्ष

जितनी प्राचीन सतना की विकास यात्रा : लगभग उतना प्राचीन दिगम्बर जैन मन्दिर

इतिहासकारों के अनुसार वर्तमान सतना नगर के उत्तर मे लगभग 2 मील दूरी पर बसा हुआ गाँव बरदाडीह/बरदावती है। सन् 1857 की क्रान्ति और उसके बाद भी सतना नगर का भूभाग बरदाडीह बाजार कहलाता था। रीवा रियासत के महाराज रघुराजसिह ने यह भूभाग जो मौजा खजुरी हिस्सा स्वरूपसिह कहलाता था, बरदाडीह के तत्कालीन जागीरदार से सन् 1863 में रेलवे लाइन निकालने और नगर बसाने के लिये लिया था। 31 जुलाई 63 को बरदाडीह बाजार की भूमि ईस्ट इंडियन रेलवे को प्रदान कर दी गई। रेल लाइन बिछनी प्रारम्भ हुई, साथ ही बस्ती ने भी आकार लेना प्रारम्भ किया। सन् 1873 में सतना रेलवे स्टेशन का पूरा विकास हो गया।

रेलवे स्टेशन के आसपास बाजार और बस्ती के निवासी मजदूर, छोटे दुकानदार, अहीर, कुम्हार और खोचे वाले थे। राज्य से प्रोत्साहन पाकर और व्यापार के लिये अच्छी जगह समझकर राजस्थान, कच्छ, गुजरात, बुन्देलखड, इलाहाबाद, मिर्जापुर, बनारस, कानपुर, झाँसी, बाँदा आदि के लोग जिनमे जैन, मारवाडी, कच्छी, गुजराती के अलावा अनेक जाति, पथ, प्रान्त, धर्म और भाषा के लोग थे, आकर बसने लगे। इस नगर का विकास व्यापारियो के परिश्रम के कारण हुआ है।

यद्यपि सतना नगर में सबसे प्राचीन स्थल डालीबाबा है, पर अब यहाँ उस काल का कोई मन्दिर नही है। मुख्त्यार-गंज मन्दिर का शिलान्यास सन् 1876 में हुआ था, पर कई पीढ़ियो के प्रयास से इसका निर्माण सन् 1925 मे पूर्ण हुआ।

इस दृष्टि से शिखरबद्ध मन्दिरों में दिगम्बर जैन मन्दिर को हम सतना का प्रथम पूर्ण विकसित मन्दिर कह सकते हैं, जिसका निर्माण वि. सं. 1937 सन् 1880 मे हुआ था। ऐसा लगता है कि यहाँ बसने आये दिगम्बर जैन परिवारो ने इस मन्दिर का निर्माण न्याय और परिश्रम पूर्वक अर्जित अपने द्रव्य से कराया और प्रभावनापूर्वक इसकी प्रतिष्ठा कराई। मन्दिर में मूलनायक के रूप में जैनधर्म के 22 वे तीर्थंकर श्री नेमिनाथ स्वामी की एक अत्यन्त सुन्दर, अतिशयकारी प्रतिमा विराजमान है। धवल पाषाण से निर्मित यह प्रतिमा लगभग साढे तीन फीट ऊँची है। इस मूर्ति के पादपीठ पर मूर्ति का प्रतिष्ठाकाल माघ सुदी 5 सं. 1937 सहित प्रतिष्ठापको के नाम हजारीलाल जवाहरलाल टकित हैं।

जैन समाज सतना द्वारा मन्दिर निर्माण एव मूर्ति प्रतिष्ठापना के इस गौरवशाली 125 वें वर्ष को बड़े धूमधाम के साथ पूरे वर्ष भर मनाया जा रहा है। परम पूज्य आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज के आज्ञानुवर्ती शिष्य परम पूज्य मुनिराज श्री 108 प्रमाणसागर जी महाराज का वर्षावास काल (2 जुलाई से 2 दिसम्बर 2004) सतना नगर को एक अनुपम आध्यात्मिक भेंट के रूप में मानो प्राप्त हुआ और सम्पूर्ण सतना नगर धर्ममय हो उठा। मुनि श्री के पावन सान्निध्य में सतना नगरवासियों ने 'नेमिनाथ महोत्सव' का ऐतिहासिक आयोजन कर अपनी इस प्राचीन सास्कृतिक और धार्मिक धरोहर के प्रति अपनी श्रद्धा, सम्मान और अनुराग का जो परिचय दिया, वह आने वाली अनेक सदियों तक किंवदन्ती के रूप मे याद किया जाता रहेगा।

दिगम्बर जैन समाज सतना के गौरव पुरुष/महिलाएँ

1. स्व. श्री पं. केवलचन्द जैन - आप उदारमना व्यक्ति थे। आपने वाराणसी में स्व. श्री पं. कैलाशचन्द जी के साथ स्याद्वाद महाविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की। उदासीन वृत्ति से व्यापार में रहकर भी तात्त्विक विवेचन में संलग्न रहते थे।

2. स्व. श्री पं. कस्तूरचन्द जी - आपकी गणना पुरानी पीढ़ी के सेवाभावी एवं धर्मनिष्ठ विद्वानों में की जाती थी। आप वर्षों कोडरमा में रहे। ईसरी में भी अनेक वर्षो तक अध्यापन कराया।

3. स्व. श्री मोतीलाल जी - सीधे, सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। श्री महावीर दिगम्बर जैन प्राथमिक पाठशाला के आप आजीवन मन्त्री रहे। सामाजिक कार्यो में आपका योगदान रहता था।

4. स्व. श्री सेठ दयाचन्द जी (विगन सेठ) - सतना के प्रमुख व्यापारियों में आपकी गणना होती थी। मुम्बई के व्यापार जगत में भी अच्छी धाक थी। आपने सतना में जैन धर्मशाला का निर्माण कराया। जिला चिकित्सालय में एक वार्ड बनवाकर दान स्वरूप प्रदान किया। बैंक ऑफ बघेलखंड के गवर्नर रहे।

5. स्व. सेठ धर्मदास जी - प्रमुख व्यापारी होने के साथ ही आपका धार्मिक जीवन अत्यन्त प्रभावी रहा। आपने लगभग 50 वर्षों तक निशुल्क औषधालय चलाया। सतना नगर पालिका के सदस्य तथा बैंक ऑफ बघेलखंड के गवर्नर रहे।

7. स्व. श्री हुकमचन्द जैन 'नेताजी' - राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के आप कर्मठ प्रचारक थे। भारतीय जनसंघ की स्थापना के बाद आप विन्ध्यप्रदेश में संगठन स्तर पर मन्त्री और बाद में मध्यप्रदेश बनने पर सन् 1972 में सहायक मन्त्री के रूप में पदाधिकारी रहे। विभिन्न आन्दोलनों में भाग लेने के कारण अनेक बार जेल यात्रा की। 74 में मीसाबन्दी के रूप में भी जेल में रहे। भारतीय मजदूर सघ के प्रदेश उपाध्यक्ष के रूप में भी अपनी सेवाएँ प्रदान की। समाज के अनेक वर्षो तक मन्त्री रहे। मन्दिर का नवीनीकरण व सरस्वती भवन का निर्माण इन्हीं की देखरेख में सम्पन्न हुआ। जैन पाठशाला के संयोजक के रूप में जीवन के अन्तिम समय तक अपनी सेवाएँ प्रदान कीं।

7. स्व. श्रीमती रत्तीबाई जी - ब्राह्मी विद्या आश्रम कुण्डलपुर की संचालिका रहीं। आश्रम के सागर स्थानान्तरण होने पर तदनन्तर सागर की आजीवन संचालिका रहीं। आर्यिकाव्रत लेकर मुक्तागिरि में आचार्य श्री के सान्निध्य में सन् 1991 में समाधि लेते समय आपका नाम **आर्यिका आत्मश्री माताजी** दिया गया। आप पीपलवाला परिवार से थीं।

8. परम पूज्य 105 श्री तीर्थमती माता जी - सन् 1925 में ग्राम बट्टौन जिला छतरपुर के एक धर्मनिष्ठ परिवार में पुत्तीबाई का जन्म हुआ। बड़े भाई दादा हुकमचन्द जी के सतना में आ जाने के कारण पुत्तीबाई जी का बचपन भी सतना में बीता। छोटी आयु में विवाह होने के कुछ ही दिनों के बाद पुत्तीबाई को वैधव्य का महान दु:ख सहना पड़ा।

साहस, धर्म के प्रति निष्ठा, लगन और आत्मकल्याण की भावना से ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर पुत्तीबाई जी धार्मिक अध्ययन हेतु तत्कालीन जैन शिक्षण के लिये विख्यात आरा आश्रम (बिहार) गई। जहाँ पर उन्हें ब्र. चंदाबाई जैसी विदुषी से पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

जीवन में संघर्ष करते हुये धर्म के प्रति निष्ठा प्रगाढ़ होती चली गई। स्वयं का अध्ययन पूरा करने के बाद ब्र.

पुत्तीबाई जी ने अनेक वर्षों तक कलकत्ता, मिर्जापुर, छतरपुर, देवेन्द्रनगर एवं द्रोणगिरि में नियमित धार्मिक शिक्षण दिया।

परम पूज्य 108 आचार्य पुष्पदन्तसागर जी महाराज जैसे संत के जीवन में धर्म के बीज का अंकुरण ब्र. पुत्तीबाई जी ने छतरपुर में धार्मिक शिक्षण के दौरान किया था।

परम पूज्य 108 आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की प्रथम शिष्या होने का गौरव भी ब्र. पुत्तीबाई जी को है। प्रारम्भ के कुछ वर्षों तक आचार्य संघ की संचालिका का दायित्व भी निर्वहन किया। अध्ययन, अध्यापन के साथ संयम और तप उनकी जीवन शैली में था। प्रारम्भ में दो प्रतिमा एवं दीक्षापूर्व तक सात प्रतिमा का सदैव सजगता से निर्दोष पालन किया। सहस्रनाम के एक हजार उपवास करने के बाद दीक्षा से पूर्व 16 वर्षो तक लगातार एक उपवास एक एकाशन के नियम को पूरी दृढ़ता से पाला।

सतना बाई जी की कर्मभूमि थी। बाद के अधिकाश जीवन को उन्होंने बड़ी बहिन श्रीमती परमीबाई जैन (बाबूलाल ज्ञानचन्द जैन) छतरपुर में, देवेन्द्रनगर में एवं बड़े भाई दादा हुकुमचन्द जैन (अवंती परिवार) मे बिताया।

आत्मकल्याण के पथ पर आगे बढ़ते हुए 13 अगस्त 1992 को रक्षाबन्धन के पावन दिन तीर्थराज सम्मेदशिखर जी में परम पूज्य 108 आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की। व्रती से महाव्रती होने के बाद आत्मकल्याण करते हुये सामायिक अवस्था में संघस्थ साधुओं/आर्यिकाओ के मध्य सल्लेखना पूर्वक निर्वाणभूमि शिखरजी में 9 मई 1994 को परम पूज्य 105 तीर्थमती माता जी ने नश्वर देह का त्याग किया।

समय के अमर शिलालेख

1. जैन मन्दिर का निर्माण सन् 1880 में हुआ।
2. 15 फरवरी 1905 को नारायणताल के मैदान में पाँच रथ एक साथ निकले थे। पं. पन्नालाल जैन प्रतिष्ठाचार्य थे।
3. जैन पाठशाला सन् 1920 में प्रारम्भ हुई।
4. जैन औषधालय की स्थापना सन् 1920 में हुई। सेठ धरमदास भगवानदास (नन्हूमल) ने स्थापित कराया।
5. बैरिस्टर बाबू चम्पतराय जैन का सन् 1928 मे सतना आगमन हुआ।
6. सन् 1933 में सेठ दिगनलाल ने सार्वजनिक उपयोग के लिये जैन धर्मशाला का निर्माण कराया। तत्कालीन महाराजा रीवा इसके उद्घाटन के लिये पधारे थे।
7. फाल्गुन शुक्ल 13 सन् 1953 को पूज्य क्षुल्लक 105 गणेशप्रसाद जी वर्णी का शुभागमन हुआ।
8. सन 1974 मे भगवान महावीर का 2500 वाँ निर्वाणोत्सव वर्ष मनाया। 13-11-74 से 03-11-75 तक। 22 मार्च 75 को धर्मचक्र का नगर प्रवेश द्विदिवसीय कार्यक्रम के रूप में हुआ।
9. सन् 1975 मे परम पूज्य मुनिराज 108 आर्यनन्दि जी महाराज का चातुर्मास सतना नगर में हुआ। आपका शुभागमन 25-06-75 को हुआ। पूज्य आर्यनन्दि जी महाराज के सान्निध्य में 16-7-75 से 27-7-75 तक सिद्धचक्र विधान का भव्य आयोजन हुआ तथा हवाई अड्डा के मैदान में 7-12-75 से 13-12-75 तक पंचकल्याणक प्रतिष्ठा श्री पं. शिखरचन्द जी भिण्ड के प्रतिष्ठाचार्यत्व में सम्पन्न हुई।

   गजरथ महोत्सव में पधारे त्यागी, व्रती एव विशिष्ट महानुभाव- श्री 105 क्षु. मनोहरलाल जी वर्णी, क्षु.गुणभद्रसागर जी, क्षु. पद्मसागर जी महाराज, पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री कटनी, पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर, ब्र. माणिकचन्द चंवरे कारंजा, ब्र. दयासिन्धु जी द्रोणगिरि, प. राजकुमार जी भिण्ड, पं. चिन्तामणि जी जालना, पं. अजितकुमार झासी, प. दयाचन्द जी मथुरा, पं. पन्नालाल जी कलकत्ता, पं. मुन्नालाल जी समगौरिया सागर, प. सुखनन्दन जी बड़ौत, पं. शिखरचन्द जी ईसरी, प. प्रकाश हितैषी दिल्ली, पं. प्रेमचन्द दमोह, पं. विनयकुमार पथिक मथुरा, डॉ. सुशीलचन्द जी दिवाकर जबलपुर, श्री ताराचन्द जी प्रेमी फिरोजपुर, पं. गरीबदास जी कटनी, सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्द शाह मुम्बई, सेठ लालचन्द हीराचन्द मुम्बई, श्री जयन्तीलाल लल्लूभाई पारेख मुम्बई, श्री दशरथ जी विधायक छतरपुर, श्री रतनचन्द खुशालचन्द गाँधी फलटण, श्री राजमल मडवैया विदिशा, सिं. ताराचन्द मिर्जापुर आदि।
10. सन् 1976 में परम पूज्य आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज का दिनाँक 19-3-76 को शुभागमन हुआ। संघ में क्षु. पूज्य योगसागर जी, नियमसागर जी, समयसागर जी एवं प्रवचनसागर जी थे। दिनाँक 27-3-76 को रीवा के लिये विहार हुआ।
11. वर्ष 1980 में श्री दयाचन्द्र सरस्वती भवन का निर्माण सम्पन्न हुआ।

12. जिनालय प्रथम तल में छठवी वेदी का निर्माण। 6 मई 81 को इस वेदी की प्रतिष्ठा होकर भगवान् चन्द्रप्रभु की प्रतिमा विराजमान हुई।

13. वर्ष 84 में जैन सामूहिक विवाह सम्मेलन योजना का शुभारम्भ प्रथम आयोजन 13-16 अप्रैल 84। यह आयोजन निरन्तर 10 वर्षों तक सफलता पूर्वक आयोजित हुआ।

14. वर्ष 85 में सरस्वती भवन के सामने दो मंजिली भवन का निर्माण हुआ।

15. वर्ष 89 में पूज्य आर्यिका गुरुमति माता जी (ससंघ) की ग्रीष्मकालीन वाचना हुई। साथ में आर्यिका दृढ़मती जी, मृदुमति जी, तपोमति जी, सत्यमति जी, गुणमति जी, जिनमति जी, निर्णयमति जी, उज्ज्वलमति जी, पावनमति जी एवं क्षु. निर्माणमति जी थी।

16. वर्ष 1990 में श्री पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री साधुवाद समारोह का आयोजन हुआ। इसमें देश के शीर्षस्थ लगभग 100 विद्वानों की उपस्थिति में विद्वत्परिषद का सम्मेलन सम्पन्न हुआ। त्रिदिवसीय कार्यक्रम मे साहू अशोककुमार जी, माणिकचन्द चंवरे आदि पधारे थे।

    आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह का भी आयोजन इसी वर्ष हुआ।

17. वर्ष 1991 में परम पूज्य मुनिराज श्री 108 क्षमासागर जी महाराज (ससघ) का चातुर्मास हुआ। साथ मे मुनि श्री समतासागर जी, मुनि श्री प्रमाणसागर जी व 3 अन्य पिच्छीधारी ऐलक-क्षुल्लक थे।

18. वर्ष 1993 में पूज्या आर्यिका श्री 105 प्रशान्तमति माता जी का ससघ चातुर्मास सम्पन्न हुआ। सघ में आर्यिका अनन्तमति जी, निर्मलमति जी, विमलमति जी, शुक्लमति जी, विनम्रमति जी, अतुलमति, विनतमति जी, अनुगममति जी, संवेगमति जी एवं निर्वेगमति जी थीं। आपके सानिध्य मे इन्द्रध्वज मण्डल विधान का आयोजन भी हुआ।

19. वर्ष 1994 में परम पूज्य आचार्य विरागसागर जी महाराज की ससघ उपस्थिति मे शीतकालीन वाचना 8-1-94 से 5-2-94 तक सम्यग्ज्ञान शिक्षण शिविर के साथ सम्पन्न हुई।

20. वर्ष 1998 में 6-11 फरवरी तक पचकल्याणक प्रतिष्ठा परमपूज्य मुनि समतासागर, मुनि प्रमाणसागर व क्षु. निश्चयसागर जी के सान्निध्य में सम्पन्न हुई। इसमे भगवान् कुन्थुनाथ व भगवान् अरनाथ के जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा की गई।

    दयोदय पशु सेवा केन्द्र का शुभारम्भ 22-3-1998 में हुआ।

    परम पूज्य आचार्य श्री 108 आर्यनन्दि जी महाराज का द्वितीय चातुर्मास हुआ।

22. वर्ष 2000 में भगवान श्री शान्तिनाथ के शिखर पर सुवर्णमण्डित कलश तथा ध्वज स्थापना दिनाँक 4-2-2000 को की गई।

    श्री 105 आर्यिका पूर्णमति माता जी का ससंघ चातुर्मास सम्पन्न हुआ। सघस्थ आर्यिकायें थीं - शुभ्रमति जी, साधुमति जी, आलोकमति जी, विशदमति जी, विपुलमति जी, मधुरमति जी, एकत्वमति जी (समाधिस्थ), कैवल्यमति जी, सतर्कमति जी एवं श्वेतमति जी।

श्रावक संस्कार शिविर, श्री कल्पद्रुम विधान एवं श्री विद्या समाधि साधना कक्ष का शिलान्यास हुआ।

23. वर्ष 2001 में भगवान् महावीर के 2600 वें जन्म महोत्सव का आयोजन दिनाँक 6-4-01 से 30-4-02 तक हुआ। इसमें लोककल्याणकारी अनेक कार्य सम्पन्न हुए - महावीरविधान का आयोजन, रेल्वे प्लेटफार्म नं. 1 में वाटर कूलर की स्थापना, रेलवे स्टेशन परिसर में महावीर वाणी के पट्टों को लगवाया गया, जिला चिकित्सालय में शिशु वार्ड को गोद लिया, वर्ष 02 की बोर्ड परीक्षाओं 10 व 12 में मेरिट लिस्ट में आये सतना जिले के प्रतिभावान छात्रों को पुरस्कार एवं सम्मान, पन्नीलाल चौक का नाम अहिंसा चौक रखा गया, श्री विद्या समाधि साधना कक्ष का लोकार्पण, गुरुछाया का शिलान्यास आदि।

24. वर्ष 2002 में परम पूज्य मुनिराज श्री 108 विमर्शसागर जी एवं मुनि विनर्घसागर जी का चातुर्मास हुआ, जिसमें श्री भक्तामर जी का शिविर का आयोजन हुआ।

25. वर्ष 2004 में जिनालय स्थापना एवं मूलनायक जिनबिम्ब प्रतिष्ठापना का 125 वाँ वर्ष (दिनाँक 26-6-04 से 26-6-05 तक), गुरुछाया का लोकार्पण, शास्त्रभण्डार का व्यवस्थितीकरण, नेमिनाथ महोत्सव आदि।

परम पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी महाराज एवं बाल ब्र. दशमप्रतिमाधारी श्री अशोक भैया जी का चातुर्मास।

सन्दर्भ स्रोत सूची

1. मेरी जीवन गाथा - क्षु. गणेशप्रसाद वर्णी
2. परवार जैन समाज का इतिहास - सम्पा. सिद्धान्ताचार्य. पं. फूलचन्द शास्त्री
3. सतना नगर - लेखक श्री शिवानन्द जी
4. गजरथ स्मारिका, सतना 75 - सम्पा. सिं. जयकुमार जैन
5. परिसंघ दशाब्दी स्मारिका - सम्पा. सिं. जयकुमार जैन
6. मुक्ति दर्शन, अगस्त 04 - लेखिका श्रीमती क्रान्ति जैन
7. सृजन (सामूहिक विवाह सम्मेलन दशाब्दी समारोह स्मारिका) - सम्पा. श्री अमर जैन
8. वयोवृद्ध समाज सेवी श्री जवाहरलाल जैन, निवर्तमान अध्यक्ष जैन समाज सतना से साक्षात्कार द्वारा प्राप्त जानकारी।
9. श्री मन्दिर जी में विराजमान जिनबिम्बों के पादमूल में अंकित लेख।
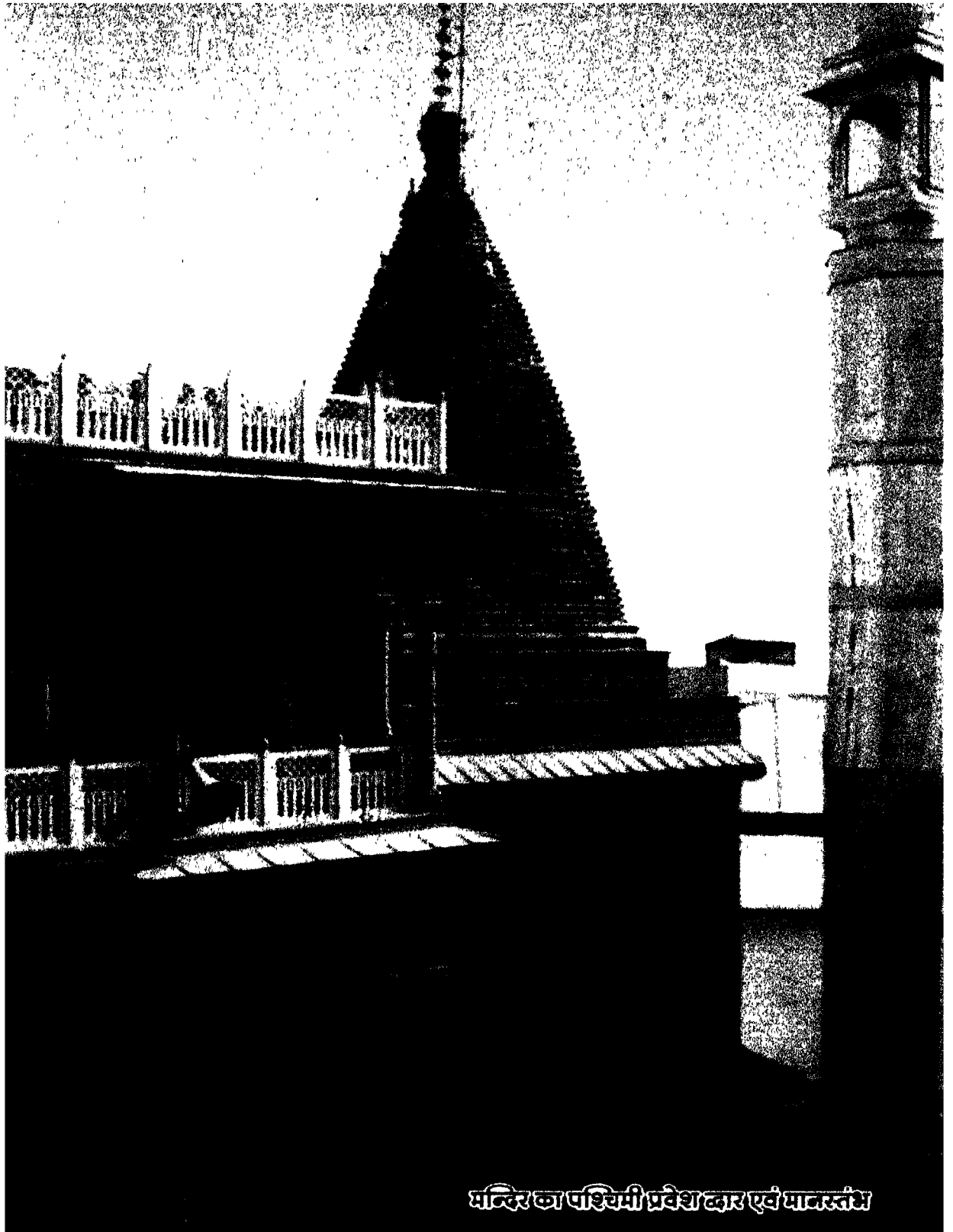
मन्दिर का पश्चिमी प्रवेश द्वार एवं मानस्तंभ